॥ श्री ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

३४

श्रीविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यविरचिता

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली

'बालप्रिया' हिन्दीव्याख्योपेता

व्याख्याकार —

डॉ० गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर

एम० ए०, पी एच० डी०

(मीमांसा-वेदान्त-साहित्याचार्य साहित्यरत्न)

सेवानिवृत्त अध्यक्ष

मीमांसा-धर्मशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी ।

प्रकाशक—

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

क ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन, पो० बा० १२९,

वाराणसी–२२१००१

प्रथम संस्करण १९७८

मूल्य १०–००

अन्य प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे),

पो० बा० न० ६९, वाराणसी–२२१००१

मुद्रक —

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

THE

CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA

34



NYAYĀSIDDHĀNTAMUKTĀVALĪ

OF

VISWANATHAPANCANANABHATTACARYA

Edited with

Balapriya Hindi Commentary

By

Dr Gajanana Shastri Musalagaonkar
M A Ph D

Mimamsa Vedanta-Sahityacarya, Sahityaratna

Ex-Head of the Deptt of

Mimamsa Dharmashastra, B H U , Varanasi



CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

VARANASI

(Publishers & Oriental Book-Sellers)
Post Box No 129
K 37/117, Gopal Mandir Lane, Varanasi

First Edition
1978
Price Rs 10-00

Also can be had of
The Chowkhamba Vidyabhawan
P. Box 69 (Behind The Benares State Bank Building)
Chowk, Varanasi-221001
Phone 63076

ब्रह्मभाग्मनाप्ताः पूजनीयाः श्रीगुरुचरणाः



पूज्यपादेषु

पण्डितराज राजेश्वरशास्त्रिचरणेषु

श्रद्धाञ्जलिः

ईशावतारमिव वागधिदेवतायाः

पुविग्रह प्रथितमुज्ज्वलकीर्तिकायम् ।

अध्यापनव्रतमनुज्झित-शास्त्रचिन्त

श्रीमद्गुरु कमपि पण्डितराजमीडे ॥

मुसलगाँवकरोपनामकस्य गजाननस्य



ब्रह्मभावमवाप्ताः पूजनीयाः श्रीपितृचरणाः



पूज्यपादेषु

महामहोपाध्याय-श्रीसदाशिवशास्त्रिचरणेषु

प्रणामाञ्जलिः

दोषाकरप्रणयमुक्तममुक्तकाल-
कूटं द्विजिह्वविमुखं श्रितदेवलोकम् ।
पुत्रं गजाननमनारतमेधयन्तं
तातं सदाशिवमहं मुहुरानतोऽस्मि ।

विनयावनतस्य
गजाननस्य



प्राक्कथन

मैंने पण्डितप्रवर श्री गजानन शास्त्री मुसल ावकर द्वारा लिखि न्यायसिद्धान्तमुक्तावली प्रत्यक्ष खण्ड की बालप्रिया व्याख्या का अवलोक किया। इस व्याख्या मे मूल ग्रन्थ के अभिप्राय को सरल और सुन्दर हिन्‍ भाषा के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। आवश्यकतानुसा ८ शका अ समाधान के शीषक द्वारा प्रश्नो को प्रस्तुत कर उनके सम्बन्ध मे पर्य प्रकाश डाला गया है। ग्रन्थ के जो स्थल छात्रो की दृष्टि से कठिन म जाते है उन स्थलो को विशेष रूप से सरल और सुस्पष्ट करने का सफ प्रयत्न किया गया है। ग्रन्थ के विभिन्न स्थलो मे जो पारिभाषिक श प्रयुक्त हुये है उनका हृदयस्पर्शी ढग से अत्यन्त मनोरम स्पष्टीकरण कि गया है। पूरे ग्रन्थ की व्यारया देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि छात्रो इस पुस्तक का अध्यापन करते समय छात्रो की जो कठिनाइया श्री मुस गावकर जी के सामने आयी वे ग्रन्थ रचना के समय स्मृति रूप मे ब रही। फलतया उन्होने ग्रन्थ की ऐसी व्याख्या की रचना की, जिस छात्रो की उक्त कठिनाइया निस्सन्देह निराकृत हो सकती है। न्या वैशेषिक के ऐसे उपयोगी महत्वपूण ग्रन्थ की राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम एक सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत करने के लिए मै शास्त्रीजी को धन्यवाद देता और आशा करता हूँ कि उनकी सुन्दर लेखनी से ऐसे ग्रन्थ सतत निग होते रहेगे।

बदरीनाथ शुक्ल

दि० ५ जून, १९७८

कुलपति

सम्पूर्णानन्द सस्कृत विश्वविद्या

वाराणसी।

आशीर्वाद

महामीमासक
विद्यासागर श्री पट्टाभिरामशास्त्री

न्याय-मीमासा साहित्याचाय

सञ्चालक—वेदमीमासानुसधान केन्द्र

न्याय वैशेषिक शास्त्र मे विश्वनाथ का न्यायसिद्धातमुक्तावली ग्रथ परम श्रेष्ठ माना गया है। यह अपने शास्त्र के पदार्थो के समझाने मे अत्यन्त उपकारक हे, साथ ही अन्य शास्त्रो के पदार्थो के जानने मे भी इस ग्रन्थ का अध्ययन परम आवश्यक है। इस ग्रन्थ के ज्ञान के विना शास्त्रातर का ज्ञान अपूण ही समझा जाता हे। इस ग्रन्थ की सस्कृत व्याख्या, उपव्याख्या दिनकर भट्ट, रामरुद्र आदि धुरधर विद्वानो ने की हे, किन्तु गुरुमुख से पढे विना उनका अर्थविबोध होना सभव नही है। आजकल की अध्येताओ की प्रवत्ति को देखते हुए सवसाधारण को बोधगम्य होने के निमित्त मेरे प्रिय छात्र डॉ० गजानन शास्त्री मुसलगावकर ने सरल हिदी भाषा मे उसकी व्याख्या की है, जो अतीव हृदयङ्गम है। इस ग्रन्थ मे अनेक स्थल ऐसे है कि जिनको समझने मे और समझाने मे छात्र और अध्यापको को अत्यत कष्ट का अनुभव करना पडता है। जैसा—जाति-बाधक सग्रह, विशेष पदाथ साधर्म्य वैधर्म्य प्रकरण 'पारिमाण्डल्यभिन्नाना कारण-त्वमुदाहृतम्' आत्म निरूपण प्रकरण के नास्तिकवाद आदि स्थलो को सुगम रीति से समझाने का सफल प्रयत्न पण्डित जी ने किया है। आजकल सस्कृत माध्यम से पढने पढाने की धारा एक प्रकार से अवरुद्ध ही है। उत्तर प्रदेश मे पठन पाठन हिदी से ही चल रहा है। इसको सोचकर ही शास्त्रीजी ने हिदी मे व्याख्या की है। यह व्याख्या मुक्तावली ग्रथ के ज्ञानसपादन मे नि सदेह परमोपकारक सिद्ध होगी। मै अपने प्रिय छात्र शास्त्रीजी को आशीवाद देते हुए उनका अभिनन्दन करता हूँ और प्रेरणा देता हूँ कि वे इस प्रकार के कठिन ग्रन्थो की हिदी मे व्याख्या करते हुए हिन्दी साहित्य को उपबृहित करे और इस पवित्र कार्य से श्रेय और प्रेय को प्राप्त करे।

मेष सङक्रमण सप्तमी
वाराणसी

पट्टाभिराम शास्त्री

दो शब्द

करुणावरुणालय प्रात स्मरणीय आराध्य गुरुचरणो की निर्व्याज करुणा के परिणामस्वरूप 'बालप्रिया' व्याख्या प्रिय छात्रो एव पूज्य विद्वानो के कर कमलो मे प्राप्त हो रही है यह अत्यन्त हृष का विषय है ।

श्रीविश्वनाथ न्यायपञ्चानन भट्टाचाय निर्मित **'न्यायसिद्धातमुक्तावली'** की जटिल शैली से अध्येतागण विमनस्क होकर घबराते है, कितु घबरा कर उसके अध्ययन से वे विरत भी नही हो सकते, क्योकि यह ग्रथ, दशनशास्त्रो के मदिर का प्रवेश द्वार है । इस प्रवेशद्वार पर स्वशिरोवनमन करना सभी प्रविविक्षुजनो के लिये अपरिहाय है । इस बिकट परिस्थिति को ध्यान मे रखकर मेरे आराध्य-गुरुचरणो ने अत्यत कृपावत होकर स्नेहपरिप्लुत आशीर्वाद के साथ मुझे आदेश दिया कि यायशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र मे उपस्थित परिस्थिति की जटिल समस्या का शीघ्रातिशीघ्र समाधान का माग यही हो सकता है कि न्यायसिद्धातमुक्तावलि पर एक ऐसी व्याख्या हिन्दी भाषा मे लिखी जाय, जो सुविस्तृत हो और न्यायशास्त्रीय पद पदार्थो को अध्येताओ की बुद्धि मे अच्छी तरह जमा सके । अत इस लाकापकारक काय को तुम्ह ही करना हैं । मरा आशीवाद तुम्हारे साथ है, तुम इस काय को कर सकोगे मुझे विश्वास है ।

पूज्य गुरुजी की अनुल्लघनीय आज्ञा पाकर ओर उनके आशीर्वाद का अवलम्बकर व्याख्या लिखने का काय मैने प्रारम्भ कर दिया । मगलवाद तक का व्याख्याग्रथ पूज्य गुरुजी की दृष्टि से परिपूत हो ही पाया कि 'श्रेयासि बहुविघ्नानि' नियम के अनुसार मेरे दुर्देव के मेघो का उमडना शुरू हो गया । ई० सन् १९७७ की माच ६ तारीख को मेरे पूज्यगुरुचरण ८० वष की अवस्था में अपने पार्थिव शरीर का त्याग कर ब्रह्मभाव को प्राप्त हो गये । अकस्मात् हुए व्रजपात से मे आहत, होकर किंकतव्यविमूढ हो गया, व्याख्या लिखने का काय भी अवरुद्ध हो गया, कि तु शतवर्षीय मेरे पूज्य पितृचरणो ने उस समय मुझे सात्वना देते हुए कहा कि सच्छिष्य वही हे, जो गुरु की आज्ञा सभी परिस्थितियो मे पालन कर उनकी इच्छा को पूण करता हे । 'प्रारभ्य चोत्तमगुणा न परित्यजति' यह उत्तम धीर प्रकृति का लक्षण हे । अत उनकी आज्ञा से जो काय कर रहे हो

उसे शीघ्र पूण करो, जिससे वे सन्तुष्ट होगे। वे तो अमर हैं, उनका कीर्ति शरीर आज भी है और सवदा विद्यमान रहेगा। उनकी आज्ञा का बल पाकर मैने पुन व्याख्यालेखन का कार्य आरम्भ किया, बराबर प्रतिदिन करता रहा और योगजन्निकष पर लेखन चल ही रहा था कि मेरे शतवर्षीय पूज्य पितृचरण भी ई० सन् १६७७ की दिसम्बर २४ तारीख को साय पाच बजे अपने पार्थिव शरीर का त्यागकर भगवन्नामोच्चारण करते हुए ही ब्रह्मभाव को प्राप्त हो गये। पार्थिव शरीरत्यागने के चार दिन पूव ही व्याख्या के कतिपय अशो को उन्होने सुन लिया था, यह मेरे लिये सन्तोष की बात थी। इस दूसरे वज्रपात से मैं बहुत ही आहत हुआ। सिर पर से छत्र उठ गया, निर्व्याजस्नेह और अहैतुकी कृपा से मुझे परिपुष्ट करने वाले दोनो गुरुजन कणधार अपनी आशीर्वाद की नौका मे मुझे बैठाकर स्वय इस विनश्वर ससार से सदा के लिये चल बसे। पश्चात् उनकी आज्ञा और वात्सल्य ने उनकी कणधारता को स्वीकार कर मुझे पार पहुँचा ही दिया। मैं अपने दोनो गुरुजनो से कभी भी ऋण मुक्त हो ही नही सकता। उनके आशीर्वाद के बलपर ही व्याख्यालेखन समाप्त हुआ और चौखमा सुरभारती के सरक्षक बन्धुगणो की कायतत्परता एव उत्साह तथा प्रेरणा से पुस्तक के आकार मे यह व्याख्या आज पाठको के कर कमलो मे स्थान प्राप्त कर सकी। तदथ इन बन्धुओ को हार्दिक आशीर्वाद के साथ अनेकानेक धन्यवाद देना मैं अपना कतव्य समझ रहा हूँ। पुस्तक लेखन का काय केवल लेखक पर ही अवलबित नही हुआ करता, बल्कि उसके अगभूत अनेक कार्यो के सम्पादनाथ उसे अनेक सहायको की भी आवश्यकता होती है। तदनुसार इस लेखन काय मे प्रेसकापी, उसका सशोधन, अनेकबार प्रूफसशोधन, विषयसूची, चित्रपट, शुद्धि-पत्र, लेखश्रवण, यत्र तत्र परामश आदि अनेक काय आवश्यक रहते है। ग्रन्थ सम्पादनाथ एक सम्पादक की भी आवश्यकता रहती है। तब एक ग्रन्थ की निष्पत्ति हो पाती है।

इस ग्रन्थ मे विषयसूची, शुद्धिपत्र, और चित्रपट के निर्माण मे मेरे प्रिय छात्र चि० सोमनाथ नेने रिसचस्कालर B H U, ने बडे मनोयोग के साथ सहायता दी है, तदथ मै हार्दिक आशीर्वाद के साथ उसके अभ्युदय की कामना कर रहा हूँ। उसी तरह लेखश्रवण तथा यत्र तत्र परामश देने मे आत्मीयता के साथ जिन्होने सहायता दी है, वे है उदारचरित्र विद्वान् मेरे कनिष्ठ गुरुबन्धु पण्डितप्रवर श्रीकीर्त्यानन्द झा, न्यायाचाय, प्राध्यापक दशनविभाग काशी हिन्दु-

विश्वविद्यालय, तथा महाकवि रतिनाथ झा, रीडर, दर्शनविभाग, काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय, एव मेरी छात्रा डॉ० कु० विमला कर्नाटक प्राध्यापिका आर्ट्स-कालेज, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय इन सभी के अभ्युदय की कामना करता हुआ उन्हे अनेकानेक धन्यवाद देकर मै अपना कर्तव्य पालन कर रहा हूँ। उसी तरह प्रूफसशोधन, प्रेसकापी आदि कार्यों को तत्परता के साथ करने मे मेरी कन्या कु० मीनामुसलगावकर एम ए और मेरी छात्रा कु० वाराणसी लड्ढा, रिसर्चस्कालर काशी हिन्दूविश्वविद्यालय तथा मेरे भ्रातुष्पुत्र चि० श्यामराव एम ए बि लिब तथा चि० शेखर मुसलगावकर एम कॉम का महत्त्वपूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है, तदर्थ उन सभी पुत्रो एव कन्या और छात्रा के अभ्युदयार्थ उन्हे अनेक आशीर्वाद दे रहा हूँ।

साङ्गोपाङ्ग पुस्तक के सम्पादन मे मेरे प्रिय छात्र डा० कमलनयन शर्मा न्याय, मीमासा, व्याकरण आदि नानाशास्त्राचार्य, एम ए, पी एच डी, अस्थायी मीमासा प्राध्यापक, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय ने बडे मनोयोग के साथ महत्त्वपूर्ण सहायता की हे, तदर्थ उनके अभ्युदय की कामना करता हुआ उन्हे आशीर्वाद के सहित अनेक साधुवाद प्रदान कर रहा हूँ।

अन्त मे प्रूफवाहक, सीसकाक्षरयोजक आदि कर्मचारीगणो को भी जिनकी तत्परता से पुस्तक को मूर्त आकार प्राप्त हो सका है, उन्हे आशीर्वाद दे रहा हूँ।

शुभचिन्तक—

—गजाननशास्त्री

विधान करता है, इसलिये वह **'पुरुष परतन्त्र'** है और दर्शनशास्त्र, वस्तु-स्वरूप का वणन करता है इसलिये वह **'वस्तुतन्त्र'** है[१]।

भारतीय दर्शन की व्यापक तथा उदार दृष्टि

भारतीय दशन की दृष्टि बहुत व्यापक और उदार है। भारतीय दशन की अनेकानेक शाखाएँ है और उनमे परस्पर मतभेद भी है, तथापि वे एक दूसरे के विचारो को समझने का प्रयास करती है, उनमे एक दूसरे के विचारो की उपेक्षा नही की गई है। सभी शाखाएँ परस्पर एक दूसरे के विचारो को समझने का प्रयास करती है और उनकी युक्तिपूवक उचित समीक्षा करती है तभी किसी ठोस सिद्धान्त पर पहुँच पाती है। इसी उदार मनोवृत्ति का यह परिणाम है कि भारतीयदर्शन में विचार-विमश के लिए एक विशेष पद्धति का निर्माण हुआ है। इस पद्धति के अनुसार प्रथमत पूवपक्ष किया जाता है, पश्चात उसका खण्डन, तब अन्त मे सिद्धान्त किया जाता है। भारतीयदशन की प्रत्येक शाखा का समृद्ध हाना, उक्त पद्धति का ही परिणाम है। भारत का प्रत्येक दशन, ज्ञान का एक एक भण्डार ह। स्वय भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने अपनी व्यापक विभूतियो के वणन के प्रसग में अध्यात्मविद्या (विचारशास्त्र या दशनशास्त्र) को अपना ही स्वरूप बताकर उसकी महत्ता (प्रौढता) का समथन किया है[२]। मुण्डकोपनिषद ने ब्रह्मविद्या को सवविद्याप्रतिष्ठा के रूप मे बताया है[३]। अथशास्त्र के प्रणेता कौटिल्य कहते है कि आन्वीक्षिकी विद्या, समस्त विद्याओ के लिए प्रकाशरूप दीपक है, तथा समस्त कर्मो के अनुष्ठान का साधनमाग है और सब धर्मो का आश्रय है[४]। विचारशास्त्र की स्वतन्त्रता यहा जैसी अन्यत्र न कही थी और न है।

दर्शन और धर्म

भारत वष मे दशन और धम का तथा तत्त्वज्ञान और जीवन का घनिष्ठ सम्बध है। त्रिविध ताप से नितान्त तप्त हुई जनता की शान्ति के लिए,

---

१ 'शासनात शसनात् शास्त्र शास्त्रमित्यभिधीयते।
शासन द्विविध प्रोक्त शास्त्रलक्षणवेदिभि।
शसन भूतवस्त्वेकविषय न क्रियापरम।

२ अध्यात्मविद्या विद्याना वाद प्रवदतामहम्'—[गी० १०।३२]

३ स ब्रह्मविद्या सवविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह—[मु० उ० १।१]

४ प्रदीप सवविद्यानामुपाय सर्वकमणाम्।
आश्रय सवधर्माणा शश्वदान्वीक्षिकी मता॥ [कौ अ १।२]

दु खमय ससार से आत्यन्तिक दु खनिवृत्ति के लिए ही भारतीय दशनशास्त्रो का आविर्भाव हुआ है। यह विचारशास्त्र (दशन शास्त्र) विद्वानो की कमनीय-कल्पनाका विलासमात्र नही है, अपितु उसका आधिपत्य इस व्यावहारिक सृष्टि पर हैं। भारत के बाहर अन्य देशों में दशनशास्त्र (विचारशास्त्र) और धम का पारस्परिक सम्बन्ध नही दिखाई देता, किन्तु भारतवष मे दशन और धमका सुदृढ सम्बन्ध सहज लक्षित हाता है। दशन शास्त्रके द्वारा सुचिन्तित, सुविचारित व्यवहार ही धम है। भारत की दृष्टि मे दशन और धम दो पथक नही है। दशनका व्यावहारिकरूप धम है, और धम का सैद्धान्तिकरूप दशन है। यही कारण है कि धम-विचारात्मक मीमासा को षड्-दशनो मे प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। अत दाशनिक वही है जो धम का ज्ञाता हा और तदनुरूप आचारसम्पन्न हो, तथा धमका ज्ञाता और तदनुष्ठाता वही है जो दाशनिक विद्वान हो।

भारतीय दर्शन दो भागोमे विभक्त किये गये है—आस्तिक तथा नास्तिक। साख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, मीमासा-वेदान्त, ये वदिक आस्तिक दशन है। इ हे षड्दर्शन भी कहते है। आस्तिक दशनका अथ ईश्वरवादी दशन नही है। इन दर्शनोमेसे सभीने ईश्वरकी चर्चा नही की है। फिर भी इन्हे आस्तिक इसलिये कहा जाता है कि ये सभी वेदको प्रमाण मानते है। आस्तिकका अथ 'वेदानुयायी' तथा नास्तिक का अथ 'विदविरोधी' है, अथवा परलोकमे विश्वास रखनेवाले को 'आस्तिक' तथा परलोक नही माननेवाले को 'नास्तिक' कहते है। आस्तिक-नास्तिक की उक्त दो परिभाषाओ मे से किसी मे भी 'चार्वाकदशन' नही आता, इसलिये उसे 'नास्तिकदशन' कहा जाता है।

श्री विद्यानिवास भट्टाचाय के पुत्र **श्री विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य** के द्वारा विरचित **कारिकावली** (भाषापरिच्छेद) तथा उसपर उन्हीके द्वारा निर्मित **न्यायसिद्धान्तमुक्तावली** नामक व्याख्यात्मक ग्रन्थ प्रस्तुत किया जा रहा है। इस व्याख्या ग्रन्थ की रचना पुत्रतुल्य प्रिय अपने **राजीव** नामक शिष्य को न्याय-वैशेषिकदशनोंके सिद्धान्तोका यथाथज्ञान करानेके लिये उ होने की है। इस ग्रन्थपर सस्कृत शास्त्र के अनेक महापण्डितो ने अनेकानेक सस्कृतव्याख्याओ को लिखकर प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रामाणिकता एव श्रेष्ठता को स्पष्ट किया है।

न्यायदर्शन के प्रवतक महर्षि **गोतम** ह, **'अक्षपाद'** नामसे भी इनकी प्रसिद्धि है। अत 'न्यायदशन' का दूसरा नाम 'अक्षपाद दशन' भी है। यायदशन के अध्ययनसे युक्तियुक्त विचार तथा आलोचना करने की शक्ति प्राप्त होती है। अत

उक्तदशन को न्यायविद्या, तकशास्त्र, आन्वीक्षिकी[1] भी कहते हैं। उक्त दशन मे 'प्रमाण' का महत्त्व सर्वतोपरि होने से इस दशन को 'प्रमाणशास्त्र' भी कहते है।

उसीतरह '**वैशेषिक दर्शन**'के प्रवतक महर्षि **कणाद** है। इनका दूसरा नाम 'उलूक' भी है। इसलिये वैशेषिक दशन को 'औलूक्यदशन' भी कहते है। इस दशनमे 'विशेष' सज्ञक पदाथ की विशद विवेचना की गयी है, इस कारण इस दशन को 'वैशेषिकदशन' कहा जाने लगा। विशेषत पदार्थो की विवेचना की गयी है, इसलिए इस दशन को 'पदाथ विज्ञानशास्त्र' भी कहने लगे। न्याय-वैशेषिक दोनो दशनो में बडी समानता है। दोनो का उद्देश्य मोक्षप्राप्ति कराना है। दोन्नेके अनुसार समस्त दु खोका मूलकारण '**अज्ञान**' है। इन दु खो की आत्यन्तिक निवृत्ति ही **मोक्ष** है। दोनो दशन 'वस्तुवादी' दशन है। यह वस्तुवाद, अनुभव एव तकपर आधारित है। इतनी समानता रहनेपर भी उक्त दोनो दशनो मे दो मुख्य बातो को लेकर मतभेद लक्षित होता है। (१) **न्याय दशनमे** जहा चार प्रमाणो 'प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द–'का स्वीकार किया गया ह, वहा **वैशेषिक** दशन मे दो प्रमाणो–'प्रत्यक्ष, अनुमान–का ही स्वीकार किया गया है। न्यायदशनोक्त उपमान और शब्द दो प्रमाणो को यह दशन अनुमान के ही अन्तगत मान लेता है।

(२)—न्यायदशन जहाँ [2]सोलह पदार्थों के नाम गिनाता है, वहा वैशेषिक दशन केवल [3]सात पदार्थोंके नाम गिनाता है। वैशेषिकदशनने 'ज्ञेयत्व' और 'अभिधेयत्व' को ध्यानमे रखकर सप्त पदार्थोका परिगणन किया है। वैशेषिक दशनने शब्दबोध्य पदार्थों को दो भागो मे विभक्त किया है (१) भावपदाथ और (२) अभाव पदाथ। जिस वस्तु की सत्ता (विद्यमानता) है, उसे भाव-पदाथ कहते है और जिसकी सत्ता नही है उसे अभाव पदाथ कहते हैं। यह

---

१ 'प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा, तया प्रवतत इत्यान्वीक्षिकी-न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्।'–(वात्स्या १।१।१)

२ न्यायदशनके १६ पदाथ—(१) प्रमाण, (२) प्रमेय, (३) सशय, (४) प्रयोजन, (५) दृष्टान्त, (६) सिद्धान्त, (७) अवयव, (८) तक, (९) निणय, (१०) वाद, (११) जल्प, (१२) वितण्डा, (१३) हेत्वाभास, (१४) छल, (१५) जाति, (१६) निग्रह स्थान।

३ वैशेषिकदशनके ७ पदार्थ—(१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कर्म, (४) सामान्य, (५) विशेष, (६) समवाय और (७) अभाव।

दशन भाव और अभाव दोनोको वास्तविक समझता है। भाव पदार्थोंमे भी 'सत्ता' और 'वृत्ति'का अन्तर किया गया है। जो देश तथा कालमे वतमान रहे वह 'सत्ता' (Ixistance) ह, और जिसका दैशिक (Spatial) या कालिक (Temporal) अस्तित्व नही है, वह 'वृत्ति' (Subsistenee) है। द्रव्य गुण और कर्म ऐसे भाव पदाथ (Positive entities) ह, जिनकी 'सत्ता' कही जाती है। न्यायदशनके अनुसार द्वितीय पदार्थ 'प्रमेय' है। प्रमाणके द्वारा जो जाने जाते है, उन्हे 'प्रमेय'[1] कहते है।

उक्त दोनो दशनोके पदाथ विभाजनको देखनेपर किसका विभाजन उचित समझा जाय ? यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। किन्तु दोनो दर्शनोके दृष्टिकोणो को समझनेपर जिज्ञासाका समाधान हो जाता है। दोनोने विभिन्न अर्थोमे 'पदाथ शब्दका प्रयोग किया है। वैशेषिकने सत्तापदाथ (Ontological categories) की दृष्टिसे 'पदाथ शब्दका प्रयोग किया है। जो जो सत्ताएँ जगत मे है, वे सब उक्त छह पदार्थो की ही किसी न किसी कोटि में आवेंगी। अत वैशेषिक की दृष्टिसे छह प्रकारकी मूल सत्ताएँ—(Fundamental entities) षट पदाथ है, और न्यायदशनने 'पदाथ' शब्दका प्रयोग, प्रमाणोके द्वारा विवेच्य विषय (Epistemolcgical Categories) की दृष्टि से किया है। यही न्याय और वैशेषिक के दृष्टिकोण में भिन्नता है। दोनोकी पदाथ नामावली तथा सख्यामे भेद रहते हुए भी परस्पर विरोध नही है। सामान्य, विशेष और समवाय ये भाव पदार्थ है तथापि सत्तावान नही है अर्थात् वे किसी द्रव्य, गुण, कम की तरह किसी देश विशेष तथा काल विशेष में नही रहते, इसलिये उनमें सत्ता (Existence in Time & Space) नही, केवल वृत्तिता (Being) मात्र है। जगत के सम्बन्ध मे न्यायदशन और वैशेषिकदशनके विचार समान है। न्यायदर्शन का तत्त्वविचार उसके प्रमाण विचार पर निभर है। न्यायदशन मे उक्त चार प्रमाणो मे प्रथम प्रमाण 'प्रत्यक्ष है। इस पर भारतीयदाशनिको ने बडा ही सूक्ष्म विचार किया है। 'उस असन्दिग्ध अनुभवको 'प्रत्यक्ष' कहते है, जो इन्द्रियके सम्बन्धसे उत्पन्न होता है और यथाथ भी होता है[2]।' प्रत्यक्षके इस

---

१ (१) आत्मा, (२) शरीर, (३) इन्द्रिय, (४) अथ, (५) बुद्धि, (६) मन, (७) प्रवत्ति, (८) दोष, (९) प्रेत्यभाव (पुनजन्म), (१०) फल, (११) दुख और (१२) अपवर्ग।

२ न्या सू १।१।४]

लक्षणको प्राय सभी दार्शनिक स्वीकार करते है, तथापि कतिपय नैयायिक तथा वेदान्ती इसे स्वीकार नही करते । उनका कहना है कि इन्द्रियसन्बन्ध के बिना भी प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है । ईश्वर को सभी विषयो का प्रत्यक्ष ज्ञान बिना इन्द्रियसम्बन्ध के ही होता है, क्योकि ईश्वर को इन्द्रिया नही है । रज्जु-सपकी प्रतीति मे वास्तविक मप के साथ बाह्य इन्द्रियो का सम्बन्ध नही रहता, एव सुख दु खादि मानसिक भावोका प्रत्यक्ष, बाह्य इन्द्रिय के सम्बन्धके बिना ही हुआ करता है । इससे यह स्पष्ट है कि उक्त प्रत्यक्षलक्षण (इ द्रिय-सम्बन्ध), प्रत्यक्ष ज्ञानके सभी भेदो का सामान्यलक्षण नही है । सभी प्रत्यक्षो का सामान्यलक्षण इन्द्रिय सम्बन्ध नही, बल्कि 'साक्षात प्रतीति' है । किमी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान तब होता है जब उसका साक्षात्कार होता है, अर्थात जब उस वस्तुका ज्ञान बिना किसी पुराने अनभव या बिना किसी अनुमान के होता है[1] । प्रत्यक्ष, लौकिक और अलौकिक दो प्रकारका हो सकता है । लौकिक प्रत्यक्ष भी बाह्य तथा मानस दो प्रकारका होता है । अर्थात चाक्षुष, श्रौत्र, स्पाशन, रासन, घ्राणज तथा मानस भेदमे लौकिक प्रत्यक्षके छह प्रकार होते है । तथा सामान्य-लक्षण, ज्ञान लक्षण, और योगज भेदसे अलौकिक प्रत्यक्ष तीन प्रकारका होता है ।

याय-वैशेषिक दशनके अनसार छह ज्ञानेन्द्रियोमे से पाच बाह्य और एक अन्तरिन्द्रिय है । घ्राण, जिह्वा, चक्षु, त्वक् और श्रोत्र इन पाच बाह्य ज्ञानेन्द्रियो के द्वारा क्रमश गन्ध, रस, रग, स्पश और शब्दका ज्ञान होता है । प्रत्येक इन्द्रिय उस भौतिक तत्वसे निर्मित है, जिसका विशेष गुण वह जान सकती है । इस कारण ये इ द्रिया भौतिक कहलाती है । 'मन' अन्तरिन्द्रिय है, इसके द्वारा आत्मा की इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख तथा दु खका प्रत्यक्ष होता है । यह बाह्य इद्रियोकी तरह भूतोसे निर्मित नही ह । लौकिक प्रत्यक्ष के बाह्य और मानस दो भेदो की तरह और भी दो भेद निर्विकल्पक तथा सविकल्पक नामसे किये गये है । इन दो भेदोका आधार प्रत्यक्षका अविकसित और विकसित रूप है । इनके अतिरिक्त प्रत्यक्षका एक प्रकार और है जिमे 'प्रत्यभिज्ञा' प्रत्यक्ष कहते है । अलौकिक प्रत्यक्ष तो हमेशा निश्चित और स्पष्ट होनेसे सभी सविकल्पक होते है । निर्विकल्पक प्रत्यक्षमे किमी वस्तुके अस्तित्वमात्रका ज्ञान होना है, वह वस्तु क्या है, यह स्पष्ट ज्ञान नही हो पाता । इस प्रकारके अस्पष्ट प्रत्यक्ष' को 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' कहते है । और किसी वस्तुके स्पष्ट तथा निश्चित प्रत्यक्षको सविकल्पक

---

१ तकभाषा, सि० मुक्ता०, तत्वचिन्तामणि ।

प्रत्यक्ष कहते है। सविकल्पक प्रत्यक्षमे वस्तुके धर्मोंका स्पष्ट ज्ञान रहता है। निर्विकल्पक मे वस्तु के अस्तित्वमात्र का ज्ञान होता है, किन्तु सविकल्पकमे यह वस्तु अमुक है, यह स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के हुए बिना सविकल्पक प्रत्यक्ष नही हो सकता। वस्तु क्या है यह जाननेके लिये उसका अस्तित्व पहले जानना आवश्यक है।

प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षमे 'प्रत्यभिज्ञा' की व्युत्पत्ति 'अभिज्ञाम प्रतिगता इति प्रत्यभिज्ञा' होती ह। जिस वस्तु का पहिले साक्षात्कार हो चुका है, उसीका पुन प्रत्यक्ष होनेपर प्रत्यभिज्ञा' (Recognition=पहिचान) होती ह। साधारण प्रत्यक्ष, इन्द्रियजन्य होता है, किन्तु प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष इन्द्रिय और पूव सस्कार दोनोके योगसे उत्पन्न ह ता है। साधारण प्रत्यक्ष केवल वतमानावगाही होता है, किन्तु प्रत्यभिज्ञा में वतमान और भूत (अतीत) दोनो का मिश्रण रहता है।

पूर्वोक्त अलौकिक प्रत्यक्ष के तीन प्रकार श्री गगेशोपाध्याय ने बताये है— सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण और योगज। एक वस्तु का देखने से उसकी सजातीय वस्तुओका भी जहा ज्ञान होता है, वहा सामान्यलक्षण प्रत्यासत्ति रहती है। एक व तु को देखकर तत्सजातीय वस्तुओका प्रत्यक्ष ज्ञान, 'सामान्यज्ञान'के बलपर होता है। यह सामान्यज्ञान, अलौकिक सन्निकषसे होता है। जैसे किसी एक मनुष्य या गाय आदि पशु को देखकर ससारके सभी मनुष्य और गो जातिका ज्ञान हो जाता है। यह मनुष्यजाति या गोजातिका ज्ञान, अलौकिक प्रत्यक्षके द्वारा होता है। अर्थात् मनुष्यव्यक्ति या गोव्यक्तिको देखकर उसे क्रमश यह मनुष्य और यह गो है जानते है, तो यह स्वीकार करना ही पडता है कि हमे उसमे मनुष्यत्वका और गोत्वका (सामान्य=जातिका) भी प्रत्यक्ष अवश्य ही होता है। अन्यथा किसी मनुष्यव्यक्तिको देखकर या गो व्यक्तिको देखकर हम नही कह सकते कि यह मनुष्य है, और यह गौ है। अर्थात व्यक्तिके प्रत्यक्ष अनुभवके साथ ही उसके मनुष्यत्वका तथा गोत्वका भी प्रत्यक्ष अनुभव होता है। तभी हम ससारभर के मनुष्यत्वधमविशिष्ट या गोत्वधमविशिष्ट सभी व्यक्तियो को बिना किसीके बताये जान लेते हैं। सामान्यज्ञान के द्वारा ही इस प्रकारका प्रत्यक्ष होता है, इसलिए इसे 'सामान्यलक्षणप्रत्यक्ष' कहते है। ज्ञानलक्षणअलौकिकप्रत्यक्ष तब होता है, जब विभिन्न इन्द्रियो द्वारा होनेवाले ज्ञान, आपस मे मिलकर एक हो जाते है, अर्थात एक इन्द्रिय, दूसरी इन्द्रियके ज्ञान का भी जब अनुभव करती है। जैसे नीबू को देखते ही कहा जाता ह कि यह खट्टा है, किन्तु खट्टेपन का

ज्ञान तो रसनेन्द्रियसे होता है, चक्षुरिन्द्रियसे नही, तथापि नीबूके देखते ही अर्थात् चक्षुरिन्द्रियसे ही जो उसके खट्टेपनका ज्ञान हो रहा है वह अलौकिक सन्निकर्ष के बलपर हो रहा है। अतीतकालमे अनेक बार नीबूको देखा है और चूसा भी है। अत दोनो इन्द्रियोके भिन्न-भिन्न विषय होते हुए भी उनमें एक सम्बन्ध स्थापित हो गया ह। अतएव नीबू को देखते ही उसके खट्टेपनका अनुभव भी साथ-साथ हो जाता है। खटाईका वतमान अनुभव, खटाईके अतीत ज्ञानपर आधारित ह। इसलिये इसे 'ज्ञानलक्षण' प्रत्यक्ष कहते है। इसके अनुसार एक इन्द्रिय, दूसरी इन्द्रियके ज्ञानका अनुभव करती है, जो साधारणतया सभव नही है यही इसकी अलौकिकता है।

अलौकिक प्रत्यक्षका तीसरा प्रकार 'योगज' है। इस योगज प्रत्यक्षके द्वारा भूतकालीन, भविष्यतकालीन, गूढ तथा सूक्ष्म सभी प्रकार की वस्तुओ का प्रत्यक्ष होता है। साधारण लोगो की इन्द्रियशक्ति सीमित होती है। उस सीमित शक्तिसे वे लोग सार्वकालिक और गूढ, सूक्ष वस्तुओ का प्रत्यक्ष नही कर पाते। सार्वकालिक, गूढ गूढतर, सूक्ष्म सूक्ष्मतर वस्तुओका प्रत्यक्ष, योगसाधनासिद्ध सहजप्राप्त अलौकिकशक्तिसम्पन्न व्यक्तियोको ही हो पाता है। जिन व्यक्तियो को अविनाशिनी योगजशक्ति प्राप्त रहती है, उन व्यक्तियोको 'युक्तयोगी' कहते है, और जिन्होने योग मे आशिक सिद्धि प्राप्त की है, उन्हे 'युञ्जानयोगी' कहते है। युञ्जान व्यक्ति को योगज शक्ति सहज प्राप्त नही रहती, किन्तु उसे उस शक्तिकी प्राप्तिके लिए कुछ ध्यान, धारणा करनी पडती है।

न्यायदर्शन में उक्त सामान्यलक्षण तथा ज्ञानलक्षण अलौकिक प्रत्यक्ष को वेदान्ती नही मानते। वे शास्त्रसम्मत केवल योगजप्रत्यक्ष का ही मानते है।[1] इस प्रकार लौकिक तथा अलौकिक भेदसे प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद बताये गये है। अन्य सभी प्रमाण इस प्रत्यक्षप्रमाण के आधारपर ही आश्रित रहते है।

इन प्रमाणोके द्वारा ही 'प्रमेय' का सम्यक् ज्ञान हो पाता है, और प्रमेय के सम्यक् (यथार्थ) ज्ञान होनेपर ही मुक्ति का लाभ होता ह। अत न्याय-वैशेषिक दर्शनका आग्रह ह कि ससारी मानवको प्रमाणोका ज्ञान प्राप्त करके उनके द्वारा प्रमेयका ठीक-ठीक ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिये।

गजाननशास्त्री मुसलगावकर

---

१ अद्वैतसिद्धि, वेदान्तपरिभा

॥ व्याख्याप्रयोजनम् ॥

येन न्यायनये न पण्डितनृपाद् राजेश्वरद्राविडात्
स्वाध्यायावसर प्रयत्नशतकेनाप्याापि दुर्दैवत ।
अशेनापि तदीयपाठनकला तेनाप्युपेता भवे-
दित्यालोच्य मयाऽवधानसहितेनेय कृतिस्तन्यते ॥

श्रीमद्गुरोमुखाम्भोजान्निगता तत्त्वदीधितिम् ।
आत्मन्याधाय सुधिया पुरो न्यस्यामि वो मुदे ॥

अनेन मम यत्नेन प्रीयन्ते यदि पण्डिता ।
तदाह कृतकृत्य स्या श्रमस्य फलवत्तया ॥

विद्वच्चरणावनतो
गजाननशास्त्रि-मुसलगाँवकर

विषयानुक्रमणिका

(प्रत्यक्षखण्डे पदार्थसामान्यनिरूपण नाम प्रथम प्रकरणम्)

(प्रत्यक्षखण्डे द्रव्यनिरूपण नाम द्वितीय प्रकरणम्)

अथ प्रत्यक्षखण्डे बुद्धिनिरूपण नाम तृतीय प्रकरणम्

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली

भाषापरिच्छेदापराभिधा च कारिकावली

बालप्रियाव्याख्योपेता

(मङ्गलाचरणम्)

● (मुक्ता०) चूडामणीकृतविधुर्वलयीकृतवासुकि ।
भवो भवतु भव्याय लीलाताण्डवपण्डित ॥ १ ॥

● (बा० प्रि०) (ताण्डवनृत्त के समय) जिसने शिरोभूषणमणि के स्थान मे चन्द्रमा को धारण किया और ककण के स्थान मे 'वासुकि' सप को धारण किया, ताण्डनवनृत्त करने मे कुशल (ऐसे वे) शिवजी (सबके) कल्याण के लिए हो अर्थात सब का कल्याण करे ।

उक्त मङ्गलाचरण के द्वारा ताण्डवनृत्त करनेवाले शिवजी की प्राथना से यह ध्वनित हो रहा है कि नृत्त नृत्य आदि का समय आनन्दजनक होता है, उस समय अभीष्ट फल की प्राप्ति होना सम्भव है, यह विचार कर श्री विश्वनाथ-पचानन भट्टाचाय ने अपने क्रियमाण ग्रन्थ (मुक्तावलि) की निर्विघ्नतया शीघ्र समाप्ति हो जाय, इस अभीष्ट फल के प्राप्त्यथ उन्ही शिवजी की प्राथना की है ।

शका—उपर्युक्त मङ्गलाचरण के श्लोक (पद्य) में कुछ विद्वान् 'समाप्त-पुनरात्तत्व' नामक दोष प्रदर्शित करते है ।

उनका यह कहना है—'समाप्तपुनरादानात् समाप्तपुनरात्तता' इस लक्षण से जिस प्रकार 'उदयति चन्द्र कुमुदबन्धु' मे 'चन्द्र उदयति' इस प्रकार चन्द्र का 'उदयति' क्रिया के साथ अन्वय हो जाने से शान्त आकाक्षावाले 'चन्द्र' इस विशेष्यवाचक पद का 'कुमुदबन्धु इस विशेषण के द्वारा पुन अनुसन्धान करन उचित नही है । अर्थात निराकाक्ष हुए 'चन्द्र' पद में पुनः 'कुमुदबन्धु' विशेषण जोडना अनुचित (व्यथ) है । यही 'समाप्तपुनरात्तत्व' दोष इसी दोष को अन्य शब्दो में इस प्रकार भी कहा जाता है—'क्रिय

शान्ताकाक्षस्य विशेष्यवाचकपदस्य पुनरुत्तरान्वयाथ पुनरनुसन्धान समास-पुनरात्तत्वम्' । निर्दिष्ट उदाहरण के ... मगलाचरण के श्लोक में 'भवो भवतु भव्याय' इस प्रकार अन्वय करने ... 'भव' पद की आकाक्षा शान्त हो जाती है, तब पुन 'लीलाताण्डवप... विशेषण देना उचित नही है, क्योकि 'भव' के साथ इस विशेषण (लीलाता...त) को अन्वित करने पर (जोडने पर) 'भव' के स्मरण करने की पुन आव... होती है—यही 'समास-पुनरात्तत्व' दोष है। अत 'लीलाताण्डवपण्डित' यह ... देना चाहिये।

समाधान—चन्द्रमा को शिरोभूषण क्यो बनाया ? और ... वासुकी सप को कर-ककण बनाया ? यह आकाक्षा होती है। और काय की सिद्धि निराकाक्ष होने पर ही होती है, इसलिये 'लीलाताण्डवपण्डित' यह विशेषण देना उचित ही है, अनुचित नही। क्योकि नत्त-नत्य आदि मे आभूषणादि की ही तो शोभा है। **अथवा**—'लीलाताण्डवपण्डित' पद, यहा पर विशेष्य ह, विशेषण नही। अत 'समासपुनरात्तत्व' नामका काव्यदोष उक्त श्लोक में नही है ॥ १ ॥

निजनिर्मितकारिकावलीमतिसङ्क्षिप्तचिरन्तनोक्तिभि ।
विशदीकरवाणि कौतुकान्ननु राजीवदयावशवद ॥२॥
सद्रव्या गुणगुम्फिता सुकृतिना सत्कर्मणा ज्ञापिका
सत्सामान्यविशेषनित्यमिलिताभावप्रकर्षोज्ज्वला ।
विष्णोर्वक्षसि विश्वनाथकृतिना सिद्धान्तमुक्तावली
विन्यस्ता मनसो मुद वितनुता सद्युक्तिरेषा चिरम् ॥३॥

मैं (विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचाय) राजीवनामक शिष्य पर दयावशगत होने के कारण[1] गोतम कणादादि प्राचीन महर्षि ग्रन्थकारो के अत्यन्त सक्षिप्त वचनो को लेकर स्वय रची हुई कारिकावली अर्थात भाषापरिच्छेद नामक ग्रन्थ के अथ को अत्यन्त उत्साह से सुस्पष्ट करता हूँ ॥ २ ॥

मैंने (विश्वनाथ पचानन भट्टाचाय नाम के चतुर विद्वान ने) सिद्धान्त मुक्तावली नामक व्याख्या ग्रन्थ बडा ही युक्तियुक्त निर्माण किया है, और उसे

१—राजीव नामक शिष्य ने शुश्रूषा तथा श्रद्धा, भक्ति, विनय आदि अपने सदगुणो से गुरु का इतना प्रसन्न किया था जिससे उनका चित्त दयाद्र हो उठा और वे दया के अधीन हो गये। सेवा से वशीभूत हुए गुरु शास्त्ररहस्य को अतिशीघ्र शिष्य के हृदय मे उतार देते है। इसीलिए कहा गया है —'गुरु शुश्रूषया विद्या'। शुश्रूषा (सेवा) से बढकर अन्य कोई उपाय नही है।

(मुक्तावली को) भगवान विष्णु के वक्षस्थल पर अपण[1] किया है (पहनाया है) यह ग्रन्थ विद्वानो के चित्त को सदा प्रसन्न करता रहे। मुक्तावली ग्रन्थ की मुक्तावली (मोतियो की माला) से उपमा दे रहे है। इस ग्रन्थ में नौ द्रव्य, चौबीस गुण, उत्क्षेपणादि पाँच कम, सामान्य विशेष, समवाय तथा प्रागभाव आदि अभाव कहे गये हैं। मुक्तामाला (मोतियो की माला) भी द्रव्यसाध्या (द्रव्य होने से मिलती है), गुणो से (सूत्र से) ग्रथित (गुम्फित) रहती है, उस माला को धारण करनेवाले (पहननेवाले) के भाग्य और सत्कम को सूचित करती है, सुन्दर जाति के मोतियो की वह (माला) होती है, महत्त्व-निमलत्व (बडे छोटे व उजले दाने) आदि से निरन्तर युक्त रहती है, और तेज के अभाव (अ धकार) मे दीपक के समान पदार्थों को प्रकाशित करती है ॥ ३ ॥

(कारिकावली)

मङ्गलाचरणम्

(*) नूतनजलधररुचये　　गोपवधूटीदुकूलचौराय ।
तस्मै कृष्णाय नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय ॥ १ ॥

अन्वय —नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय ससारमहीरुहस्य बीजाय तस्मै कृष्णाय नम ।

● नूतनजलधररुचये०—नूतनश्चासौ जलधरो मेघो नूतनजलधर, नूतनजलधरस्य रुचिरिव रुचिर्यस्य स नूतनजलधररुचि तस्मै। जिस प्रकार सजल मेघ वृष्टि प्रदान कर जनसमूह को प्रसन्न कर देता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण भी अपने भक्तजनो की अभिलाषा को पूण कर उन्हे आनन्द प्रदान करें।

(१) गोपवधूटीदुकूलचौराय०—गा पान्तीति गोपा, गोपाना वधूट्य, गोपवधूटीना दुकूलानि गोपवधूटीदुकूलानि, चोरयति य स चौर, गोपवधूटीदुकूलाना चौर, तस्मै गोपवधूटीदुकूलचौराय। गौओ का पालन करनेवाले ग्वालो की स्त्रियो के वस्त्रो को चुरानेवाले भगवान् श्रीकृष्ण ने जिस प्रकार

१—"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदपणम्" इस गीतावचन के अनुसार मुक्तावली के तुल्य अपने रचित ग्रथ को भागवदपण किया गया है।

ग्वालबालाओ के वस्त्रो का अपहरण किया उसी प्रकार मेरे मिथ्याज्ञान का भी अपहरण वे करें ।

(२) **अथवा**—गा इन्द्रियाणि पान्तीति गोपा जीवात्मान तेषा वधूट्य दु खजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानि, ता एव दुकूलानि मोक्षावस्थाऽऽच्छादकत्वात, तेषा चौर स्वसहित-यावत् तत्त्वविषयकश्रवण मनन निदिध्यासनद्वारा नाशक तस्मै । इन्द्रियो के पालक जो जीवात्मा, उनके दु खजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानस्वरूप वस्त्रो (मोक्षावरणो) को चुरानेवाले अथवा अपना श्रवण-मनन निदिध्यासन कराते हुए दु खजन्मप्रवत्ति आदि का नाश करनेवाले ।

(३) **अथवा**—गा पृथ्वी पातीति गोपो युधिष्ठिर , तस्य वधूटी द्रौपदी, तस्याः दुकूलानि एकोनसहस्र (९९९) वस्त्राणि तेभ्य (तदथ), चौर अदृश्यतया सभाया स्थितः, तस्मै ।

अथवा चौराय चौलाय वधयित्रे ।

धमराज युधिष्ठिर की पत्नी द्रौपदी को नौ सौ निन्यानबे वस्त्र वितरण करने के निमित्त सभा में अदृश्य होकर स्थित रहनेवाले ।

(४) **अथवा—'गोपवधूटीदुकूलचौराय'**—गाम पातीति गोप मन , तस्य वधूटी स्त्री जो बुद्धि , तस्या दुकूलानि अज्ञानादिवस्त्राणि, तेषा चौराय ।

संसारमहीरुहस्य बीजाय—ससार जन्मस्थितिलयशील जगत स एव महीरुह वृक्ष तस्य बीजाय निमित्तकारणाय ।

जो समस्त ससार का उत्पादक और सरक्षक है उसे मेरे मनोरथो को पूर्ण करने में कौनसी कठिनाई होगी ।

तस्मै—'तत' पद की शक्ति बुद्धिस्थ प्रकारावच्छिन्न में है । यहाँ पर बुद्धिस्थ-प्रकार 'इष्टसिद्धिप्रदातृत्व' है । अत इष्टसिद्धिप्रदातृत्व गुण से विशिष्ट, 'कृष्णाय' भगवान कृष्ण को 'नम ' मेरा प्रणाम है ।

कृष्ण—कषति सवदैव आनन्दस्वरूप होने से अपने आश्रितो के सकल दु खो का जो उन्मूलन करता है । 'कृषिभू वाचक शब्दो णश्च निवृतिवाचक । कृष्ण स्तद्भावयोगाच्चेति कृष्णशब्दस्य व्युत्पत्ति ।

नवीन मेघ की कान्ति के तुल्य कान्तिसम्पन्न, गोपाङ्गनाओ के वस्त्रो का अपहरण करनेवाले और ससाररूपी वृक्ष के निमित्त कारण, विश्वप्रसिद्ध उस भगवान श्रीकृष्णचन्द्र को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

मन की स्त्री जो बुद्धि उसके जो अज्ञानादि वस्त्र, उनके चुरानेवाले अर्थात अज्ञान को दूर करनेवाले। इस विशेषण से यह सिद्ध होता है कि 'नग्न स्नान धमशास्त्र में निषिद्ध है' इस कारण उनके वस्त्र चुराकर भगवान ने उनको जैसे शिक्षा दी, तद्वत् मेरे दोषो को दूर कर मेरे मनको प्रेरणाद्वारा वही भगवान श्रीकृष्ण शिक्षा दें, यह ध्वनित होता है।

विघ्नविघाताय[1] कृत मङ्गल शिष्यशिक्षायै निबध्नाति–नूतनेत्यादि।

● (बा० प्रि०) कर्तव्य ग्र थ[2] की निर्विघ्न समाप्ति के लिए मगल[3] किया जाता है। किन्तु ग्रन्थारम्भ मे मगल लिखने का प्रयोजन शिष्यो को शिक्षा देना ही है। उसी उद्देश्य से 'नूतन' इत्यादि श्लोक मगल के रूप मे लिखा गया है।

१—'विघाताय' पद में 'वि + घात' दो अश है। पहिला उपसग है और दूसरा प्रातिपदिक ह। दूसरे पद (प्रातिपदिक) की स्वाथवाचकता समस्त शास्त्रकारो के मत से निश्चित है, किन्तु उपसग मे कुछ लोग वाचकता और कुछ लोग द्योतकता मानते है। द्योतकतावादी के पक्ष में तो कोई दोष नही है, लेकिन वाचकतावादी के पक्ष में 'घात' प्रातिपदिक का अथ ही उत्पत्तिवाले पदाथ का अभाव होने से 'वि' पद व्यथ हो जाता है, तथापि शास्त्रकारो का यह सकेत है कि जहा विशिष्टवाचक पद के समीप विशेषणवाचक पद होता है, वहा विशिष्टवाचक पद में विशेष्यमात्र की वाचकता होती है। जैसे सकीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रै' महाकवि कालिदास के इस श्लोक में 'कीचका वेणवस्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धता' इस अमरकोष के अनुसार जो वायु से पूण होकर शब्द करने वाले बाँस होते है, उन्ही को 'कीचक' कहते है। तब मारुतपूर्णरन्ध्रत्व को कीचक का विशेषण बनाकर रखना व्यर्थ हुआ। इस पर समाधान यह दिया जाता है कि यहाँ पर विशिष्टवाचक पद को विशेष्यमात्र का वाचक समझना चाहिये। अर्थात् 'कीचक' पद का केवल बास अथ करना और 'मारुतपूणरन्ध्रै' पद का 'पवन से भर कर शब्द करनेवाले' ऐसा अथ करना चाहिये। ऐसा करने से विशेषण देना व्यथ नही होगा। उसी प्रकार प्रस्तुत में भी केवल 'घात' पद का अथ 'अभाव' मात्र है, और 'वि'—इस विशेषण के लगाने से 'उत्पत्तिवाले का अभाव' यह अथ होता है। अत: वाचक पक्ष में भी कोई दोष नही होगा।

२—इस मुक्तावली ग्रन्थ की तीन प्रकार (उद्देश, लक्षण, परीक्षा) से प्रवृत्ति हुई है। नाममात्र से वस्तु का जो कथन है, वह (१) उद्देश है। जैसे

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष, समवाय तथा अभाव। जिस वस्तु का जो असाधारण (मुख्य) धर्म रहता है, वही उस वस्तु का (२) लक्षण कहा जाता है, जैसे—गन्ध गुण केवल पृथिवी का ही है अर्थात् पृथ्वी का असाधारण धर्म है, इसलिये 'गन्धवत्व' (गन्ध का होना) ही पृथ्वी का लक्षण समझा जाता है। जिस वस्तु का लक्षण किया गया है, वह लक्षण उस वस्तु में सम्भव भी है या नही, इस विचार को (३) 'परीक्षा' कहते हैं। जैसे–'पृथ्वी, जलादि इतर पदार्थों से भेदवाली (भिन्न) है, गन्धवाली (गन्धविशिष्ट=युक्त) होने से'। जो जो वस्तु, जलादि पदार्थों से भेद करा देनेवाली नही है, वह वह गन्धवाली भी नही है, जैसे—जलादि वस्तु। यही शास्त्र की त्रिविध प्रवृत्ति है। इसके बिना किसी भी शास्त्र की प्रवृत्ति नही हो सकती। —

बुद्धिमान् पुरुषो की शास्त्र मे प्रवृत्ति, उसके अनुबन्धो को जाने विना नही हो सकती। वे अनुबन्ध चार होते है। जैसे–(१) अभिधेय (विषय), (२) प्रयोजन, (३) अधिकारी, (४) सम्बन्ध। शास्त्र के सम्बन्ध तथा प्रयोजन को जानकर ही उसके श्रवण करने में श्रोता प्रवृत्त होता है। इस कारण शास्त्र के प्रारम्भ में विषयादि अनुबन्धो को अवश्य बताना चाहिये। अनुबन्धत्व नाम— ग्र थप्रवृत्ति-प्रयोजकज्ञानविषयत्वम।' अत —'अनुबन्ध' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है— 'पुरुषमनुबध्नाति स्वज्ञानेन प्रेरयति–इति अनुबन्ध।

(१) **अभिधेय**—'शास्त्रजप्रमानिवर्त्याऽज्ञानगोचरोऽभिधेय'। जिस शास्त्र जन्य प्रमाज्ञान से निवत्त होने योग्य अज्ञान का जो पदार्थ विषय होता है वही पदार्थ, उस शास्त्र का अभिधेय (विषय) समझा जाता है। जैसे–'न्याय सिद्धान्तमुक्तावली' के अध्ययन स पूर्व द्रव्यादि पदार्थों का अज्ञान रहता है, वह अज्ञान उस 'न्याय सिद्धान्तमुक्तावली' के अध्ययनजनित यथार्थज्ञान से निवृत्त हो जाता है, अत द्रव्यादिपदार्थ, इस 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' के अभिधेय (विषय) हैं।

(२) **प्रयोजन**—'यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत प्रयोजनम।' मनुष्य जिस पदार्थ की प्राप्ति के उद्देश से उसके साधन (सम्पादन) मे प्रवृत्त होता है, उसे प्रयोजन कहते हैं।

(३) **अधिकारी**—'द्विविध' प्रयोजन-प्राप्तिकामोऽधिकारी' मुख्य अथवा गौण किसी भी प्रकार के प्रयोजन की कामनावाला पुरुष इसका **अधिकारी** होता है।

(४) **सम्बन्ध**—सम्बन्धस्त्वनेकविध —यथा अभिधेय शास्त्रयो प्रति पाद्य प्रतिपादकभाव सम्बन्ध। पदार्थतत्त्वज्ञान शास्त्रयोजन्यजनकभाव सम्बन्ध

नि श्रेयस शास्त्रयो प्रयोज्य प्रयोजकभाव सम्बन्ध । तथा नि श्रेयस पदाथतत्त्व ज्ञानयो प्रयोज्य प्रयोजकभाव सम्बन्ध । द्रव्यादिपदाथ तत्त्वज्ञानयो विषय-विषयिभाव सम्बन्ध । नि श्रेयसाधिकारिणो प्राप्य प्रापकभाव सम्बन्ध । अधिकारि विचारयो कतृ कतव्यभाव सम्बन्ध ।

सम्बन्ध अनेक प्रकार के है। जैसे—अभिधेय और शास्त्र का प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है। यहा द्रव्यादि अभिधेय प्रतिपाद्य है और मुक्तावली प्रतिपादिका है। पदाथतत्त्वज्ञान तथा ग्रन्थ का जन्य-जनकभाव सम्बन्ध है। यहा पर पदाथतत्त्वज्ञान जन्य है और यह ग्रन्थ उसका जनक है। नि श्रेयस और शास्त्र का प्रयोज्य प्रयोजकभाव सम्बन्ध है, यहाँ पर नि श्रेयस प्रयोज्य है और यह ग्रन्थ उसका प्रयोजक है। नि श्रेयस और पदाथ तत्त्वज्ञान का प्रयोज्य प्रयोजकभाव सम्बन्ध है। यहा पर नि श्रेयस प्रयोज्य है और पदाथ तत्त्वज्ञान उसका प्रयोजक है। द्रव्यादिपदाथ तथा तत्त्वज्ञान का विषय-विषयिभाव सम्बन्ध है। यहाँ पर द्रव्यादिपदाथ विषय है और तत्त्वज्ञान विषयी है। नि श्रेयसरूप फल तथा अधिकारी का प्राप्य प्रापकभाव सम्बन्ध है। फल प्राप्य है और अधिकारी प्रापक है। अधिकारी और विचार का कतृ कतव्यभाव सम्बन्ध है। अधिकारी कर्ता है और विचार कतव्य है। इस प्रकार अनुबन्ध चतुष्टय का निरूपण किया गया।

३—किसी भी काय के आरम्भ मे मगल अवश्य करना चाहिए—यह सिद्धान्त केवल नैयायिको का ही नही, अपितु व्याकरण महाभाष्यकार आदि का भी है। महाभाष्यकार कहते है—'मगलादीनि मगलमध्यानि मगलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते, वीरपुरुषाण्यायुष्मत्पुरुषाण्यध्येतारश्च बुद्धियुक्ता यथा स्युरिति' ग्रन्थ के आदि, मध्य तथा अन्त में मगल अवश्य करना चाहिए। मगल करने से रचे हुए शास्त्रो का (ग्रन्थो का) प्रसार प्रचार होता है। उन ग्रन्थो को पढनेवाले लोग वीरता से पूण तथा दीर्घायु एव बुद्धिमान् होते है।

यह मगल तीन प्रकार का होता है—'आशीनमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वाऽपि तन्मुखम्'—१ आशीर्वादात्मक, २ नमस्कारात्मक, ३ वस्तुनिर्देशात्मक। 'परमेश्वरात स्वस्य स्वशिष्यस्य वा वाच्छितार्थप्रार्थनम्—आशीर्वाद ।' अपने या अपने शिष्य के लिये वाञ्छित अर्थ की प्राप्ति के निमित्त परमेश्वर से प्राथना करना ही आशीर्वाद है।

'स्वापकर्षबोधानुकूल स्वीयव्यापारविशेषो नमस्कार ।' प्रणाम के योग्य गुरु अथवा परमेश्वर के प्रति अपनी न्यूनता बोधन करने के लिए प्रणाम करने

ननु [1]मङ्गलं न विघ्नध्वंसं प्रति न वा समाप्तिं प्रति कारणं विनाऽपि[2] मङ्गलं नास्तिकादीनां ग्रन्थे निर्विघ्नपरिसमाप्तिदर्शनादिति चेत् ?

वाले पुरुष के शरीर मन वाणीकृत व्यापार विशेष को ही **नमस्कार** कहते हैं।

'ग्रन्थप्रतिपाद्यवस्तुनो निर्देशनं **वस्तुनिर्देशः**।' ग्रन्थ में प्रतिपादित विषयरूप वस्तु का निर्देशमात्र करना ही **वस्तुनिर्देश** है। जैसे कुमारसम्भव काव्य के प्रारंभ में वस्तुनिर्देशात्मक मंगल है। रत्नावलि आदि ग्रन्थों में आशीर्वादात्मक मंगल है। इस मुक्तावली ग्रन्थ में नमस्कारात्मक मंगल हैं।

जिज्ञासा—यदि ग्रन्थकर्ता को मंगल करना ही था तो मन ही मन में कर लेना था, ग्रन्थ में क्यों लिखा ?

समाधान—मन में मंगल करने से ग्रन्थकर्ता की आस्तिकता या नास्तिकता विद्यार्थियों का प्रकट न हो पाती, अतः 'आगे होने वाले विद्यार्थिगण भी ग्रंथारंभ आदि कार्यारंभ के समय ऐसा ही मंगलाचरण अवश्य किया करें, इस इच्छा से ग्रंथकर्ता ने मंगलाचरण को ग्रंथ के आरंभ में लिपिबद्ध करके दिखाया है।

१—मंगलाचरण और ग्रन्थ-समाप्ति के कार्य कारणभाव का भंग करने के लिए नास्तिक यह अनुमान प्रयोग कर सकता है—'मंगलाचरणम् अयुक्तं निष्फलत्वात्।'

उपर्युक्त अनुमान में 'निष्फलत्व' हेतु को यदि कोई स्वरूपासिद्ध [पक्षे हेत्वभाव **स्वरूपासिद्धि**, अर्थात पक्ष में हेतु का न रहना, '**स्वरूपासिद्धि**' दोष है, **और** साध्य का जहाँ सन्देह रहता है अर्थात् जहां साध्य (वस्तु) की सिद्धि (अस्तित्व) की जाती हैं उसे 'पक्ष' कहते हैं] कहे तो 'मंगलं निष्फलं, फलविशेषशून्यत्वात्' ऐसा अनुमान करेंगे, उससे 'निष्फलत्व' हेतु में दिये गये 'स्वरूपासिद्धि' दोष का निवारण हो जायगा। और नास्तिक द्वारा किये गये उपर्युक्त अनुमान प्रयोग से मंगल और समाप्ति के कार्यकारण भाव का भंग हो जायगा। इसी तात्पर्य से 'ननु' इत्यादि ग्रन्थ से वादी (नास्तिक) ने शंका की हैं।

२—'मंगलं विघ्नध्वंसं प्रति तथा समाप्तिं प्रति कारणत्वाऽभाववत्, कार्याधिकरणवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वात्, घटं प्रति वेमवत्' यह अनुमान व्यतिरेकव्यभिचार का साधक है।

● शका—विघ्नविनाश अथवा ग्रन्थ की समाप्ति के प्रति मगलाचरण कारण होता है—इस प्रकार कार्य कारण भाव मानना उचित नही है, क्योकि मगलाचरण के विना भी नास्तिको के ग्रन्थो (किरणावली आदि) की समाप्ति हो गई है, और मगलाचरण करने पर भी आस्तिको के ग्रन्थो (बाणभट्ट आदि के कादम्बरी आदि) की समाप्ति नही हो पाई।[1] अत मगलाचरण को विघ्नविनाश अथवा ग्रन्थ समाप्ति के प्रति कारण कहना उचित प्रतीत नही हो रहा है।

१—निर्विघ्नता या ग्रन्थ समाप्ति के प्रति मगल यदि कारण हो तो निर्विघ्नता या ग्रन्थसमाप्ति के लिए ग्रन्थारम्भ में मगल करना उचित है, किन्तु निर्विघ्नता या ग्रन्थसमाप्ति में मगल की कारणता सिद्ध नही हो पा रही है, क्योकि काय कारण का **'अन्वयसहचार ज्ञान'** [(कारणसत्त्वे कायसत्त्वम् अन्वयसहचार)=कारण के रहते काय की उत्पत्ति होना अन्वय सहचार ह, जैसे—मृत्तिका कुलाल आदि कारणो के रहने पर घट रूप कार्य की उत्पत्ति होती है। तथा **'व्यतिरेक सहचार ज्ञान'** (कारणाभावे कार्याभावो व्यतिरेकसहचार)=कारण के न रहने पर काय की उत्पत्ति न होना, व्यतिरेकसहचार है। जैस—मृत्तिका कुलाल आदि कारणो के न रहने पर घट (काय) का उत्पत्ति नही होती] ये दोनो कारणता के निश्चायक होते है, किन्तु ये दोनो यहाँ नही है। प्रत्युत **अन्वय व्यभिचार ज्ञान** [(कारणसत्त्वे कार्याभाव अन्वयव्यभिचार) = कारण के विद्यमान होने पर भी काय की उत्पत्ति न हो पाना अन्वयव्यभिचार है तथा **व्यतिरेकव्यभिचार ज्ञान** (कारणाभावे कायसत्त्व व्यतिरेकव्यभिचार)=कारण के न रहने पर भी काय की उत्पत्ति होना व्यतिरेकव्यभिचार ह।] ये दोनो प्रस्तुत में विद्यमान है, जो कारणत्व के निश्चय करनेमे प्रतिबन्धक होते हैं। प्रस्तुत प्रसग में बाणभट्ट आदि ने अपने कादम्बरी-ग्रन्थ मे मगलाचरण किया है किन्तु ग्रन्थसमाप्ति नही हो पाई। अत यहाँ पर अन्वयव्यभिचार का ज्ञान हो रहा है, जो कायकारणभाव के साधक अन्वय-सहचारज्ञान का प्रतिबन्धक है, इसी तरह नास्तिकग्रन्थ (किरणावली आदि) में मगलाचरण के न होने पर भी ग्रन्थसमाप्तिरूप काय की उत्पत्ति हो गई है। अत वहा पर व्यतिरेकव्यभिचार का ज्ञान हो रहा है, जो कार्य-कारणभाव के साधक व्यतिरेकसहचारज्ञान का प्रतिबन्धक है। इसकारण अर्थात् प्रतिबन्धक-ज्ञान होन के कारण मगल और ग्रन्थसमाप्ति दोनो के कार्य-कारण भाव का निश्चय नही हो पा रहा है।

● न, अविगीतशिष्टाचारविषयत्वेन मङ्गलस्य सफलत्वे सिद्धे तत्र च फलजिज्ञासाया, सम्भवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वाद्, उपस्थितत्वाच्च समाप्तिरेव फल कल्प्यते ।

[1]इत्थ च यत्र मङ्गल न दृश्यते तत्रापि जन्मान्तरीय तत्कल्प्यते[2] । यत्र च सत्यपि मङ्गले समाप्तिर्न दृश्यते तत्र बलवत्तरो विघ्नो विघ्नप्राचुर्य वा बोध्यम् । प्रचुरस्यास्यैव बलवत्तरविघ्ननिराकरणकारणत्वम् । विघ्नध्वसस्तु मङ्गलस्य द्वारमित्याहु प्राञ्च ।

नव्यास्तु—मङ्गलस्य विघ्नध्वस एव फल समाप्तिस्तु बुद्धिप्रतिभा-[3] दिकारणकलापात् ।

न चैव स्वत सिद्धविघ्नविरहवता कृतस्य मङ्गलस्य निष्फलत्वापत्तिरिति वाच्यम्,

इष्टापत्ते । विघ्नशङ्कया तदाचरणात् । तथैव शिष्टाचारात् ।

● समा०- मगलाचरण करना धर्मशास्त्र विरुद्ध[4] न होने से शिष्टलोग[5] करते

---

१ 'विनापि मगल' इत्यादि ग्रन्थ से पूवपक्षवादी ने मगल तथा समाप्ति के काय कारणभाव का व्यतिरेक-व्यभिचार ही दिखाया है, अन्वयव्यभिचार नही दिखाया, किन्तु सिद्धान्ती ने यत्र च सत्यपि मगले' इत्यादि ग्रन्थ से अन्वय व्यभिचार का वारण किया है, अत पूवपक्षीय अन्वयव्यभिचारस्थल में 'कादम्बरी' आदि आस्तिक ग्रन्थो को समझना चाहिये ।

२. 'नास्तिकग्रन्थ स्वाश्रयपुरुषप्रयत्नजन्यत्वसम्बन्धेन मगलवान्, स्वप्रतियोगिचरमवणघटितत्वसम्बन्धेन समाप्तिमत्वात् भारतादिवत ।' यहा प्रथम 'स्व' पदसे मगल का ग्रहण और द्वितीय 'स्व' पद से समाप्ति का ग्रहण करना चाहिये । इस अनुमान से जन्मान्तरीय मगल की कल्पना हो सकती है ।

३ विलक्षण बुद्धि का नाम प्रतिभा है । बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञया मतिरागामि गोचरा । प्रज्ञा नव नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा विदु ।" इसके अनुसार नवीन-नवीन उन्मेष पैदा होनेवाली प्रज्ञा को प्रतिभा कहते है ।

४ यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन । स यत्प्रमाण कुरुते लोकस्तदनुवतते।। इस गीतावचन के अनुसार शिष्टपुरुषो के आचार से तथा धमशास्त्र से भी लोगो की प्रवृत्ति हुआ करती है, यह बताया गया है ।

५ मगल की सफलता अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध हो जाती है । जैसे—

चले आ रहे है। अतएव निश्चय किया जा सकता है कि मगलाचरण के करने से कोई न कोई फल अवश्य ही होगा। यहाँ प्रस्तुत प्रसग मे ग्रन्थसमाप्ति[1] ही फल

'मगल सफल अविगीतशिष्टाचारविषयत्वात् दर्शादिवत्' मगल का कोई न कोई फल अवश्य ही होता है, अविगीत (अनिन्दित) शिष्टाचार का विषय होने से। जो वस्तु अविगीत शिष्टाचार का विषय रहती है, वह वस्तु सफल ही रहती है। जैसे दर्शादि कर्म अविगीत शिष्टाचार का विषय होने से स्वर्गादिफलवाला है। अनुमान प्रयोग में दिये गये हेतुगत पदो का अर्थ—'बलवदनिष्टाननुबन्धित्वम अविगीतत्व'। 'फलसाधनाशे भ्रान्तिरहितत्व शिष्टत्वम्।' आचारश्चात्र कृति।' प्रबल अनिष्ट की अजनकता ही अविगीतत्व है। फल के प्रति तथा उसके साधन के प्रति भ्रान्ति का न रहना ही शिष्टत्व है। यद्यपि आचार का अर्थ 'क्रिया' है तथापि वह सविषयक नही होती, इस कारण यहा पर आचार शब्द से प्रयत्न रूप कृति का ग्रहण किया गया है। शिष्ट पुरुषो के अविगीत आचार का विषय 'मगल' है, इसलिये वह (मगल) सफल है, यह सिद्ध होता है।

१ मगल का फल यहा पर पशुपुत्रादि नही है, किन्तु ग्रन्थ की समाप्ति ही फल है इस अभिप्राय से यह परिशेषानुमान करते है—'मगल समाप्तिफलक समाप्त्यन्याफलकत्वे सति सफलत्वात, यन्नैवं तन्नैव यथा दर्शादि।' यह अनुमान पूर्वोक्त व्यतिरेकव्यभिचार का वारक है। मगल, समाप्तिरूपफल का ही जनक है, समाप्ति से अन्य फल का जनक नही है, तथापि उसे फल का जनक माना जाता है। अत जो वस्तु समाप्तिरूपफल का जनक नही होती वह वस्तु, उस समाप्तिरूपफल से अन्य फल की जनक होती है और उसे सफल माना जाता है। जैसे दर्शादि पदार्थ। जैसे दर्शादिकर्म समाप्तिरूप फल से भिन्न, स्वर्गादि फलवाले है और उन्हे सफल कहा जाता है, इसलिये उन दर्शादिकर्मो का फल समाप्ति नही समझी जाती। मगल तो वैसा है नही, वह समाप्तिभिन्न फल से युक्त हो तो उसे सफल नही समझा जायगा। उसे समाप्ति से भिन्नफल का अजनक होते हुए भी सफल माना जाता है। अत मगल का फल समाप्ति ही है, यह निश्चित होता है।

कुछ ग्रन्थकार मगल से समाप्ति होने में श्रुति का प्रमाण भी देते है—'समाप्तिकामो मगलमाचरेत्'—ग्रथ की निर्विघ्न समाप्ति की कामना वाला पुरुष ग्रथारम्भ में मगलाचरण करे। यद्यपि यह श्रुति वर्तमान समय की किसी वेदशाखा मे नही दीखती, तो भी वेद की अनेक शाखाएँ जो उच्छिन्न हो गई हैं, उनमें अवश्य होगी। मगल की कर्तव्यता वेदबोधित होने में अनुमान इस प्राकार किया

हो सकता है, क्योकि उसके अतिरिक्त अन्य किसी फल की सम्भावना नही की जा सकती। फल दो ही प्रकार के होते है—एक दृष्टफल और दूसरा अदृष्टफल। तब दृष्टफल (समाप्ति) के सम्भव रहते अदृष्टफल (स्वग आदि) की कल्पना करना अनुचित है। तब 'प्रारब्ध मे कम निर्विघ्न परिसमाप्यताम' इस प्रकार की स्वाभाविक इच्छा रहने से 'समाप्तिरूप प्रसिद्ध फल' ही उपस्थित होता है, अत मगलाचरण का दृष्ट फल यहाँ समाप्ति[१] ही है ऐसा अनुमान किया जाता है।

नास्तिक के ग्रन्थ मे मगलरूप कारण के न रहने पर भी समाप्तिरूप काय जो दिखाई दे रहा है, वहाँ पूवज म मे कृतमगल से समाप्तिरूप फल दिखलाई पड रहा है—यह कल्पना की जाती है। अर्थात् पूवजन्म के मगलाचरण के प्रभाव से विघ्नो का नाश होकर ग्रन्थ की समाप्ति हो गई है। कादम्बरी आदि ग्रन्थ मे जो मगल के होने पर भी समाप्ति नही दीखती, उसका यही कारण है कि वहाँ बलवान विघ्न या विघ्ना की बहुलता (समूह) है। वे प्रबल विघ्न या उनके समूह, अल्प मगल से नष्ट नही हो सके। क्योकि विघ्नो के नाशाथ प्रचुर (अधिक) मगलो की आवश्यकता रहती है। एक आभाणक (कहावत)

जाम्ना – 'मगल वेदबोधितकतव्यताकम अलौकिकधमशास्त्राऽनिषिद्धशिष्टाचार-विषयत्वात् दर्शादिवत।' वेद ने बोधित की ह कतव्यता जिसकी, उसे वेदबोधित-कतव्यताक कहते है। 'अलौकिक तथा धमशास्त्र से अनिषिद्ध शिष्टाचार का विषय होना' यह हेतु ह। जो जो वस्तु शिष्टाचार का विषय होती है, वह वह वस्तु वेद से बोधितकतव्यतावाली भी होती है, जैसे—दर्शादिकम। (विधिमन्तरा रागादिप्राप्त भिन्न, अलौकिक। वेदप्रामाण्याभ्युपगन्त व शिष्टत्वम्) शास्त्र की आज्ञा के बिना केवल राग आदि स जो वस्तु प्राप्त होती है, वह लौकिक ह, उससे भिन्न जो हो उसे अलौकिक कहने है। वेदो के प्रामाण्य को मानने वाले को शिष्ट कहते है।

१ नास्तिको के ग्रन्थो में समाप्तिरूप काय से पूर्व जन्म के मगलरूप कारण का अनुमान होता है। जैसे–'अय नास्तिक कृतमङ्गलक विघ्नध्वसपूवकसमाप्ति-मत्त्वात् चैत्रवत्।'–यह नास्तिक पूवजन्म मे मङ्गल का कर्ता रह चुका है क्योकि विघ्नो के ध्वसपूवक ग्रन्थ की समाप्ति वाला होने से, जो जो पुरुष विघ्नो के ध्वसपूवक ग्रन्थ की समाप्ति वाला होता ह, वह वह पुरुष पूव-मङ्गल का भी कर्ता है, जैसे—आस्तिक चैत्र।

है—'यादशो यक्षस्तादृशो बलि'—जैसा यक्ष हो तदनुरूप बलि होना चाहिये। कादम्बरी ग्रन्थ के समाप्त न हो पाने मे कारण प्रचुर विघ्न थे। विघ्नो की प्रचुरता को वह स्वल्प मगल नष्ट नही कर पाया, इसलिये मगल करने पर भी समाप्ति नही हो पाई। अत समाप्ति के प्रति विघ्न विनाश (विघ्न ध्वस) को प्राचीन नैयायिको ने द्वार (माध्यम) माना है।[1]

इस विषय मे चिन्तामणिकार गगेशोपाध्याय आदि नवीन नैयायिको का मत[2] है कि मगल का फल विघ्नध्वस ही है, समाप्ति तो बुद्धिस्फुरण, प्रतिभा आदि कारणसामग्री से होती है।

---

१ प्राचीन नैयायिको का कहना है कि जिस ग्रन्थ में मगल किया है उस ग्रन्थ की समाप्ति ही मङ्गल का फल है, परन्तु वह मङ्गल कुछ लोगो के मत से ज्ञान रूप और कुछ लोगो के मत से उच्चारण रूप होने से शीघ्र ही विनाशवान् है और ग्रथ की समाप्ति तो बहुत दिन के बाद होगी। अत शीघ्रविनाशशाली मगल को कालान्तर मे होनेवाली समाप्ति की कारणता (जनकता) किसी अवान्तर व्यापार के विना साक्षात सम्भव नही हो सकती। इसलिये मगल और समाप्ति के मध्य (बीच) मे उस मगल से जन्य किसी व्यापार की कल्पना करनी चाहिये। वह व्यापार और कुछ न होकर ग्रथसमाप्ति के प्रतिबन्धक दुरितरूप विघ्नो का ध्वस ही ह। मगलजन्य वह विघ्न-ध्वस उस समाप्तिरूप काय के अव्यवहित पूर्वक्षण मे रहता है, इस कारण वह मगल उस विघ्नध्वस द्वारा उस ग्रथ की समाप्ति का कारण है। जैसे यज्ञरूपक्रिया कालान्तरभावी स्वग का स्वजन्य अपूव द्वारा कारण होती है।

२ किन्तु चिन्तामणिकारादि नवीन नैयायिको का मत है कि ग्रथ की समाप्ति, मगल का फल नही है, किन्तु ग्रथसमाप्ति के प्रतिबन्धक जो दुरितरूप विघ्न है, उन विघ्नो का ध्वस मात्र ही उस मङ्गल का फल है, और ग्रथ की समाप्ति तो उस विघ्नाभावघटित अदृष्ट, बुद्धि स्फूर्ति आदि कारणसामग्री से होती ह। मगल तो उस समाप्ति के कारणरूप विघ्नध्वस का कारण होने से उस समाप्ति के प्रति अन्यथासिद्ध है। जिस काय के प्रति जितनी सामग्री इच्छित होती ह, उस कारण सामग्री से जो वस्तु भिन्न होती है, वह वस्तु उस काय के प्रति अन्यथासिद्ध होती है।

प्राचीन आचाय मगल को विघ्नध्वस द्वारा समाप्ति का कारण मानते है, उनके मत मे विघ्नध्वस तथा समाप्ति ये दोनो काय होगे, अत गौरव दोष होगा।

शका—यदि मगल का फल विघ्नध्वस ही है तो जहाँ विघ्न ही न हो अर्थात 'विघ्न का अभाव स्वत सिद्ध ही हो, वहाँ मगल करना निष्फल ही होगा ।

समाधान—इस प्रकार से शका करना उचित नही क्योकि ऐसी स्थिति में किया गया मगल आपातत निष्फल प्रतीत होने पर भी उसका इतना ही फल समझना होगा कि विघ्न के अस्तित्व की आशका दूर हो जाती है । अत विघ्न के सन्देह से और शिष्टाचार से मगल अवश्य करना चाहिये ।

◐ न च तस्य निष्फलत्वे तद्बोधकवेदाप्रामाण्यापत्तिरिति वाच्यम् ।

● शका—यदि ऐसी जगह का मगल निष्फल हो जायगा तो मगलाचरण की प्रतिपादक कल्पित श्रुति (विघ्नध्वसकामो मङ्गलमाचरेत) भी अप्रमाण होने लगेगी ।

◐ सति विघ्ने तन्नाशस्यैव वेदबोधितत्वात् । अत एव पापभ्रमेण कृतस्य प्रायश्चित्तस्य निष्फलत्वेऽपि न तद्बोधकवेदाप्रामाण्यम् ।

● समा०—यदि विघ्न होगा तो मङ्गल भी विघ्न का नाश करेगा । उपयुक्त श्रुति का यही तात्पय है । अतएव पाप होने के भ्रम से यदि प्रायश्चित्त किया जाय तो वहाँ पर पाप न होने से वह प्रायश्चित्त यद्यपि निष्फल है । तथापि प्रायश्चित्त बोधक श्रुति (वेद) को अप्रमाण नही माना जाता । अत पाप होगा तो प्रायश्चित्त से उस (पाप) का नाश अवश्य ही होगा यही (श्रुति का) तात्पय है । (ऐसे स्थलो पर यही समझना चाहिये कि विघ्नो के न रहने पर भी मङ्गलाचरण करना तथा पाप के न रहने पर भी प्रायश्चित्त का करना ये दोनो आगे शुभफल देनेवाले होगे) ।

मगल च विघ्नध्वसविशेषे कारण विघ्नध्वसविशेषे च विनायक-स्तवपाठादि ।

क्वचिच्च विघ्नात्यन्ताभाव एव समाप्तिसाधन प्रतिबन्धकससर्गा-भावस्यैव कार्यजनकत्वात् ।

इत्थ च नास्तिकादीना ग्रन्थेषु जन्मान्तरीयमगलजन्यदुरितध्वस , स्वत सिद्धविघ्नात्यन्ताभावो वाऽस्तीति न व्यभिचार इत्याहु ।

और केवल विघ्नध्वस को ही मगल का कार्य मानने मे लाघव रूप गुण होगा । इस कारण मगल का विघ्नध्वस मात्र ही फल है, यही उचित प्रतीत होता है ।

● मगल को विघ्नध्वस के प्रति कारण बताया, [1]किन्तु वह (मगल) समस्त विघ्नो के ध्वस के प्रति कारण हो नही सकता। कुछ विघ्नध्वसो के प्रति वह (मगल) कारण होता है, और कुछ विघ्नध्वसो के प्रति गणपति (विनायक) के स्तोत्रपाठ आदि को ही कारण बताया गया है, और कुछ स्थलो पर विघ्नात्यन्ता भाव को ही ग्रन्थ समाप्ति का कारण बताया गया है। अत इन अनेक प्रकार के कारणो का यही अनुगम करना उचित होगा कि समस्त (सभी)कार्यो के प्रतिबन्धक (विघ्न) का अभाव ही समाप्ति मे कारण होता है। अत यही कहना होगा कि नास्तिको के ग्रन्थो मे पूवजन्म का किया हुआ मगल इस जन्म के विघ्न का नाशक होता है, अथवा स्वत सिद्ध विघ्नात्यन्ताभाव ही समाप्ति के प्रति कारण हो जाता है। कादम्बरी आदि ग्रन्थो मे किये गये मगल, के द्वारा कुछ विघ्नो का ध्वस हो पाया, क्योकि मगल स्वल्प और पूवज-मकृत विघ्न अनल्प (बहुत अधिक) है। अथवा मगल करने से पूव के विघ्न तो नष्ट हो गये, किन्तु पश्चात पुन नवीन विघ्न उत्पन्न हो गये, इसलिए ग्रन्थसमाप्ति नही हो पायी, यही कल्पना की जा सकती है। अत यह सिद्ध हुआ कि मगल विघ्न-ध्वस के प्रति कारण है। यह मानने से काय-कारणभावभगरूपी व्यभिचारदोष नही हो पाता। यही नवीन नैयायिको का मत है।

इति मगलवाद ।

१—शका—मगल मे विघ्नध्वस की कारणता सभव नही होती क्योकि 'सर्वे विघ्ना शम यान्ति गणेशस्तवपाठत '—गणेश (विनायक) के स्तोत्र का पाठ करने से सब विघ्न नष्ट हो जाते है—इस वचन से गणेशस्तोत्र पाठ मे विघ्नध्वस की कारणता बताई गई है, तथा धमशास्त्रकथित प्रायश्चित्त से भी दुरित (पाप) रूप विघ्नो का ध्वस होता है। इससे विघ्नध्वस की कारणता प्रायश्चित्त में भी ज्ञात हो रही है। अत दोनो जगह मगल की कारणता सभव नही है।

समा०—समस्त विघ्नध्वसो में मगल को कारणता नही है, किन्तु विजातीय (किसी विशेष) विघ्नध्वस मे मङ्गल कारण है और विजातीय (किसी विशेष) विघ्नध्वस मे गणेशस्त्रोत्रपाठ कारण है। तथा विजातीय (किसी विशेष) विघ्नध्वस में प्रायश्चित्त कारण है। अत केवल मङ्गल को ही विघ्नध्वस का कारण कहना उचित नही है।

शका—यदि विघ्नध्वस मात्र ही मङ्गल का फल हो तो ग्रन्थ समाप्ति की कामना वाले पुरुष की मङ्गल में प्रवृत्ति नही होनी चाहिये, किन्तु प्रवृत्ति तो

प्रत्यक्ष ही दीखती है। कही तो स्वत ही विघ्नो के अत्यन्ताभाव से ग्रन्थसमाप्ति होती है। उस समाप्ति में विघ्नध्वस को कारण नही कहा जा सकता।

समा०—सभी ग्रथकर्ता पुरुषो में उस विघ्नध्वस को ही समाप्ति की कारणता नही है, अपितु किसी ग्रथकर्ता में उस विघ्नध्वस को ही समाप्ति की कारणता है, और किसी ग्रथकर्ता पुरुष में विघ्नात्यन्ताभाव को ही समाप्ति की कारणता है, तथा किसी ग्रथकर्ता पुरुष मे विघ्नो के प्रागभाव को ही समाप्ति की कारणता है, और विघ्नो का भेदरूप अन्योन्याभाव तो उन विघ्नो के विद्यमान होने पर भी पुरुषो में रहता है। अत उन विघ्नो के अन्यो याभाव को समाप्ति की कारणता कही भी सभव नही। यद्यपि उन विघ्नो के अत्यन्ताभावज य समाप्ति में, तथा उन विघ्नो के प्रागभावजन्य समाप्ति मे उस विघ्नध्वस की अकारणता है, तथापि स्वजन्य (विघ्नध्वसजन्य) समाप्ति के प्रति कारणता होने से उस विघ्नध्वस मे उस समाप्ति की कारणात का अभाव सिद्ध नही होता। ग्रथ समाप्ति के प्रति जो विघ्नाभाव को कारणता है, वह विघ्नध्वसत्व तथा विघ्नात्यन्ताभावत्व और विघ्नप्रागभावत्व रूप से कारणता नही है किन्तु विघ्न ससर्गाभावत्व रूप से ही विघ्नाभाव को समाप्ति के प्रति कारणता है। वह विघ्न ससर्गाभावत्व धम उन तीनो अभावो में रहता है। अब उस कारणता के अवच्छेदक का अननुगम होने से वह ससर्गाभावत्वरूप एक ही धम उस कारणता का अवच्छेदक है।

अथवा सवत्र विघ्नो के अत्यन्ताभाव को ही उस समाप्ति के प्रति कारणता है। विघ्नो के ध्वस तथा प्रागभाव के द्वारा मगल को उस समाप्ति के प्रति कारणता नही है, क्योकि जिस वस्तु का जहा ध्वसाभाव या प्रागभाव होता है, उस वस्तु का वहाँ अत्यन्ताभाव भी रहता है। इस कारण उस विघ्नात्यन्ताभाव से ही मङ्गलस्थल में समाप्ति होने पर उस ग्रन्थ की समाप्ति के प्रति वह मङ्गल तथा मङ्गलजन्य विघ्नध्वस तथा उन विघ्नो का प्रागभाव ये तीनो अन्यथा सिद्ध है।

मङ्गल का सामान्य लक्षण इस प्रकार किया जाता है—'विघ्नभिन्नत्वे सति विघ्नध्वसप्रतिब धकाऽभावभिन्नत्वे सति प्रारीप्सितविघ्नध्वसाऽसाधारणकारण मङ्गलम—विघ्नो से भिन्न तथा विघ्नध्वस के प्रतिब धकाभाव से भिन्न होकर प्रारम्भ करने की इच्छा के विषयभूत कार्य के विघ्नध्वस का जो असाधारण (मुख्य) कारण हो, वही मङ्गल है। यहा पर वह मङ्गल विघ्नो से भिन्न है, तथा विघ्नध्वसरूप काय का जनक जो प्रतिबन्धकाभाव है, उससे भी भिन्न है, तथा प्रारम्भ करने की इच्छा का विषयभूत जो ग्रन्थ है उसके प्रतिब धक विघ्नो

के ध्वस का असाधारण कारण है। इस लक्षण मे यदि **'विघ्नभिन्नत्वे सति'** न कहा जाय तो उन विघ्नो मे उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योकि वे विघ्न उस विघ्नध्वस के जनक प्रतिबन्धकाभाव से भिन्न है, तथा प्रारीप्सित ग्रन्थ की समाप्ति के प्रतिबन्धक विघ्नो के ध्वस म असाधारण कारण भी है। जैसे घट के ध्वस मे मुदगरप्रहार असाधारण कारण होता ह। वैसे ही घटरूपी प्रतियोगी भी उस स्व ध्वस मे असाधारण कारण होता है। तथैव उन विघ्नो के ध्वस मे वह विघ्नरूपी प्रतियोगी भी असाधारण कारण है। अत उन विघ्नो मे होने वाली अतिव्याप्ति के निवारणाथ उक्तलक्षण मे **'विघ्नभिन्नत्वे सति'** यह प्रथम सत्यन्त विशेषण दिया गया है। उसी प्रकार उक्तलक्षण मे 'विघ्नध्वस प्रतिबन्धकाभावभिन्नत्वे सति' न कहा जाय तो उम विघ्नध्वसप्रतिबन्धकाभाव मे अतिव्याप्ति होगी, क्योकि प्रतिबन्धक के विद्यमान हाने पर किसी भी काय की उत्पत्ति नही होती। इस कारण उस विघ्नध्वस की उत्पत्ति मे प्रतिबन्धकाभाव कारण ह। अत विघ्नध्वसप्रतिबन्धकाभाव मे होनेवाली अतिव्याप्ति के निवारणाथ उक्तलक्षण मे 'विघ्नवध्सप्रतिबन्धकाभावभिन्नत्वे सति'—यह दूसरा सत्यन्तविशेषण दिया गया है। अब यदि उक्त लक्षण मे 'प्रारीप्सित' पद न देते तो 'कारीरी' याग मे उक्तलक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योकि वह कारीरी याग उन विघ्नो से भिन्न है तथा विघ्नध्वसप्रतिबन्धकाभाव से भी भिन्न है तथा वृष्टि के प्रतिबन्धक जो विघ्न है उनके ध्वस का असाधारण कारण भी है, किन्तु प्रारीप्सित (प्रारम्भ करने की इच्छा का विषय) यहा पर मङ्गल है, याग नहीं। अत 'प्रारीप्सित' पद के देने पर कारीरी याग मे होनेवाली अतिव्याप्ति का निवारण हुआ। अब यदि उक्तलक्षण मे 'असाधारण' पद न देते तो काल, अदष्ट आदि साधारण कारणो में अतिव्याप्ति होती। उस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'असाधारण' पद दिया गया है। क्योकि (१) ईश्वर, (२) ईश्वर का ज्ञान, (३) इच्छा, (४) प्रयत्न, (५) देश, (६) काल, (७) अदष्ट, (८) प्रागभाव, (९) प्रतिबन्धकाभाव ये नौ कार्यमात्र के प्रति साधारण कारण होते है।

इति मगलवाद।

—*—

● ससारेति । ससार एव महीरुहो वृक्षस्तस्य बीजाय, निमित्तकारणायेत्यर्थ । एतेन ईश्वरे प्रमाणमपि दर्शित भवति । तथाहि—यथा घटादिकार्यं कर्तृजन्य तथा क्षित्यङ्कुरादिकमपि ।

न च तत्कर्तृत्वमस्मदादीना सम्भवतीत्यतस्तत्कर्तृत्वेनेश्वरसिद्धि । न च शरीराजन्यत्वेन कर्त्रजन्यत्वसाधकेन सत्प्रतिपक्ष इति वाच्यम् । अप्रयोजकत्वात् । मम तु कर्तृत्वेन कार्यत्वेन कार्यकारणभाव एव अनुकूलस्तर्क । 'द्यावाभूमी जनयन्देव एको विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता' इत्यादय आगमा अप्यनुसन्धेया ॥ १ ॥

● 'ससारमहीरुहस्य[1] बीजाय'—यह विशेषण निमित्तकारणस्वरूप ईश्वर के अस्तित्व मे अनुमान प्रमाण की सूचना दे रहा है । जैसे घटात्मक काय कुलालात्मक कर्ता के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, वैसे ही अङ्कुरादि से ब्रह्माण्डतक सम्पूण जगद्रूप काय भी किसी कर्ता के होने पर हा उत्पन्न हो सकता है । उस अचिन्त्य समस्त जगत की रचना करने मे हम जैसे अल्पज्ञ मनुष्यो की तो सभावना नही की जा सकती । अत जो इस जगत का कर्ता हों, वही ईश्वर है ।

कुछ लोग यहा पर 'सत्प्रतिपक्ष' नामक दोष (विपरीतानुमान) देते ह । 'जो वस्तु शरीरी (शरीर धारण करने वाले) से उत्पन्न नही होती, वह वस्तु, कर्ता से भी उत्पन्न (जन्य) नही होती'—ऐसा नियम है । यह जगत् शरीरी से उत्पन्न नही हुआ ह, अत इस जगत का कर्ता भी कोई नही हो सकता । इस प्रकार का विरुद्धानुमान देना उचित नही है, क्योकि पूर्वोक्त नियम के मानने मे अनुकूल तक (युक्ति) नही है । इसलिये हमारी बुद्धि के अनुसार (ईश्वर का अस्तित्व मानना—यही नैयायिको का अपना मत है) जिसका कर्ता न हो वह काय भी नही है, और न कभी उत्पन्न होगा । तथा 'जो काय है उसका कर्ता भी है'—इस प्रकार का काय-कारण भावरूपी अनुकूल तक मिलता है । यही (अनुकूल तक) परमेश्वर के अस्तित्व मे प्रमाण है । इस प्रकार अनुमानप्रमाण से उसका अस्तित्व सिद्ध होने पर परमेश्वर के शब्दप्रमाणरूपी वेदवाक्य से भी उसका अस्तित्व सिद्ध किया जाता है ।

१—'ससारमहीरुह—इस विशेषण से परमेश्वर के अस्तित्व मे 'अनुमान प्रमाण' की सूचना दी गई है ।

शका—प्रत्यक्षादि कोई भी प्रमाण ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध नही कर सकते । 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दा प्रमाणानि'—ये चार प्रमाण महर्षि गौतम ने बताये है, किन्तु परमात्मा के अस्तित्व मे 'प्रत्यक्षप्रमाण' नही कह सकते, क्योकि 'प्रत्यक्ष' दो प्रकार का है—लौकिक और अलौकिक । 'लौकिक प्रत्यक्ष मे छह सन्निकष है—(१) घ्राणज, (२) रासन, (३) चाक्षुष, (४) स्पाशन (५) श्रौत्र, (६) मानस । गन्ध के अभाव से ईश्वर मे घ्राणज, रस के न होने से रासन, चक्षु सन्निकष के न होने से चाक्षुष, स्पश के न होने से स्पाशन, शब्द के न होने से श्रौत्र, स्मरण के न होने से मानस—ये सभी प्रत्यक्ष वहा नही हो सकते । उसी तरह अलौकिक प्रत्यक्ष भी तीन प्रकार का है—(१) सामान्य लक्षण, (२) ज्ञानलक्षण, (३) योगजलक्षण । इन तीनो ज्ञानो के अभाव से ईश्वर का अलौकिक प्रत्यक्ष भी नही हो सकता ।

उसी तरह अनुमान से भी ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नही हो सकता, क्योकि लिग (धूम आदि) से लिगी (अग्नि आदि) का ज्ञान ही अनुमान है । ईश्वर का कोई ऐसा लिग (चिह्न) ही नही, जिससे उसका अनुमान हो सके । सादृश्य से उपमान प्रमाण होता है। परन्तु ईश्वर के सदृश भी कोई नही ह । उसी तरह पद ज्ञान के न होने से शाब्द प्रमाण से भी ईश्वर की सिद्धि नही हो सकती ।

समा०—ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि अनुमान प्रमाण से होती है । जैसे—'घटादिकाय कतृजन्य कायत्वात पटवत' यहा पर 'घटादिकायम' यह पक्ष है, 'कतजन्यत्व' यह साध्य है, 'कायत्वात' यह हेतु है, 'पटवत' यह दृष्टान्त है । उसी तरह 'क्षित्यङ्कुरादिकम' 'कतृजन्यम' 'कायत्वात' 'घटवत'—यहा पर 'क्षित्यङ्कुरादिकम' पक्ष है, 'कर्तृजन्यत्व'= किसी कर्ता से जन्य होना—यह साध्य है, 'कायत्वात = काय होने से—यह हेतु है, 'घटवत' = घट के समान—यह दृष्टान्त है ।

उपयुक्त ईश्वरास्तित्व के साधक अनुमान मे 'सत्प्रतिपक्ष दोष देते है । 'सत्प्रतिपक्ष' नामक दोष का स्वरूप इस प्रकार है—'यस्य (हेतो) साध्याभावसाधक हेत्वन्तर विद्यते स सत्प्रतिपक्ष' जहा एक हेतु, साध्य को सिद्ध करता है, वहाँ दूसरा हेतु यदि साध्य के अभाव को सिद्ध करे तो सत्प्रतिपक्ष दोष होता है । जैसे—'शब्दो नित्य श्रावणत्वात शब्दत्ववत' इसके विपरीत 'शब्द अनित्य कायत्वात घटवत्' । जिस हेतु का जो साध्य है उस साध्य के अभाव का साधक अर्थात सिद्ध करनेवाला दूसरा हेतु विद्यमान रहे तो उस हेतु को

सत्प्रतिपक्षित कहते है। **'शब्द नित्य है श्रावण होने से अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण होने के कारण'**। इसके विपरीत 'शब्द अनित्य है कार्य होने से घट की तरह' इस अनुमान मे **'श्रावणत्व'** हेतु का साध्य **'नित्यत्व'** ह, उस नित्यत्व का अभाव जो अनित्यत्व है, उस अनित्यत्व को सिद्ध करनेवाला दूसरे अनुमान मे **'कार्यत्व'** हेतु विद्यमान है। अत 'श्रावणत्व हेतु यहाँ **'सत्प्रतिपक्ष'** दोष से दूषित हो जाता ह। उसी तरह प्रस्तुत प्रसग मे भी **'क्षित्यकुरादिक, कर्तृजन्यं कार्यत्वात् पटवत्** इसके विपरीत **"क्षित्यकुरादिक कर्त्रजन्य, शरीराऽजन्य त्वात् आकाशवत्**'। ईश्वरवादी के अनुमान मे **'कार्यत्व'** हेतु का साध्य **'कर्तृ जन्यत्व'** है, उस 'कर्तृजन्यत्व' का अभाव जो **'कर्त्रजन्यत्व'** (कर्तृ + अजन्यत्व) ह, उस कर्त्रजन्यत्व को सिद्ध करनेवाला अनीश्वरवादी के अनुमान मे 'शरीराऽजन्यत्व' हेतु विद्यमान ह, इसकारण 'कार्यत्व' हेतु 'सत्प्रतिपक्ष' दोष स दूषित हुआ है, यह अनीश्वरवादी का कहना है। किन्तु 'सत्प्रतिपक्ष' दोष का आरोप करनेवाले अनीश्वरवादी के पास कोई तर्क (अनुकूल युक्ति) नही है। अर्थात वह यह नही कह पा रहा है कि **'यदि कर्त्रजन्यत्व न हो तो शरीरा जन्यत्व भी नही होता**। यह तब कह पाता कि जब **कर्त्रजन्यत्व** और **शरीरा जन्यत्व** की कही व्याप्ति देखी होती। जैसे—धूम और **अग्नि** की व्याप्ति देखने से कहा जाता है कि **यदि अग्नि न हो तो धूम भी नही होता**, किन्तु **'कर्त्रजन्यत्व और शरीराऽजन्यत्व'** के कार्य-कारणभाव का व्याप्ति के द्वारा कभी किसी को ज्ञान ही नही हुआ है। लेकिन इसके विपरीत ईश्वरवादी के पास अनुकूल तर्क ह। वह कह पा रहा है कि **'यदि कर्तृजन्य न हो तो कार्य भी नही हो पाता।'** अत **'कर्तृजन्यत्व'** सिद्ध करने मे **'कार्यत्व'** हेतु उचित ही है, क्योंकि जो कार्य होता है वह कर्ता से जन्य (उत्पन्न) होता है, यह हमने घट पट आदि सभी कार्यो में देखा है। अनीश्वरवादी के मत मे तो 'शरीराऽजन्यत्व' (शरीरजन्यत्वाऽभाव), यह हेतु, अभावरूप है, और कर्त्रजन्यत्व (कर्तृ + अजन्यत्व अर्थात कर्तृजन्यत्वाऽभाव) रूप साध्य भी अभावरूप है। दो अत्यन्ताभावो मे कभी भी कार्य-कारणभाव नही होता। इसलिए अनीश्वरवादी द्वारा सत्प्रति पक्ष दोष का आरोपण करना उचित नही है।

अप्रयोजकत्वात्—व्यभिचारशङ्कोत्थाने अनुकूलतर्काऽभावादित्यर्थ। अनीश्वरवादी के अनुमानप्रयोग मे यदि कोई व्यभिचारशंका—'शरीराऽजन्यत्व मस्तु कर्त्रजन्यत्व मास्तु'—करे, तो उस व्यभिचारशंका का निवारक अनुकूल

पदार्थान्विभजते[1]—

"द्रव्य गुण" इत्यादि कारिका से पदार्थों का विभाग बताते है ।—

द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं सविशेषकम् ।
समवायस्तथाऽभावः पदार्थाः सप्त कीर्तिताः ॥ २ ॥

(पदच्छेद) द्रव्य, गुण , तथा, कम, सामान्य, सविशेषकम, समवाय , तथा, अभाव पदार्था सप्त, कीर्तिता ॥

तक वह नही दे पाता। तर्क का स्वरूप बहुधा 'कार्य कारणभावभगप्रसग' रूप हुआ करता ह । अत वह यदि तर्क देगा तो उसे यही देना (कहना) होगा कि **यदि कत्रजन्यत्व न स्यात् तर्हि शरीराऽजन्यत्वमपि न स्यात्** । परन्तु ऐसा कहने पर भी अनीश्वरवादी के अनुमानप्रयोग पर की हुई व्यभिचारशका का निवारण नही हो पाता, क्योकि 'कत्रजन्यत्व' का तथा 'शरीराऽजन्यत्व' का कार्य-कारणभाव यदि कही पहिले प्रसिद्ध हो तो उसका 'एव न स्यात् तर्हि एव न स्यात्' कहकर काय-कारणभावभग का प्रसग दिया जाय, किन्तु वह (कायकारणभाव) तो कही प्रसिद्ध है ही नही । इसलिये अनीश्वरवादी का पक्ष अप्रयोजक है। किन्तु हम ईश्वरवादी के पक्ष मे व्यभिचारशका का निवतक 'यदि कर्तृजन्यत्व न स्यात् तर्हि कार्यत्वमेव न स्यात्'—इस प्रकार काय कारणभावभगप्रसगरूप अनुकूल तक मिल सकता है, क्योकि कतजन्यत्व का तथा कायत्व का परस्पर कायकारणभाव प्रसिद्ध है, इस कारण हमारा ईश्वर साधक अनुमान का 'हेतु' 'सत्प्रतिपक्ष' दोष से दूषित नही है ।

इति ईश्वरास्तित्ववाद ।

—०❀०—

१ **पदार्थान् विभजते**—यहा द्वितीया का अथ विषयत्व है । 'वि' उपसग पूवक 'भज' धातु का अथ—'स्वसमभिव्याहृतपदाथतावच्छेदकव्याप्यमिथोविरुद्ध यावद्धमप्रकारकज्ञानानुकूलो व्यापार' है। 'स्व' पद से 'वि' पूवक 'भज' धातु लेना, तत्समभिव्याहृत अर्थात उसके समीप उच्चरित 'पदाथ' पद है, उस पदाथ त वच्छेदक (पदाथत्व धम) के व्याप्य मिथो विरुद्ध (परस्पर विरुद्ध) यावत धम (समस्त धम) द्रव्यत्व गुणत्व आदि धम, तत्प्रकारकज्ञान अर्थात द्रव्य, गुण , कम आदि—इत्याकारकज्ञान, तदनुकूलव्यापार 'द्रव्यगुणकम' इत्यादि शब्दप्रयोगरूप व्यापार—यह 'वि पूवक 'भज' धातु का अथ है। 'ते' प्रत्यय मे लट, तिङ (आख्यात), और एकवचन ह, उनका अथ–'काल', 'कृति', और सख्या है। सबको

(कठिनपदव्याख्या) सविशेषकम—विशेष के सहित जो हो वह सविशेष, और सविशेष ही सविशेषक है। इस विग्रह से परमाणुओ के परस्पर भेदसाधकत्वरूप विशेष से विशिष्ट विशेष ही होगा। एवञ्च परमाणुओ के परस्पर भेद सिद्धि के लिये 'विशेष' नामक पदाथ का स्वीकार किया गया है।

(अनुवाद) (१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कम, (४) सामान्य, (५) विशेष, (६) समवाय, और (७) अभाव—ये सात पदार्थ न्याय वशेषिक सिद्धान्त म बताये गये है।

अत्र सप्तमस्याभावत्वकथनादेव षण्णा भावत्व प्राप्त तेन भावत्वेन पृथगुपन्यासो न कृत । एते च पदार्था वैशेषिके प्रसिद्धा नैयायिकानामप्यविरुद्धा । प्रतिपादित चैवमेव भाष्ये । अत एवोपमानचिन्तामणौ सप्तपदार्थभिन्नतया शक्तिसादृश्यादीनामतिरिक्तपदार्थत्वमाशङ्कितम् ।

● पदार्थो के नाम बताकर उनका विभाग कहा जाता है—"द्रव्य गुण इति।" द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, और अभाव—ये सात[2] पदाथ है। इनम सातवा पदाथ अभाव है, यह कहने से ज्ञात होता है कि बाकी के छह पदाथ भावस्वरूप है। उन छह पदाथो के लिये ये 'भाव' हैं, यह अलग से कहने की आवश्यकता नही है। ये सात पदाथ वैशेषिक (कणाद) शास्त्र म प्रसिद्ध है, और गौतमानुयायी नैयायिको को भी सम्मत है।

मिलाकर यह अथ निष्पन्न हुआ कि 'पदाथनिष्ठा जो विषयता उसका निरूपक जो पदाथत्वव्याप्य द्रव्यत्वादिरूप अवान्तरधमप्रकारकज्ञान, उस ज्ञान के अनुकूल जो व्यापार, तदनुकूल जो वतमानकालिक कृति, तद्वान एकत्वसख्याविशिष्ट ग्रन्थकार—श्रीमान विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचाय है। तथाच—पदाथविशेष्यकपदाथत्वावान्तरधमप्रकारकज्ञानानुकूलव्यापारानुकूलकृतिमान—एकत्वसख्याविशिष्टो ग्रन्थकार श्रीमान् विश्वनाथपञ्चाननभट्टाचाय —इति शाब्दबोध ।

२ 'पदस्य अथ —पदाथ ' इति व्युत्पत्त्या 'अभिधेयत्व' पदाथसामान्यलक्षणम। पद के अथ का नाम 'पदाथ' है। विश्व में असख्य पद है किन्तु 'अथ' तो इन सात के सिवाय अन्य कोई भी नही है। जितने भी अथ है, सब इन्ही सात पदार्थो के अन्तगत है। ईश्वर के ज्ञान का जो विषय है, वही सात पदार्थों का सामान्य (सम्मिलित) लक्षण है। सृष्टि निर्माण के समय ये ही सात पदाथ ईश्वर के सङ्कल्प के विषय होते है। द्रव्यादि सात पदार्थो के सिवाय हमारे ज्ञान का भी कोई विषय नही है।

कणादमुनिकृत सूत्रभाष्य मे भी इनका प्रतिपादन अच्छी तरह किया है। अतएव (मूलभूत सात ही पदार्थ होने के कारण) चिन्तामणिनामक ग्रन्थ के उपमान खण्ड मे **शक्ति** तथा **'सादृश्य'** इन दो पदार्थों को उक्त सात पदार्थों से भिन्न होने की प्रभाकर मीमांसक के मत से शंका की है। परन्तु पदार्थ तो सात ही हैं।

ननु कथमेत एव पदार्थाः शक्तिसादृश्यादीनामप्यतिरिक्तपदार्थत्वात्? तथाहि—मण्यादिसमवहितेन वह्निना दाहो न जन्यते, तच्छून्येन तु जन्यते। तत्र मण्यादिना वह्नौ दाहानुकूला शक्तिर्नाश्यते, उत्तेजकेन मण्याद्यपसारणेन च जन्यत इति कल्प्यते।

(प्रभाकर मीमांसक की शंका)—**'शक्ति'** और **'सादृश्य'** इन दो अधिक (सात पदार्थों की अपेक्षा अतिरिक्त) पदार्थों की संभावना रहते, **पदार्थ सात हैं'** यह कहना अनुचित है। उक्त दो पदार्थों (शक्ति और सादृश्य) की अधिक संभावना का उपपादन करते है—**"तथाहि"** इति। अग्नि के समीप रहने पर दाह (ऊष्मा) होता है, परन्तु दाह के प्रतिबन्धक चन्द्रकान्तमणि को यदि अग्नि के समीप रख दिया जाय तो अग्नि से दाह नहीं हो पाता अर्थात् अग्नि की 'दाहकत्व' शक्ति नष्ट हो जाती है, और उस चन्द्रकान्तमणि को उसके (अग्नि के) समीप से हटा लिया जाय तो पुनः अग्नि से दाह (ऊष्मा) होने लगता है, अथवा चन्द्रकान्तमणि के रहने पर भी यदि उत्तेजक सूर्यकान्तमणि (दाहप्रतिबन्धक के भी प्रतिबन्धक) को वहां रख दिया जाय तो भी अग्नि से दाह होता है। तात्पर्य यह है कि उत्तेजक मणि के योग से अथवा दाहप्रतिबन्धकमणि के हटा लेने से दाह होता है अर्थात्[1] उत्तेजक मणि के समीप रहने पर या प्रतिबन्धकमणि के हटा लेने पर अग्नि मे दाहक शक्ति उत्पन्न होती है और प्रतिबन्धकमणि के रहने पर अग्नि की दाह शक्ति नष्ट होती है—यह कल्पना की जा सकती है। अतः 'शक्ति' एक अधिक[2] पदार्थ है यह सिद्ध होता है।

---

१ उत्तेजक का यह लक्षण है—**'प्रतिबन्धककोटिप्रविष्टाभावप्रतियोगित्वमुत्तेजकत्वम्'**—कार्य की प्रतिबन्धककोटि में प्रविष्ट जो अभाव है उस अभाव का जो प्रतियोगीपना है, उसका नाम उत्तेजक है। जैसे उत्तेजकरूप सूर्यकान्तमणि अथवा मन्त्रादिकों का अभाव उस दाहरूप कार्य के प्रतिबन्धक कोटि मे प्रविष्ट है, उस प्रतिबन्धककोटि मे प्रविष्ट अभाव का प्रतियोगीपना उन उत्तेजकरूप मणि, मन्त्रादिकों मे है, यही उन मणिमन्त्रादिकों में उत्तेजकपना है।

२ शंका—वह **शक्ति** उक्त सात पदार्थों के अन्तर्गत है या भिन्न है? यदि

एव सादृश्यमप्यतिरिक्त पदार्थ, तद्धि न षटसु भावेष्वन्तर्भवति सामान्येऽपि सत्त्वात्, यथा गोत्व नित्य तथाऽश्वत्वमपीति सादृश्य-प्रतीते, नाप्यभावे सत्त्वेन प्रतीयमानत्वादिति चेत् ?

न। मण्याद्यभावविशिष्टवह्न्यादेर्दाहादिक प्रति स्वातन्त्र्येण मण्य भावादेरेव वा हेतुत्व कल्प्यते।

● इसी प्रकार 'सादृश्य' (समानता, तुल्यता) भी पूर्वोक्त सात पदार्थों की अपेक्षा अधिक पदार्थ है। उसे अतिरिक्त (अधिक) पदार्थ मानने मे युक्ति यह है कि पूर्वोक्त छह भावपदार्थो (द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष) मे से किसी मे भी उसका अन्तर्भाव नही हो रहा है। अत उक्त द्रव्यादि छह भावपदार्थो के अतिरिक्त 'सादृश्य' भी एक अधिक भावपदार्थ के रूप मे सिद्ध हो रहा है[१]। क्योकि जैसे—'गोत्व' जाति नित्य है, वैसे 'अश्वत्व' जाति भी नित्य है—यह अनुभव सभी को होता है। सादृश्य (नित्यत्व), सामान्य (अश्वत्व आदि जाति) के ऊपर रहता है। इस कारण यह नियम सिद्ध होता है कि **जो पदार्थ सामान्य मे अथवा तदितर स्थल मे रहे वह पूर्वोक्त छह पदार्थों मे नहीं आ सकता।'** यह 'सादृश्य' तो सामान्य और तदितर मे रहता है। अत पूर्वोक्त छह पदार्थों के अन्तर्गत नही हो सकती। उसी तरह यह 'सादृश्य'

भिन्न है तो क्या प्रमाण है ?

समा०—शक्ति को सात पदार्थो से भिन्न सिद्ध करते है—

शक्ति सप्तपदार्थभिन्ना उक्तसप्तपदार्थेषु अनन्तर्भूतत्वात् तथाहि-शक्ति न तावत द्रव्यात्मिका गुणादिवृत्तित्वात्। अतएव न गुणात्मिका, कर्मात्मिका वा गुणादिवृत्तित्वात्। नापि सामान्य विशेष समवायरूपा उत्पत्तिमत्त्वे सति विनाशित्वात। नापि अभावरूपा सत्त्वेन प्रतीयमानत्वात।—गुण, कर्मादिको मे पृथ्वी आदि द्रव्य नही रहते, और शक्ति तो उन गुण, कर्म आदिको मे भी रहती है अत वह शक्ति, गुण या कर्मरूप नही है। सामान्य, विशेष, समवाय अत्यन्ताभाव अन्योन्याभाव इन पदार्थो का उत्पत्ति या विनाश नही होता, किन्तु शक्ति तो उत्पत्ति विनाशशालिनी है। तथैव शक्ति की उत्पत्ति होने से अनादिप्रागभावरूप भी नही है। यद्यपि सामयिकाभाव का उत्पत्ति विनाश हुआ करता है तथापि शक्ति तो भावपदार्थ है, अत **'शक्ति'** उक्त सात पदार्थो के अतिरिक्त एक अधिक भावपदार्थ के रूप मे सिद्ध हो रही है।

१ 'सादृश्य षटपदार्थ—भिन्न पदार्थ, षडभावपदार्थानन्तर्भूतत्वात्', अथवा

'अभाव पदार्थ' के भी अन्तर्गत नही हो सकता, क्योकि 'अभाव' असत् स्वरूप है और दृश्यवस्तुरूप भी नही है, किन्तु सादृश्य' तो 'यह उसके सदृश है' इस सत व्यवहार से प्रतीत होता है। अत 'सादृश्य' को अभाव के अन्तगत नही कह सकते। तस्मात 'शक्ति और सादृश्य' ये दो अधिक पदाथ है, यह स्वीकार करना चाहिये।

किन्तु यह कथन उचित नही है, क्योकि प्रतिबन्धकमणि के अभाव सहित अग्नि अर्थात चन्द्रकान्तमणिमञ्जक प्रतिबन्धकशून्यकाल का अग्नि, दाह के प्रति कारण है। या मणि का अभाव अथवा केवल अग्नि ही दाह के प्रति कारण है—इस प्रकार के काय कारणभाव की यहा कल्पना करनी चाहिये[१]।

अनेनैव समाञ्जस्येऽनन्तशक्तितत्प्रागभावध्वसकल्पनाऽनौचित्यात्। न चोत्तेजके सति प्रतिबन्धकसद्भावेऽपि कथ दाह इति वाच्यम्, उत्तेजकाभावविशिष्टमण्यभावस्य हेतुत्वात्।

सादृश्यमपि न पदार्थान्तर किन्तु तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्। यथा चन्द्रभिन्नत्वे सति चन्द्रगताह्लादकत्वादिमत्त्व मुखे चन्द्रसादृश्यमिति ॥ २ ॥

॥ इति पदार्थोद्देशग्रन्थ ॥

'सादृश्यम अतिरिक्त पदाथ, सामान्येतरवृत्तित्वेसति सामान्यवृत्तित्वात', तथैव सादृश्य न अभावरूप सत्त्वेन प्रतीयमानत्वात' अथवा 'ध्वस प्रागभावभिन्नत्वेसति नञा प्रतीतिबोधाजनकत्वात'। 'सादृश्य' छ पदार्थो से भिन्न है क्योकि उन पदार्थो मे उसका अन्तर्भाव नही होता। अथवा 'सादृश्य' यह अतिरिक्त पदाथ है, क्योकि सामान्य (जाति) तथा तदितर मे रहता है, और 'सादृश्य' अभावरूप भी नही है, क्योकि भावरूप से प्रतीयमान होता है, तथा 'नही है' ऐसी प्रतीति भी नही कराता है।

१ तात्पर्य—उत्तेजकरूप मणि मन्त्रादिको के अभाव से विशिष्ट जो मणि मन्त्रादि है, वे मणि मन्त्रादि उस दाहरूप काय के प्रतिबन्धक है। उन प्रतिबन्धक मणि मन्त्रादि का अभाव ही उस दाह के प्रति कारण है। (वस्तु के पूवरूप की निवृत्तिपूवक अर्थात वह्नि में रखे हुए घटादिको के पूवश्यामरूप नष्ट होने पर जो रूपान्तर की उत्पत्ति है, अर्थात जो रक्तरूप उत्पन्न होता है उसी को दाह कहते है) वह दाहकारणीभूतविशिष्टाभाव—कही तो विशेषणमात्र के अभाव से होता है। और कही विशेष्यमात्र के अभाव से होता है और कही विशेषण विशेष्य दोनो के अभाव से होता है। जहा वह्नि के समीप प्रतिबन्धक मणिमन्त्रादिक विद्यमान है तथा उत्तेजक मणि मन्त्रादि भी विद्यमान है, वहाँ दाहरूप काय की उत्पत्ति होती है,

●यह स्वीकार करने से ही यदि सामञ्जस्य[1] (निर्वाह) हो सकता है तो अनन्त शक्ति, उनका ध्वस तथा उनके प्रागभाव की कल्पना करते बढ़ना उचित नही है। अत प्रभाकरमीमासक की अधिक पदार्थ कल्पना अनुचित है।

शका—प्रतिबन्धकमणि का अभाव दाह के प्रति कारण है, ऐसा माने तो कदाचित् उत्तेजकमणि (सूर्यकान्त) को अग्नि के निकट रखने पर तथा प्रतिबन्धकमणि (चन्द्रकान्त) के रहने पर भी दाह होता है। किन्तु आपके (नैयायिक के) कथनानुसार तो दाह नही होना चाहिये, क्योकि प्रतिबन्धकमणि तथा उत्तेजकमणि इन दोनो के होने पर प्रतिबन्धकमणि की अभाव रूप कारण सम्पत्ति तो वहा है ही नही ?

समा०—यह शका ठीक नही है, क्योकि उत्तेजक शून्यकाल का मणि दाह के प्रति प्रतिबन्धक होता है। यहा उत्तेजक शून्यकाल के मणिरूप प्रति-

---

ऐसी जगह उत्तेजकाभावरूप विशेषण का अभाव है, वही दाह का कारण है। और जहा वह्नि के समीप वे प्रतिबधक मणिमत्रादिक नही है परन्तु उत्तेजक मणि मत्रादिक है वहा भी दाहरूप कार्य उत्पन्न होता है, वहा विशेषण विशेष्य उभयाभावप्रयुक्तविशिष्टाभाव ही उस दाह का कारण है। और जहा वह्नि के समीप प्रतिबन्धक तथा उत्तेजक मणिमत्रादि दोनो विद्यमान नही है, वहा विशेष्याभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव ही दाह का कारण है, उसी से दाहरूपी कार्य उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि कोई भी कारण स्वतत्ररूप से अर्थात् अकेला ही किसी कार्य को पैदा नही कर सकता। किन्तु सहकारी कारण से युक्त होकर ही उत्पन्न करता है। अत मण्यभावविशिष्ट वह्नि ही दाह के प्रति कारण है, केवल वह्नि नही। अथवा मण्यभाव को भी स्वतत्र कारण मान लिया जाय। मणिसमवधान स्थल मे मणि के अभाव से विशिष्ट वह्नि नही है, अपितु मणि से विशिष्ट ही वह्नि है, अत 'मण्यभावविशिष्टवह्नि' रूप कारण के न होने से दाहरूप कार्य नही होता। अथवा स्वतत्ररूप से 'मण्यभाव' रूप कारण नही है, अपितु 'मणि' ही है इसलिये दाह नही होता है।

१ पूर्वोक्त कार्य कारणभाव की कल्पना करने से यह लाभ है कि जहा प्रतिबन्धक 'मणि' आदि अग्नि के समीप नही है, वहा पूर्वोक्त कार्य कारणभाव के रहने से 'दाह' रूप कार्य की उत्पत्ति होती है। और जहा प्रतिबधक मणि है वहा पूर्वोक्त कार्य कारणभाव के न होने से 'दाह' रूप कार्य की उत्पत्ति नही होती।

प्रतिबन्धकता का अभाव दाह के प्रति कारण है, इस प्रकार कार्य-कारणभाव की हम कल्पना करते हैं, जिससे उपर्युक्त शंका का समाधान हो जाता है अर्थात् पूर्वोक्त प्रसग[1] नही आता है। इसलिये 'शक्ति' यह अधिक पदार्थ नही है। उसी तरह 'सादृश्य' भी अधिक पदार्थ नही है। वह तो उपमेय मे रहनेवाला एक धर्म है। जैसे—'मुख मे चन्द्र का सादृश्य है' इस उदाहरण मे मुखरूप उपमेय मे रहनेवाला आह्लादकत्व जो धर्म है, वही 'सादृश्य' है। वह सादृश्यघटक धर्म कही जातिरूप होता है, जैसे—'घटसदृश पट' और कही उपाधिरूप होता है, जैसे[2]—'यथा' गोत्व नित्य तथा अश्वत्वमपि'। अत 'सादृश्य' भी अधिक पदार्थ नही है यह सिद्ध हो गया ॥ २ ॥

॥ इति पदार्थोद्देशग्रन्थ ॥

—★—

● 'क्षित्यप' इत्यादि ग्रन्थ से (ग्रन्थकार) द्रव्यो का विभाग दिखाते है—

द्रव्याणि विभजते—

क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योमकालदिग्देहिनो मनः। द्रव्याणि,

क्षित्यबित्यादि। क्षितिः पृथिवी, आपो जलानि, तेजो वह्निः, मरुद् वायु, व्योम आकाश, काल समय, दिग् आशा, देही आत्मा, मन एतानि नव द्रव्याणीत्यर्थ।

क्षिति = पृथिवी, अप = जल, तेज = अग्नि, मरुत = वायु, व्योम = आकाश, काल = समय, दिक = दिशा, देहिन = जीवात्मा और पर-

१ प्रतिबन्धक तथा उत्तेजक (चन्द्रकान्त तथा सूर्यकान्त) ये दो मणि जहाँ इकट्ठा रहती है, वहा प्रतिबन्धक की उपस्थिति (सम्पत्ति) होने से दाह नही होता। प्रतिबन्धक के अभाव (कारण) की उपस्थिति (सम्पत्ति) से ही दाह होता है। केवल चन्द्रकान्तमणि ही प्रतिबन्धक नही किन्तु उत्तेजक सूर्यकान्तमणि के अभाव विशिष्ट चन्द्रकान्तमणि के अभाव को दाह के प्रति कारणता है अर्थात जहा सूर्यकान्त तथा चन्द्रकान्त ये दोनो मणि न हो ऐसे अभाव को यहा कारणता मानी गई है।

२ सादृश्य का यही लक्षण है कि 'तदभिन्नत्वे सति तदगतभूयोधर्मवत्त्व सादृश्यम' जिस पदार्थ मे जिस वस्तु का सादृश्य प्रतीत होता है, उस वस्तु मे असाधारणरूप से रहनेवाले जो बहुत सारे धर्म है, उनसे युक्त होना ही उस पदार्थ मे उस वस्तु का 'सादृश्य' है। जैसे—'चन्द्रसदृश मुखम्' यहाँ पर मुख तो

मात्मा, मन = अन्त करण, द्रव्याणि = मूलभूत वस्तु है। अथ[1] = अनन्तर।

● पृथ्वी जल, तेज, वायु, आकाश काल, दिशा, आत्मा और मन—ये नव द्रव्य है।

ननु द्रव्यत्वजातौ कि मानम् ?

● **शका** अमुक पदाथ द्रव्य है, यह कैसे जाना जाय ?

न हि तत्र प्रत्यक्ष प्रमाण घृतजतुप्रभृतिषु द्रव्यत्वाग्रहादिति चेत् ? न, कार्यसमवायिकारणताऽवच्छेदकतया सयोगस्य विभागस्य वा समवायिकारणताऽवच्छेदकतया द्रव्यत्वजातिसिद्धेरिति।

● **उत्तर**—यह वस्तु द्रव्य है, वह वस्तु द्रव्य है,[2] ऐसी अनुगतप्रतीति होने पर जिस वस्तु मे द्रव्यत्वरूपी जाति होगी, वही वस्तु द्रव्य समझी

चन्द्रमा से भिन्न है तथा चन्द्रमा मे असाधारणरूप से रहनेवाले जो आह्लादकत्व वर्तुलत्व, तेजस्वित्व, शीतलत्व आदि अनेक (बहुत) धम है, उनमे से कितने ही धम उस 'मुख' में भी है—यही उस मुख में चन्द्र का सादश्य है। यदि तद्गत भयोधर्मवत्वम' इतना ही 'सादश्य' का लक्षण करें तो, प्रतियोगितारूप से सादश्य का निरूपक जो चन्द्रमा है, उसी में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'भूयोधमवत्त्व' चन्द्रमा मे विद्यमान है ही। इस अतिव्यप्ति के निराकरणाथ 'तद्भिन्नत्वे सति' कहना चाहिये। तब चन्द्रमा, चन्द्रमा से भिन्न नही है इस कारण अतिव्याप्ति नही है। उक्त लक्षण में 'धम' शब्द से 'असाधारणधम' समझने चाहिये। अन्यथा प्रमेयत्व' आदि साधारण धर्म सब पदार्थों में रहते ह तब 'घट' भी 'चन्द्रमा' के सदश हो जायगा। किन्तु आसाधारणधम में तात्पय होने से 'घट' मे चन्द्रमा का सादश्य नही कहा जा सकता, क्योकि प्रमेयत्व आदि तो साधारण धम है, असाधारण नही। कोई यतकिञ्चित् (एक) धम न ले, इसलिये 'भूय' पद दिया गया है। 'घट के सदश पट है' यहा जातिरूप सादश्य है। 'गोत्व के सदश अश्वत्व है' यहाँ उपाधिरूप सादश्य है। तात्पय यह है कि यह 'सादश्य' द्रव्यादि पदार्थो के ही अन्तगत है। अत द्रव्यादि सात ही पदाथ है यह सिद्ध हो गया।

१ 'अथ' शब्द का अग्रिम ग्रन्थ मे सम्बन्ध ह। यहा पर पदच्छेद के लिये लिखा गया है।

२ घट, 'पट' आदि द्रव्य है, इस प्रकार की लोकसिद्ध अनुगत प्रतीति होती है। यह प्रतीति किसी अनुगत धम के बिना नही हो सकती। इस प्रतीति के लिये घट पट आदि वस्तुओ मे अनुगत (सब वस्तुओ = द्रव्यो, पर रहनेवाला)

यह द्रव्यत्व जाति है—ऐसा मानने मे प्रत्यक्ष प्रमाण तो हो नही सकता, क्योकि घृत, लाख आदि कितने ही विलक्षण पदार्थों मे सवसाधारण लोगो को 'यह द्रव्य है' ऐसी प्रतीति नही होती। सवसाधारण लोग तो प्राय रुपया, पैसा सोना, चाँदी आदि को ही द्रव्य समझते है। अत यह 'द्रव्यत्व' प्रत्यक्ष प्रमाण से गम्य नही है। तथापि 'द्रव्यत्व' जाति का ज्ञान, अनुमानप्रमाण से होता है। उसी अनुमान प्रमाण[1] को बताते है—'किसी भी काय के प्रति अथवा सयोग के प्रति या विभाग के प्रति 'समवाय' सम्बन्ध से द्रव्य कारण होता ह'—इस प्रकार काय कारणभाव समझना चाहिये। अत जो भेद का दशक धम है, वही 'द्रव्यत्व' नाम की जाति ह।

एक धम अवश्य मानना होगा, वही धम 'द्रव्यत्व' ह। द्रव्यो में पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पाच तत्त्व भूतसज्ञक है। इनमे गुण और क्रिया प्रत्यक्ष रहती ह। सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव—ये चार पदाथ अप्रत्यक्ष अर्थात कल्पित है। 'सामान्य शब्द का अथ 'जाति' है।

१ सस्कृत के नैयायिक पण्डित 'द्रव्यत्व' जाति की सिद्धि इस प्रकार करते ह—"कायसमवायिकारणतावच्छेदकतया द्रव्यत्वजातिसिद्धे" हम देखते ह कि ससार मे दो प्रकार के पदाथ है, कोई कारण है तो कोई काय हैं। अर्थात् कोई पदाथ किसी पदार्थ का कारण रहता है तो कोई किसी का काय रहता है। काय (पदाथ) मे कायता धम और कारण (पदाथ) मे कारणता धम रहता है। जैसे मनुष्य मे मनुष्यता धम रहता है। प्रत्येक के दो दो 'अवच्छेदक' हुआ करते ह—एक 'सम्बन्ध' और दूसरा 'धम'। अभिप्राय यह है कि 'कायता' और कारणता' के भी दो अवच्छेदक हुए—एक 'सम्बन्ध' और दूसरा 'धम'। तब जिज्ञासा होती है कि कारणता का तथा कायता का अवच्छेदक सम्बन्ध कौन है और अवच्छेदक धम कौन है? 'काय' अपने 'कारण' मे जिस सम्बन्ध से रहता हैं वह 'कायतावच्छेदक सम्बन्ध' कहा जाता है, उसी प्रकार 'काय' पर रहनेवाला धर्म 'कायतावच्छेदक धम' कहा जाता है। साथ ही साथ यह नियम ध्यान मे रखना चाहिये—'यो यस्य अवच्छेदको भवति, स तदवच्छिन्नो भवति' जो जिसका अवच्छेदक होता है, वह उससे अवच्छिन्न होता है। पृथिवी आदि अवयवी द्रव्यरूप काय घट पट आदि, अपने कारणरूप अवयवद्रव्य मे 'समवाय सम्बन्ध' से उत्पन्न होकर रहते है। इस कारण अवयवी द्रव्यनिष्ठ-कार्यता का अवच्छेदक सम्बन्ध 'समवायसम्बन्ध' है। अत वह कायता 'समवायसम्बन्धावच्छिन्ना'

गई। उसी प्रकार पथिवी आदि कायद्रव्य मे 'कायत्वधम' रहता है, इसलिये वह कायत्वधर्म, पृथिव्यादिकायद्रव्यनिष्ठ कायता का अवच्छेदक हुआ। अत वह कायता कायत्व से अवच्छिन्ना हुई। साथ ही साथ यहाँ यह नियम भी ध्यान मे रखना होगा कि 'समवायसम्बध से उत्पन्न होनेवाले काय के प्रति तादात्म्यसम्बन्ध से द्रव्य कारण होता है।' क्योकि समवायसम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाले सभी काय द्रव्य में ही रहते हैं। अत द्रव्यनिष्ठ कारणता का अवच्छेदकसम्बध तादात्म्य ही होगा, तब द्रव्यनिष्ठ कारणता, तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना होगी। उसी प्रकार कायता और कारणता का आपस मे निरूप्य निरूपकभाव हुआ करता है। कही कायता से निरूपित कारणता होती है तो कही कारणता से निरूपित कायता होती है। इतना समझ लेने के बाद द्रव्यत्वजाति का साधक अनुमान इस प्रकार कहना होगा कि "समवायसम्बन्धावच्छिन्ना कायत्वावच्छिन्ना या अवयविद्रव्यनिष्ठा कायता, तादृशकार्यतानिरूपिता या तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना द्रव्यनिष्ठा या समवायिकारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात घटनिष्ठकायतानिरूपितकपालनिष्ठकारण तावत्।" अनुमान प्रयोग मे चार बातो की ओर ध्यान अवश्य रखना चाहिये—(१) पक्ष, (२) साध्य, (३) हेतु, (४) दृष्टान्त। उपयुक्त अनुमानप्रयोग मे 'पक्ष'—द्रव्यनिष्ठकारणता है, उसमें किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नत्व 'साध्य' है, कारणतात्व 'हेतु' ह और घटनिष्ठकार्यतानिरूपितकपालनिष्ठकारणतावत्—यह 'दृष्टान्त' है। प्रकृत मे 'पक्ष' मे जो द्रव्यनिष्ठकारणता है, उसी मे किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नत्व को सिद्ध करते है तो द्रव्यनिष्ठा कारणता उसी धम से अवच्छिन्ना होगी, जो उस कारणता का अवच्छेदक होगा। अर्थात द्रव्यनिष्ठ कारणता का जो अवच्छेदक होगा, वह द्रव्यत्व ही होगा। तब द्रव्यनिष्ठा 'कारणता' द्रव्यत्वावच्छिन्ना होगी। एवञ्च द्रव्यनिष्ठा कारणता 'यद्धर्मावच्छिन्ना' हो, उसी धम को 'द्रव्यत्व जाति कहते है। इस रीति से उपयुक्त अनुमान से 'द्रव्यत्वजाति' की सिद्धि की जाती है। अर्थात 'कायत्वावच्छिन्नकायतानिरूपितकारणतावच्छेदकतया' द्रव्यत्व जाति की सिद्धि की गई है।

किन्तु वह ठीक प्रतीत नही हो रही है, क्योकि 'कायत्व' को ही कायता का अवच्छेदक बना दिया गया है। अर्थात स्व' को ही 'स्वय' का अवच्छेदक बना दिया है। यह अनुचित इसलिये है कि 'कायत्व' और 'कायता' दोनो एक ही वस्तु होने से 'आत्माश्रय' दोष हो जाता है। इस अरुचि को ध्यान मे रखकर ही मूल में "सयोगस्य" कहा गया है। 'सयोगस्य' का अन्वय 'समवायिकारणतावच्छेदकता' के साथ होगा। अर्थात सयोग का समवायिकारण हुआ—'द्रव्य', उसमे रहनेवाली

समवायिकारणता का अवच्छेदक होगा 'द्रव्यत्व', उसीको द्रव्यत्व' जाति समझना चाहिये। यहा भी उसी प्रकार समझना होगा 'सयोग' गुणपदाथ ह, वह (सयोग) गुण होने से द्रव्य (गुणी) मे समवाय सम्बन्ध से रहेगा। एतावता सयोगनिष्ठा कायता, समवायसम्बन्धावच्छिन्ना होगी। और सयोगनिष्ठकायता का अवच्छेदक सयागत्व होगा। अत सयोगनिष्ठा कायता सयोगत्वावच्छिन्ना होगी। एवञ्च द्रव्यत्वजातिसाधक अनुमानप्रयोग इस प्रकार किया जायगा —'समवायसम्बन्धावच्छिन्ना अथच सयोगत्वावच्छिन्ना या सयोगनिष्ठा कायता, तन्निरूपिता या तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना द्रव्यनिष्ठा समवायिकारणता (पक्ष) सा, किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना (द्रव्यत्वधर्मावच्छिन्ना) (साध्यम), कारणतात्वात (हेतु), घटनिष्ठ-कायतानिरूपितकपालनिष्ठकारणतावत (दृष्टान्त)। एवञ्च द्रव्यनिष्ठा समवायिकारणता द्रव्यत्वावच्छिन्ना ही होगी। इससे भी द्रव्यत्वजाति की सिद्धि हो जाती ह, क्योकि द्रव्यनिष्ठा कारणता यद्धर्मावच्छिन्ना हा वही धम, द्रव्यत्व जाति कहलाती है। किन्तु यह अनुमानप्रयोग भी उचित प्रतीत नही हो रहा है। उसका कारण यह है कि इस अनुमानप्रयोग मे भी सयोगत्वावच्छिन्ना कायता अप्रसिद्ध ह। क्योकि सयोगनिष्ठा कायता सयोगत्वावच्छिन्ना तभी हो सकती है कि जब सयोगत्व, सयोगनिष्ठकायता का अवच्छेदक हो। लेकिन सयोगनिष्ठकार्यता का अवच्छेदक 'सयोगत्व' हो ही नही सकता। क्योकि अवच्छेदक वही होता है, जा अन्यूनानतिरिक्तवृत्ति धम हो। सयोगत्वधम जैसे अनित्य सयोग पर रहता ह, वसे ही वह (सयोगत्व) नित्यसयोग (विभुद्वयसयोग, कालाकाशसयोग) मे भी रहता है। अत वह कायता के अतिरिक्तवत्ति है। इस अरुचि को ध्यान मे रखकर मूलकार ने 'विभागस्य' कहा है। इसका अन्वय भी 'समवायिकारणतावच्छेदकता' के साथ समझना चाहिये। विभाग सभी अनित्य होते हैं। यहा भी उसी प्रकार समझना होगा —'विभाग' गुण पदाथ है। वह (विभाग) गुण होने से द्रव्य (गुणी) मे समवाय सम्बन्ध से रहेगा। एतावता विभागनिष्ठा कायता, समवाय-सम्बन्धावच्छिन्ना होगी। और विभागनिष्ठकायता का अवच्छेदक विभागत्व होगा। अत विभागनिष्ठा कायता विभागत्वावच्छिन्ना होगी। एवञ्च द्रव्यत्वजातिसाधक अनुमानप्रयोग इस प्रकार होगा—समवायसम्बन्धावच्छिन्ना अथच विभागत्वा-वच्छिन्ना या विभागनिष्ठा कार्यता, तन्निरूपिता या तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना द्रव्यनिष्ठा समवायिकारणता (पक्ष) सा, किञ्चिदधर्मावच्छिन्ना (द्रव्यत्वधर्मा-वच्छिन्ना) (साध्यम), कारणतात्वात (हेतु), घटनिष्ठकायतानिरूपित कपाल

निष्ठकारणतावत (दृष्टान्त)। द्रव्यनिष्ठासमवायिकारणता द्रव्यत्वावच्छिन्ना ही होगी। इससे द्रव्यत्व जाति की सिद्धि निराबाध हो जाती है। तात्पय यह है कि द्रव्य, समस्त काय का समवायिकारण है तो सयोग, विभाग और जन्य द्रव्य का भी वही (द्रव्यही) समवायिकारण है। अत समवायिकारणतावच्छेदक 'द्रव्यत्व' होगा, वही द्रव्यत्वजाति है। इस प्रकार द्रव्यत्वजाति के साधक तीन अनुमान किये गये। उनमे से प्रथम अनुमान मे कायत्वधम को कायतावच्छेदक मानने मे आत्माश्रय दोष तथा उपस्थितिकृत गौरव होना है, इसलिये द्वितीय अनुमान किया गया। किन्तु उसमे भी नित्यसयोगवादी के मत से सयोगत्वावच्छिन्ना कायता अप्रसिद्ध ह। इसलिये तृतीय अनुमान किया। इसमे नित्यविभाग का आश्रय कोई द्रव्य नही ह, इस कारण विभागत्वावच्छिन्ना कायता अप्रसिद्ध नही है।

निष्कष यह है कि द्रव्यवत्तिर्या सयोगस्य विभागस्य वा समवायिकारणता, सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात तन्तुवत्तिकारणतावत'—पथिवी आदि नौ द्रव्यो मे रहनेवाली जो सयोगगुणरूप काय की अथवा विभागगुणरूप काय की समवायिकारणता वह किसी धम से अवच्छिन्न होने योग्य है, कारणता होने से, क्योकि जो-जो कारणता होती है, वह किसी न किसी धम से अवच्छिन्न ही होती ह, निरवच्छिन्न कोई कारणता नही होती। जैसे तन्तुओ मे रहनेवाली पट की समवायिकारणता तन्तु व धम मे अवच्छिन्न होती ह। वैसे ही यह द्रव्यनिष्ठ कारणता भी किसी धम से अवच्छिन्न होगी। प्रकृत मे पृथिवी आदि नौ द्रव्यो मे स्थित जो सयोग विभागरूप कार्य की समवायिकारणता है उस कारणता की द्रव्यत्व (धमरूप) जाति ही अवच्छेदक होती है। 'जो धम जिस धम के न्यून तथा अधिक देश में न रहे किन्तु समान देश मे रहे उसको 'अवच्छेदक' कहते ह, ऐसा अवच्छेदक धम द्रव्यत्वजाति मे ही घटित होता है। क्योकि सयोग विभागरूप काय की समवायिकारणता उन पथिवी आदि नौ द्रव्यो मे रहती है और यह द्रव्यत्व जाति (धम) भी पथिवी आदि नौ द्रव्यो मे रहती है। अत द्रव्यत्व जाति ही इस कारणता का अवच्छेदक ह। पृथिवीमात्र मे पृथिवीत्व, जल मे जलत्व इत्यादि द्रव्यविभाजक जातिया न्यून देश मे रहती है, और 'सत्ता' अधिक देश मे रहती है। अत वे 'पथिवीत्व', 'जलत्व' आदि धम या 'सत्ता' कोई भी द्रव्यनिष्ठ कारणता की अवच्छेदक नही हो सकती, किन्तु 'द्रव्यत्व' धम ही उसका अवच्छेदक हो सकता है। उस 'द्रव्यत्व' धम को ही 'द्रव्यत्वजाति' कहते है।

शका—समवायसम्ब ध से गुणत्वजाति गुण मे यद्यपि रहती है, तथापि 'स्वाश्रयाश्रयत्व' सम्बन्ध से वह गुणत्वजाति द्रव्य मे भी रहती है। यहा पर 'स्व' शब्द से गुणत्वजाति को लिया, उसके आश्रय रूपादिगुण होगे, उनके आश्रय पृथिवी आदि नौ द्रव्य होगे। तब 'गुणत्वजाति' को हो द्रव्यवृत्ति (निष्ठ) कारणता की अवच्छेदक क्यो न माना जाय, 'द्रव्यत्व' जाति को ही क्यो अवच्छेदक माना जा रहा है ?

समा०—पृथिवी आदि नौ द्रव्यो मे साक्षात् (परम्परा से नही) सम्ब ध से सम्बद्ध द्रव्यत्वजातिरूप धम का कोई भी बाधक नही है। अत उस साक्षात्-सम्बद्ध द्रव्यत्व धम को छोडकर, वह अनुमितिज्ञान परम्परया सम्बद्ध गुणत्व-जातिरूप धम को विषय नही करेगा, अपितु साक्षात्सम्बद्ध द्रव्यत्वजातिरूप धर्म को ही विषय करेगा।

शका—जैसे आकाशत्व, कालत्व, दिक्त्व, सामा यत्व, विशेषत्व, समवायत्व, अभावत्व—ये धम जातिरूप नही है कि तु उपाधिरूप है, वमे ही द्रव्यत्व धर्म को जातिरूप न मानकर उपाधिरूप ही क्यो न मान लिया जाय ?

समा०—कारणता, कायता, प्रतिब धकता प्रतिबध्यता तथा पद की शक्यता का अवच्छेदक धम, जातिरूप ही होता है, उपाधिरूप नही—यह नैया-यिको का सिद्धान्त है।

शका—जैसे सयोग-विभाग ये दोनो द्रव्य मे रहते है, वैमे ही रूपादि भी द्रव्य मे रहते है, तब सयोग विभाग ही से निरूपित द्रव्यवृत्ति (निष्ठ) समवायि कारणता को लेकर द्रव्यत्वजाति को सिद्धि क्यो की जा रही है, रूपादि गुण निरूपित द्रव्यनिष्ठसमवायिकारणता को लेकर द्रव्य वजाति की सिद्धि क्यो नही की जा रही है ?

समा०—जैसे शब्द रस, रूप, स्पश, परत्व आदि गुण—एक, दो, तीन, चार, पाँच आदि द्रव्यो मे रहते है, पर तु सयोग तथा विभाग ये दोनो तो सभी द्रव्यो मे रहते हैं, इस कारण सयोग विभाग निरूपित कारणता को ही लेकर द्रव्यत्व जाति की सिद्धि की है।

शका—सख्या, परिमाण, पृथक्त्व—ये तीन गुण भो सभी द्रव्यो मे रहते हैं, तब एतन्निरूपित समवायिकारणता को लेकर द्रव्यत्व जाति की सिद्धि क्यो नही की जा रही है ?

समा०—ये तीन गुण नित्य तथा अनित्य हैं और 'नित्यानित्यवृत्तिधम

● ननु दशम द्रव्य तम कुतो नोक्तम् ? तद्धि प्रत्यक्षेण गृह्यते। तस्य च रूपवत्त्वात् कर्मवत्त्वाच्च द्रव्यत्वम्। तद्धि गन्धशून्यत्वान्न पृथिवी, नीलरूपवत्त्वाच्च न जलादिकम्। तत्प्रत्यक्षे चालोकनिरपेक्ष चक्षु कारणमिति चेत् ?

□ 'तम' को दसवाँ द्रव्य माननेवाले मीमासक की[1] शका—यह तम (तमस्) (अन्धकार) नौ द्रव्यो से निराला दसवाँ द्रव्य प्रतीत हो रहा है, क्योकि 'तम' प्रत्यक्ष दीखता है और 'गुणवत्त्व क्रियावत्त्व समवायिकारणत्व वा द्रव्यस्य लक्षणम्'[2] यह द्रव्य' का लक्षण है। 'नील तमश्चलति' कहने से 'तम' मे 'नीलरूप' गुण तथा 'चलनात्मक' क्रिया भी प्रतीत होती है, इस कारण 'तम' को द्रव्य कहा जा सकता है। परिगणित नौ द्रव्यो मे से किसी मे भी इस 'तमो द्रव्य' का अन्तर्भाव भी नही हो पा रहा है, इसलिये यह 'तमोद्रव्य' 'नौ द्रव्यो' से अतिरिक्त है। उसीका उपपादन करते है—'तम' का पृथिवी मे अ तर्भाव हो नही सकता, क्योकि 'पृथिवी' मे गन्ध गुण है, 'तम' मे नही। 'तम' मे नीलरूप' दिखाई देने से 'जल' आदि मे भी अ तर्भाव नही हो सकता। 'आदि' पद से तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन को समझना चाहिये। इनमे से किसी मे भी 'नीलरूप' नही है। 'तम' के प्रत्यक्ष करने मे 'आलोक निरपेक्ष (प्रकाशरहित) चक्षु' कारण होता है, यही 'तम के प्रत्यक्ष मे विशेषता है। एतावता यह 'तम' दसवाँ द्रव्य है।[3]

तो कायता का अवच्छेदक नही होता' यह नियम है। सयोग विभाग ये दोनो धम तो अनित्य है इस कारण समवायिकारणता के अवच्छेदक होकर द्रव्यत्वजाति को सिद्ध करते हैं।

शका—यदि सयोग से ही द्रव्यत्वजाति सिद्ध हो सकती है तो विभाग को पुन क्यो ग्रहण किया ?

समा०—कुछ ग्रन्थकार आकाशादि विभुओ के सयोग को नित्य कहते है, तब सयोग तो नित्यानित्यवृत्ति हो जायगा, इसलिये विभाग को ही समवायि कारणता का अवच्छेदक मानकर द्रव्यत्वजाति की सिद्धि की गई है।

१—'तम खलु चल नील परापरविभागवत्।
प्रसिद्धद्रव्यवैधर्म्यान्नवभ्यो भेत्तुमर्हति ॥" इति मीमासकाना मतम्।

२—जो 'समवायसम्बन्ध' से गुण या कम का आश्रय हो और जो किसी क समवायिकारण हो उसे द्रव्य कहते है।

३—अनुमान प्रमाण से भी 'तम' का द्रव्य होना सिद्ध किया जा सकता है

अनुमानप्रयोग इस प्रकार होगा–'तम ' द्रव्य रूपवत्वात् क्रियावत्वाच्च पृथिवीवत्' 'तम' द्रव्य है, रूपवाला तथा क्रियावाला होने से, जा जो पदाथ 'रूप तथा क्रिया वाला' होता है, वह वह पदार्थ 'द्रव्य' ही होता है। जसे 'पृथिवी' रूप तथा क्रिया वाली है, इस कारण ही उसे 'द्रव्य' कहा जाता है। इस प्रकार 'तम' भी 'रूप तथा क्रियावाला' होने से द्रव्य है।

अब अनुमान से उस 'तम' का पृथ्वी आदि नौ द्रव्यो मे अ तर्भाव भी सिद्ध नही है यह दिखाते हैं। अनुमानप्रयोग इस प्रकार होगा– तम न पृथिवी ग धशू यत्वात् जलवत्'—'तम' पृथिवी नही, ग धरहित होने से, जो जो द्रव्य गन्धरहित है वह वह पृथिवी नही है। जैसे जल, ग न्ध से रहित होने के कारण 'पृथिवी' नही है। अब जलादि आठो द्रव्यो से 'तम' की भिन्नता बताते है– तमो' न जलादिक' नीलरूपवत्वात् पृथिवीवत्'—वह तम' जल आदि अष्टद्रव्यरूप भी नही है नील रूपवाला होने से, जो द्रव्य नीलरूपवाले है वे जलादि अष्टद्रव्यरूप नही होते है जसे— पृथिवी' नील रूपवाली होने से जलादि अष्टद्रव्यरूप नही है, वसे ही तम भी नील रूपवाला होने से जलादि अष्टद्रव्यरूप नही है। अथवा इस एक ही अनुमान से तम' का नौ द्रव्यो से भिन्न सिद्ध किया जा सकता है— 'तम , न पृथिव्यादि, स्पशरहितत्वे सति रूपवत्वात्, यन्नैव तन्नैव यथा पृथिव्यादि।' 'तम' पृथिवी आदि नौ द्रव्यरूप नही है, स्पशरहित तथा रूपवाला होने से जो पदाथ पृथिवी आदि नौ द्रव्यो से भिन्न नही रहता, वह पदार्थ स्पशरहित होता हुआ रूपवाला भी नही होता। जसे 'पृथिवी' आदि नौ द्रव्य, उन पृथिवी आदि नौ द्रव्यो से (स्व से) भिन्न नही है, इसीकारण स्पश से रहित रहकर रूपवाले नहीं हैं, किन्तु स्पश के सहित रहते हुए रूपवाले हैं, और यह 'तम' स्पश से रहित होता हुआ रूपवाला है। अत उन पृथिवी आदि नौ द्रव्यो से भिन्न (भेदवाला) है।

इसी आशय को सस्कृत मे इस प्रकार से भी कहा जा सकता है—

'तम अतिरिक्तद्रव्य, प्रसिद्धनवद्रव्यवधर्म्यात्'। तथाहि—तम पृथिव्यनन्तभूतम्, समवायसम्बन्धावच्छिन्नग धत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावाधिकरणत्वात्, सुवणवत्'। 'तमः जलान तभूतम्, शीतस्पर्शाभावात्, घटवत्।' 'तम तेजोऽनन्तभूतम् उष्णस्पर्शाभावात् घटवत्।' 'तम वाय्वन तभूतम् सदा गतिमत्वाऽभावात्, घटवत्।' तथा 'तम वाय्वन तर्भूतम्, स्पर्शाभावात्, आकाशवत्।' 'तम आकाशादिप्रत्येकपश्चाऽन तभूत, समवायेन रूपवत्त्वात्, घटवत्। एव तम न गुणाद्यन्तभूतम्,

● न, आवश्यकतेजोऽभावेनैवोपपत्तौ द्रव्यान्तरकल्पनाया अन्याय्यत्वात्। रूपवत्ताप्रतीतिस्तु भ्रमरूपा, कर्मवत्ताप्रतीतिरप्यालोकापसरणौपाधिकी भ्रान्तिरेव। तमसोऽतिरिक्तद्रव्यत्वेऽनन्तावयवादिकल्पनागौरव च स्यात्। स्वणस्य यथा तेजस्यन्तर्भावस्तथा वक्ष्यते।

□ 'उष्णस्पर्श' तथा भास्वर रूपवाला होने से अवश्य माननीय (स्वीकतव्य) जो तेज पदार्थ है उसके अभाव मे ही यदि 'अ धकार' (तम) का व्यवहार हो जाय तो नौ द्रव्यो की अपेक्षा 'तमो' नामक अधिक पृथक् द्रव्य की कल्पना करना उचित नही है। अर्थात् आवश्यक प्रौढ प्रकाशक जो तेज पदार्थ है उसी के सामान्याभावरूप तम (अ धकार) को मानने से ही उपपत्ति (निर्वाह) यदि

गुणवत्त्वात् इति। तथापि तत्तद्धेतुना जलत्वाभावादे प्रातिस्विकरूपेण साधनमनुचितम्, एकेनैव 'नीलरूपवत्त्वात्' इति हेतुना जलत्वादिमनस्त्वा ता यतमशू यत्व साधनसम्भवात्। यह ध्यान मे रखकर ही ग्र थकार ने 'नोलरूपवत्त्वाच्च' कहा है, अर्थात् 'समवायेन नीलरूपाधिकरणत्वात्'। अब अनुमान इस प्रकार किया जायगा—'तम जलतेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनोनन्तभूत समवायेन नीलरूपाधिकरणत्वात्, नीलघटवत्।

इस 'तम' का लक्षण इस प्रकार होगा—'स्पशरहितत्वे सति रूपवत् तम' आकाशादि 'पाच द्रव्य' स्पशरहित होने पर भी रूपवाले नही है इसकारण उनमे 'तम' के लक्षण की अतिव्याप्ति नही है। पृथिवी आदि तीन द्रव्यो मे 'रूप' तो है परन्तु 'स्पशरहितत्व' नही है, अत उनमे भी उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नही है। यह 'तम' नौ द्रव्यो से भिन्न द्रव्य है—यह वद्धो ने भी कहा है—

'तम खलु चल नील परापरविभागवत्।
प्रसिद्धधमवधर्म्यान्नवभ्यो भेत्तुमर्हति ॥' (न्याय लीलावती)

'तम द्रव्य समवायेन कमवत्त्वात्'। 'तम द्रव्य समवायेन नीलरूपवत्त्वात्'। 'तम द्रव्य समवायेन परत्ववत्त्वात्'। तम द्रव्य समवायेन अपरत्ववत्त्वात्।' 'तम द्रव्य समवायेन विभागवत्त्वात्।' 'तम द्रव्य समवायेन सयोगवत्त्वात्। 'तम अतिरिक्तद्रव्य प्रसिद्धनवद्रव्यवैधर्म्यात्।'

'तम' चलनरूपक्रिया तथा नीलरूप और परत्व अपरत्व गुणवाला होने से द्रव्यरूप है। और प्रसिद्ध पृथिवी आदि नौ द्रव्यो के वैधर्म्यवाला होने से उन नौ द्रव्यो से भिन्न है। अत यह 'तम' नाम दशम द्रव्य सिद्ध हो रहा है।

हो जाती है तो एक अतिरिक्त द्रव्य की कल्पना करते बैठना उचित नही है । अत 'तेज का अभाव' ही 'तम' है। इसलिये 'तम' नाम का कोई दसवॉ द्रव्य नही है ।

शका—यदि 'तम' को तेजोभावरूप मानते हैं तो उसमे 'नील तमश्चलति' यह रूपवत्ता प्रतीति क्यो होती है ? क्योकि 'अभाव' तो नीरूप (रूपहीन) है ।

समा०—आकाश के नीरूप (रूपहीन) होने पर भी 'नील आकाश' यह प्रतीति जैसे भ्रम है, वैसे ही 'नील तमश्चलति' यह रूपवत्ता प्रतीति भी भ्रम है। उसी तरह 'चलति' यह 'कमवत्ता' प्रतीति भी भ्रम है। जब कोई व्यक्ति 'दीपक' रूप प्रकाश लेकर चलता है, तो उस व्यक्ति की अपसरण क्रिया', दीपक आदि मे आकर अधकार' मे भासित होने लगती है, जिससे 'तम चल रहा है' ऐसा कहने लगते हैं। अत तम मे चलनक्रिया की प्रतीति आलोक (तेज, प्रकाश) की अपसारणक्रियारूप उपाधि से प्रयुक्त होने के कारण भ्रमरूप ही है। अर्थात् 'तम' मे 'चलनक्रिया का ज्ञान भ्रमरूप ही है, क्योकि आलोक के होने पर 'तम' भागता है—इस युक्ति से यह सिद्ध होता है कि तम कोई अतिरिक्त पदाथ न होकर आलोकाभाव (तेजोऽभाव) रूप ही है। इस पर भी 'तम' को अतिरिक्त द्रव्य मानने का यदि कोई दुराग्रह करता है तो उसे 'तम' के 'अनन्त अवयव' तथा 'उनके नाश' की भी कल्पना करनी होगी। अर्थात् 'तम' को 'सावयव द्रव्य' मानना होगा, तब कल्पना प्रयुक्त गौरव होगा। अतः इस प्रकार के अनन्तावयवादि कल्पना करने के कारण उपस्थित होनेवाले गौरव को मानने की अपेक्षा 'तेजोऽभाव' का ही 'तम' कहने मे लाघव होगा। हम नैयायिको के यहाँ 'अभाव' को सप्तम पदाथ माना जाता है। अत 'तम' का उसी अभाव पदाथ मे अन्तर्भाव मानना चाहिये। 'तम' अतिरिक्त द्रव्य नही है। एतावता 'द्रव्य' नौ ही हैं यह सिद्ध हुआ[१]। 'सुवण' का भी तेज मे ही अन्तर्भाव होता है, यह चर्चा हम तेजोनिरूपण के प्रसग मे करेंगे।

---

१ 'तम' को अतिरिक्त द्रव्य मानने की जो आशका मीमासको ने की है, वह उचित नही है, क्योकि 'महत्त्व-विशिष्ट तथा उद्भूतरूपवाले द्रव्य' का चाक्षुष प्रत्यक्ष 'आलोक सहकृत चक्षुरिन्द्रिय' से ही होता है। 'घट पट आदि द्रव्यो' का प्रत्यक्ष जैसा 'आलोक' (प्रकाश) में होता है, वैसा अन्धकार' मे नही। इससे ज्ञात होता है कि 'तम' सज्ञक कोई द्रव्य नही है, किन्तु वह 'तेज का अभाव' है।

शका—'प्रकाश' मे ही चक्षु से 'द्रव्य' का प्रत्यक्ष हो'—यह कोई सार्वत्रिक

नियम नही है, क्योकि रात्रि मे आकाशाभाव होने पर (प्रकाश के न रहने पर) भी उल्लूपक्षी, बिल्ली, चूहा, राक्षस आदि का दीखता ही है।

समा०—रात्रि मे 'प्रकाश' का अत्यन्त (बिलकुल) अभाव नही रहता, अपितु किंचित् आलोक (प्रकाश) रहता ही है। उस थाडे (किंचित्) प्रकाश से ही उल्लू आदि का 'चक्षुरिन्द्रिय' 'द्रव्य' का प्रत्यक्ष कर लेता है। अर्थात् 'चक्षुरिन्द्रिय' प्रत्यक्ष का कारण होता है।

शका—जैसे उल्लू, राक्षस आदि को अँधेरी रात मे दीखता है, वसे ही मनुष्यादिको को क्यो नही दीखना ?

समा०—विलक्षण अदृष्टविशेष से उल्लू आदि का चक्षु अल्प स्वल्प प्रकाश मे ही देख लेता है, किन्तु मनुष्यो का चक्षु उत्कृष्ट प्रकाश मे ही अदृष्ट के कारण देख पाता है। अथवा चाक्षुषप्रत्यक्ष का 'अस्मदीय' यह विशेषण दें तो कोई भी दोष नही होगा।

(मीमासको की शका)—तेज सामान्य के अभाव का नाम 'तम' है या तेजोविशेष के अभाव का नाम 'तम' है ? अब नैयायिक यदि प्रथम पक्ष का स्वीकार करते है तो अत्यन्त 'गाढ अन्धकार' मे उस तम की प्रतीति नही होनी चाहिये। यदि 'तेजोविशेष के अभाव' का नाम 'तम' कहो तो सूर्य के प्रकाशरूप आलोक के विद्यमान होने पर भी 'तम' की प्रतीति होनी चाहिये, क्योकि यहा पर यत्किञ्चित् अग्निचन्द्रादि के तेजोविशेष का अभाव तो हे ही।

समाधान—यह जो कहा गया है कि—'तेज के अभाव' का नाम तम' है, उसका तात्पर्य यह है—'प्रकृष्टमहत्त्वोद्भूतानभिभूतरूपवत्तेज सामान्याभावस्तम' जो तेज प्रकृष्टमहत्त्वपरिमाण तथा उद्भूत अनभिभूत रूपवाले है, ऐसे समस्त तेजो का जो अभाव है, वही 'तम' है। ऐसे तेज—सूर्य, चन्द्र, विद्युत, अग्नि, मणि आदि हैं। उपर्युक्त लक्षण मे यदि 'प्रकृष्ट' पद न देते तो 'त्र्यणुक तेज' के विद्यमान होनेपर भी तम' की प्रतीति नही होती। यदि 'रूप' का विशेषण 'उद्भूत' पद न दें तो 'चक्षुरिन्द्रियरूप तेज' के विद्यमान होनेपर इस तम की प्रतीति नही होती। यदि रूप का विशेषण 'अनभिभूत' पद न दें तो सुवर्णरूप तेज के होनेपर 'तम' की प्रतीति न होती। यदि 'सामान्य' पद न दें तो जहा एक सूर्यरूप तेज हैं वहाँ चन्द्र, अग्नि आदि तेजो का अभाव भी है, अत वहा भी तम की प्रतीति नही होनी चाहिये थी। अत लक्षण ठीक प्रतीत हो रहा है। "तम' मे जो नीलरूप दीखता है, वह 'पृथिवी' का समझना चाहिय। जैसे—

● गुणान्विभजते अथ गुणा इति ।

□ क्रम प्राप्त गुणो का विभाग करते हैं ।

❀ —अथ गुणा रूप रसो गन्धस्ततः परम् ॥ ३ ॥
स्पर्शः सङ्ख्या परिमितिः पृथक्त्व च ततः परम् ।
सयोगश्च विभागश्च परत्व चापरत्वकम् ॥ ४ ॥
बुद्धिः सुख दुःखमिच्छा द्वेषो यत्नो गुरुत्वकम् ।
द्रवत्व स्नेहसस्करावदृष्ट शब्द एव च ॥ ५ ॥

(१) रूप, (२) रस, (३) गन्ध, (४) स्पर्श (५) सख्या, (६) परिमिति = परिमाण, (७) पृथक्त्व, (८) सयोग, (९) विभाग, (१०) परत्व, (११) अपरत्व, (१२) बुद्धि, (१३) सुख, (१४) दुःख, (१५) इच्छा, (१६) द्वेष, (१८) यत्न= प्रयत्न, (१८) गुरुत्व, (१९) द्रवत्व (२०) स्नेह, (२१) सस्कार, (२१) धर्म, (२३) अधर्म[1], (२४) शब्द । ये चौबीस गुण[2] है । 'एव' 'च' ये दो पद कारिका मे केवल पादपूर्ति के लिये ही है ।

'पित्त' होनेपर 'शख पीला प्रतीत होता है । उसी प्रकार जो चलनात्मक क्रिया 'तम' मे प्रतीन होती है वह भी 'तम' की नही, किन्तु दीपकादि तेज के किरणो का प्रतिरोध करनेवाला शरीरादि पार्थिव द्रव्य है, उसकी क्रिया ही 'तम' मे प्रतीत होती है ।

मीमासको की शका—जसे तुम नैयायिको ने अन्वयव्यतिरेक से 'तम' को 'तेज' का अभाव माना है, वैसे ही हम मीमासक उस 'तेज' को ही 'तम' का अभाव सिद्ध करते है ।

समाधान—'अभाव' मे स्पर्श तथा रूपादि नही रहते, किन्तु 'द्रव्य' मे ही रहते है । यदि 'तेज तम का अभाव होता तो अग्नि के अगारे को हाथ पर रखने से हाथ नही जलता, अर्थात् स्पर्श करने पर दाहादि नही होते । अत 'तेज' को द्रव्य और 'तम' को अभावरूप ही मानना उचित है ।

---

१ धर्म का अभाव अधर्म नहीं है, किन्तु यह अधर्म गुणविशेष भाव पदार्थ है ।

२ 'द्रव्याश्रय्यगुणवान् सयोगविभागेष्वकारणमनपेक्षो गुण ' इति । जो द्रव्य-मे रहता है और स्वय अगुणवान् है, उसी प्रकार जो सयोग तथा विभाग का कारण नही है, वही गुण है ।

● एते गुणाश्चतुर्विंशतिसङ्ख्याका कणादेन कण्ठतश्च शब्देन च दर्शिता । तत्र गुणत्वजातिसिद्धिरग्रे वक्ष्यते ॥ ३ ५ ॥

□ रूप, रस, ग ध, स्पश, सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख दु ख, इच्छा, द्वेष प्रयत्न, धम, अधम और सस्कार—ये चौबीस गुण है। इनमे से सत्रह (१७) गुण कणाद मुनि ने अपने सूत्र[1] मे स्पष्टतया लिखे है, शेष सात गुण उसी सूत्र के 'च' कार से सूचित होते है। इस प्रकार ये चौबीस गुण इस शास्त्र मे कहे गये है। इन गुणो मे गुणत्व' जाति की सिद्धि आगे गुणनिरूपण के अवसर पर करेगे।

● कर्माणि विभजते उत्क्षेपणमिति ।

□ अब क्रमप्राप्त कम का विभाग करते ह ।

❀ उत्क्षेपण ततोऽपक्षेपणमाकुञ्चनं तथा ।
प्रसारण च गमन कर्माण्येतानि पञ्च च ॥ ६ ॥

कठिन पदो की व्याख्या—(१) उत्क्षेपणम्—"ऊर्ध्वदेशसयोगानुकूला क्रिया" ऊपर के देश से सयोग करानेवाला कम अर्थात् ऊपर को फेंकना, (२) अपक्षेपणम्—"अध सयोगानुकूला क्रिया" अर्थात् नीचे को फेंकना, (३) आकुञ्चनम्—"प्रसारितस्य सक्षिप्तसम्पादनानुकूला क्रिया" अर्थात् सिकोडना, (४) प्रसारणम्—अर्थात् 'विस्तारकरणम्' फैला देना, (५) गमनम्—'उत्तर देशसयोगानुकूलो व्यापार जो क्रिया उत्तर देश के साथ सयोग (मिलाप) कराती है, उसको गमन कहते हैं। अर्थात् गमन करने के समय पूवदेश के साथ सयोग का 'ध्वस' होना तथा उत्तरदेश के साथ सयोग का होना, अर्थात् जो व्यापार ऐसा सयोग पैदा करावे उसीका नाम गमन है। कर्माणि–ये पाँच प्रकार के कम है। कम का स्थूल लक्षण तो यह है कि 'क्रियते इति कर्म' अर्थात् जो किया जाय वही कम है। शास्त्रीय शब्दो मे लक्षण इस प्रकार होगा–जो पदाथ 'सयोग' तथा 'विभाग' का असमवायिकारण हो और जिसका 'असमवायी वेग' हो वही कम है।

□ उत्क्षेपण अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन ये पाच ही कम है।

● कमत्वजातिस्तु प्रत्यक्षसिद्धा । एवमुत्क्षेपणत्वादिकमपि ॥ ६ ॥

□ 'कम' मे 'कमत्व' जाति तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है। जैसे मनुष्य

१ 'रूपरसग धस्पर्शा , सख्या , परिमाणानि, पृथकत्व, सयोगविभागौ, परत्वापरत्वे, बुद्धय , सुखदु खे, इच्छाद्वेषौ, प्रयत्नाश्च गुणा ।"—वै० सू० १।१।६

उठना है, गमन करता है इस प्रकार अनुगत प्रत्यय (ज्ञान) होने से 'कमत्व जाति' को प्रत्यक्ष सिद्ध कहा गया। इसी प्रकार उत्क्षेपणत्वादि जाति को भी प्रत्यक्ष सिद्ध समझना चाहिये ॥ ६ ॥

❀ **भ्रमण रेचन स्यन्दनोर्ध्वज्वलनमेव च ।**
तिर्यग्गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते ॥ ७ ॥

(१) भ्रमणम्—इधर उधर घूमना, (२) रेचनम्—निकलना, (३) स्यन्दनम्—बहना, (४) ऊद्ध्वज्वलनम्—ऊपर को ओर अग्नि का जलना अर्थात् लपट, (५) तियग्गमनम्—टेढा चलना, गमनादेव लभ्यते—गमन शब्द के अन्तगत ही इन 'भ्रमणादिको' को जानना चाहिये। अर्थात् ये एक तरह के गमन ही है।

● नन्वत्र भ्रमणादिकमपि पञ्चकर्माधिकतया कुतो नोक्तम् ?

भ्रमण रेचन, स्य दन, ऊद्ध्वज्वलन, और तियग्गमन ये पाच कम, पूर्वोक्त पाँच कर्मों से अधिक प्रतीत होते है, तब दस प्रकार के कम है, ऐसा क्यो नही कहा ? इस शका के समाधानाथ कहते हैं।

● अत आह—भ्रमणमित्यादि ॥ ७ ॥

भ्रमणादिक[1] पाच कम निराले नही है इसका गमन मे ही[2] अ तर्भाव हो जाता है। अत पाँच ही कम है ॥ ७ ॥

● सामा य निरूपयति—सामान्यमिति ।

☐ अब क्रमप्राप्त सामा य का निरूपण करते हैं।

❀ **सामान्य द्विविध प्रोक्त पर चापरमेव च ।**

☐ कठिन पदव्याख्या—(१) सामान्यम्—जाति , (२) पर चापरम्—'पर' एव

---

१ ये पाच कम घोडो की गति से जाने जाते है।

२ शका—भ्रमणादिको का जैसे गमन मे अ तर्भाव माना जाता है, वैसे ही उ क्षेपणादि चारो का भी 'गमन' मे अन्तर्भाव क्यो नही माना जाता ?

समा०—यद्यपि उक्तरीति से उत्क्षेपणादिको का भी गमन मे अन्तर्भाव हो सकता है तथापि कणादमुनि ने उत्क्षेपणादि पाच ही प्रकार का 'कम' बताया है। अत उनकी शैली का त्याग करना उचित नही है। उत्पत्ति विनाशशाली होने से सभी कम अनित्य होते हैं। जिस जिस मूतद्रव्य मे जो जो कम उत्पन्न होता है, उस उस कम का वह वह 'मूर्त द्रव्य' समवायिकारण होता है। यह कम, चक्षु तथा त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है।

'अपर' ये दो भेद 'जाति' के है। 'पर' शब्द का अथ यहा उत्कृष्ट है। 'अपर' की अपेक्षा से 'पर' बहुत पदार्थों मे रहता है, यही 'पर' की उत्कृष्टता है। 'अपर' शब्द का अथ निकृष्ट है। 'पर' की अपेक्षा 'अपर' कम पदाथ मे रहता है। यही 'अपर' के निकृष्ट होने का कारण है।

तात्पय यह है कि 'जाति' पदाथ दो प्रकार का होता है 'पर' और 'अपर'। द्रव्य, गुण और कम पर रहनेवाली (तीनो मे समवेत) सत्ताजाति को 'परा' कहते हैं। जो 'जाति' 'परा' नही है उसे 'अपरा' कहने है। द्रव्यत्व गुणत्व, कमत्व प्रभृति जाति 'परा' होती है। इसी प्रकार 'द्रव्य' के अ तगत जो पृथ्वी, जल आदि नौ द्रव्य है, तथा 'गुणो के अन्तगत जो रूप, रस आदि चौबीस गुण हैं, उनमे से प्रत्येक पर रहनेवाले जैसे पृथ्वीत्व, जलत्व आदि, उसी तरह रूपत्व, रसत्व आदि अपरा जाति समझी जाती है। एव च 'परा' और 'अपरा' ये दो जातिया है।

● तल्लक्षण तु नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वम्। अनेकसमवेनत्व सयोगादीनामप्यस्त्यत उक्त नित्यत्वे सतीति। नित्यत्वे सति समवेतत्व गमनपरिमाणादीनामप्यस्त्यत उक्तमनेकेति। नित्यत्वे सत्यनेक वृत्तित्वमत्यन्ताभावेऽप्यस्त्यतो वृत्तित्वसामान्य विहाय समवेतत्व मित्युक्तम्।

□ नित्य (नाशरहित) होकर अनेक पदार्थों मे समवाय सबन्ध से रहनेवाले धर्म को 'सामान्य' (जाति) कहते हैं। अब लक्षण के पदो का प्रयोजन बताते हैं—'नित्य' पद यदि न दें तो 'सयोग' 'विभाग' आदि गुण अनेक पदार्थो मे 'समवाय सम्ब ध' से रहते है। अत वे भी 'सामा य' (जाति) हो जायेंगे। इस अतिव्याप्ति के निवारणाथ 'सामा य' (जाति) के लक्षण मे 'नित्य' पद दिया गया है। उसके देने से 'सयोगादि' अनित्य होने के कारण वे 'सामा य' (जाति) नही कहे जा सकेंगे। अब 'अनेक' पद लक्षण मे न दें तो गगन का जो 'महत्परिमाण' है, वह नित्य है और वह 'समवाय सम्ब ध से गगन मे रहता है। अत 'गगन-परिमाण' मे 'सामा य' (जाति) के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। उस अतिव्याप्ति के निवारणाथ लक्षण मे 'अनेक' पद दिया गया है। गगन तो एक ही पदाथ है, अनेक नही। उसमे रहनेवाला 'महत्परिमाण' अनेक पदार्थों मे नही रहता है। अत लक्षण में 'अनेक' पद के देने से अतिव्याप्ति नही होगी। अब लक्षण मे 'समवाय' पद यदि न दें तो 'अत्यन्ताभाव' नित्य है ओर वह अनेक

पदार्थों मे भी रहता है। अत 'अत्यन्ताभाव' मे 'सामान्य' (जाति) के लक्षण[1] की अतिव्याप्ति[2] हो जायगी। इसलिये 'समवाय' पद 'सामान्य' के लक्षण मे दिया गया है। 'अत्य ताभाव' समवायसम्बन्ध से कही नही रहता। 'अत्यन्ताभाव' तो 'दैशिकविशेषणता' नामक स्वरूपसम्बन्ध से रहता है। अत 'सामा य' (जाति) के लक्षण मे कोई दोष नही है।

१ इतर भेद के अनुमापक धम को 'लक्षण' कहते है। अर्थात् जो धर्म अन्य वस्तुओ से भेद करावे, उस भेद करानेवाले धम को 'लक्षण' कहते हैं। जैसे—'कर चरणादिमत्त्व' 'मनुष्यत्वम्' यह मनुष्य का लक्षण है, क्योकि 'करचरणादिमत्त्व' धम मनुष्य को अ य जीव तथा वस्तुओ से भिन्न कराता है। इसलिये करचरणादिमत्त्व' मनुष्य का लक्षण है। उसी प्रकार 'गलकम्बलादि मत्त्व' गो का लक्षण है। जिसके गले मे कम्बल (कम्बलाकार लम्बमानचम) होता है, उसी को 'गो' कहते हैं। गोमात्र के गले मे कम्बल होता है, गो से भिन्न अन्य प्राणि के गले मे वह नही होता। 'गलकम्बलादिमत्त्व' धम के द्वारा गो-प्राणि अश्वप्रभृति अन्य प्राणियो से भिन्न होता है। अतएव 'गलकम्बलादिमत्त्व 'गो का लक्षण समझा जाता है।

२ अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, असम्भव, अन्योऽन्याश्रय प्रभृति कुछ दोष हे। लक्षण बनाते समय उक्त दोषो से बचने के लिये उनपर दृष्टि अवश्य रखनी चाहिये, क्योकि लक्षण वही ठीक हाता है, जिसमे किसी प्रकार का दोष न हो। लक्षण सदा निर्दुष्ट होना चाहिये। अतिव्याप्ति—अतिव्याप्ति का प्रकृति प्रत्यय व्युत्पादित अथ—'अत्य तव्यापन' है। उसी को लक्षण के माध्यम से बताते है—'अलक्ष्ये लक्षणगमनम्—अतिव्याप्ति। अलक्ष्य मे लक्षण का चला जाना ही अतिव्याप्ति है। अर्थात् जो जिसका लक्ष्य नही वहाँ यदि लक्षण चला जाय, तो अतिव्याप्ति नाम का दोष होता है। जसे—'चेतनावत्त्वम्'—मनुष्यत्वम्। मनुष्य के इस लक्षण मे अतिव्याप्ति दोष है, क्योकि जैसी मनुष्य मे चेतना है, वैसी ही मनुष्य-भिन्न 'गो' आदि प्राणियो मे भी चेतना (चेतनावत्त्व) धम है। इसलिये 'चेतनावान् मनुष्य ' यह लक्षण, लक्ष्यभूत मनुष्य मे तथा मनुष्यभिन्न अलक्ष्य 'गो' आदि मे भी जाता है। अत उक्त लक्षण मे अतिव्याप्ति दोष है। इसलिये यह लक्षण ठीक नही है।

अव्याप्ति—'अव्याप्ति' का यौगिक (प्रकृति प्रत्यय व्युत्पादित) अथ यही है कि 'अव्यापन' अर्थात् व्यापन (व्याप्ति) का अभाव, उसी को लक्षण के माध्यम से

बताते है—'लक्ष्यैकदेशवत्तित्वम्'–अव्याप्ति । यदि लक्षण, लक्ष्य के एकदेश मे ही व्याप्त रहे, सम्पूण लक्ष्य मे व्याप्त न हो सके, तो 'अव्याप्ति' नामक दोष होता है। जैसे—'कपिलत्व गोत्वम्' यह 'गो' का लक्षण यदि किया जाय तो अव्याप्ति दोष होगा क्योकि 'कपिलत्व' धम कपिला गौ मे तो मिलेगा। किन्तु अ य सफेद, काली, लाल आदि र गवाली गौओ मे 'कपिलत्व' धम नही मिलेगा। अतः उक्त लक्षण लक्ष्यमात्र (गोमात्र) मे न पहुँच पाने के कारण अव्याप्तिदोष स दूषित हुआ। इसलिये यह लक्षण ठीक नही है।

असम्भव—'असभव' शब्द का यौगिक अथ—'सभावना का अभाव' है। इसी अथ को लक्ष्य के माध्यम से बताते है—'लक्ष्ये लक्षणाऽगमनम्'—असभव । लक्ष्य मे लक्षण का घटित न हो पाना ही 'असभव' है। जैसे—'एकशफवत्त्व' 'गोत्वम्' यह लक्षण यदि गाय का किया जाय तो 'एकशफवत्त्व' धम किसी भी गाय मे उपलब्ध नही होगा। अत लक्ष्यभूत गो मे लक्षण के घटित होने से यह असभव दोष होता है। इसलिये यह लक्षण ठीक नही है।

अन्योन्याश्रय—जो अ यो य (परस्पर) का आश्रय करे, उसे अन्योन्याश्रय कहते है। उसी को इतरेतराश्रय या परस्पराश्रय भी कहते है। इसी भाव को लक्षण के माध्यम से बताते हैं—'स्वग्रहसापेक्ष ग्रहसापेक्षग्राहकत्वम् अ यो याश्रयत्वम्'—स्वग्रह (स्वज्ञानम्) तस्य सापेक्ष (अपेक्षाकारी) यो ग्रह (ज्ञानम्) तस्य सापेक्ष (अपेक्षाकारी) ग्रहो यस्य, तस्य भाव । अर्थात् स्वज्ञान के प्रति जो ज्ञान अपेक्षा करे, उसी ज्ञान के प्रति पुन यदि स्वज्ञान अपेक्षा करे तो वहाँ पर अन्योन्याश्रय नाम का दोष समझा जाता है। जैसे—'महिषभिन्नत्व गोत्वम्' एव गोभिन्नत्व महिषत्वम्' यहा पर अ यो याश्रय दोष है, क्योकि गो ज्ञान करने के समय महिषज्ञान आवश्यक एव महिषज्ञान करन के समय पुन गो ज्ञान आवश्यक होता है। उसी प्रकार 'जो पिता से जन्य (पैदा) हो वह पुत्र एव जो पुत्र का जनक हो वह पिता'—यहा पर भी अ यो याश्रय दोष है, क्योकि पितृज्ञान का सापेक्ष पुत्रज्ञान और पुत्रज्ञान का सापेक्ष पितृज्ञान है।

आत्माश्रय—जो अपना ही आश्रय करे उसे आत्माश्रय कहते है। 'स्वापेक्षापादकप्रसङ्गत्वम्'—आत्माश्रयत्वम्। अर्थात् जो स्व अपेक्षा का आपादक (जनक) हो उसको आत्माश्रय कहते है। जसे—'ज्वरघटित उपसगयुक्त रोग का नाम ज्वर है' यह ज्वर का लक्षण यदि किया जाय तो आत्माश्रय दोष होगा, क्योकि यहाँ पर ज्वरज्ञानसापेक्ष ज्वरज्ञान है। अत इस लक्षण मे आत्माश्रय

● एकव्यक्तिमात्रवृत्तिस्तु न जाति । तथा चोक्तम्—

'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्व सङ्करोऽथानवस्थिति ।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसङ्ग्रह ' ॥

एकव्यक्तित्वादाकाशत्व न जाति । तुल्यव्यक्तित्वात् घटत्व कलशत्व न जातिद्वयम् । सकीर्णत्वात् भूतत्व मूतत्व च न जाति । अनवस्थाभवात् सामान्यत्व न जाति । विशेषस्य व्यावृत्तस्वभावस्य रूपहानि स्यात् अतो विशेषत्व न जाति । समवायसम्बन्धाभावात् समवायत्वमभावत्व च न जाति ।

☐ अब 'जाति' किस मे नही रहती, यह बताते है । श्रीउदयनाचाय ने अपने किरणावलिग्र थ मे जाति के बाधक गिनवायें है । जैसे—(१) व्यक्ति का भेद न होना अर्थात् व्यक्ति का एक होना, (२) तुल्यता (पर्याय), (३) सकर (मिश्रण), (४) स्थिति न होना, (५) रूप का नाश, (६) असम्ब ध अर्थात् समवाय न रहना, ये छह[1] जाति के बाधक है । अब प्रत्येक के उदाहरण बताते है—(१) व्यक्ति

दोष अर्थात् अपना ज्ञान कराने के हेतु अपना ही आश्रय करता है । किसी भी वस्तु का लक्षण करते समय दोषो पर दृष्टि अवश्य देनी चाहिये अन्यथा लक्षण दुष्ट होता है ।

१ मुक्तावली मे कहा था कि 'एकमात्रव्यक्तिवृत्तिस्तु न जाति ' अर्थात् एक एक व्यक्ति में रहनेवाले आकाशत्व, कालत्व, दिकत्व आदि धर्मों मे 'जाति' शब्द का व्यवहार नही हुआ करता । इसी बात को उदयनाचाय जैसे प्राचीन आचार्यों ने अपने किरणावलीग्र थ मे 'व्यक्तेरभेद ' इत्यादि छह जातिबाधको की गणना कर बताया है । जसे (१) व्यक्ति का अभेद, (२) तुल्यत्व, (३) सकर (४) अनवस्था, (५) रूपहानि, (६) असम्ब ध, ये छह दोष जाति के बाधक होते है । आकाश, काल, दिक् इन तीनो मे रहनेवाले आकाशत्व, कालत्व, दिक्त्व धम को 'जाति' शब्द से नही कह सकते, क्योकि इन धर्मों को 'जाति' शब्द से कहने मे (१) 'व्यक्ति का अभेद' दोष बाधक होता है । 'स्वाश्रयनिष्ठ स्वाश्रय-प्रतियोगिकभेदाभाव व्यक्त्यभेद ' यहाँ दोनो 'स्व' शब्दो से आकाशत्व आदि का ग्रहण है । आकाश, काल, दिक् ये तीनो एक एक व्यक्ति है, नाना (अनेक) नही । यदि आकाशादि नाना होते तो एक आकाशादि मे दूसरे आकाशादि का भेद सिद्ध होता । उन आकाशत्व, कालत्व, दिक्त्व धम मे स्व आश्रयनिष्ठ—स्व आश्रय प्रतियोगिक-भेद का अभाव है । इसी को व्यक्ति का अभेद कहते हैं ।

अनेक घटो मे जैसे अय घट , अय घट। यह अनुगत (एकाकार) प्रतीति होती है, वैसे ही उन्ही घटो मे अय कलश', अय कलश ऐसी प्रतीति भी होती है, क्योकि 'घट' 'कलश' दोनो पर्याय शब्द है अर्थात् एक ही अथ के बोधक हैं। अत उन घटो मे दोनो धम सिद्ध होते है। परन्तु 'घटत्व' धम ही 'जाति' शब्द से कहा जाता है और 'कलशत्व' धम का जाति शब्द से नही कहा जाता, क्योकि 'कलशत्व' धम के जाति कहलाने मे (२) 'तुल्यत्व' दोष बाधक है। 'स्वभिन्नजातिसमनियतत्व तुल्यत्वम्'—यहा 'स्व शब्द से कलशत्व का ग्रहण करना चाहिये। कलशत्व से भिन्न जो 'घटत्व' जाति है, उस घटत्व जाति का समनियतपना उस 'कलशत्व' धम मे है। अत यह 'तुल्यत्व' दोष कलशत्व के जाति कहलाने मे बाधक है। घटत्व, कलशत्व ये दो पृथक् जातियाँ नही है, बल्कि घटत्व' ही एक जाति है। कलशत्व की अपेक्षा 'घटत्व' धम को जाति मानने मे वणशरीरकृत लाघव होता है, क्योकि 'घ ट' ये दो ही अक्षर (वण) है और कलशत्व को जाति मानने मे शरीरकृतगौरव होता है, क्योकि 'क-ल श' ये तीन अक्षर है। अत 'घटत्व' धम ही जाति शब्द से व्यवहार करने योग्य है।

'भूतत्व' और 'मूतत्व' आदि धम का जाति मानने मे (३) सकर दोष बाधक है। 'सकर' का लक्षण 'परस्परात्य ताभावसमानाधिकरणयोधमयोरेकत्र समावेश सकर'—परस्पर के अत्य ताभाव के साथ समान अधिकरणवाले धर्मो का जो एक अधिकरण मे रहना है, उसीको 'सकर' कहत है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पाँचो द्रव्यो मे 'भूतत्व' है और पृथिवी, जल, तेज, वायु, मन इन पाँचो मे मूर्तत्व' है। 'मन' मे 'भूतत्व' धम का अत्यन्ताभाव है। अत 'मूतत्व' धर्म 'भूतत्व' धम के अत्यन्ताभाव के साथ समान (एक) अधिकरणवाला है। तथा आकाश मे 'मूतत्व' धम का अत्यन्ताभाव है। अत भूतत्व' धम 'मूतत्व धर्म के अत्यन्ताभाव के साथ समान (एक) अधिकरणवाला है। इस प्रकार परस्पर अत्यन्ताभाव के साथ समान अधिकरणवाले जो 'भूतत्व' तथा 'मूतत्व' दोनो धम है, वे दोनो धम पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चारो मे रहते है—यही 'सकर' दोष है। अत भूतत्व मूतत्व दोनो धम जातिरूप' नही है, कि तु ये उपाधि' कहलाते है।

सामान्य मे सामान्यत्व' जाति नही हुआ करती। घट और घटत्व मे अर्थात् व्यक्ति और जाति दोनो मे एक वैजात्य (पर) की कल्पना करते है, उसे ही 'सामान्यत्व' कहते है। इसी प्रकार 'सामान्य' तथा 'सामा यत्व' इन दोनो मे सामान्यत्वत्व की कल्पना कर जाति बनावेंगे तो अनेक जातियो की कल्पना करनी

होगी, तब अनवस्था दोष आवेगा। अर्थात् कही भी विश्राम नही होगा। यदि सामा य पर दूसरा सामा य माना जाय तो उस पर भी एक तीसरा, उस पर भी चौथा इस प्रकार उत्तरोत्तर अविश्रा तधारा चलती रहेगी। इसलिये सामान्य पर सामा या तर नही माना जाता। अर्थात् सामा यत्व धम को जाति कहने मे (४) अनवस्था दोष' बाधक हे। तात्पय यह है—यह गाय है, यह गा य है इस प्रकार का अनुगत व्यवहार किसी अनुगत धम के बिना हो नही सकना। अत 'गोत्व जातिरूप धम का माना गया है। उसी तरह—गोत्व, पुरुषत्व, पशुत्व आदि जातियो में 'यह जाति है यह जाति है' इस 'अनुगतव्यवहार' के लिये सभी जातियो पर एक जातिरूप 'अनुगतधम' मान लेना चाहिये। उसके भी जातिरूप होन से पुन उसमें भी 'यह जाति है', यह जाति है' इस प्रकार का व्यवहार चलेगा, उसकी उपपत्ति के लिये एक 'अ य जातिरूप' धम मानना होगा। उसके भी 'जातिरूप' होन से पुन उसमे भी 'यह जानि है', यह जाति है', इस प्रकार का व्यवहार चलेगा, तब उसकी उपपत्ति के लिये एक अ य जातिरूप धम' मानना होगा। इस तरह मानते चलने पर अनवस्था होगी। अत कहना होगा कि केवल अनुगतप्रतीति होनेमात्र से, 'अनुगतधम' की कल्पना नही की जाती, बल्कि किसी बाधक के रहने पर ही वसी कल्पना की जाती है। इसीलिये कहा जाता है—'बाधकाभावविशिष्टानुगतप्रतीतिविशेष्यत्वस्यव जातिसाधकत्वम्'।

हेतु के अधिकरण में साध्य का अभाव होना (न रहना) ही व्यभिचार हे। उसी कारण 'विशेषत्व' को जाति नही कहा जाता। 'अय विशेष विशेषान्तरात् भिन्न विशेषत्वात्'–यहा पर विशषान्तर में 'भेदरूपो साध्य' का अभाव है, कि तु 'विशेषत्वरूप हेतु' है। अत यहा व्यभिचार है। 'सामान्यशू यत्वे सति सामान्य भि नत्वे सति समवेतत्व—विशेषस्य लक्षणम्'। यदि 'विशेष' पदाथ में विशेषत्व-धम का जाति माना जाय तो 'सामा यश्रयस्य सामा यमुखेनैव व्यावतकत्वम्'—इस नियम के अनुसार उस 'विशेषत्वधम' के द्वारा ही वह 'विशेषपदाथ व्यावतक बन पायगा। किन्तु विशेषपदाथ' तो सामा य (विशेषत्वधम) के द्वारा व्यावतक (भेदसाधक) नही होता, बल्कि वह तो अपने स्वरूप से ही भेदसाधक (व्यावतक) होता है। अत विशेष पदाथ के स्वरूपनाश तथा लक्षणनाश के भय से अर्थात् (५) रूपहानि के भय से विशेषत्वधम को जाति शब्द से नही कहा जाता। विशेषत्वधम तो उपाधिरूप है।

समवाय में समवायत्वधम को तथा अभाव मे अभावत्वधम को भी 'जाति'

के अभेद का उदाहरण—आकाश एक है, उसके ऊपर रहनेवाले 'आकाशत्व धम' को जाति' शब्द से नही कहा जाता, क्योकि अनेक व्यक्तियो पर रहनेवाले

शब्द से नही कहा जाता, क्योकि (६) असम्बन्ध दोष (जातिबाधक) वहा उपस्थित है। 'असम्बन्ध' का स्वरूप इस प्रकार है— प्रतियोगिताऽनुयोगितान्यतरसम्बन्धेन समवायाऽभाव असम्बन्ध '—प्रतियोगिता तथा अनुयोगिता इन दोनो मे से किसी एक सम्बन्ध से जो 'समवाय का अभाव' रहता है, उसे 'असम्बन्ध' कहते हैं। पृथ्वी आदि द्रव्यो मे गुण तथा कम 'समवाय सम्ब ध' से रहते हैं। उस गुण, कम के समवायसम्ब ध के वे गुण, कम 'प्रतियोगी' हैं, और पृथ्वी आदि द्रव्य 'अनु योगी' है। अत वह गुण, कम का 'समवाय', प्रतियोगितासम्ब ध' से गुण, कम मे रहता है, और 'अनुयोगिता सम्ब ध' से पृथिवी आदि द्रव्यो मे रहता है। इस प्रकार द्रव्य, गुण, कम इन तीनो पदार्थों मे जातिरूपसामा य 'समवायसम्ब ध' से रहता है। उस सामा य के 'समवाय' का वह सामान्य 'प्रतियोगी' होता है, और द्रव्य, गुण, कम 'अनुयोगी' होते है। इसी प्रकार 'तन्तु आदि अवयवो' मे समवाय सम्ब ध' से रहनेवाले जो 'पटादि अवयवी' हैं, उन 'पटादि अवयवियो' का समवाय भी 'प्रतियोगिता सम्ब ध' से उन पटादिको मे रहता है, और 'अनुयोगिता सम्बन्ध' से त तु आदि अवयवो मे रहता है। सामान्य और विशेष इन दो पदार्थों मे कोई भी पदाथ 'समवायसम्बन्ध' से नही रहता। अत इनमे समवाय ही—'प्रतियोगिता सम्ब ध' से रहता है। परमाणु, आकाशादि नित्यद्रव्य, किसी भी पदाथ मे 'समवाय सम्ब ध' से नही रहते। अतः इनमे 'समवाय स्वय अनुयोगिता सम्ब ध' से रहता है। 'समवाय' तथा 'अभाव' ये दोनो किसी भी पदाथ मे 'समवायसम्ब ध' से नही रहते। तथा 'समवाय' और 'अभाव' मे कोई दूसरे पदाथ भी 'समवाय सम्ब ध' से नही रहते। इसलिये ये दोनो 'समवाय' के प्रतियोगी तथा अनुयोगी नही हैं। इस रीति से 'समवाय' तथा 'अभाव' मे 'प्रतियोगिता तथा अनुयोगिता सम्ब ध' से जो समवाय का अभाव है, उसी को (६) 'असम्ब ध कहते हैं। एवञ्च आकाशत्व, कालत्व, दिकत्व, भूतत्व, शरीरत्व, इन्द्रियत्व, सामान्यत्व, विशेषत्व, समवायत्व, अभावत्व आदि धर्मों को 'जाति' शब्द से न कहकर 'उपाधि' शब्द से कहा जाता है। यद्यपि द्रव्यत्व, गुणत्व, कमत्व तथा पृथिवीत्व, जलत्व आदि को और रूपत्व, रसत्व आदि जातियो को भी 'विभाजक उपाधि' शब्द से बताया जाता है। तथापि यहा उपाधि शब्द जाति से भिन्न ही है। यह उपाधि सखण्डोपाधि तथा अखण्डोपाधि भेद से दो प्रकार का होता है। 'बहुपदाथघटितो धर्मः

धम को ही 'जाति' शब्द से कहा जाता है। (२) **तुल्यता** (पर्याय) का उदाहरण—घट और कलश ये दोनो पर्याय शब्द है। घटत्व और कलशत्व इन दोनो धर्मों को 'जाति' शब्द से नही कहा जायगा। किन्तु दोनो पर एक 'घटत्व' जाति ही मानी जाती है।

शका—जैसे 'घट' तथा 'कलश' इन दोनो मे 'घटत्व' धम को जाति माना जाता है, उसी प्रकार 'घटत्व' के स्थान मे 'कलशत्व' धम को ही जाति क्यो नही माना जाता ?

समा०—'घटत्व' धम को जाति मानने मे शरीरकृत लाघव है, अर्थात् 'घट' शब्द मे दो अक्षर (वण) है और कलश' शब्द मे तीन अक्षर (वर्ण) है। इसलिये दोनो (घट और कलश) मे 'घटत्व' धम को ही जाति माना जाता है। (३) **सकर का उदाहरण**—भूतत्व और मूतत्व ये दोनो जातिया नही हो सकती, क्योकि जाति का बाधक 'सकर दोष' यहा उपस्थित है। (४) **अनवस्थिति** (स्थिति न होना) का उदाहरण—सामान्य (घटत्व, द्रव्यत्व आदि) जैसे 'जाति' है, वैसे 'सामान्यत्व' जाति नही। उसे भी यदि जाति माना जाय तो 'सामा यत्व-त्व' और समान्यत्व त्व त्व आदि भी जातिया होने लगेगी तब 'अनवस्था' नाम का दोष हो जायगा। इस दोष के होने पर यहाँ तक 'जाति' है, ऐसा नियम नही रहेगा। इसलिये—'सामान्यत्व' धम को जाति शब्द से नही कहा जाता। (५) **रूपनाश**—यह स्वरूपनाश तथा लक्षणनाश भेद से दो प्रकार का होता है। स्वरूपनाश का उदाहरण—'विशेष' पर रहनेवाले 'विशेषत्व' धम को जाति शब्द से नही कहा जाता। विशेषत्व को यदि जाति माना जाय तो जाति, अ यजाति के भेद की दशक होती है, अर्थात् दूसरी जाति से भेद के दिखाने का हेतु होती है'—इस नियम के अनुसार परस्पर विशेषो मे विशेषत्व भी भेद की दशकता का हेतु हो जायगा। अत केवल व्यभिचार दोष ही नही

सखण्डोपाधि '—जो धम अनेक पदार्थों से घटित रहे उसे **'सखण्डोपाधि'** कहते है। जैसे—'शब्द'-गुण का जो समवायिकारण हो उसे आकाश कहते है। अत 'आकाशत्व' धम, 'शब्द समवायि कारणत्व' इन अनेक पदार्थों से घटित हुआ, इसलिये उपयुक्त 'आकाशत्व' आदि धम 'सखण्डोपाधि' कहे जाते हैं। **'अखण्डोपाधि'** उस धम कहते हैं, जिस धम का किसी प्रकार निर्वचन न किया जा सके। जैसे—प्रतियोगित्व, अनुयोगित्व आदि धम। जातिरूप 'सामान्य' पदाथ का ग्रहण छह इन्द्रियो से होता है।

होगा, किन्तु विशेष का जो विशेषान्तर से भेद का दर्शक स्वरूप है (स्वतोभेद दर्शकत्व) उसका भी नाश हो जायगा। इसलिये विशेषत्व धर्म को जाति शब्द से नही कहा जाता।

* ऊपर बता चुके है कि 'रूपनाश' दो प्रकार से होता है, एक 'स्वरूपनाश' और दूसरा 'लक्षणनाश'। 'स्वरूपनाश' बता दिया। अब 'लक्षणनाश' को बताते है—विशेष के लक्षण मे विशेष को— सामान्यशून्य' ऐसा विशेषण दिया गया है, वहा यदि 'विशेषत्व' जाति हो जाय तो 'विशेष' सामान्यशून्य नही होगा। तो विशेषण मे 'सामान्यशून्यत्वे सति' इस लक्षण का नाश हो जायगा, इसलिये विशेषत्व' को जाति नहीं मान सकते। (६) **असम्बन्ध** का उदाहरण– 'समवायत्व' और 'अभावत्व' ये दोनो जातिरूप धर्म नही है। क्योकि 'जाति' तो 'व्यक्ति' मे समवाय सम्बन्ध से रहती है। समवायत्व और अभावत्व ये 'समवाय' तथा 'अभाव' मे स्वरूपसम्बन्ध से रहते है। वे समवाय सम्बन्ध से कभी नही रहते। इसलिये 'समवायत्व' और 'अभावत्व' को जातिरूप नहीं माना जाता।

द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते ॥ ८ ॥
परभिन्ना च या जातिः सैवापरतयोच्यते ।
द्रव्यत्वादिकजातिस्तु परापरतयोच्यते ॥ ९ ॥

(१) **द्रव्यादित्रिकवृत्ति**—द्रव्य आदि त्रिक अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म इन्ही तीन पदार्थों मे (पर) सत्ता की वृत्ति होती है (सत्ता रहती है)। (२) **सत्ता—'सत्'** वर्तमान जिसका धर्म हो उसको **'सत्ता'** कहते है। अर्थात् 'द्रव्य सत्', 'गुण सन्', 'कर्म सत्' इस प्रकार की जो अनुगत प्रतीति होती है, वही 'सत्ता' की साधक है। 'यह सत् है', 'यह सत् है' इत्याकारक शब्दप्रयोग जिसके अधीन है, वही **सत्ता'** है। (३) **परतया उच्यते—'परा'** नाम से कही जाती है। (४) **जाति**—कितने ही व्यक्तियो का एक समूह मे लानेवाला नैयायिको का अनुमोदित 'धर्मविशेष' है। जैसे—गोत्व, मनुष्यत्व आदि। (५) **अपरतया उच्यते**—'अपर' नाम से कही जाती है। (६) **द्रव्यत्वादिकजाति**— 'आदि' पद से यहा 'गुणत्व', 'कर्मत्व' आदि का परिग्रह किया गया है। (७) **पर अपरतया उच्यते**—'पर' तथा 'अपर' दोनो नामो से कहा जाता है। भाव यह है कि द्रव्यत्वादि जाति–पृथ्वीत्व, जलत्व, तेजस्त्व आदि नौ जातियो की अपेक्षा **परा**

है, क्योकि 'द्रव्यत्व' तो नौ द्रव्यो मे रहता है, किन्तु 'पृथ्वीत्व' केवल पृथ्वी मे ही रहेगा। परन्तु वही द्रव्यत्व 'सत्ता' की अपेक्षा अपर है क्योकि 'सत्ता' तो द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनो मे रही और 'द्रव्यत्व' केवल नौ द्रव्यो मे ही रहा।

परत्वमधिकदेशवृत्तित्वम्। अपरत्वमल्पदेशवृत्तित्वम्। सकलजात्यपेक्षयाऽधिकदेशवृत्तित्वात् सत्तायाः परत्वं तदपेक्षया चान्यासां जातीनामपरत्वम्॥ ८–९॥

पहिले सामान्य (जाति) का लक्षण बता चुके। अब उसके भेद बता रहे हे—सामान्य (जाति) पर तथा अपर भेद से दो प्रकार का है। अधिक जगह रहने से सत्ता (सामान्य या जाति) 'पर' कहलाती है। और न्यून (कम) जगह रहने से 'द्रव्यत्व' 'गुणत्व' आदि जातियां 'अपर' कहलाती है। जैसे 'सत्ता' संज्ञक सामान्य द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनो ही जगह रहता है। यह सब सामान्यो (जातियो) की अपेक्षा 'पर' है और द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व ये 'सत्ता' की अपेक्षा कम जगह मे रहते है, अर्थात् 'द्रव्यत्व' केवल द्रव्य पर ही रहता है, 'गुणत्व' केवल गुण पर ही, 'कर्मत्व' केवल कर्म पर ही रहता है। अतः द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व ये सत्ता की अपेक्षा अपर है। उसी तरह पृथ्वीत्व, जलत्व आदि द्रव्यत्व की अपेक्षा कम जगह मे रहता है। अतः 'द्रव्यत्व' की अपेक्षा यद्यपि वह अपर हुआ तथापि 'द्रव्यत्व' सत्ता की अपेक्षा अपर है किन्तु पृथ्वीत्व की अपेक्षा पर है। अतः द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व ये तीनो पर भी हे और अपर भी है॥ ८–९॥

व्यापकत्वात्पराऽपि स्याद्व्याप्यत्वादपराऽपि च।

(१) **व्यापकत्व**—अधिक देश मे रहनेवाला धर्म। (२) **व्याप्यत्व**—अल्पदेश मे रहनेवाला धर्म। 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस उदाहरण मे 'वह्नि' व्यापक है और 'धूम' व्याप्य हे। क्योकि अयोगोलकादि मे भी वह्नि रहता है, किन्तु धूम नही। अतः जहां धूम नही भी है, वहां भी वह्नि है, इसलिये वह्नि अधिक देश मे रहा। अतः वह्नि व्यापक है। उसी तरह अधिक देश में रहने के कारण व्यापक होने से 'जाति' परा है, और अल्पदेश मे रहने के कारण व्याप्य होने से 'जाति' अपरा भी है।

पृथिवीत्वाद्यपेक्षया व्यापकत्वादधिकदेशवृत्तित्वाद् द्रव्यत्वादे: परत्वम्, सत्ताऽपेक्षया व्याप्यत्वाद् अल्पदेशवृत्तित्वाच्च द्रव्यत्वस्यापरत्वम्। तथा च धर्मद्वयसमावेशादुभयमविरुद्धम्।

सत्ता (सामान्य) पर है, क्योंकि वह समवाय सम्ब ध से द्रव्य, गुण, कर्म इन अनेक पदार्थों मे रहने के कारण[1] व्यापक हे, और पृथ्वी की अपेक्षा द्रव्यत्व पर है। सत्ता की अपेक्षा अल्पदेशवत्ति होने से व्याप्य होने के कारण द्रव्यत्व अपर है, तथा द्रव्यत्व की अपेक्षा अल्पदेशवत्ति होने से पृथ्वीत्व अपर है। इस रीति से एक मे दो धर्मों का रहना दोषावह नही है। क्योंकि एक मे भी आपेक्षिक दो धर्मों के रह सकने से—परत्व तथा अपरत्व इन दो धर्मों के रहने मे कोई विरोध नही है। जसे एक ही स्त्री मे पति की दृष्टि से का ता‌त्व, पुत्र की दृष्टि से मातृत्व, पिता की दृष्टि से पुत्रीत्व रहता है।

विशेष निरूपयति—अन्त्य इति।

अब क्रमप्राप्त '**विशेष**' पदार्थ का निरूपण किया जा रहा है।

अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्तिर्विशेषः परिकीर्तितः ॥ १० ॥

(१) अन्त्य —कल्पना के अन्त में जो वतमान रहे उसे अन्त्य कहते है। अर्थात् जो पदाथ चरम व्यावतक के रूप मे हो उसी का नाम '**विशेष**' है। (२) नित्यद्रव्यवृत्ति —नित्यद्रव्य—परमाणु, आकाश आदि मे जिसकी वृत्ति (स्थिति) है। (३) विशेष —विशेषसज्ञक पदार्थ है।

पर सामान्यादिगत चरम-व्यावतक धम को **विशेष** कहते है। अभिप्राय

---

१ जो जातिया एक ही अधिकरण मे परस्पर इकट्ठी रहती हैं उन्ही मे 'व्याप्य व्यापकभाव सम्बन्ध' हुआ करता है। जैसे—घट द्रव्य मे 'द्रव्यत्वजाति' रहती है और 'पृथ्वीत्व जाति' रहती है तथा 'घटत्व जाति' रहती है और सत्ता (जाति) भी रहती है। अत सत्ता (जाति), द्रव्यत्व (जाति), पृथिवीत्व (जाति), घटत्व (जाति) इन चारो जातियो का परस्पर व्याप्य व्यापकभाव होता है। अर्थात् 'सत्ताजाति' की 'द्रव्यजाति' व्याप्य है, 'द्रव्यत्वजाति' की 'पृथिवीत्वजाति' व्याप्य है, 'पृथिवीत्व जाति' की 'घटत्वजाति' व्याप्य है।

जो जातियाँ एक अधिकरण मे नही रहती उनमे 'व्याप्य-व्यापकभाव' नही होता। जैसे—'द्रव्यत्वजाति' द्रव्य मे, 'गुणत्वजाति' गुण मे, 'कमत्वजाति' कम मे रहती है, इस कारण इन जातियो का परस्पर 'व्याप्य व्यापकभाव' नही है। पहले कह चुके है कि द्रव्य सत्, गुण सन्, कम सत् इस प्रकार 'सत्' की अनुगत प्रतीति होती है, इसी कारण इन तीनो मे अनुगत होने वाले सत्त्व (सत्ता) धम को 'सत्ताजाति' के नाम से कहा जाता है। इसी प्रकार पृथिवी आदि मे भी समझना चाहिये।

यह है कि सावयव पदार्थों मे परस्पर भेद की कल्पना हम अवयवभेद से कर सकते हैं, किन्तु निरवयव परमाणु आदि मे भेद करनेवाला तो 'विशेष' ही है। क्योकि वह (विशेष) तो स्वय ही व्यावृत्त (भिन्न) है इसलिये उसकी व्यावृत्ति के लिये विशेषान्तर (अन्य व्यावर्तक) की अपेक्षा नही होती।

• अन्तेऽवसाने वर्तत इत्यन्त्य, यदपेक्षया विशेषो नीस्तीत्यर्थ। घटादीना द्व्यणुकपर्यन्ताना तत्तदवयवभेदात्परस्पर भेद, परमाणूना परस्परभेदको विशेष एव, स तु स्वत एव व्यावृत्त, तेन तत्र विशेषान्तरापेक्षा नास्तीति भाव ॥ १० ॥

विशेष'[1]—एकव्यक्ति पर (परमाणु आदि नित्यद्रव्यो पर) रहकर उस व्यक्ति

---

१ नि सामान्यत्वे सति एकमात्र समवेतत्वम्' यह '**विशेष**' **का लक्षण है।** जो पदार्थ जातिरूपसामान्य से रहित हो तथा एक व्यक्तिमात्र मे समवेत हो उसे **विशेष** कहते है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चार भूतो के जितने परमाणु है उन सबमे वह 'विशेष' रहता है तथा आकाश, काल, दिशा मे और सब आत्माओ मे तथैव सबके मनो मे 'विशेष' **समवाय सम्बन्ध** से रहता है। 'रूपादि गुण' तथा 'कर्म आदि' भी एक-एक द्रव्यव्यक्ति मे रहते है, अत 'एकमात्र समवेत' के साथ 'नि सामान्यत्वे सति' यह सत्यन्त विशेषण भी दिया गया है। तब 'रूपादि गुण' तथा 'कर्मादि' एकद्रव्यमात्रवृत्ति होने पर भी जातिशून्य (नि सामान्य) नही है। यदि नि सामान्यत्वे सति समवेतत्वम्' इतना ही लक्षण करे तो 'सामान्य' मे **अतिव्याप्ति** होगी। क्योकि 'सामान्य' सामान्य से शून्य भी है तथा द्रव्यादित्रिक समवेत भी है। अत 'एकमात्र' पद दिया गया है। 'सामान्य' एक व्यक्ति मे समवेत नही है। इसी प्रकार 'स्वतोव्यावर्तकत्व विशेषत्वम्' यह भी विशेष का लक्षण कहा जाता है। यह 'विशेष' जिस परमाणु आदि नित्यद्रव्य मे समवाय सम्बन्ध से रहता है, उस परमाणु आदि को दूसरे परमाणु आदि से भिन्न अपने स्वरूप के द्वारा ही करता है। जैसे—'अय परमाणु एतत्परमाणोर्भिन्न एतद्विशेषात्'—यह 'पार्थिव परमाणु' दूसरे 'पार्थिव परमाणु' से भिन्न है, विशेषवाला होने से। अब यह विशेष जैसे 'स्वाश्रयभूत नित्यद्रव्य' का दूसरे 'नित्यद्रव्य से स्वत ही व्यावर्तक होता है वैसे ही 'स्वाश्रयभूतद्रव्य' से अपना भी व्यावर्तक होता है। जैसे—'विशेष द्रव्यादिभिन्न विशेषात्' यह 'विशेष', द्रव्य से भिन्न है विशेष होने से। अथवा 'एतद्विशेष तद्विशेषाद् भिद्यते एतद्विशेषात्'—यह विशेष दूसरे विशेष से भिन्न है, एतद्विशेष होने से। कदाचित् प्रथम विशेष को दूसरे को, दूसरे

की दूसरी व्यक्ति से भिन्नता का प्रदशक जो धम (अनिवचनीय एक पदाथ) हो'–, उसे विशेष' कहते है । इस 'विशेष' के स्वीकार करने की आवश्यकता यह है कि जैसे–बडी व्यक्ति से (घटव्यक्ति से) छोटी व्यक्ति तक (द्वचणुक व्यक्ति) तक जितनी द्रव्य–व्यक्तिया है उनमे प्रत्येक का भेद—(दूसरो से भिन्नता) है, क्योकि प्रत्येक व्यक्तियो के अवयव निराले है । प्रत्येक व्यक्तियो के भेद के दशक उनके अपने अवयव होते है । पर तु परमाणु व्यक्तिया निरवयव (अवयवरहित) हैं । उन व्यक्तियो मे परस्पर भेद (भिन्नता) दिखाने के लिये ऐसी कोई भी वस्तु, इन परमाणुओ पर नही है, जिससे उन परमाणुओ का परस्पर भेद हो । अत उन

को तीसरे की अपेक्षा होगी तो 'स्वतोव्यावतकत्व' नही रहेगा, और अनवस्थादोष उपस्थित होगा । असख्यात उत्पत्ति, विनाश से रहित, अतीन्द्रिय विशेषो की सिद्धि अनुमान से होती है । वह अनुमान इस प्रकार है–'परमाणुभेद किञ्चिल्लिङ्गज्ञाप्य भेदत्वात् कपालभेदज्ञाप्यघटभेदवत्'—सजातीय परमाणुओ का भेद किसी लिंग से ज्ञाप्य होने योग्य है, भेदरूप होने से, जो जो भेद होते है वे वे किसी लिङ्ग से ज्ञाप्य ही होते हैं, जैसे दो घटो का भेद उन दो घटो के समवायिकारण कपालो के ही भेद से ज्ञाप्य होता है, वैसे ही उन परमाणुओ का भेद भी भेदरूप होने से किसी लिङ्ग से अवश्य ज्ञाप्य होगा । अत वह 'विशेष' ही उनका भेदक है । अथवा एक दूसरे अनुमान से भी विशेष की सिद्धि की जाती है— 'आकाशनिष्ठा या समवायिकरणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात्, दण्ड-निष्ठकारणतावत्'— आकाश मे रहनेवाली जो शब्दगुण की कारणता है, वह किसी धम से अवच्छिन्न होने योग्य है, कारणता होने से जो जो कारणता होती है वह किसी धम से अवच्छिन्न ही होती है, जैसे दण्ड मे रहनेवाली घट की कारणता दण्डत्वधम से अवच्छिन्न होती है । वसे ही आकाशनिष्ठकारणता भी किसी धम से अवश्य अवच्छिन्न होगी । यहा आकाशवत्ति कारणता का वह आकाशवत्ति 'विशेष' ही अवच्छेदक है । कुछ तो यह कहते हैं कि ईश्वर तथा आकाशस्थित नित्यज्ञान तथा शब्द-गुण ही उन नित्य द्रव्यो को उ हे भिन्न कर देगा । अत ईश्वर या आकाश मे 'विशेष' को मानना व्यथ है । और नवीन नयायिक भी कहते है कि 'विशेष' पदाथ को मानने की कोई आवश्यकता नही, क्योकि प्राचीनो ने 'विशेष' की स्वत व्यावतकता मानी है, तो परमाणु स्वत ही व्यावतक हो जायेगे । इस 'विशेष' पदाथ को तो कणाद मुनि ने ही माना है, गौतम मुनि ने नही । इसीलिये कणाद के दर्शन को 'वैशेषिक' दशन कहते हैं ।

परमाणुओ मे भेद बतानेवाला 'विशेष' ही होगा। उन परमाणुओ मे रहनेवाले पृथक् पृथक जो विशेष है उनका भेदक कोई और नही है, बल्कि वे विशेष स्वत' ही व्यावृत्त (भिन्न) है। विशेष को अलग करने के लिये विशेषान्तर (विशेषत्व) धम (जाति) मानने की आवश्यकता नही है।

समवाय दर्शयति—घटादीनामिति।

अब छठे पदाथ 'समवाय' को दिखाते है।

घटादीना कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणोः।
तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्तितः ॥ ११ ॥

(१) घटादीनाम्—घट प्रभृति अवयवी वस्तु का। (२) कपालादौ—कपाल प्रभृति अवयवो मे। घटो के बनने की पूर्वावस्था मे स्थित द्विधा विभक्तखण्डो को कपाल कहते है। (३) द्रव्येषु—पूर्वोक्त क्षिति आनि नौ द्रव्यो मे। (४) गुण कर्मणो—पूर्वोक्त गुण और कम का। (५) तेषु—घट आदि मे। (६) जाते—जाति का। (७) 'च'—समुच्चयबोधक है। 'च' कार से ही नित्य द्रव्य मे 'विशेष' का जो सम्बन्ध है, वह समवाय है। अर्थात् 'कपालादि अवयव' मे घटादि अवयवी' का जो सम्बन्ध है, उसे समवाय कहते हैं तथा द्रव्य मे गुण और कम का जो सम्बन्ध है, उसे समवाय कहते है। उसी तरह घट आदि मे जाति का जो सम्बन्ध है उसे समवाय कहते है।

अवयवावयविनोर्जातिव्यक्त्योगुणगुणिनो क्रियाक्रियावतोर्नित्यद्रव्य-विशेषयोश्च य सम्बन्ध स समवाय। समवायत्व नित्यसम्बन्धत्वम्। तत्र प्रमाण तु 'गुणक्रियादिविशिष्टबुद्धिर्विशेषणविशेष्यसम्बन्धविषया विशिष्टबुद्धित्वाद् दण्डीपुरुष इति विशिष्टबुद्धिवत्' इत्यनुमानम्। एतेन सयोगादिबाधात् समवायसिद्धि।

नित्यसम्बन्ध को समवाय कहते है। जसे—अवयव (कपाल आदि) और अवयवी (घटादिद्रव्य), जाति और व्यक्ति, गुण और गुणी (द्रव्य), क्रिया (कम) और क्रियावान् (द्रव्य), विशेष और नित्यद्रव्य (परमाणु आदि) इनका परस्पर जो सम्बन्ध है, उसे समवाय कहते है। इस समवाय के अस्तित्व मे अनुमान किया जाता है अर्थात् अनुमान से समवाय का अस्तित्व सिद्ध किया जाता है।[1]

---

१ शका—यद्यपि लाघव से एक समवाय के सिद्ध होने से प्राचीन नैयायिको के मत मे दोष नही आता, तथापि समवाय को अनेक माननेवाले नवीन नैयायिको

यह देखा जाता है कि 'विशिष्टज्ञान से विशेषणयुक्त विशेष्य का बोध होता है। जैसे—'दण्डवान् पुरुष ' यह ज्ञान, विशिष्ट ज्ञान है। अत वह विशेषण विशेष्य सम्बन्ध (विशेषणरूप दण्ड का विशेष्यरूप पुरुष के साथ सयोग) विषयक है। इससे यह नियम सिद्ध होता है कि जो विशिष्टज्ञान होता है, वह विशेषण विशेष्यसम्बन्धविषयक होता है। उसी तरह 'गुणवान् अथवा क्रियावान् घट ' यह ज्ञान भी विशिष्ट ज्ञान है, अत वह भी विशेषण-विशेष्यसम्ब-धविषयक है—यह अनुमान होता है। यहा पर वह सम्ब-ध (विशेषण विशेष्य सम्ब ध) समवाय के सिवा दूसरा और कोई सयोगादि सम्भव हो नही सकता। 'दण्डी पुरुष ' यहा पर जैसे विशिष्टज्ञान, विशेषण विशेष्य के सयोग सम्बन्ध को विषय बनाता है, उसी तरह 'अवयववान् अवयवी, गुणवान् गुणी, क्रियावत् द्रव्यम्, जातिमती व्यक्ति , विशेषवत् नित्यद्रव्यम्'—आदि विशिष्टज्ञानो का विशेष भी विशेषण विशेष्य दोनो का सम्ब-ध ही होगा। वह सम्बन्ध 'समवाय' के सिवा कोई हो ही नही सकता। क्योकि अवयव, जाति, गुण, क्रिया, विशेष आदि का अपने-अपने द्रव्य के साथ 'सयोग' सम्बन्ध तो हो ही नही सकता। क्योकि सयोग सम्बन्ध तो द्रव्य-द्रव्य का ही होता है—'द्रव्य द्रव्ययोरेव सयोग ' यह नियम है। इस रीति से 'समवाय की सिद्धि हो जाती है।

के मत मे उक्त अनुमान से समवाय की सिद्धि नही हो पाती। समवाय को अनेक मानने से उनके स्वरूप भी अनेक मानने होगे।

समा०—नवीन नैयायिको के मत के अनुसार तन्तुरूप अवयवो मे समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले पट काय के प्रति, तादात्म्यसम्बन्ध से तन्तुओ को कारणता होती है। अत पट मे रहनेवाली कायता का अवच्छेदकसम्ब-ध समवाय है।

शका—समवाय की जगह स्वरूपसम्ब-ध को मानकर भी काय-कारणभाव की कल्पना हो सकती है।

समा०—कि-तु इस कल्पना से 'जिसमे समवाय से काय की उत्पत्ति होती है, वह समवायिकारण है'—यह व्यवस्था नही रह पायेगी।

शका—'जिसमे सम्बद्ध होकर काय उत्पन्न हो वह समवायि कारण है'—ऐसा कहने से भी निर्वाह हो सकता है।

समा०—ऐसा कहने से कपालो मे सम्बद्ध जो घट का ध्वस उसके प्रति भी कपालो को समवायिकारणता माननी होगी, कि तु यह उचित नही है। इससे यह सिद्ध हुआ कि भाव काय मे रहनेवाला जो कायतारूप धम उसका अवच्छेदक सम्बन्ध 'समवाय' है। एव नव्यमत मे भी समवाय की सिद्धि हो सकती है।

न च स्वरूपसम्बधेन सिद्धसाधनमर्थान्तर वा ।

मीमासको की शका का निरसन–'अयुतसिद्ध पदार्थों का स्वरूपसम्ब"ध' कहने वाले मीमासक के मत मे उक्त अनुमान से 'सिद्धसाधन' हुआ । कि"तु समवाय साधन के उद्देश्य से प्रवत्त हुए नैयायिक का अभिप्राय यह है कि इस समवाय के स्थानापन्न 'स्वरूप' (विशेष्य-विशेषण के स्वरूप) सज्ञक सम्ब ध को मानकर दोनो को एक नही कह सकते, क्योकि स्वरूप तो अनेक होते है ।

अनन्तस्वरूपाणा सम्बन्धत्वकल्पने गौरवाल्लाघवादेकसमवायसिद्धे ।

क्योकि अनेक स्वरूपो की कल्पना करने से बडा गौरव होगा, अत 'समयाव'-सज्ञक सम्ब"ध एक ही है, यह स्वीकार करना ही चाहिये ।

न च समवायस्यैकत्वे वायौ रूपवत्ताबुद्धिप्रसङ्ग ।

शका—'समवाय' एक ही है, यह स्वीकार करना उचित नही । अन्यथा जैसे 'वायु स्पशवान् है' ऐसी प्रतीति सभी को होती है उसी प्रकार 'वायु रूपवान् है' यह प्रतीति भी सबको होने लगेगी, क्योकि 'समवाय' तो एक ही है । जो 'वायु' मे स्पश का समवाय है, वही 'घट' मे रूप का समवाय है, दोनो एक ही हो गये । अत 'वायु मे स्पश के समवाय' की तरह रूप का समवाय' भी उसमे (वायु मे) प्रसक्त हो जायगा, इसलिये 'समवाय' को **एक नहीं मानना चाहिये ।**

तत्र रूपसमवायसत्त्वेऽपि रूपाऽभावात् ।

उत्तर—यद्यपि 'रूप का समवाय' वायु मे प्रसक्त (प्राप्त) है, तथापि 'वायु' मे 'प्रतियोगित्व'—सम्ब"ध से **रूप का अभाव** होने से (रूप के न रहने के कारण) उक्त प्रतीति की आपत्ति (वायु मे रूपवत्ता की प्रतीति) नही की जा सकती, क्योकि हम (नैयायिक) तो 'विशेषण-विशेष्यविशिष्ट ज्ञान' को स्वीकार करते हैं । यहा 'विशेषण—(वायु मे रूप) ज्ञान' का अभाव है ।

न चैवमभावस्य वैशिष्ट्य सम्बन्धान्तर सिद्धयेदिति वाच्यम् ।

शका— समवाय' आदि जसे स्वतन्त्र सम्बन्ध है, वैसे ही 'भूप्रदेश मे (भूतल-पर) घट नही है' ऐसी प्रतीति होने पर भूतल मे घटाभाव का वैशिष्ट्य' सज्ञक स्वत त्र सब"ध क्यो नही स्वीकार करते ?

(इति न च वाच्यम्) । तस्य नित्यत्वे भूतले घटानयनानन्तरमपि घटाभावबुद्धिप्रसङ्गाद्, घटाभावस्य तत्र सत्त्वात्, तस्य च नित्यत्वात् । अन्यथा देशान्तरेऽपि तत्प्रतीतिर्न स्याद् वैशिष्ट्यस्य च तत्र सत्त्वात् ।

समा०—उपयुक्त शका करनेवाले से हम ऐसा प्रश्न करते है कि वह तुम्हारा 'वैशिष्ट्य' नित्य है या अनित्य है ? यदि नित्य (सवदा रहे और नाश-रहित हो) है तो नयायिको की मा यता के अनुसार घट का अत्य ताभाव नित्य है, तब घट का 'अत्य ताभाव' तथा 'वैशिष्ट्य' ये दोनो नित्य हो गये। ऐसा होने पर दोष यह होगा कि 'भूतल प्रदेश मे' घट के आ जाने पर भी 'यहा घट नही है' ऐसी प्रतीति होने लगेगी, कि तु किसी को भी होती नही है। इस आपत्ति के निवारणाथ यदि घट के 'अत्य ताभाव' को **अनित्य** कहे तो 'घटशून्य प्रदेश' मे भी 'घट नही है' ऐसी प्रतीति नही होगी, क्योकि 'वशिष्ट्य' तो वहा है ही। कि तु घटशून्य प्रदेश मे 'घट नही है' यही प्रतीति सबको होती है।

मम तु मते घटे पाकरक्तादशाया श्यामरूपस्य नष्टत्वान्न तद्वत्ताबुद्धि । वैशिष्ट्यस्यानित्यत्वे त्वनन्तवैशिष्ट्यकल्पने तवैव गौरवम् । इत्थ च तत्तत्कालीनतत्तद्भूतलादिक तत्तदभावाना सम्बन्ध ॥ ११ ॥

शका—समवाय को एक माननेवाले सिद्धान्ती के मत मे भी अग्निसयोग से रक्त (लाल) हुए 'घट' मे पूवस्थित 'श्यामरूप' का **समवाय** तो है ही, किन्तु वहा (रक्त हुए घट मे) श्यामरूपवत्ता बुद्धि होनी चाहिये, किन्तु नही होती। अर्थात् 'श्यामरूपवत्ता बुद्धि' क्यो नही होती ? 'वशिष्ट्य' को न मानकर यदि 'घटाभाव' का भूतलादि मे 'स्वरूप' सम्ब ध भी माने तो पूववत् 'घटवाले भूतल' मे भी 'घटाभाव' की बुद्धि होनी चाहिए थी। किन्तु घटवाले भूतल मे 'घटाभाव' बुद्धि किसी को नही होती। तो बताइए कि 'घटवद् भूतलम्' मे 'घटाभाववद् भूतलम्' बुद्धि क्यो नही होती ?

उत्तर देते हैं कि—हमारे[1] मत मे तो ('समवाय को एक माननेवाले

---

१ (नित्यसम्ब ध समवाय) जो पदाथ नित्य होकर सम्ब धरूप होता है, वही समवाय है। 'सम्ब ध समवाय' इतना लक्षण करने से 'सयोग' आदि मे अतिव्याप्ति होती है, तथा 'नित्य समवाय' इतना ही कहने पर 'आकाश' आदि मे अतिव्याप्ति होती है, अत उपयुक्त लक्षण ही उचित है। यह 'समवाय' किसी भी इन्द्रियज य प्रत्यक्षज्ञान का विषय नही होता। इसका ज्ञान अनुमान से ही होता है। जैसे—'समवाय अतीन्द्रिय आत्मा यत्वे सति असमवेतभावत्वात् आकाशादिवत्'—यह 'समवाय' अतीन्द्रिय है, क्योकि आत्मा से अन्य होकर असमवेतभाव रूप है। जो जो पदाथ आत्मा से 'अ य' तथा 'असमवेत' और 'भाव' होता है, वह वह **अतीन्द्रिय** होता है, जैसे-'आकाश' आत्मा से 'भिन्न' है तथा

सिद्धान्ती के मत मे तो) 'श्यामरूप का समवाय' तथा 'रक्तरूप का समवाय' ये दोनो एक ही हैं, तथापि जहाँ 'घट' मे अग्नि के सयोग से 'श्यामरूप' का नाश

किसी भी पदार्थ मे 'समवाय सम्बन्ध' से न रहने के कारण **असमवेत भी है** तथा **भावरूप भी है।** अत **'आकाश' 'अतीन्द्रिय'** है। उसी प्रकार 'समवाय भी आत्मा से 'अन्य' तथा 'असमवेत' और 'भावरूप' है। पृथिवी मे अनेक प्रकार की वस्तुएँ है। समस्त वस्तुएँ साक्षात् अथवा परम्परया किसी न किसी सम्बन्ध से सम्बन्धित होती है। **'समवाय' 'सयोग'**—प्रभृति बहुविध सम्बन्ध है। सम्बन्धो के मध्य मे **'समवायसम्बन्ध'** अत्यन्त अन्तरग है। क्योकि 'अयुतसिद्ध (जो कभी पृथक न हो) पदार्थों के सम्बन्ध' का नाम **समवाय** है अर्थात् पृथकभूत होकर जिसकी उपलब्धि और उत्पत्ति न हो ऐसे दो पदार्थों का जो सम्बन्ध, उसे **'समवाय'** कहते हैं। जैसे 'कपालो' के साथ 'घट' का **समवाय सम्बन्ध** है। 'घट', 'कपाल' से 'पृथक भाव' मे उत्पन्न या ज्ञान का विषय नही है। उसी प्रकार 'आकाश' के साथ 'शब्द' का, 'पृथ्वी' के साथ 'गन्ध' का, 'जल' के साथ 'आस्वाद' का, 'अग्नि' के साथ 'रूप' का एव 'मनुष्य' के साथ 'मनुष्यत्व' का **'समवाय'** सम्बन्ध होता है। 'शब्द' का 'वायु' के साथ 'सयोग' सम्बन्ध रहता है, क्योकि **'शब्द'**, 'वायु' का गुण नही तथा 'वायु' और 'शब्द' **अयुतसिद्धपदार्थ** भी नही। अत इनका (शब्द वायु का) 'समवायसम्बन्ध' नही हो सकता। इसी प्रकार 'गन्ध—पुष्प का' **'समवाय सम्बन्ध'** है। 'समवाय सम्बन्ध' नित्य विद्यमान, तथा समवेत होकर 'गुण', 'जाति' तथा 'स्वाश्रय' का परित्याग नही करता। 'शब्द', **आकाश** का परित्याग कर अन्यत्र नही जाता। 'मनुष्यत्व', **मनुष्य** का परित्याग कर 'गो' आदि का आश्रय नही करता। 'सम्बन्ध' का स्वीकार किये बिना काम नही चलता। बिना 'सम्बन्ध के किसी के साथ मेल नही हो सकता। यदि 'द्रव्य' के साथ 'गुण' का सम्बन्ध न हो तो 'द्रव्य' को **गुणवान्** नही कह सकते। हमारे घर के साथ हमारा 'स्वामित्वसम्बन्ध' न हो तो उसको अपना घर नही कह सकते। हम जब तक घर मे हैं तब तक हमारा सम्बन्ध अवश्य है। उसी प्रकार हमारा 'गुण' जब तक हमसे समवेत है तब तक उसके साथ 'समवाय' सम्बन्ध ही स्वीकार करना चाहिये।

कालिक-सम्बन्ध

'काल' के द्वारा जिस वस्तु का सम्बन्ध माना जाता है उसी को **'कालिक-'**

हो गया है और 'रक्तरूप' उत्पन्न हो गया है, वहाँ 'घट' मे श्यामरूप है ऐसी प्रतीति होने की आपत्ति नही की जा सकती, क्योकि वहा (श्यामरूप और रक्तरूप का समवाय एक होने से) श्यामरूप का समवाय तो है, परन्तु विशेषण वह (श्यामरूप) नही है। अत पूर्वोक्त 'वशिष्टच नित्य' है, यह मानना उचित नही। अब वह 'वैशिष्ट्य अनित्य' है, ऐसा मानना भी उचित नही। यदि उसे 'अनित्य' माना जायगा तो भूप्रदेश मे 'घट' के आने पर भी पूवस्थित घटाभाव के वैशिष्ट्य का नाश होने लगेगा, और यदि वहा से 'घट' को हटा ले तो अत्य ताभाव का 'वैशिष्टच' उत्पन्न होने लगेगा। इस कारण 'वैशिष्टच' की अनेक उत्पत्तियाँ तथा अन त नाश की कल्पना करने के कारण तुम्हारे पक्ष मे (अभाव का वैशिष्टय एक पृथक् वस्तु है यह माननेवाले के मत मे) गौरव होगा। अत 'वैशिष्टय' को पृथक न मानकर तत्तत् प्रदेश मे 'घट नही है' इस प्रकार की प्रतीति जो होती है, उसका एकमात्र कारण यही है कि जिस जिस वस्तु का अभाव जिस जिस काल मे जिस जिस भूतल प्रदेश में है अर्थात् तत्तत्कालीन जो तत्तद् भूतल, वही अभाव का सम्बन्ध है और वही 'स्वरूप सम्ब ध' है। 'अभाव' का **स्वरूप सम्बन्ध ही** 'नैयायिको' को मा य है।

अभाव विभजते—अभावस्त्विति।

अब अवसरप्राप्त अभाव का विभाग करते है।

सम्बन्ध कहते हैं। जैसे—दस वष बीते कि हम बम्बई मे थे, जिस समय हम बम्बई मे थे, 'हमारा' तथा बम्बई' का उसी समय '**कालिक सम्बन्ध**' था।

परम्परा-सम्बन्ध

एक पदाथ के द्वारा जो सम्ब ध कल्पित किया जाय उसे '**परम्परा सम्बन्ध**' कहते हैं। जैसे—'कालिकसम्बन्ध' काल के द्वारा होता है, उसी प्रकार इसे भी समझना चाहिये। 'कालिक म्ब ध', 'परम्परासम्बन्ध' का **अपवादक** होता है। एक प्रसग मे जो अगले अगले सम्ब ध है, उसी को 'परम्परासम्ब ध' कहते हैं। हमारा तुम्हारा साक्षात् कोई सम्ब ध न होने पर भी 'परम्परासम्ब ध' है। तुम जिस देश मे रहते हो हम भी उसी देश मे रहते हैं, अतएव '**एक देश-वासित्व**' सम्ब ध हमारा तुमसे है। उसी प्रकार 'एक कुलोत्पन्नत्व' सम्ब ध रघु' तथा 'राम' का है।

अभावस्तु द्विधा संसर्गान्योन्याभावभेदतः ।
प्रागभावस्तथा ध्वंसोऽप्यत्यन्ताभाव एव च ॥ १२ ॥
एवं त्रैविध्यमापन्नः संसर्गाभाव इष्यते ।

अभाव—जो भाव से (सत् प्रतीति से) भिन्न हो उसे '**अभाव**' कहते है । **संसर्गाभाव**—संसर्गका अर्थ 'सम्बन्ध'[1] है । आधेय के साथ जो आधार का सम्बन्ध है, वही 'संसर्गाभाव' है । '**प्रागभाव**'—कार्योत्पत्ति के प्राक् (पहले) जो अभाव हो उसे प्रागभाव कहते हैं । अर्थात् जो वस्तु आगे होगी और होने से पहले उसका जो अभाव हो, उसी को 'प्रागभाव' कहते है । '**ध्वंसाभाव**'—ध्वंसरूप जो अभाव है, वही ध्वंसाभाव है । जैसे—'घटो ध्वस्त '—यहा पर दण्ड से घट के टूटने पर जो अभाव है वही ध्वंसाभाव है । '**अत्यन्ताभाव**'—जिसकी उत्पत्ति तथा नाश न हो उसे अत्यन्ताभाव कहते है । '**अन्योन्याभाव**' इसका अर्थ 'भेद' है । जैसे—यह 'घट' पट नही है । अभाव दो प्रकार का है । एक संसर्गाभाव और दूसरा अन्योन्याभाव । इन दोनो मे से संसर्गाभाव तीन प्रकार का है—प्राग भाव, प्रध्वंसाभाव तथा अत्यन्ताभाव ।

---

१ यद्यपि 'संसर्ग' का अर्थ सम्बन्धमात्र है, तथापि प्रकृत मे 'संसर्ग' शब्द से 'वृत्तिनियामक सम्बन्ध' का ही ग्रहण किया गया है । 'वृत्ति' शब्द का अर्थ आधेयता' है । 'येन सम्बन्धेन आधेयपदार्थ स्वाधारे वर्तते, स सम्बन्धो वृत्ति नियामक' इत्युच्यते । वह वृत्तिनियामक सम्बन्ध संयोग, समवाय, स्वरूप, कालिक, दैशिकविशेषणतादि भेद से अनेक प्रकार का है । इनके अतिरिक्त जो सम्बन्ध हैं वे 'वृत्त्यनियामक' है । वे वृत्त्यनियामक सम्बन्ध–गगनादिसंयोग, अँगुलिद्वयसंयोग, विषयत्व विषयित्व, अनुयोगित्व प्रतियोगित्व, निरूपकत्व निरूप्यत्व, तादात्म्यादि भेद से अनन्त है ।

कार्य कारण का तादात्म्य माननेवालो के मत मे 'तादात्म्य' भी वृत्तिनियामक है । एवञ्च संसर्गावच्छिन्न (वृत्तिनियामकसम्बन्धावच्छिन्न) प्रतियोगिताकोऽभाव , संसर्गाभाव । यस्य अभाव स तस्य प्रतियोगी, प्रतियोगिनो भाव प्रतियोगिता, प्रतियोगिशब्दात् भावे तल् । प्रतियोगिता के अवच्छेदक दो हुआ करते है—एक 'धर्म' और दूसरा 'सम्बन्ध' । धर्म और सम्बन्ध से 'प्रतियोगिता' अवच्छिन्न (विशेषित) होती है । इस कारण वह (प्रतियोगिता) उनसे अवच्छिन्न कहलायी है । प्रतियोगिता का जो समनियत धर्म हो वह प्रतियोगितावच्छेदक होता

अभावत्व द्रव्यादिषट्कान्योन्याभाववत्त्वम्[1] । ससर्गेति । ससर्गाभावान्योन्याभावभेदादित्यथ । अन्योन्याभावस्यैकविधत्वात्तद्विभागाभावात्ससर्गाभाव विभजते—प्रागभाव इति । ससर्गाभावत्वम् अन्योन्याभावभिन्नाभावत्वम् । अन्योन्याभावत्व तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिकाभावत्वम् । विनाश्यभावत्व प्रागभावत्वम् । जन्याभावत्व ध्वसत्वम् । नित्यससर्गाभावत्वम् अत्यन्ताभावत्वम् ।

किसी पदाथ का लक्षण के द्वारा स्वरूप जाने बिना उसका विभाग करना उचित नही । इसलिये प्रथमत 'अभाव' का लक्षण कहते है । पूर्वोक्त द्रव्य आदि छह पदार्थों के अतिरिक्त जो पदाथ है, वही 'अभाव' पदाथ है । अर्थात् भाव भिन्नत्वम् अभावत्वम्'—भावपदार्थों से भिन्न पदाथ को ही 'अभाव' कहते हैं । 'ससर्गाभाव' और 'अ योन्याभाव' (भेद) ये ही दो प्रकार के अभाव है । इन दो प्रकारो मे से 'अ यो याभाव' तो एक ही प्रकार का है, उसका कोई अवा तर भेद नही है ।

अब ससर्गाभाव' का विभाग करते है । प्रागभाव, प्रध्वसाभाव और अत्य ताभाव—यह तीन प्रकार का 'ससर्गाभाव है । ससर्गाभाव का यह लक्षण है कि 'अन्यो याभाव से भिन्न जो अभाव, उसी को ससर्गाभाव कहते है ।' जिसकी प्रतियोगिता तादात्म्य सम्ब ध से अवच्छिन्न हो, अर्थात् तादात्म्य का (उन उन वस्तुओ के स्वरूपो का) जो अभाव है, वही 'अन्यो याभाव' है । पूर्वोक्त ससर्गाभावो मे से प्रागभाव आदि का लक्षण इस प्रकार समझना चाहिये—'विनाशी (नाशवान्) जो अभाव है, वह प्रागभाव है ।' 'ज य (उत्पत्तिमान्) जो अभाव है, वह—प्रध्वसाभाव है ।' नित्य जो ससर्गाभाव है उसे अत्य ताभाव कहते है ।'

है । और प्रतियोगी अपने अधिकरण मे जिस सम्ब ध से रहता है, वह 'सम्ब ध' प्रतियोगितावच्छेदकसम्ब ध कहलाता है । प्रतियोगी जिस धम से विशेषित-(अवच्छि न अर्थात् इतरो से व्यावत्त) किया जाता है, वह धम, प्रतियोगितावच्छेदक धम कहलाता है ।

[1] १ अभाव का यह लक्षण अ यो याभाव घटित है, और वक्ष्यमाण अ योन्याभाव का लक्षण भी सामा य रूप से अभाव घटित है । अत उक्त लक्षण 'अ योन्याश्रय' दोष से दूषित हुआ, इसलिये 'समवायसामानाधिकरण्या यतरसम्ब धावच्छिन्न प्रतियोगिताकसत्ताभावत्वम्—अभावत्वम्' अर्थात् उक्त विशेषण विशिष्ट सत्ताभावरूप ही अभाव का निवचन करना चाहिये ।

अर्थात् अधिकरण मे वस्तु के सम्बन्ध का जो अभाव सदा रहता है, वही अत्य ताभाव है।

यत्र तु भूतलादौ घटादिकमपसारित पुनरानीत च तत्र घटकालस्य सम्बन्धाघटकतयाऽत्यन्ताभावस्य नित्यत्वेऽपि घटकाले न घटात्यन्ता भावबुद्धि । तत्रोत्पादविनाशशाली चतुर्थोऽयमभाव इति केचित् ।

अत्र ध्वसप्रागभावयोरधिकरणे नात्यन्ताभाव इति प्राचीनमतम् । श्यामघटे रक्तो नास्तीति रक्तघटे श्यामो नास्तीति धीश्च प्रागभाव ध्वस चावगाहते न तु तदत्यन्ताभाव तयोर्विरोधात् ।

नव्यास्तु तत्र विरोधे मानाभावाद् ध्वसादिकालावच्छेदेनाप्यत्यन्ताभावो वत्तत इति प्राहु ।

यदि अत्य ताभाव नित्य है (जो घट की विद्यमान अवस्था मे भी रहता है) तो घट के रहने पर भी 'घट नही है' इस प्रकार की आपत्ति होनी चाहिये, कि तु उसका निवारण इस प्रकार करते है—जिस समय 'घट नही है' यह प्रतीति होती है, उस समय के 'घटाभाव' के सम्ब ध की वहा (घटसद्भाव के स्थान मे) कल्पना कर लेगे। और घट की सत्ता के समय जो सम्ब ध है उसकी यहा कल्पना नही करेगे। तथा जहा जहा वह सम्ब ध सभव होगा वहा वहा उन उन अभावो की प्रतीति हो जायगी। और जहा जहा सभव नही है, वहा-वहाँ प्रतीति नही होगी। एवञ्च जिस भूप्रदेश मे जो पूव घट था, तदन तर वहा से उसी घट को उठा लिया और पुन उसी घट को वही पर लाकर रख दिया, ऐसी स्थिति मे (घट की स्थिति के समय) घटाभाव का पूव सम्बन्ध नष्ट हो गया है। अत ऐसे स्थल मे 'घट नही है' इस प्रतीति के होने की आपत्ति भी नही हो सकती। 'घट उठा लिया और पुन वही लाकर रख दिया' ऐसे स्थल मे कुछ विद्वानो का यह मत है कि—उस स्थल मे अत्य ताभावरूप—अभाव नही हो सकता, क्योकि जब घट उठा लिया तब तो अभाव उत्प न हो गया और जब वहा पर घट ले आये तब वह नष्ट हो गया, ऐसा 'सामयिक'[1] सज्ञक चौथा अभाव (प्रागभाव आदि से भि न) है। प्राचीन नैयायिको का मत यह है कि—किसी वस्तु के प्रागभाव तथा ध्वस ये दो अभाव, समवायिकरण के रहने पर तथा इन दो अभावो मे से किसी एक अभाव के होने पर वहा अत्य ताभाव नही रहेगा, क्योकि ध्वस और प्रागभाव का

१ समयविशेष मे होनेवाले अभाव का नाम 'सामयिकाभाव' है।

अत्यन्ताभाव से विरोध है। जैसे— पाक से (अग्निसयोग से) घट मे प्रथम क्षण मे रक्तरूप उत्पन्न होता है और द्वितीय तथा तृतीय क्षण मे उस रूप का नाश होकर श्यामरूप उत्पन्न होता है, तदनन्तर पाक से श्यामरूप का नाश होने पर पुन दूसरा रक्तरूप उत्पन्न होता है, ऐसी स्थिति होने पर उस घट मे श्यामरूप की स्थिति के समय 'रक्तरूप नही है' ऐसी जो प्रतीति होती है, उस प्रतीति का विषय पूव रक्तरूप का ध्वस तथा भावि रक्तरूप का प्रागभाव होता है। वह रक्तरूप के अत्यन्ताभाव का विषय नही होता, यह प्राचीन नैयायिको का मत है।

नवीन नैयायिको का मत यह है कि—ध्वस तथा प्रागभाव के होने पर भी अत्यन्ताभाव की प्रतीति होने मे कुछ दोष नही। इन दोनो का अत्यन्ताभाव से विरोध मानने मे कुछ प्रमाण नही मिलता। अत ध्वस तथा प्रागभाव के अधिकरण मे भी उस समय अत्यन्ताभाव रह सकता है—यह नवीन नैयायिको का मत है।

नन्वस्त्वभावानामधिकरणात्मकत्व लाघवात्।

'अभाव' को न माननेवाले प्रभाकरमीमासक की शका—'अभाव' यह अधिकरण से भिन्न नही, क्योकि जिस भूप्रदेश मे 'घट नही है' ऐसी जो प्रतीति होती है, वह 'भूप्रदेश' ही 'अभावस्वरूप' है। अत 'अभाव' यह भाव की अपेक्षा भिन्न वस्तु नही। और ऐसा मानने मे लाघव भी है।

इति चेन्न। अनन्ताधिकरणात्मकत्वकल्पनाऽपेक्षयाऽतिरिक्तकल्पनाया एव लघीयस्त्वात्। एव च आधाराधेयभावोऽप्युपपद्यते। एव च तत्तच्छब्दगन्धरसाद्यभावाना प्रत्यक्षत्वमुपपद्यते। अन्यथा तत्तदधिकरणाना तत्तदिन्द्रियाणामग्राह्यत्वादप्रत्यक्षत्व स्यात्। एतेन ज्ञानविशेषकालविशेषाद्यात्मकत्वमभावस्येति प्रत्युक्तमप्रत्यक्षत्वापत्ते ॥ १२ ॥

नैयायिक उत्तर देता है—घटाभाव, अधिकरण (भूप्रदेशादि) स्वरूप है ऐसा मानने मे वे अधिकरण अनेक है, तो ये भी (अभाव भी) अनेक हो जायेगे, यह मानना होगा। ऐसा मानने की अपेक्षा अभाव को अधिकरण से भिन्न (अतिरिक्त) मानने मे ही लाघव है। क्योकि 'घटाभाववद् भूतलम्' कहने पर घटाभाव को जैसे भूतलस्वरूप माना, वैसे ही 'घटाभाववान् पट', 'घटाभाववान् मठ' आदि स्थलो मे भी पट, मठ आदि जो अनन्त अधिकरण है, तत्स्वरूप अभाव को भी अनन्त मानना होगा। किन्तु इस प्रकार मानने मे महान् गौरव होगा। इस लिये अभाव को अधिकरण की अपेक्षा अतिरिक्त (भिन्न) पदाथ मानना ही उचित

है। दूसरा कारण यह भी है कि 'घटाभाव' को 'सामान्य धर्मात्रच्छिन्न-प्रतियोगिता-काभावरूप' माना जाता है। अर्थात् 'घटत्व' रूप जो सामान्य धम, तादश-सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्वरूप 'घटाभाव' हुआ करता है। और 'सामान्य-धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभाव' तो एक होता है तथा नित्य होता है। तब 'घटाभाव' को अधिकरणस्वरूप मानने पर घटात्यन्ताभाव को अनन्त और अनित्य मानना पडेगा, क्योकि 'अधिकरण' अनित्य तथा अनन्त होते है। दूसरी बात यह है कि 'अभाव' को अधिकरणस्वरूप न मानने पर 'घटाभाववद्भूतलम्' यहाँ पर आधाराधेयभाव भी ठीक बन जाता है। क्योकि 'घटाभाव' आधेय है और 'भूतल' उसका आधार है। यदि अभाव को अधिकरण से भिन्न (अतिरिक्त) नही मानेगे तो 'आधाराधेयभाव' नही बन सकेगा। अर्थात् अभाव को अधिकरण-स्वरूप मानने पर 'घटाभावो भूतलम' यह प्रतीति होगी। इस प्रतीति मे कौन आधार है और कौन आधेय है यह नही बताया जा सकेगा। इसी प्रकार आधार-आधेय को एक ही मान लेने पर और भी एक दोष प्राप्त होगा—'शब्द मे गन्ध तथा रस नही' इस प्रतीति मे गन्ध के और रस के अभाव का प्रत्यक्ष (शब्द मे गन्ध नही है अथवा रस नही है ऐसा प्रत्यक्ष) घ्राणेन्द्रिय तथा रसनेन्द्रिय से हुआ करता है, किन्तु अब वह नही होगा। किन्तु अभाव को अधिकरणस्वरूप न मानने पर तत्तत शब्द, गन्ध, रस के अभाव का प्रत्यक्ष भी ठीक बन जाता है। क्योकि यह नियम है कि 'यो गुणो येनेन्द्रियेण गह्यते तन्निष्ठा जातिस्तदभावश्च तेनैवेन्द्रियण गृह्यते'—जिस इन्द्रिय से जिस गुण का प्रत्यक्ष होता है, उस गुण मे रहनेवाली जाति का तथा उस गुण के अभाव का प्रत्यक्ष भी उसी इन्द्रिय से होता है। जैसे—शब्द, गन्ध, रस का प्रत्यक्ष क्रमश श्रोत्रेन्द्रिय, तथा रसनेन्द्रिय से होता है। ऐसी परिस्थिति मे भी यदि अभाव को अधिकरणस्वरूप कहा जाय तो अधिकरण का प्रत्यक्ष, इन इन्द्रियो से नही होगा। जैसे—'शब्दाभाववद् भूतलम' कहने पर शब्दाभाव का भूतल में प्रत्यक्ष करें तो शब्दाभाव भूतलस्वरूप होने से भूतल का प्रत्यक्ष श्रोत्रेन्द्रिय से नही किया जा सकता, क्योकि श्रोत्र, 'द्रव्य' को ग्रहण नही करता अपितु 'गुण' को ग्रहण करता है। इस कारण शब्दाभाव का प्रत्यक्ष भी श्रोत्र से नही होगा। उसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय भी गुणग्राहक इन्द्रिय है। अत इनसे भी गन्धाभाव, रसाभाव का प्रत्यक्ष नही किया जा सकेगा।

इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार स्पष्ट करते हैं—अन्यथा तत्तदधिकरणाना तत्त-दिन्द्रियग्राह्यत्वात प्रत्यक्षत्व न स्यात्' अन्यथा अभाव को अधिकरणस्वरूप मानने पर शब्दाभावस्वरूप भूतलद्रव्य श्रोत्रेन्द्रिय से अग्राह्य होने के कारण शब्दाभाव का प्रत्यक्ष नही हो सकेगा।

प्रभाकर-मीमासक का एक यह भी सिद्धान्त है कि जिस अधिकरण में 'अभाव' तादश ज्ञानरूप है, उसीप्रकार जिसमें अभाव का ज्ञान होता ह वह अभाव तादश कालरूप भी है। इससे (आगे बताये जानेवाले अप्रत्यक्षत्वापत्तिरूप दोष से) अभाव की ज्ञानरूपता तथा कालरूपता का सिद्धा-त भी खण्डित हो जाता ह। क्योकि काल का प्रत्यक्ष नही हुआ करता, अत अभाव को यदि कालस्वरूप मानें तो अभाव का भी प्रत्यक्ष नही हो सकेगा, उसी प्रकार ज्ञान का भी बाह्येन्द्रियो से प्रत्यक्ष नही हुआ करता, अत अभाव को ज्ञानस्वरूप मानने पर अभाव का भी प्रत्यक्ष नही हो सकेगा। इस कारण अप्रत्यक्षत्वापत्तिरूप दोष से 'अभाव' को ज्ञानरूप या कालरूप नही कह सकते। इसलिये यह 'अभाव'[1] पदाथ पूर्वोक्त छह भावपदार्थों की अपेक्षा अतिरिक्त है, यह स्पष्ट होता है।

इति **बालप्रिया**-सहिताया मुक्तावल्या पदाथसामान्यनिरूपण नाम प्रथमा मुक्ता।



---

१ 'अभाव' पदाथ—ससर्गाभाव एव अन्योन्याभाव मेद से दो प्रकार का है। **प्राचीन नैयायिकों** के मत में ससर्गाभाव (प्रागभाव, प्रध्वसाभाव अत्यन्ताभाव, सामयिकाभाव) चार प्रकार का है। नवीन नैयायिक 'सामयिकाभाव' को नही मानते। 'भाव' से विपरीत 'अभाव' होता है। प्रतियोगी (वस्तु) की सत्ता के पूव या पश्चात जब उसका अभाव रहता है, तब वही (वस्तु) उस (अभाव) का प्रतियोगी होता है। जैसे—**घटाभाव** का प्रतियोगी 'घट' है। '**प्रागभाव**' का लक्षण इस प्रकार है—'अजन्यत्वे सति विनाशित्वम' अथवा 'अज-यत्वे सति प्रतियोगि-नाश्यभावत्वम'-प्रागभावत्वम। अर्थात जिस 'अभाव' का जन्म तो न हो तथापि विनाशशील हो वही '**प्रागभाव**' है। तात्पय यह है कि जो वस्तु आगे होगी और होने से पहले जिसका अभाव हो, उसी 'अभाव' को 'प्रागभाव' कहते है। 'घट' बनने से पहले उसका (घट का) प्रागभाव है। उसीप्रकार अभी 'कल्कि अवतार' का प्रागभाव है, क्योकि कल्कि अवतार अभी नही हुआ है, जब वह (कल्कि अवतार) हो जायगा तब कल्कि अवतार का 'अभाव' नष्ट हो जायगा। वैसेही जबतक पुत्र उत्प-न न होगा, तब तक उसका (पुत्र का) प्रागभाव ही कहा जायगा। पुत्र के उत्प-न होने पर वह (अभाव) नष्ट हो जायगा। तथापि दूसरे पुत्र का प्रागभाव तो द्वितीयपुत्र की उत्पत्ति से पहले रहेगा ही। 'घटो ध्वस्त ' इस प्रतीति मे जिस 'अभाव' का बोध होता ह, उस 'अभाव' को ध्वसाभाव या 'प्रध्वसाभाव' कहते है। ध्वसरूप जो अभाव है उसे

ध्वसाभाव कहते है। उसका लक्षण इस प्रकार है—'जन्यत्वे सति अविनाशित्व ध्वसाभावत्वम' अर्थात जिस अभाव का जन्म तो है, कि-तु विनाश नही है, उसी को ध्वसाभाव' कहते है। दण्ड आदि किसी साधन से घट के टूटने पर जो घट का अभाव ह उसे 'ध्वसाभाव' कहते है। यह अभाव दण्ड आदि साधनो से पैदा होता है। और इस 'अभाव' (ध्वसाभाव) का पुन अभाव नही हो सकता, क्योकि वह (ध्वसाभाव) अविनाशी और जन्य (उत्पत्तिमान्) है। अविनाशी (नित्य) रहनेवाले इस अभाव को 'ध्वस' नाम से पुकारा जाता है। **अत्यन्ताभाव का लक्षण** इस प्रकार है-'अजन्यत्वे सति अविनाशित्वम्'। अर्थात जिस 'अभाव' का ज-म तथा विनाश न हो उसी को 'अत्यन्ताभाव' कहते ह। अभिप्राय यह है कि 'त्रैकालिक ससर्गाभाव' को अत्यन्ताभाव कहते है, यानी जो अभाव पहले था और वतमान मे तथा भविष्यत मे भी रहेगा। जैसे—किसी व ध्या को पुत्र न हुआ, न होगा, और न अब है, ऐसे स्थल मे 'तस्या पुत्रो नास्ति' इस प्रकार के अभाव को—'**अत्यन्ताभाव**' कहते है। 'अन्योन्याभाव' का लक्षण इस प्रकार है—'तादाम्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वम'—अ-यो-याभावत्वम। 'तादाम्य' एक सम्ब-ध विशेष है। अपने मे जो अपना सम्ब-ध ह उसी को '**तादात्म्य सम्बन्ध**' कहते है। जैसे—घट मे घट 'तादात्म्य सम्ब ध' से रहता ह। उसीप्रकार पट आदि में पट आदि 'तादात्म्यसम्बन्ध' से रहता है। ऊपर बता चुके है कि जिस वस्तु का अभाव होता है वह वस्तु, उस अभाव की **प्रतियोगी** होती है। 'भेदरूप अभाव' का नाम 'अ-योन्याभाव' है। जिस अभाव की प्रतियोगिता 'तादात्म्यसम्बन्धात्रच्छिन्न घट' मे भेदरूप है, वह अभाव, 'घट' मे नही रह सकता, क्योकि घट मे 'घट' तादात्म्यसम्बन्ध से रहता है। अत तादात्म्यसम्बन्ध से घट में 'घट' का अभाव नही रह सकता। क्योकि 'भाव' और 'अभाव' ये दोनो एक अधिकरण मे नही रह सकते। घट से अन्य (भिन्न) पट आदि जितने पदाथ है, उनमे 'घट' का भेदरूप-अभाव रहता है। जिस सम्बन्ध से जो पदार्थ जिस जगह (जहा पर) नही होता, उसी सम्बन्ध से उसी पदाथ का अभाव उसी जगह रहता है। 'तज्ज यप्रतियोगिता' मे 'तत्सम्बन्धावच्छिन्न' स्वीकार करना भी उचित ह। 'सयोगेन घटोनास्ति' यह कहने पर 'घट' मे जो प्रतियोगिता है वह 'सयोग-सम्ब-धावच्छिन्ना है। उसी प्रकार 'समवायेन घटो नास्ति' कहने पर वही प्रतियोगिता 'समवायसम्बन्धावच्छिन्ना कहलायगी। किन्तु 'तद्रूपघटो न घट' यहाँ

☙ इदानी सप्तपदार्थाना साधर्म्यं वैधर्म्यं च वक्तु प्रक्रमते—सप्तानामिति ।

● अब द्रव्यादि सात पदार्थो का साधम्य अर्थात अनुगत (समान) धम तथा वैधम्य अर्थात् विरुद्ध धम बताते है—'सप्तानाम' इति ।

★ सप्तानामपि साधर्म्यं ज्ञेयत्वादिकमुच्यते ॥१३॥

● सप्तानाम् = द्रव्य, गुण, कम, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव इन सातो का । साधर्म्यम् = जिसका समान (तुल्य) धम हो, उसको सधर्मा कहते हैं, सधर्मा का जो भाव उसे साधम्य कहते है, अर्थात् साधारण धम । ज्ञेयत्वादिकम् = ज्ञेय = ज्ञान का विषय, उसका जो धम उसे 'ज्ञेयत्व' कहते है । 'आदि' शब्द से प्रमेयत्व, अभिधेयत्व आदि को समझना चाहिय । प्रमेयत्व=प्रमाविषयता (प्रमा का विषय) अभिधेयत्व=अभिधाविषयता (अभिधा का विषय) । द्रव्यादि सात पदार्थो का साधम्य (समानधम) ज्ञेयत्व आदि है । अर्थात द्रव्यादि सात पदाथ हमारे ज्ञेय (ज्ञान के विषय अर्थात जानन योग्य) है । अत ज्ञेयत्व (ज्ञेयता) ही द्रव्यादि सप्त पदार्थो का साधम्य (समानधम) है । उसी प्रकार वैधम्य का अथ होगा विरुद्धधम । समस्त पदाथ, ज्ञान के विषय होने मे उनमे ज्ञानविषयता रहती ह । इसी प्रकार अभिधेयत्व, प्रमेयत्व आदि भी द्रव्यादि सप्तपदार्थो के समान धम है ॥ १३ ॥

☙ समानो धर्मो येषा ते सधर्माण तेषा भाव साधर्म्यं, समानो धर्म इति फलितार्थ । एव विरुद्धो धर्मो येषा ते विधर्माण , तेषा भावो वैधर्म्यं, विरुद्धो धर्म इति फलितार्थ । ज्ञेयत्व ज्ञानविषयता सा च सर्वत्रैवास्ति,

---

उक्त नियम नही घट सकता, क्योंकि भेद की प्रतियोगिता 'तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना' है । वह प्रतियोगिता कभी भी अन्यसम्बन्धावच्छिन्ना नही होगी । एव भेदरूप अभाव से भिन्न अन्य किसी भी अभाव की 'प्रतियोगिता' तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना नही हो सकती । यदि भेद की प्रतियोगिता, तादात्म्यसम्बन्ध से भिन्न किसी सम्बन्ध से अवच्छिन्न हो जाय तो 'घट मे घट का भेद रह जायगा', किन्तु भिन्न सम्बन्ध से 'घट मे घट' नही रहता, अपितु उसका अभाव अन्य सम्बन्ध से रह सकता है । घट तो 'तादात्म्यसम्बन्ध' से घट मे ही रहता है, घट से भिन्न पट मे नही रहता । अतएव घट मे जो तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता है, उसका अभाव घट मे नही रहेगा, किन्तु पट आदि में रहेगा । जिस स्थान मे जो भेदरूप अभाव है, वही 'अन्योन्याभाव' है । 'अन्योन्य' शब्द का अथ 'परस्पर' है । परस्पर अभाव का नाम 'अन्योन्याभाव' है ।

ईश्वरादिज्ञानविषयताया केवलान्वयित्वात्। एवमभिधेयत्वप्रमेयत्वादिक बोध्यम् ॥ १३ ॥

॥ इति सप्तपदार्थसाधर्म्यकथनम् ॥

● जो पदार्थ परस्पर एक धर्म वाले है, उनमे रहने वाले धर्म का नाम 'समान धर्म' है। उसी प्रकार जो पदार्थ परस्पर विरुद्ध धर्मवाले है उनमे रहनेवाले धर्म का नाम 'विरुद्ध धर्म' है। 'ज्ञेयत्व' शब्द से यहा ज्ञान की विषयता समझनी चाहिये। वह ज्ञान की विषयता सर्वत्र विद्यमान है, क्योकि ईश्वर और योगी की 'ज्ञानीय-विषयता' को केवलान्वयी माना गया है। [विषय में रहनेवाले ज्ञानादि से निरूपित धर्म विशेष को विषयता कहते है। तथा यावत् (समस्त) पदार्थों मे रहनेवाले धर्म को 'केवलान्वयी' कहते हैं] एव अभिधा को 'सकेत' कहते है। उस 'सकेतविषयता' का नाम 'अभिधेयत्व' है। एव प्रमा का अर्थ पदार्थ ज्ञान है। और उसकी विषयता का नाम 'प्रमेयत्व' है। यहाँ 'आदि' शब्द से 'अस्तित्व' अर्थात् 'कालसम्बन्धित्व'[1] आदि धर्मो का ग्रहण करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष समवाय और अभाव ये सातो पदार्थ, ज्ञेय (ईश्वरीय ज्ञान के विषय) है, तथा ये अभिधेय (किसी एक शब्द के वाच्य यानी अर्थ) है। और ये प्रमेय (ईश्वरीय ज्ञान के यथार्थ विषय) है। इस रीति से इन पूर्वोक्त सात पदार्थो का ज्ञेयत्व, प्रमेयत्व, अभिधेयत्व यही साधर्म्य[2] है ॥ १३ ॥

॥ इति सप्तपदार्थसाधर्म्यकथनम ॥

---

१ यहा पर 'अस्तित्व' से स्वरूपवत्त्व समझना चाहिये। जिस वस्तु का जो स्वरूप है वही उसका अस्तित्व है'—इस प्राचीनो के व्याख्यान को ध्यान मे रखकर ही श्री विश्वनाथ ने सातो पदार्थो का साधर्म्य सगृहीत किया है। 'काल' मे कालसम्बन्धित्व' का सम्भव न हो सकने से 'कालसम्बन्धित्वमस्तित्वम' यह नवीनो का व्याख्यान उचित प्रतीत नही हो रहा है।

२ समानधर्म का नाम साधर्म्य है, तथा विरुद्ध धर्म का नाम वैधर्म्य है। द्रव्यादि सात पदार्थो के ज्ञेयत्व, प्रमेयत्व, अभिधेयत्व, अस्तित्व आदि साधर्म्य (समान धर्म) है। ज्ञान की विषयता का नाम ज्ञेयत्व है। प्रमा की विषयता का नाम प्रमेयत्व है। 'इस शब्द से सुनने वाले को इस अर्थ का बोध हो' इस प्रकार ईश्वर की इच्छारूप जो सकेत (शक्ति) है, उस सकेत (शक्ति) का ही नाम 'अभिधा' है। किंतु मीमासक 'अभिधा को' सकेतग्राह्य मानकर उसे एक अधिक पदार्थ के रूप

द्रव्यादयः पञ्च भावा अनेके समवायिनः ।

● **भावा** =भाव पदाथ। भाव तथा अभाव भेद से पदाथ दो प्रकार के है। द्रव्य, गुण कम, सामान्य, विशेष और समवाय ये ही छह भाव पदाथ है। इनके अतिरिक्त जो पदाथ है वह 'अभाव' पदाथ है। '**अनेके**' = एक से भिन्न सख्याविशिष्ट 'अनेक' होते है। **समवायिन** ' = 'समवाय' सम्बन्ध से युक्त। द्रव्य गुण, कम, सामान्य और विशेष ये पाच पदाथ अनेक, तथा समवायो (समवाय सम्बन्ध से युक्त) है। अर्थात द्रव्य, गुण, कम, सामान्य, विशेष इन पाँच पदार्थों का साधम्य 'भावत्व' के सहित 'अनेकत्व' और समवायित्व है। द्रव्यादि छह पदार्थों का 'भावत्व' साधम्य तो स्पष्ट है, इसलिये उसे न बताकर द्रव्यादि पाचो का साधर्म्य बताया गया है।

द्रव्यादय इति। द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषाणा साधर्म्यमनेकत्व समवायित्व च। यद्यप्यनेकत्वमभावेऽप्यस्ति तथाप्यनेकत्वे सति भावत्व पञ्चाना साधर्म्यम्। तथाचानेकभाववृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वमिति फलितोऽर्थ। तेन प्रत्येक घटादावाकाशादौ च नाव्याप्ति। समवायित्व च समवायसम्बन्धेन सम्बन्धित्व न तु समवायवत्त्व, सामान्यादावभावात्। तथा च समवेतवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वमिति फलितोऽर्थ। तेन नित्यद्रव्येषु नाव्याप्ति।

॥ इति पञ्चपदाथसाधम्यकथनम ॥

● 'समवाय' अनेक नही है, किन्तु एक है। 'अभाव' पदाथ अनेक तो है परन्तु वह 'भाव' नही है। अत समवाय तथा अभाव का साधम्य 'अनेकत्व' तथा 'भावत्व के न होने से अन्य पाच पदार्थों के साथ नही हो सकता। केवल द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष ये अनेक तथा भाव भी है। इसी कारण इन सबका

में स्वीकार करते है। उस अभिधा की विषयता का नाम 'अभिधेयत्व' है। काल के सबध का नाम 'अस्तित्व' है। ये ज्ञेयत्वादि धम द्रव्यादि सप्तपदार्थों मे रहते है। यद्यपि जीवात्मा के 'ज्ञान' की तथा 'प्रमा' की विषयता समस्त पदार्थों में सभव नही तथापि ईश्वर के ज्ञान की तथा प्रमा की विषयता तो सभव है ही, क्योकि 'य सवज्ञ स सववित' यह श्रुति भी ईश्वर की सवज्ञता का प्रतिपादन करती है। 'साधम्य' 'वैधम्य' शब्दो मे 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्य कमणि च' सूत्र से भाव अथ मे 'ष्यञ् प्रत्यय हुआ है। इस भावप्रत्यय के द्वारा 'स्वप्रकृत्यथविशेषणीभूतजात्यादि' रूप अथ बताया गया है। 'भाव' पदाथ क्या है ? प्रकृतिजन्यबोधेप्रकारो भाव —

साधम्य भी 'अनेकत्व', 'भावत्व' और 'समवायित्व' हैं। इसी प्रकार 'समवाय' और अभाव' किसी भी अधिकरण मे समवाय-सम्बन्ध से नही रहते। अतएव समवाय तथा अभाव का साधम्य 'समवायित्व' नही हो सकता। द्रव्य, गुण, कम, सामान्य और विशेष ये सामवाय-सम्बन्ध से रहते हैं। इसलिये इनका 'समवायित्व' साधारण धम है। तात्पय यह है कि द्रव्य, गुण, कम, सामान्य, विशेष इन पाचो[१] का साधम्य (समान धम) भावत्व, अनेकत्व, समवायित्व होता है। प्रत्येक घटादि तथा आकाशादि के ऊपर यह साधम्य इस प्रकार ह—जो वस्तु अनेक होकर भाव स्वरूप होती है, उस पर रहनेवाला जो पदाथविभाजक (पदार्थों के विभाग करने मे उपयोगी) धम है, वही साधम्य है। यह धम तो द्रव्यत्व, गुणत्व आदि पाचो

प्रकृति से होने वाले बोध मे जो प्रकार हो, वही भाव पदाथ है। समान-धम वालो में जो समान धम है, वही 'प्रकार' है। ज्ञान से 'विषयता' निरूपित होती हैं। 'विषय' निरूप्य होता है और 'ज्ञान' निरूपक होता है। 'विषयो निरूप्य ज्ञान च निरूपकम' यह नियम है। ज्ञान और विषय का सम्बन्ध 'निरूप्य निरूपक-भाव सम्बन्ध' होता है। 'अत्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्व केवलान्वयित्वम।' सवज्ञ परमेश्वर के नित्यज्ञान के विषय तो सम्पूण पदाथ है। अत 'सम्पूण पदाथनिष्ठा ईश्वरज्ञानीय-विषयता' केवलान्वयी है, क्योकि ईश्वरज्ञानीय-विषयता का कही भी अत्यन्ताभाव नही है।

१ शका—पहिले तो सात पदार्थों का साधर्म्य कहा, बाद में पाँच का कहा, किन्तु छह पदार्थो का नही कहा, यह न्यूनता रह गई।

समा०—द्रव्य, गुण, कम, सामान्य, विशेष, समवाय इन छह पदार्थों का 'भावत्व' ही साधम्य है। उसमे कुछ चमत्कृतबात के न देखने से ग्रन्थकार ने इस साधम्य को नही बताया। अत कोई न्यूनता नही है। परन्तु यहा इतना अवश्य समझनेयोग्य है कि 'समवायैकाथसमवायान्यतरसम्बन्धेन सत्तावत्त्व भावत्वम' यही इन छह पदार्थों मे 'भावत्व' है। 'समवाय' तथा 'एकाथसमवाय' इनमें से किसी एक सबध से जो 'सत्ताजातिमत्व अर्थात् 'सत्ताजाति' से युक्त होना ही 'भावत्व' है। द्रव्य, गुण, कम इन तीनो मे 'सत्ताजाति' समवाय सम्बन्ध से रहती ह, और सामान्य, विशेष, समवाय इन तीनो मे तो एकार्थसमवाय सम्बन्ध से 'सत्ताजाति' रहती है। क्योकि छह पदार्थों की प्रतीति 'सत्' रूप से होती है। जैसे—द्रव्य सत्, गुण सन्, कम सन्, सामान्य सत, विशेष सन्, समवाय सन् इस प्रकार से प्रतीति होती है। जिस द्रव्य, गुण, कमरूप

में रहता ही है। उपर्युक्त प्रघट्टक का सरल अर्थ यह है कि 'सप्तम पदार्थ अभाव है' इतने कथनमात्र से ही छह पदार्थों का 'भावत्व' साधर्म्य है, यह स्पष्ट हो जाता है, फिर भी पुनरुक्ति के भय से उसकी उपेक्षा करते हुए ग्रन्थकार पाँचो का साधर्म्य बता रहे है—'द्रव्यगुणकर्म०' इत्यादि। कारिका मे 'द्रव्यादयः पञ्च' यह उद्देश्य है और 'भावा अनेके' यह विधेय है। इसीलिये मुक्तावलीकार ने 'पञ्चाना' कहा, 'पञ्चभावानाम' नही कहा। जिसको लक्ष्य करके विधेय की प्रवृत्ति होती है, उसे उद्देश्य या अनुवाद्य कहते है। उद्देश्य मे प्रकाररूप से (विशेषणरूप से) प्रतीत होनेवाले विलक्षणविषयतावान पदार्थ को विधेय कहते है। एवञ्च 'अनेकत्वे सति भावत्वम्' यह विधेय है। केवल 'भावत्वम' कहे तो 'समवाय' मे अतिव्याप्ति होगी, उसके निवारणार्थ 'अनेकत्वे सति' यह सत्यन्त विशेषण दिया है। केवल 'अनेकत्वे सति' कहने पर 'अभाव' मे अतिव्याप्ति होगी, उसके निवारणार्थ 'भावत्वम्' कहना पडा।

शङ्का—अनेक घटो के रहने पर भी प्रत्येक घट मे अर्थात एक एक घट मे 'एकत्व' ही रहता है, 'अनेकत्व' नही और 'आकाश' मे भी 'एकत्व' ही रहता है, 'अनेकत्व' नही, क्योकि वह (आकाश) एकव्यक्तिरूप है। किन्तु 'भावत्व' तो दोनो मे (एक एक घट मे और आकाश मे भी) है। अतः 'अनेकत्वे सति भावत्वम्' इस साधर्म्य की आकाश मे तथा एक एक घटादि पदार्थ मे अव्याप्ति' हो रही है।

समा०—उसी अव्याप्ति का निवारण करने के लिये ग्रन्थकार ने स्वयं 'अनेकभाववृत्तिपदार्थ०' इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा साधर्म्य को परिष्कृत किया।

एक अर्थ मे वह 'सत्ताजाति' समवाय सम्बन्ध से रहती है, उसी द्रव्यादिरूप एक अर्थ मे वे समा यादि तीनो पदार्थ भी समवाय-सम्बन्ध से रहते है, इसी का नाम 'एकार्थ-समवाय-सम्बन्ध' है। अतः इन छह पदार्थो का 'भावत्व' साधर्म्य है, और 'अभावत्व' वैधर्म्य है। 'द्रव्य-पदार्थ' पृथ्वी आदि भेद से नौ प्रकार का है। 'गुण पदार्थ' रूपरसादि पदार्थ भेद से चौबीस प्रकार का है। 'कर्म पदार्थ' उत्क्षेपणादिभेद से पाच प्रकार का है। 'सामान्य पदार्थ' पर, अपर भेद से दो प्रकार का है। 'विशेष पदार्थ' भी प्रत्येक नित्य द्रव्यवृत्ति होने से असंख्य है। इस रीति से उक्त पाँच पदार्थों मे अनेकत्व (अनेकपना) है। अतः वह इन पाचो पदार्थों में 'अनेकत्वविशिष्टभावत्वरूपधर्म' का साधर्म्य है। और समवाय तथा अभाव मे वह नही है—अर्थात् उसका वैधर्म्य (विरुद्ध धर्म) है।

अनेक जो भाव अर्थात् घटपटादिव्यक्तियाँ उन पर वर्तमान जो पदाथविभाजकोपाधि अर्थात 'पदाथत्व का साक्षात व्याप्यधम जो द्रव्यत्व आदि, उनसे युक्त' ऐसा कहने पर उपयुक्त अव्याप्ति दोष नही होगा। अर्थात पदाथत्वधम का साक्षात व्याप्यधम द्रव्यत्व, प्रत्येक घट मे और आकाश मे रहता ही है, अत कोई अव्याप्ति दोष नही है। **'समवायिन' इति।** समवाय एषामस्तीति समवायिन। यहा पर मत्त्वर्थीय इनि प्रत्यय है। सामान्य और विशेष मे कोई भी धम समवायसम्बन्ध से नही रहता। अत 'समवायित्व' की अव्याप्ति होगी, इस भ्रम के निवारणाथ—'समवायित्व' का अभिप्रेत अथ बताते है—**'समवायित्वञ्च' इति।** यहाँ पर 'समवायि' पद से 'समवायप्रतियोगित्व' ही अभिप्रेत है। इस विवक्षित अथ के करने पर अव्याप्ति-दोष नही होता, क्योकि सामान्य और विशेष स्वय समवाय—सम्बन्ध से रहते है। एवञ्च 'समवायित्व' के दो अथ होते है 'एक' समवायानुयोगित्व—और दूसरा समवायप्रतियोगित्व। पहले अथ की विवक्षा करने पर अव्याप्ति दोष होता है, किन्तु दूसरे अथ की विवक्षा करने पर वह दोष नही होता। 'समवायित्व' के प्रथम अथ की दृष्टि से नित्यद्रव्यरूप परमाणुओ मे और आकाश आदि मे अव्याप्ति हो जाती है, क्योकि ये (परमाणु, आकाश) समवाय-सम्बन्ध से कही नही रहते। इस अव्याप्ति को दूर करने के लिये साधम्य (समवायित्व) का परिष्कृत स्वरूप बता रहे है—**'समवेतवृत्ति०' इति।** 'समवेतवृत्तिपदाथविभाजकोपाधिमत्त्वम्'। इसका अथ यह हुआ कि समवेत (समवाय सम्बन्ध से वतमान) घटादि और रूपादिको मे वृत्ति (रहना) ह जिसकी, ऐसा जो पदाथविभाजकोपाधि धम यानी पदाथ का विभाजकोपाधि अर्थात पदाथत्व का साक्षात व्याप्य द्रव्यत्व, गुणत्वादि-रूप धम, उस धमरूप उपाधि से युक्त ही समवायित्व है। ऐसी विवक्षा करनेपर अव्याप्ति दोष नही होगा। इस प्रकार जातिघटित विवरण करने से भूतलादि-चतुष्टय के परमाणुओ मे और आकाशादि पाचो मे अव्याप्ति नही होगी, क्योकि उनमे विवक्षित द्रव्यत्वादि धम अपने अपने सम्बन्ध के अनुसार रहते है। द्रव्यादि चारो का साधम्य 'समवेतसमवेतत्व' (समवेतवृत्तिपदाथविभाजकोपाधिमत्त्व है। अपने कारणस्वरूप कपालादि मे समवेत (समवाय-सम्बन्ध से वतमान) हुए घट-पटादि में समवेत जो पदाथविभाजकोपाधि धम (पदाथत्व का साक्षात् व्याप्य-धम द्रव्यत्व, गुणत्व आदि तद्वत्व = तदयुक्त होना है।) और-द्रव्यादि पाचो का साधर्म्य समवायित्व और अनेकत्व है। ऐसा अथ करने पर नित्यद्रव्यो मे अव्याप्ति नही होगी।

सत्तावन्तस्त्रयस्त्वाद्या[1] गुणादिर्निर्गुणक्रियः ॥१४॥

● आद्य के तीन (द्रव्य, गुण, कर्म) पदार्थों का 'सत्तावत्त्व' समान धर्म है। और गुणादि षट् (गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव) का निर्गुणत्व, निष्क्रियत्व समान धर्म है।

सत्तावन्त इति। द्रव्यगुणकर्मणां सत्तावत्त्वमित्यर्थः ।

॥ इति आद्यपदार्थत्रयसाधर्म्यकथनम् ॥

गुणादिरिति। यद्यपि गुणक्रियाशून्यत्वमाद्यक्षणे घटादावतिव्याप्तं, क्रियाशून्यत्वं च गगनादावतिव्याप्तं, तथापि गुणवदवृत्तिधर्मवत्त्वं कर्मवद-वृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वं च तदर्थः । नहि घटत्वादिकं द्रव्यत्वादिकं वा गुणवदवृत्ति कर्मवदवृत्ति वा, किंतु गुणत्वादिकं तथा, आकाशत्वादिकं तु न पदार्थविभाजकोपाधिः ॥ १४ ॥

॥ इति गुणादिषट्पदार्थसाधर्म्यकथनम् ॥

● द्रव्य, गुण, कर्म ये तीन पदार्थ सत्तावान् हैं, इसी कारण इन तीन पदार्थों का सत्तावत्त्व ही साधर्म्य है। द्रव्य से भिन्न गुणादि षट् पदार्थों का 'निर्गुणत्व' तथा 'निष्क्रियत्व' साधर्म्य है। 'गुण के अत्यन्ताभावत्व' को निर्गुणत्व कहते हैं तथा 'क्रिया के अत्यन्ताभावत्व' को निष्क्रियत्व कहते हैं। इन गुणादि षट् पदार्थों में किसी प्रकार का कोई 'गुण तथा क्रिया' समवाय-सम्बन्ध से नहीं रहती। द्रव्य में तो गुण तथा कर्म समवाय सम्बन्ध से रहता ही है। इस कारण निर्गुणत्व और निष्क्रियत्व 'द्रव्य' के वैधर्म्य हैं। यद्यपि उत्पत्तिक्षण[2] में 'घटादि द्रव्य' भी निर्गुण तथा निष्क्रिय होते हैं, और आकाश, काल, दिक्, आत्मा ये चारों 'विभुद्रव्य' भी क्रियारहित रहते हैं, अतः अतिव्याप्ति होनी चाहिये। तथापि 'निर्गुणत्व' शब्द का अर्थ 'गुणवाले—पदार्थ में नहीं रहनेवाला धर्मत्व' है, तथा 'निष्क्रियत्व' शब्द का अर्थ 'कर्मवाले पदार्थ में नहीं रहनेवाला और पदार्थविभाजकउपाधिमत्त्वधर्म' है।

---

१ आदौ भवा आद्या, अत्र "दिगादिभ्यो यत्" (४।३।५५) इति भावार्थे 'यत्'। द्रव्यगुणकर्माणि सत्तावन्ति। सत्तावत्त्वञ्च समवायसम्बन्धेन बोध्यम्।

२ उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं तिष्ठति' यह नैयायिकों का एक नियम है। आकाशे, कालादौ च विभुपदार्थे क्रियैव न जायते। एवञ्च गुणादीनामुच्यमानं साधर्म्यं द्रव्ये अतिव्याप्तम्, इत्याशङ्का जायते। तामाशङ्कां परिहर्तुं जातिघटितवाक्यं विवक्षया प्रदर्शितम्—'गुणवदवृत्ति' इति।

घटादि द्रव्यों मे रहनेवाले घटत्व, द्रव्यत्व, पथिवीत्व आदि धम, गुणवाले तथा कमवाले में अवत्ति नही है। गुणादिषटपदार्थों मे तो क्रमश गुणत्व, कमत्व, सामान्यत्व विशेषत्व समवायत्व और अभावत्व ये छह धम, गुणवाले तथा कम-वाले पदाथ मे अवृत्ति कहे जाते है, तथा पदाथविभाजक उपाधि भी है। इस कारण उत्पत्तिक्षणावच्छिन्न घटादि मे तथा आकाशादि विभु द्रव्यो में अतिव्याप्ति नही हो पाती। यद्यपि आकाशादि विभु द्रव्य, कमवाले मे अवत्ति ह, तथापि वे (द्रव्य) पदाथविभाजक उपाधिरूप नही है। इस कारण आकशादि मे निष्क्रियत्व साधम्य की अतिव्याप्ति नही हो सकती।

(क्षेपकपाठ)

यद्वा गुणवद्वृत्तित्वे सति कर्मवद्वृत्तित्वे सति वा सत्ताव्याप्यजाति-शून्यभावत्व विवक्षितम्। गुणकर्मणोरव्याप्तिवारणाय गुणवद्वृत्ति-कर्मवद्वृत्तीति वा। पुनस्तत्रैवाव्याप्तिवारणाय सत्ताव्याप्येति। व्याप्तिश्च भेदगर्भा निवेशितेत्यतो न दोष। द्रव्यगुणान्यतरत्वमादाय तत्रैवाव्याप्तिवारणाय जातीति। अभावेऽतिव्याप्तिवारणाय भावत्वमिति। गुण वद्वृत्ति सात्ताव्याप्यजातिर्द्रव्यत्व तच्छून्यत्व पञ्चानामस्त्येव॥ १४॥

● अथवा गुणवाले मे रहनेवाली तथा कमवाले मे रहनेवालो जो सत्ता की व्याप्य 'द्रव्यत्व' जाति है, उससे शून्य 'भावत्व' ही गुणादि (गुण, कम, सामान्य, विशेप, समवाय) पाँचो का साधम्य है। यहा गुण मे तथा कम मे अतिव्याप्ति के निवारण के लिये 'गुणवदवृत्ति' तथा 'कमवदवृत्ति' कहा गया है। केवल 'सत्ता' के ग्रहण करने से पुन गुण, कम मे रहनेवाली अव्याप्ति के वारण के लिये सत्ता-व्याप्यजाति' कहा गया है। यहा व्याप्य व्यापकभाव की व्याप्ति भेदगर्भिता विवक्षित है। अन्यथा समानाधिकरणरूप व्याप्ति को स्वीकार करें तो 'स्व' मे 'स्व व्याप्यत्व' के भी होनेसे 'सत्ता' की व्याप्य जाति 'सत्ता' भी होगी उस 'सत्ता' से शून्य (रहित) गुण, कर्मादि नही है। अत उनमें 'उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी। उस अव्याप्ति के निवारणाथ भेदगर्भित व्याप्ति का निशेश किया गया है। भेदगर्भितव्याप्ति का आकार इस प्रकार होगा—'स्वसमानाधिकरणत्वे सति स्व समानाधिकरणभेदप्रतियोगित्वम'। यहा पर दोनो 'स्व' पदो से व्यापकसत्ता का ग्रहण है। द्रव्य, गुण, कम तीनो पर रहने के कारण 'सत्ता' व्यापक है और 'द्रव्यत्व' केवल 'द्रव्य' ही पर रहने के कारण उसकी (सत्ताकी) दष्टि से व्याप्य है। अत 'द्रव्यत्व' रूप व्याप्यसत्ता का द्रव्य पर भी रहनेवाली व्यापकसत्ता के

साथ सामानाधिकरण्य भी है, और गुण पर रहनेवाली व्यापकसत्ता के अधिकरण रूप गुण मे रहनेवाला जो 'गुणे द्रव्यत्व न' गुण पर द्रव्यत्व नही इत्याकारक जो भेद, उस भेद का प्रतियोगित्व द्रव्यत्व मे होगा, गुण, कम में नही। तो द्रव्यत्व-रूप व्याप्य-सत्ता से शून्य गुण, कर्मादि हो गये। अत गुण-कम आदि मे अव्याप्ति नही होगी। सब का तात्पय यह हुआ कि भेदगर्भितव्याप्ति को मानने से गुण-कम मे अव्याप्ति नही हो पाती। किन्तु सत्ता का व्याप्य द्रव्यत्व, गुणत्व आदि अन्य-तरत्वरूप अखण्डोपाधिधम भी है, उससे शून्य गुणादि नही है। इसकारण लक्षण की अव्याप्ति तो बनी ही रहेगी, तो उसके निवारणाथ 'जाति' पद दिया गया ह। 'अभाव' मे अतिव्याप्ति को हटाने के लिये 'भावत्व' पद दिया गया है। गुणवाले (द्रव्य) मे रहनेवाली सत्ता की व्याप्य जाति 'द्रव्यत्व' है, उससे शून्यत्व अर्थात 'द्रव्यत्व रहितत्व साधम्य' गुणादि पाँचो में है ॥ १४ ॥

❀ सामान्यपरिहीनास्तु सर्वे जात्यादयो मताः ।

सामान्येति । सामान्यानधिकरणत्व सामान्यादीनामित्यर्थ ।

॥ इति सामान्यादिपदाथचतुष्टयसाधर्म्यकथनम् ॥

● सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये सभी सामा य (जाति) से हीन है, अर्थात इन पर 'समवाय' सम्बन्ध से सामान्य (जाति) नही रहता[1]। अर्थात सामान्यादि सब पदार्थो का 'सामा यशून्यत्व' समान-धम (साधम्य) है।

शका—सामा य (जाति) आदि पर भी 'एकाथसमवायसम्बन्ध'[2] से मामा य (जाति) रहता ही है, तब उन्हे (सामान्य आदि को) सामान्य से हीन क्यो

---

१ द्रव्य, गुण, कम ये तीन पदाथ, साधारण प्रतीति के विषय है, किन्तु सामान्य विशेष, समवाय और अभाव ये चार पदार्थ, साधारण प्रतीति के गोचर नही। इस कारण ये चार पदाथ कल्पित है। क्योकि द्रव्य, गुण तथा कम इन क्लृप्त पदार्थो के ये स्वरूप है। जिसकी कल्पना नही की जाती उसको 'क्लृप्त' कहते हैं, और जिसकी कल्पना करते है, उसको 'कल्पित' पदाथ कहते हैं। क्लृप्त पदार्थो मे 'जाति' स्वीकार की जाती है। कल्पित पदाथ में 'जाति' स्वीकार करने के समय पूर्वोक्त व्यक्ति के अभेदादि अनेक दोष आते है जो 'जाति' के प्रतिबन्धक होते है।

२ एकस्मिन अर्थे समवायेन सत्त्वमेकाथसमवाय। जैसे—'एक रूपम्' इस प्रतीति मे गुणस्वरूप 'रूप' में 'गुणेगुणानगीकारात्' नियम के अनुसार उसके

कहा जा रहा है, अर्थात सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव पर जातिरूप धर्म नही है यह कैसे स्वीकार किया जाय ?

समा०—यद्यपि 'एकार्थसमवाय-सम्बन्ध से सामान्यादि पदार्थो पर जाति (सामान्य) रूप धम रहता है जिससे सामान्यादि पदार्थो को भी सामान्यवान (जातिमान) कहा जा सकता है, तथापि उनमे सामान्यनिरूपिता अधिकरणता नही है। क्योकि 'एकार्थसमवायसम्बन्ध' अधिकरणता का नियामक सम्बन्ध नही है। इसी अभिप्राय से सामान्यपरिहीनत्व का परिष्कृत स्वरूप 'सामान्यानधिकरणत्व' बताया है।

॥ इति सामान्यादिपदार्थचतुष्टयसाधर्म्यकथनम ॥

★ **पारिमाण्डल्यभिन्नानां कारणत्वमुदाहृतम् ॥१५॥**

● अणुपरिमाण तथा परम महत्परिमाण से भिन्नो का अर्थात द्रव्य गुण कर्म-सामान्य विशेष समवाय अभाव—इन पदार्थो मे 'कारणत्व' साधर्म्य है।

पारिमाण्डल्येति। पारिमाण्डल्यमणुपरिमाण, कारणत्व तद्भिन्नाना साधर्म्यमित्यर्थ । अणुपरिमाण तु न कस्यापि कारणम्। तद्धि स्वाश्रयारब्ध-द्रव्यपरिमाणारम्भक भवेत्। तच्च न सम्भवति, परिमाणस्य स्वसमान-जातीयस्वोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वनियमान्महदारब्धस्य महत्तरत्ववदणु-जन्यस्याणुतरत्वप्रसङ्गात्। एव परममहत्परिमाणमतीन्द्रियसामान्य विशेषाश्च बोध्या ।

● पारिमाण्डल्य' का अर्थ अणुपरिमाण है[1]। पारिमाडल्य (अणुपरिमाण) से भिन्न पदार्थो का 'कारणतारूप' समानधर्म है। 'पारिमाण्डल्य' शब्द द्व्यणुकपरिमाण का भी उपलक्षक है। जैसे परमाणुपरिमाण किसी भाव कार्य के प्रति कारण नही होता,

---

निर्गुण रहने पर भी एकत्वसंख्यारूप गुण का भान होता है। यद्यपि रूप मे एकत्व-संख्या समवायसम्बन्ध से नही रहती तथापि एकार्थसमवायसम्बन्ध से तो रहती ही है। अर्थात जिस घट आदि मे 'रूप' समवायसम्बन्ध से रहता है, उसी घट आदि मे एकत्व' संख्या भी समवायसम्बन्ध से रहती है। इस कारण 'रूप' और 'एकत्व' का एकार्थसमवायसम्बन्ध हुआ। तथापि इस सम्बन्ध को 'रूप' मे एकत्व-निरूपित अधिकरणता का नियामक नही कहा जा सकता। क्योकि जैसे घट मे रूप के साथ रूपत्व 'स्वसमवायसमवेतत्व' सम्बन्ध से रहता है, वैसे यह नही है।

१ परमाणु तथा द्व्यणुक के परिमाण का नाम 'अणुपरिमाण' है।

वैसे ही द्व्यणुकपरिमाण, मन का परिमाण तथा आकाश, काल दिशा का परम महत्परिमाण और इन्द्रियो से अगोचर परमाणु आदि और जाति तथा विशेष ये सब किसी काय के प्रति कारण नही होते। पूर्वोक्त अणुपरिमाण आदि पदार्थो के बिना बाकी सब पदार्थ किसी न किसी काय के प्रति कारण होते ही हैं[1]। तात्पय यह है कि सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव इन चारो का सामान्यपरिहीनत्व' (सामान्य-शून्यत्व) साधम्य ह, तथा परिमाण्डल्य (अणुपरिमाण) एव द्व्यणुक परिमाण और मन का परिमाण इन सबसे भिन्न परिमाणवाले पदार्थो का 'कारणत्व' साधम्य है।

शका०—किसी काय के प्रति 'अणुपरिमाण' को कारण क्यो नही माना जाता ?

समा०—'अणुपरिमाण' को यदि कारण माना जाय तो स्वाश्रय से आरब्ध

---

१ अणुपरिमाण आदि पदार्थो के बिना बाकी सब पदाथ किसी न किसी काय के प्रति कारण होते हो हैं। इस कारण अणुपरिमाण आदि पदार्थों के बिना बाकी के सब पदार्थों का 'कारणत्व' साधम्य है। पूर्वोक्त अणुपरिमाण आदि कारण नही होते इसमे युक्ति यह ह कि अवयवो का परिमाण अवयवी के परिमाण क कारण होता है। जैसे तन्तु–(अवयव) के परिमाण से पट (अवयवी) का परिमाण उत्पन्न होता है, अत तन्तु का परिमाण पट के परिमाण के प्रति कारण होता ह। और अवयवी का परिमाण (पट का परिमाण) अवयव (तन्तु) के परिमाण की अपेक्षा उत्कृष्ट (स्वरूपादि से श्रेष्ठ) रहता है, यह अनुभव सिद्ध है। यदि परमाणुपरिमाण द्व्यणुक के परिमाण के प्रति तथा द्व्यणुक का परिमाण त्र्यणुक के परिमाण के प्रति कारण हो जायगा तो जैसे तन्तुपरिमाण की अपेक्षा पट का परिमाण उत्कृष्ट (बडा) है, वैसे ही उस परमाणु परिमाण की अपेक्षा द्व्यणुकपरिमाण तथा द्व्यणुकपरिमाण की अपेक्षा त्र्यणुकपरिमाण उत्कृष्ट (अणुतर) होने लगेगा। उसी प्रकार आकाश, काल, दिक का महत-परिमाण भी किसी वस्तु के परिमाण के प्रति कारण नही माना जाता। यदि कारण मान लें तो उस आकाश आदि से अधिक विभु (व्यापक किंवा बडी) ऐसी कोई वस्तु नही है, किन्तु अब ऐसी वस्तु होने लगेगी। परन्तु परमाणु से अणु (सूक्ष्म) वस्तु तथा आकाशादि से बडी कोई भी वस्तु सम्भव नही हो सकती। इस कारण पूर्वोक्त परिमाण किसी काय के प्रति कारण नही है। किन्तु परमाणुगत द्वित्वसख्या ही द्व्यणुक का कारण है।

(उत्पन्न) हुए द्रव्य के परिमाण का उसे आरभक कहना होगा[२] यहा 'स्व' पद से परमाणु के अणुपरिमाण का ग्रहण करना है। तब 'स्वाश्रय' का अथ होगा— 'स्व' = परमाणु के अणुपरिमाण का आश्रय = परमाणु, उससे आरब्ध = उत्पन्न जो 'द्व्यणुक द्रव्य , उसके परिमाण का आरभक (उत्पादक) अणुपरिमाण को ही कहना होगा, परन्तु वह सभव नही होगा, क्योकि परिमाण का यह स्वभाव है है कि वह अपने 'सजातीय उत्कृष्ट परिमाण' का जनक होता है।[१] उत्कृष्टता 'तरप' 'तमप' प्रत्ययप्रयुक्त होती है। जसे—कपाल के महत्परिमाण से आरब्ध हुए घट का परिमाण महत्तर होता है। वैसे ही परमाणु के अणुपरिमाण से उत्पन्न द्व्यणुक का परिमाण 'अणुतर' होगा। और द्व्यणुक के अणुतर परिमाण से उत्पन्न जो त्र्यणुक[२] का परिमाण होगा, वह अणुतम' हा जायगा, तब 'त्र्यणुक' का प्रत्यक्ष न होगा, उससे होनेवाले 'घट' का भी प्रत्यक्ष न हो सकेगा। उसी प्रकार परममहतपरिमाण, अतीन्द्रियसामान्य[३] और विशेष[४] ये भी किसी काय के प्रति कारण नही होते है यह समझना चाहिये। तात्पय यह है कि परिमाण्डल्य के समान इनका भी 'अकारणत्व' साधम्य है। यह कथन योगिप्रत्यक्ष मे विषय को कारण न मानकर ही किया गया है। किन्तु वादी इस रहस्य को न समझकर शका कर रहा है।

शका योगियो को अपने योगबल से परमाणु का तथा आकाश, काल आदि का प्रत्यक्ष होता है तो परमाणु के अणुपरिमाण का तथा आकाश आदि के परम महत्परिमाण का भी प्रत्यक्ष अवश्य होता होगा। 'विषय के प्रत्यक्ष के प्रति 'विषय' कारण होता है।' इस नियम के अनुसार अणुपरिमाण विषयक प्रत्यक्ष, एव परम महत्परिमाण-विषयक प्रत्यक्ष के प्रति उस प्रत्यक्ष का विषय जो 'अणुपरिमाण और परम महत्परिमाण'— उनको 'प्रत्यक्ष' के प्रति विषयविधया कारणता बन जायगी। तब कैसे समझा जाय कि 'अणुपरिमाण' और परम-'महत्परिमाण' किसी भी कार्य के प्रति कारण नही है।[५] अन्यथा जैसे परमाणु

---

१ 'परिमाण स्वसमानजातीयोत्कृष्टपरिमाण जनयति' इति नैयायिक सिद्धान्त।

२ त्रिभिर्द्व्यणुकैरेक त्र्यणुकमारभ्यते इति' न्यायसिद्धान्त।

३ परमाण्वादिनिष्ठ परमाणुत्वादिकमतीन्द्रियसामान्यम।

४ स्वतोव्यावृत्तो विशेषपदाथ।

५ शका—'विषयतासम्बन्धेन प्रत्यक्षत्वावच्छिन्न प्रति तादात्म्यसम्बन्धेन

परिमाण किसी का कारण नही वैसे ही काल दिङ्निष्ठ परममहत्परिमाण, परमाण्वादि पर रहनेवाली परमाणुत्वादि अतीन्द्रियजाति और स्वतोव्यावत्तात्मक विशेष पदाथ ये भी किसी के कारण नही होगे। अत अणुपरिमाण और परममहत्परिमाण मे प्रत्यक्ष के प्रति विषयविधया कारणता हो सकती है।

इदमपि योगिप्रत्यक्षे विषयस्य न कारणत्वम्। ज्ञायमान सामान्य न प्रत्यासत्ति । ज्ञायमान लिङ्ग नानुमितिकरणमित्यभिप्रायेणोक्तम् । आत्ममानसप्रत्यक्षे आत्मपरममहत्त्वस्य कारणत्वात् परममहत्परिमाण कालादेर्बोध्यम् ।

तस्यापि न कारणत्वमित्याचार्याणामाशय इत्यन्ये । तन्न, ज्ञानातिरिक्त प्रत्येवाकारणताया आचार्यैरुक्तत्वात् ॥ १५ ॥

॥ इति पारिमाण्डल्यभिन्नपदाथसाधम्यकथनम ॥

● समा०—पारिमाण्डल्य (अणुपरिमाण आदि) से भिन्न पदार्थों को काय के प्रति कारणता जो बताई गई है, वह नवीन नयायिको के अभिप्राय से ही बताई है। नवीन नैयायिक योगी के प्रत्यक्षज्ञान मे विषय को कारण नही मानते। जैसे 'प्रभा' सूर्योदय के होने मे पूर्वलिग (पूवचिह्न) है, उसी तरह प्रसख्यान का पूवलिङ्ग 'प्रातिभज्ञान' है। अपनी प्रतिभा से उत्पन्न अनौपदेशिक ज्ञान को 'प्रातिभज्ञान' कहते है। इस ज्ञान के द्वारा योगी सब कुछ करतलामलकवत जानता है। योगसूत्रकार पतञ्जलि ने भी "प्रातिभाद्वा सवम"–(यो० सू० ३।३३) सूत्र से यही बताया है कि योगी अपनी समाधिभावना के प्रकर्ष से अतीत अनागत, दूरस्थ सभी वस्तुओ को प्रत्यक्ष करने में समथ रहता

विषयस्य कारणत्वम्' इस नियम के अनुसार योगजसन्निकष से योगिप्रत्यक्ष में विषय को कारण माननेवाले के मत में—योगजसन्निकष से पारिमाण्डल्य के प्रत्यक्ष में **पारिमाण्डल्य,** परममहत्त्व के प्रत्यक्ष मे **परममहत्त्व,** अतीन्द्रियपरमाणुत्व-गुरुत्वादि जाति के प्रत्यक्ष में **परमाणुत्व, गुरुत्व,** विशेषपदार्थ के प्रत्यक्ष मे **विशेष** को विषयविधया कारणत्व होता है। 'अणुपरिमाण आदि कारण नही होते' यह मानना उचित नही है, क्योकि सवत्र प्रत्यक्ष के प्रति प्रत्यक्ष का विषय ही कारण होता है। जैसे—घट-प्रत्यक्ष के प्रति 'घट' ही कारण होता है। वैसे ही योगिजनो के योगाभ्यास के बल से अतीन्द्रिय वस्तु भी (परमाणु आदि उसका परिमाण) प्रत्यक्ष का कारण होती है। तत्तत प्रत्यक्ष के प्रति तत्तत प्रत्यक्ष का तत्तत् विषय (परमाणु आदि) तथा उसका परिमाण कारण होता है। अत पारिमाण्डय आदि में अकारणत्व कहना उचित नही है।

है। योगजधमप्रत्यासत्ति के द्वारा होने वाले योगियो के इस अतीतादि पदाथ-विषयक साक्षात्कार (प्रत्यक्ष) मे जैसे विषय के आस्तित्व (सत्ता) की आवश्यकता नही होती वैसे ही परमाणु परिमाण आदि वतमान विषयो के साक्षात्कार (प्रत्यक्ष) में भी विषय की सत्ता (अस्तित्व) का होना आवश्यक नही है, अर्थात योगियो का प्रत्यक्ष विषयसत्तानिरपेक्ष हुआ करता ह । अत इस प्रकार के योगि-प्रत्यक्ष मे परमाणुपरिमाण को विषयविधया कारणता नही है, अर्थात् परमाणुपरिमाण उसके प्रत्यक्ष का ि षय नही होता ।

शका—योगियो के प्रत्यक्ष ज्ञान मे परमाणुपरिमाण भले ही विषयविधया कारण न हो किन्तु सामान्यलक्षणा[1] से होनेवाले ज्ञान मे और अनुमिति मे परमाणुपरिमाण को कारणता रहती ही है, इस कारण पुनरपि 'पारिमाण्डल्य भिन्नानाम' यह कथन असगत ही रहा ।

समा०—उक्त आशका के समाधानाथ 'ज्ञायमान सामान्यम' इत्यादि ग्रन्थ दिया जा रहा ह ।[2] वतमानकाल का जो ज्ञान, उस ज्ञान का विषयभूत जो सामान्य,

१ सामा यलक्षणाप्रत्यासत्ति' के बल पर (गोमात्र को गोत्वस्वरूप जान लेना इस प्रकार जाति के बल पर) जातिमान सवगोविषयक अलौकिक प्रत्यक्ष (नही देखी हुई भी गौओ का प्रत्यक्ष) जसे होता है, वैसे ही इन्द्रियो से अगोचर (अविषय) परमाणु आदि का उनकी जाति के सहित ज्ञान योगिजनो को अपने योगाभ्यास के बल से होकर उस जाति के योग से तत्तत जातिमान परमाणु आदि का प्रत्यक्ष होता है। इस कारण प्रत्यक्ष के प्रति अतीन्द्रिय जाति भी कारण होती है।

२ 'सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति से प्रत्यक्ष होता है', यह कहना तो ठीक है, परन्तु उसका तात्पय यह है कि सामान्य (जाति) का ज्ञान ही उस प्रत्यक्ष के प्रति कारण ह, सामान्य' (जाति) कारण नही है। तात्पय यह है कि केवल लौकिक प्रत्यक्ष के प्रति ही (पाँच प्रकार के सन्निकष से होनवाले प्रत्यक्ष के प्रति) 'विषय' कारण होता है। परन्तु योगी के प्रत्यक्ष के प्रति (अलौकिक प्रत्यक्ष के प्रति) विषय को कारण कहना स्वीकार नही है। यदि स्वीकार करें तो योगियो के योगाभ्यास से भूत, भविष्यत् सब पदाथ, विषय के सहित उन्हे प्रत्यक्ष होते है सो बात नही, क्योकि उस प्रत्यक्ष के समय उस प्रत्यक्ष के प्रति उसे कारण कहे तो जो भूत, भविष्यत पदार्थरूप विषय, जिनका होना वतमान मे सभव ही नही है, उनके न रहने पर भी उन्हे कारण नही कहा जा

उसे 'ज्ञायमानसामान्य' कहते है। उसी प्रकार वतमानकालिकज्ञान का विषयभूत जो लिङ्ग (हेतु) उसे 'ज्ञायमानलिङ्ग' कहते ह। नवीन नैयायिको का यह सिद्धान्त है कि 'विशेष' पदाथ पथिव्यादिपरमाणुओ का भेदक नही है, अपितु 'विशेष' का ज्ञान उन परमाणुओ का भेदक ह। उसी प्रकार 'ज्ञायमानसामान्य' प्रत्यासत्ति (अलौकिकसन्निकष) नही ह, कि तु सामान्यज्ञानमात्र सामा यलक्षणाप्रत्यासत्ति है।[1] उसी प्रकार ज्ञायमान लिङ्ग,

---

सकता। अत योगी के प्रत्यक्ष के प्रति विषय कारण नही है। इसी अभिप्राय से उक्त चारो मे अकारणत्व बताया गया है। अत पारिमाण्डल्य आदि मे अकारणत्व प्रतिपादक ग्रन्थ अनुचित नही है।

प्राचीनो के मत मे ज्ञात हुआ (जाना हुआ) हेतु अनुमिति के प्रति कारण होता है। (नवीनो के मत मे हेतु का ज्ञान कारण होता है)। प्राचीनो के अनुसार उदाहरण—'पवतो वह्निमान धूमात्' इस स्थल मे (पवतस्वरूपी पक्ष मे धूमस्वरूपी हेतु से अग्निस्वरूपी साध्य साधा जाता है) धूम उस अनुमिति के प्रति कारण है। उसी प्रकार यदि हम 'अणपरिमाण' को हेतु बनाकर प्राचीन मत को प्रमाण कहे तो अणुपरिमाण, अनुमिति के प्रति कारण हो जायगा। इसलिये पूर्वोक्त 'अणुपरिमाण आदि कारण नही होते' यह मानना उचित नही है।

१ ज्ञायमानसामान्य को अलौकिक प्रत्यक्ष मे सन्निकष के रूप में कारण (प्रयोजक) माननेवाले के अनुसार परमाणुत्वेन सकलपरमाणुविषयक मानम प्रत्यक्ष में अतीन्द्रियपरमाणु जाति (सामान्य) को भी परमाणुत्वसामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति (सन्निकष) द्वारा कारण मानाजाता है। 'सामान्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'समानाना भाव सामा यम्' के अनुसार 'सामान्य' शब्द से परिमाण्डल्य (अणुपरिमाण) का भी ग्रहण होता है। अत 'परमाणु अणुपरिमाणवान' यह ज्ञान होने के पश्चात 'सर्वे परमाणव अणुपरिमाणवन्त' इत्याकारक अलौकिक परमाणु परिमाणविषयक प्रत्यक्ष 'सामान्यलक्षणाप्र यासत्ति' से हो जाता है, क्योकि अलौकिकसम्बन्ध से परमाणु परिमाण कारण होता है। इसी प्रकार 'सवगत आत्मा परममहत्परिमाणवान' यह प्रत्यक्ष होने के पश्चात् 'सर्वे सवगता कालादय परममहत्परिमाणवन्त' यह अलौकिक मानसप्रत्यक्ष सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति' से होता है। क्योकि वहा अलौकिकसम्बन्धरूपेण परममहत्परिमाण का कारणता ह। इसी प्रकार 'नित्यद्रव्य विशेषवत' यह ज्ञान होने के बाद 'सर्वाणि नत्यद्रव्याणि विशेषवन्ति' यह अलौकिक विशेषविषयक प्रत्यक्ष, 'सामान्यलक्षणा

अनुमिति का कारण नही, किन्तु लिङ्गज्ञानमात्र ही अनुमिति का कारण (हेतु) है।[1]

प्राचीन नैयायिक, परमाणुपरिमाण को भी योगिप्रत्यक्ष मे विषयविधया कारण मानते है। तदनुसार 'परमाणु अणुपरिमाणवान' इत्याकारकज्ञान होने के अनन्तर 'सर्वे परमाणव अणुपरिमाणवन्त इत्याकारक परमाणुपरिमाण-विषयक अलौकिक प्रत्यक्ष, सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति से होता है। इस अलौकिक सम्बन्ध से परमाणु परिमाण भी प्रत्यक्ष का कारण बन जाता है। दूसरी बात यह है कि परमाणु द्रव्यम् अणुपरिमाणात' इस अनुमिति मे अणुपरिमाण की कारणता स्पष्ट ही है। अत मूलकार ने अणुपरिमाण की कारणता का जो निषेध किया ह वह नवीनो की दृष्टि से ही किया है।

'आत्ममानस'' इति। 'सुखी अहम, दु खी अहम, ज्ञानवानहम, इच्छावानहम्' इत्याकारक आत्मविषयक मानसप्रत्यक्ष मे आत्मा के परममहतपरिमाण की भी कारणता स्पष्ट प्रतीत होती है, क्योकि 'द्रव्यीयलौकिकप्रत्यक्ष प्रति समवायेन महत्त्व कारणम'—किसी द्रव्य के लौकिक प्रत्यक्ष मे 'महत्त्व' को समवाय-सम्बन्ध से कारणता मानी जाती है। इस नियम के अनुसार आत्मनिष्ठ परममहत्परिमाण को छोडकर आकाशादिनिष्ठ परममहत्परिमाण को कारण नही माना जाता। अर्थात् कारणताशून्य परममहत्परिमाण आकाशादिको का ही समझना चाहिये। कतिपय नैयायिक उदयनाचाय के आशय को अपनी बुद्धि के अनुसार लगाकर आत्मा के महत्परिमाण को भी कारण नही मानते। किन्तु यह उनका कथन ठीक नही ह, क्योकि ज्ञान के अतिरिक्त कार्यो के प्रति आत्ममहत परिमाण की कारणता के निषेध मे ही उदयनाचाय का आशय है अर्थात आत्मवत्ति परममहत्परिमाण, ज्ञान के प्रति कारण

प्रत्यासत्ति' से होता है। क्योकि अलौकिकसम्बन्ध से वहा 'विशेष' पदाथ कारण के रूप मे रहता है।

१ 'ज्ञायमान हेतु (ज्ञायमान लिग) अनुमिति के प्रति कारण नही होता, अपितु उस 'हेतु का ज्ञान' (लिगज्ञान) ही अनुमिति के प्रति कारण होता है। इसलिए पूर्वोक्त परमाणु आदि जो कहे है, वे किसी भी काय के प्रति कारण नही होते। इनके अतिरिक्त सभी पदाथ कारण होते है यह स्पष्ट हो जाता है। एव च पूर्वोक्त अणुपरिमाण आदि के विना बाकी सभी पदार्थों का 'कारणत्व' ही साधम्य है।

होता ह, ज्ञान-भिन्न (ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कार्यो) के प्रति कारण नही होता[१] ।१५।

★ अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववर्तिता ।
कारणत्वं भवेत्तस्य त्रैविध्यं परिकीर्तितम् ॥१६॥
समवायिकारणत्वं ज्ञेयमथाप्यसमवायिहेतुत्वम् ।
एव न्यायनयज्ञैस्तृतीयमुक्तं निमित्तहेतुत्वम् ॥१७॥
यत्समवेतं कार्यं भवति ज्ञेयं तु समवायिजनक तत् ।
तत्रासन्नं जनकं द्वितीयमाभ्या परं तृतीय स्यात् ॥१८॥

● अन्यथासिद्धिशून्यस्य[२] = अन्य प्रकार से जिसकी सिद्धि नही होती । नियता=अवश्यभाविनी । पूर्ववर्तिता=काय के पूव जो हो उसे 'पूववर्ती' कहते

---

१ यद्यपि महत परिमाणो मे आत्मा का महत्परिमाणमात्र ('ज्ञानवानहम, इच्छावानहम') इस आत्मविषयक मानस प्रत्यक्ष के प्रति कारण होता ही है, क्योकि 'द्रव्यीयलौकिकप्रत्यक्षम्प्रति समवायेन महत्त्व कारणम' यह नियम है । इसलिये आत्मा के परम महत्परिमाण को छोडकर आकाशादि निष्ट परम महत्परिमाण मे किसी के प्रति कारणता नही होनी चाहिये । तथापि इस विषय में कुछ विद्वान नैयायिक—श्रीमदुदयनाचाय के ग्रन्थ 'कारणत्व च ज्ञातधर्मेतरकार्यापेक्षया' का ऐसा अभिप्राय निकालते है कि 'ज्ञान को छोडकर (ज्ञानातिरिक्त) अन्य किसी काय के प्रति पूर्वोक्त अणुपरिमाण आदि कारण नही होते' । तथा 'आत्मा का परममहत्परिमाण भी किसी काय के प्रति कारण नही ह' किन्तु वे इस ग्रन्थ को नही समझ पाते । उस ग्रन्थ को इस प्रकार समझना चाहिये—'ज्ञान के प्रति (मानस प्रत्यक्ष के प्रति) आत्मा का परिमाणमात्र कारण होता है' ऐसा आचाय का अभिप्राय ह । पूर्वोक्त 'कारणत्व ज्ञातधर्मेतरकार्यापेक्ष' इस ग्रन्थ का अथ अन्य आचार्यो के मत मे अणुपरिमाण आदि सभी, ज्ञान के प्रति कारण होते ह, किन्तु ग्रथकार कहते ह कि आत्मा का परममहत्परिमाणमात्र ज्ञान के प्रति कारण होता ह, ज्ञान के अतिरिक्त मे कारण नही होता यह आचाय का आशय ह ।

२ 'अन्यथासिद्धिशू यस्य' यहा 'षष्ठी' विभक्ति का अथ 'निष्ठत्व' ह । इसलिए 'कारणत्व' के लक्षण को इस प्रकार कहना होगा—'अन्यथासिद्धिशू य—निष्ठा या अवश्यभाविनी पूववर्तिता अर्थात कार्योत्पत्त्यव्यवहिते पूवस्मिन क्षणे

है और उसके धम को 'पूववर्तिता' कहते है। काय के पूव केवल 'कारण' वतमान रहता है, अत 'पूर्ववर्तिता' का अथ हुआ 'कारणता'। **समवेतम्** = समवाय सम्बन्ध से वतमान। (जैसे— अयवयी' का 'अवयवो' में स्थित जो सम्बन्ध वह 'समवाय' सम्बन्ध है,) **तत्र**=समवायिकारण मे **आसन्नम्** = सम्बद्ध (समवायसम्बन्ध से स्थित)। **द्वितीयम्** = असमवायिकारण। **जनकम्** = कारण। **आभ्या परम्** = इन दो को छोड अर्थात समवायिकारण तथा असमवायिकारण से अन्य। **तृतीयम्** = निमत्तकारण।

जो अ यथासिद्धि से शून्य हो अर्थात जिससे होनेवाला काय किसी अन्य प्रकार से न हो सके। और कार्योत्पत्ति के पूव जो नियम से रहनवाला हो, उसे 'कारण' कहते ह। वह कारण तीन प्रकार का है ॥ १६ ॥

प्रथम का नाम 'समवायिकारण' ह, द्वितीय का नाम 'असमवायिकारण' है, और ततीय का नाम न्यायशास्त्र के विद्वानो ने 'निमित्तकारण' बताया है ॥१७॥

जिसमे समवायसम्बन्ध से काय उत्पन्न हो उमे 'समवायिकारण' कहते ह।[1] उस समवायिकारण मे समवेत होकर जो काय को पैदा करनेवाला हो, उसे

कार्याधिकारणवृत्तिता, तदेव कारणत्वम। कार्योत्पत्ति से अव्यवहित पूववर्तिता नो कदाचित आनेवाले रासभ (गधा) मे भी हो सकती है तो उसे भी घटोत्पत्ति मे कारण कहना होगा। अत इस अतिव्याप्ति के निवारणाथ कारिका मे 'नियता' कहा गया ह। किन्तु यह नियत पूवर्वतिता 'दण्डत्व' मे भी रहती है। दण्ड की तरह 'दण्डत्व' भी नियमेन घटादिकार्योत्पत्ति के पूववर्ती रहता है। अत 'दण्डत्व' मे 'कारण' के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणाथ कारिका मे 'अन्यथासिद्धिशून्यस्य' कहा गया है। एवच 'कारणत्व' का परिष्कृत लक्षण यह हुआ— 'अनन्यथासिद्धनियतपूववर्तित्व कारणत्वम्'। इस लक्षण के अनुसार 'दण्ड' घट के प्रति कारण है। न्याय की भाषा मे इसी लक्षण को इस प्रकार कह सकते है—'अनन्यथासिद्धकार्याव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन कार्याधिकरणवृत्यत्यन्ताभावप्रतियोगितानवच्छेदकधमवत्त्व कारणत्वम्'।

१ यस्मिन समवेतम् = यत्समवतम। अर्थात यस्मिन समवेतम् = समवायसम्बन्धेन वतमान सत कायमुत्पद्यते, तत्समवायिजनक = समवायिकारण ज्ञातव्यम।

'असमवायिकारण कहते हैं।'[1] इन दोनो कारणो से भिन्न जो कारण है, उसे 'निमित्तकारण' कहते हैं[2] ॥ १८ ॥

नन्‌ कारणत्व किम् ? अत आह—अन्यथासिद्धीति।

तस्य कारणत्वस्य ॥ १६, १७ ॥

इति प्रासङ्गिककारणत्वनिरूपणम।

—०—

तत्रेति। समवायिकारणे आसन्न प्रत्यासन्न कारण द्वितीयमसम-

एवञ्च—'समवायसम्बन्धेन कार्यवत्त्व समवायिकारणत्वम। जैसे— तन्तुओं में समवायसम्बन्ध से ही पट की उत्पत्ति होती है, इसलिये तन्तु 'पट' के समवायिकरण कहे जाते हैं।

१ समवायि-कारण में आसन्न=सन्निहित जो कारण उसे 'असमवायिकारण' कहते हैं। असमवायिकारण दो प्रकार का हैं। पहला, घट पटादि कार्य के साथ एक तन्तुरूप अर्थ मे समवायसम्बन्ध से रहता हुआ जो कारण बने वह पहले प्रकार का असमवायिकारण है। जैसे—घटादिरूप कार्य समवायसम्बन्ध से 'दो कपालो' मे रहता है और उसी मे 'कपालद्वयसयोग' भी समवाय से रहता है, क्योकि 'गुण गुणिनो समवाय' यह नियम है। अत जन्यद्रव्य के प्रति अवयवसयोग को असमवायिकारण कहा गया है। दूसरे प्रकार का असमवायिकारण— जो कारण अपने कार्य के समवायिकारण के साथ एक अर्थ मे समवाय-सम्बन्ध से सम्बद्ध होकर कारण होता है, उसे भी असमवायिकारण कहते हैं। जैसे 'पटरूप' के प्रति तन्तुरूप 'असमवायिकारण, होता है। 'तन्तुरूप' का कार्य 'पटरूप' है, उसका 'समवायिकारण पट' है, वह समवाय सम्बन्ध से 'तन्तुओ' मे रहता है और वही पर 'तन्तुरूप' भी समवायसम्बन्ध से रहता है, इसलिये पटरूप के प्रति तन्तुरूप को असमवायिकारण कहा जाता है।

२ जो जिस कार्य की उत्पत्ति से पहिले नियम से रहता हो, और अन्यथा सिद्ध नही हो, (जो आवश्यक हो) वह उस कार्य के प्रति कारण

वायिकारणमित्यर्थः ।[1]

अत्र यद्यपि तुरीतन्तुसयोगाना पटासमवायिकारणत्व स्यात् । एव वेगादीनामभिघाताद्यसमवायिकारणत्व स्यात् । एव ज्ञानादिकमपीच्छाद्यसमवायिकारण स्यात् । तथापि पटासमवायिकारणलक्षणे तुरीतन्तुसयोगभिन्नत्व देयम् । तुरीतन्तुसयोगस्तु तुरीपटसयोग प्रत्यसमवायिकारण भवत्येव । एव वेगादिकमपि वेगस्पन्दाद्यसमवायिकारण भवत्येवेति । तत्तत्कार्यासमवायिकारणलक्षणे यत्तद्भिन्नत्व देयम् । आत्मविशेषगुणाना तु कुत्राऽप्यसमवायिकारणत्व नास्ति तेन तद्भिन्नत्व सामान्यलक्षणे देयमेव ।

● पञ्चदशवी (१५ वी) कारिका मे 'कारण वमुदाहृतम' कहा गया था । अत 'कारणत्व' (कारणता) पदाथ क्या ह ? यह जिज्ञासा होती है, उसके समाधानाथ ग्रन्थकार स्वय अन्यथासिद्धि' इत्यादि ग्रन्थ से 'असमवायिकारण के

होता है । यह कारण, समवायिकारण, असमवायिकारण तथा निमित्तकरण के भेद से तीन प्रकार का है । कायमात्र के ये ही तीन कारण होते ह । जैसे—'घट' एक काय है, उसका निमित्तकारण 'दण्ड' 'कुलाल' प्रभति है, 'कपाल,' 'कपालिका ये समवायिकारण है, और 'कपाल कपालिका का सयोग' असमवायिकारण ह । कही कही समवायिकारण के नाश होने पर काय भी नष्ट हो जाता ह । जैसे—'कपालद्वय के नाश से 'घट का नाश होता ह । कही कही 'असमवायिकारण' के भी नाश होने पर काय नष्ट हो जाना है । जैमे—परमाणु द्वयसय ग के नाश से द्वयणुक का नाश । परन्तु निमित्तकारण के नाश होने से कभी भी काय का नाश नही होता । साधारण तथा असाधारक भेद से पुन 'कारण' दो प्रकार का है । 'कपाल' और 'कपालिका' का सयोग तथा कुलालादि ये 'घट' के असाधारण कारण है । और ईश्वर का ज्ञान इच्छा, यत्न काल, प्रागभाव, अदृष्ट, य कायमात्र के प्रति साधारण कारण है । उन तीनो मे से समवायिकारण का लक्षण इस प्रकार बताया गया है जिस द्रव्य मे जो काय समवाय सम्ब ध से उत्पन्न होता है, वह द्रव्य, उस काय के प्रति समवायिकारण होता है ।

१ असमवायिकारण का लक्षण—आत्मा के विशेष सज्ञक गुण के बिना बाकी जो कोई गुण किवा कम, जिस काय के साथ अथवा जिस काय के समवायिकारण के साथ किमी एक द्रव्य मे समवाय सबध मे रहकर जो काय उत्प न करे, वह गुण किवा कम, उस काय के प्रति असमवायिकारण होता है ।

लक्षण पर आक्षेप कर रहे है—यद्यपि यहा 'असमवायिकारण के लक्षणानुसार 'तुरीत तु सयोग' को पट का असमवायिकारण होना चाहिये। क्योकि तुरी—त तुसयोग, पट के समवायिकारणभूत तन्तुओ मे रहता ह, और पट का कारण भी है।[1]

शका—वेग, अभिघाताख्य सयोग का असमवायिकारण हो जायगा। क्योकि 'वेग' अभिघाताख्य सयोग के समवायिकारण मे समवायसबध से रहता ह और अभिघात का कारण भी ह। जिस द्रव्य मे वेग उत्पन्न होगा, वह वेग उसी द्रव्य मे अभिघाताख्य सयोग को उत्पन्न करेगा। और स्पश नोदनाख्य सयोग का असमवायिकारण हो जायगा। तथा ज्ञान, इच्छा का और 'इच्छा' प्रवत्ति की भी असमवायिकारण हो जायगी क्योकि ज्ञान, इच्छा के समवायिकारणस्वरूप 'आत्मा' मे समवायसम्ब ध से रहता है और इच्छा का कारण भी ह क्योकि ज्ञान हाने पर ही इच्छा होती है। यहा 'आदि' पद 'प्रयत्न' का भी सग्राहक है। किन्तु यह ध्यान मे रखना होगा कि 'आत्मा' के विशेषगुण किसी के भी असमवायिकारण नही होते। अत उपयुक्त असमवायिकारण के लक्षण की उपयुक्त तत्तत स्थलो मे अति व्याप्ति होने लगेगी। अर्थात पट के असमवायिकारण लक्षण की तुरी तन्तु सयोग मे अतिव्याप्ति और अभिघात के असमवायिकारणलक्षण की वेग मे अतिव्याप्ति होगी।

(समाधान)—तत्तत कार्यो के असमवायिकारण लक्षणो मे 'तत्तदभिन्नत्व' विशेषण देना चाहिये। लक्षण का आकार इस प्रकार होगा—'तुरीतन्तुसयोग भिन्नत्वे सति पट समवायिकारणे प्रत्यासन्नत्वे सति (तन्तुसमवेतत्वेसति) पटकार्यजन कत्व (पटकारणत्व) पटासमवायिकारणत्वम। 'चक्रकपालसयोगभिन्नत्वेसति

१ तुरीतन्तुसयोग भी अनुयोगित्वरूप से तन्तुसमवेत है, और 'पट' रूप काय का जनक भी है, अत उक्त लक्षण का लक्ष्य होने से 'तुरीतन्तुसयोग' भी 'पट' के प्रति असमवायिकारण हो सकता है।

शका—'तुरीतन्तुसयोग को भी 'पट' के असमवायिकारण के लक्षण का लक्ष्य ही मानलें तो क्या दोष है?

समा०—नैयायिको ने असमवायिकारण के नाश से काय का नाश माना है। यदि 'तुरीतन्तुसयोग' भी 'पट' का असमवायिकारण होगा, तो उस के नाश से भी पट का नाश होने लगेगा किन्तु ऐसा होता नही, इस कारण 'तदभिन्नत्व'= का निवेश करना चाहिये।

घटसमवायिकारणे प्रत्यासन्नत्वे सति (कपालसमवेतत्वेसति) घटकायजनकत्व (घटकारणत्व) घटासमवायिकारणत्वम् ।' इसी प्रकार 'यन्त्रकाष्ठसयोगभिन्नत्वेसति काष्ठखण्डसमवेतत्वेसति यत काष्ठपुत्तलिका-कारण' तत काष्ठपुत्तलिकाया असमवायिकारणम ।' अभिप्राय यह है—तन्तुओ मे समवेत और तुरीतन्तु सयोग से अन्य होकर 'पट' का कारण होना ही पट का असमवायिकारण ह। तुरी तन्तुसयोग तो तुरीपटसयोग के प्रति असमवायिकारण है ही, एव वेगादि सस्कार भी स्पन्दादि के प्रति असमवायिकारण है। तुरी त तुसयोग के बिना जो गुण किंवा क्रिया पटरूपी काय के साथ रहकर और समवाय सम्बन्ध से त तुस्वरूपी द्रव्य मे रहती हुई पटस्वरूपी काय को उत्पन्न करती है तब वह गुण किंवा क्रिया 'पट' के प्रति असमवायिकारण होती है। प्रथम जाना जाता है, अनन्तर इच्छा होती है, तदनन्तर यत्न होता है, यह क्रम है। इस प्रतीति मे ज्ञान, इच्छा के प्रति असमवायिकारण है और इच्छा, य न के प्रति असमवायिकारण हैं परन्तु यह बात हो नही पाती, क्योकि 'आत्मा के विशेष गुण ज्ञान, इच्छा आदि, किसी के प्रति असमवायिकारण होते ही नही, ऐसा नैयायिको का सिद्धान्त है किंतु असमवायिकारण का सामान्य लक्षण आत्मा के ज्ञान, इच्छा आदि विशेष गुणो मे प्रसक्त हो रहा है। इस अति-प्रसक्ति के निवारणाथ असमवायिकारण के इस सामान्य लक्षण मे तत-तत विशेषगुणों का निषेध किया गया ह। अर्थात 'आत्मविशेषगुणभिन्नत्वेसति' ऐसा निवेश करते हुए लक्षण बनाना चाहिये। एवञ्च 'ज्ञानादिभिन्नत्व' यह विशेषण, असमवायिकारण के सामान्य लक्षण मे अवश्य देना ही चाहिये। असमवायिकारण के सामान्य लक्षण का आकार यह होगा—'आत्मविशेषगुण-भिन्नत्वे सति समवायिकारणप्रत्यासन्न कारणम्—असमवायिकारणम।' 'आत्म विशेषगुणभिन्नत्व का निवेश करने से इच्छा आदि के प्रति ज्ञानादि को तथा अनुमिति के प्रति परामश को असमवायिकारणता नही हो पाती। प्रत्येक काय के असमवायिकारण में निमित्त कारण तथा समवायिकारण का जो परस्पर सयोग ह, उस से भिन्नत्व का निवेश करना चाहिये। एव आत्मा के ज्ञानरूप विशेप गुण के प्रति आत्ममन सयोग को असमवायिकारणता तो अवश्य ही माननी होगी। और वही आत्ममन सयोग, यदि अन्य विशेष गुणो का भी असमवायिकारण बन सके तो 'आत्मविशेषगुणो' को परस्पर एक दूसरे के प्रति तथा किसी गुणातर के प्रति असमवायिकारण मानना व्यथ है।

अत्र समवायिकारणे प्रत्यासन्न द्विविध कार्यैकार्थप्रत्यासत्त्या कारणैकार्थप्रत्यासत्त्या च। आद्य यथा—घटादिक प्रति कपालसयोगादिकमसमवायिकारणम्। तत्र कार्येण घटेन सह कारणस्य कपालसयोगस्यैकस्मिन्कपाले प्रत्यासत्तिरस्ति। द्वितीय यथा—घटरूप प्रति कपालरूपमसमवायिकारणम्। तत्र स्वगतरूपादिक प्रति समवायिकारण घट तेन सह कपालरूपस्यैकस्मिन्कपाले प्रत्यासत्तिरस्ति। तथा च क्वचित्समवायसम्बन्धेन क्वचित्स्वसमवायिसमवायसम्बन्धेनेति फलितोऽर्थ।

इत्थ च कार्यैकार्थकारणैकार्थान्यतरप्रत्यासत्त्या समवायिकारणे प्रत्यासन्न कारण ज्ञानादिभिन्नमसमवायिकारणमिति सामान्यलक्षण पर्यवसन्नम्।

असमवायिकारण उसे कहते है जो कारण 'समवायिकारण' मे रहे। वह असमवायिकारण, समवायिकारण मे दो प्रकार से रहता ह। प्रथम प्रकार यह है 'कार्यैकाथप्रत्यासत्त्या' काय के साथ एक अथ (अधिकरण) मे रहना। जैसे—'घट' रूपकाय के साथ 'कपालद्वय सयोग' रूप कारण, एक अर्थ (कपाल) मे रहता है। अर्थात घटरूपकाय भी अपने समवायिकारणरूप 'कपाल' मे रहता है, और उसी कपालरूप एक अधिकरण मे 'कपालद्वयसयोग' भी एकाथसमवतत्वसम्ब ध से रहता है। इस कारण 'कपालसयोग घटकाय के प्रति—'कार्यैकाथप्रत्यासत्ति' द्वारा 'असमवायिकारण' हो जाता ह। दूसरा प्रकार यह है—'कपालरूप',घटरूप के प्रति असमवायिकारण होता ह। यहा पर अपने रूप के प्रति समवायिकारण 'घट' ह। उस 'घट' के साथ कपालात्मक एक अधिकरण मे रूप का परम्परया 'एकाथसमवेतत्व' सम्बन्ध है ही। उसी प्रकार पटरूप के प्रति 'तन्तुरूप' की भी असमवायिकारणता समझनी चाहिये। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि 'प्रत्यासन्न' शब्द का अथ ह काय के साथ असमवायिकारण का सामानाधिकरण्य। वह सामानाधिकरण्य दो प्रकार से होता है एक तो 'कार्यैकाथरूप' और दूसरा 'कारणैकाथरूप'। अत कार्यैकाथप्रत्यासत्त्या' का अथ हुआ 'काय के साथ एकाधिकरणसम्बन्ध से। 'कारणैकाथप्रत्यासत्त्या' का अथ हुआ 'कारण के साथ एकाधिकरण सम्बन्ध से'। 'घट' के प्रति 'कपालद्वयसयोग' असमवायिकारण है, उस असमवायिकारण (कपालद्वयसयोग) में रहने वाली कारणता का नियामक सम्बन्ध होगा 'समवाय', क्योकि 'सयोग' गुण है

और 'कपाल' द्रव्य (गुणी) है। **गुण गुणी का समवायसम्बन्ध होता है—** यह नैयायिको का सिद्धान्त है। उसी तरह 'घटरूप' के प्रति 'कपालरूप' असमवायिकारण है। उसमे (असमवायिकारण बने हुए कपालरूप मे) रहने वाली कारणता का नियामकसम्बन्ध होगा 'स्वसमवायिसमवाय'। यहा 'स्व' शब्द से 'कपालरूप' को लेना चाहिये। उसका (कपालरूप का) समवायि होगा कपाल, उस कपाल मे समवाय 'घट' का भी है क्योकि अवयवावयविनो सम्बन्ध समवाय' यह नैयायिकों का नियम है। अर्थात कपालात्मक समवायिकारण मे घट' समवेत है (समवायसम्बन्ध से रहता है)। एवच 'स्वसमवायि समवेतत्व' सम्बन्ध से कपालरूप को 'घट' मे मानकर उसे 'घटरूप' के प्रति असमवायिकारण कहा जाता है। नैयायिको का यह सिद्धान्त है कि 'कार्य-कारणभाव' समानाधिकरणवाले पदार्थो का ही होता है। अर्थात व्यधिकरणवाले (भिन्न भिन्न अधिकरण मे रहने वाले) पदार्थो का कार्यकारणभाव नही हुआ करता। जैसे – घट और कपालद्वयसयोग इन दोनो का कपालात्मक एक अधिकरण मे साक्षात समवाय सम्बन्ध से सामानाधिकरण्य है। उसी तरह कपालरूप और घटरूप इन दोनो का भी कपालात्मक एक अधिकरण मे सामानाधिकरण्य है। उपर्युक्त दोनो उदाहरणो मे अन्तर इतना ही है कि एक का सामानाधिकरण्य 'साक्षात' है, दूसरे का 'परम्परया' है। 'घट' मे 'घटरूप' साक्षात 'समवाय' सम्बन्ध से रहता है, किन्तु 'कपालरूप', 'घट' मे परम्परया 'स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से रहता है। यदि ऐसा नही मानेगे तो 'कपालरूप' कपाल मे और 'घटरूप' घट मे रहने से दोनो (कपालरूप और घटरूप) व्याधिकरण है, इस कारण दोनो का कार्य कारणभाव नही हो सकेगा।

इतना समझाने के बाद ग्रन्थकार स्वय असमवायिकारण का निष्कृष्ट लक्षण 'इत्थञ्च' ग्रन्थ से बता रहे है। 'कार्य के साथ अथवा कारण के साथ समवायि कारणरूप एक अर्थ में अन्यतर (दोनो मे से किसी एक) प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) से रहनेवाला जो ज्ञानादिभिन्न कारण, उसे असमवायिकारण कहते है।' यहा पर 'कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति'=समवायसम्बन्ध और 'कारणैकार्थप्रत्यासत्ति' = स्वसमवायि-समवेतत्व सम्बन्ध को समझना चाहिये।

☉ आभ्या समवायिकारणासमवायिकारणाभ्या पर भिन्न कारण तृतीय निमित्तकारणमित्यर्थ ॥ १८ ॥

इति निमित्तकारणत्वनिरूपणम्।

— —

अब 'निमित्तकारण के लक्षण को बताते ह—'आभ्यामिति ।' समवायिकारण तथा असमवायिकारण इन दोनो से भिन्न जो कारण, वह निमित्तकारण' नाम का ततीय कारण ह । जैसे—घट के प्रति दण्डआदि, और पट के प्रति तुरी, वेमा आदि निमित्तकारण ह । सूत्रवेष्टित नली को 'तुरी', और बुनने के दण्डे का 'वेमा कहते ह ॥ १८ ॥

इति निमित्तकारणत्वनिरूपणम ।

—०—

* येन सह पूर्वभावः कारणमादाय वा यस्य ।
अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम् ॥ १९ ॥
जनकं प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते ।
अतिरिक्तमथापि यद्भवेन्नियतावश्यकपूर्वभाविनः ॥२०॥
एते पञ्चान्यथासिद्धा दण्डत्वादिकमादिमम् ।
घटादौ दण्डरूपादि द्वितीयमपि दर्शितम् ॥ २१ ॥
द्वितीयं तु भवेद्व्योम कुलालजनकोऽपरः ।
पञ्चमो रासभादिः स्यादेतेष्वावश्यकस्त्वसौ ॥ २२ ॥

इदानीमन्यथासिद्धत्वमेव कियता पदार्थानामत आह—येनेति । यत्कार्यं प्रति कारणस्य पूर्ववृत्तिता येन रूपेण गृह्यते कार्यं प्रति तद्रूप मन्यथासिद्धमित्यर्थ । यथा घट प्रति दण्डत्वमिति ।

इति प्रथमा यथाऽसिद्धनिरूपणम ।

—०—

● 'कारण' के लक्षण मे 'अन्यथासिद्धिशून्यत्व कहा गया था । अत जिज्ञासा होती है कि वह अन्यथासिद्धत्व' क्या है ? और वह कितने प्रकार का ह ? इस जिज्ञासा के समाधानाथ 'इदानीम्' इत्यादिग्रन्थ को उपस्थित किया जा रहा है । अ यथासिद्धि पाच प्रकार की है, उनमे से यह १—पहली अ यथा-सिद्धि है **'येन सह पूर्वभाव'** । जिस काय के प्रति कोई वस्तु जिस स्वरूप से (धम से) कारण होती ह उस काय के प्रति उसका स्वरूप (धम) अन्यथासिद्ध ह । 'येन सह पूवभाव , कहकर अ यथासिद्धि के स्वरूपलक्षणो को बताया गया है । 'घट' स्वरूप काय के प्रति दण्डत्व, दण्डरूप, आकाश कुलालपिता और

रासभ ये पाच अन्यथासिद्ध समझे जाते है। जिस काय के प्रति जो वस्तु जिस स्वरूप (धम) से कारण होती है उस काय के प्रति उसका स्वरूप (धम) अन्यथासिद्ध समझा जाता है। भले ही वह वस्तु उस काय के प्रति पूववर्ती हो। पूर्ववर्ती हाने मात्र से ही वह उस काय के प्रति कारण नही हो सकता। जैसे—'घट' के प्रति 'दण्डत्व'। यहा पर 'घट' के प्रति 'दण्ड को 'दण्डत्वेन' रूप से कारणता ह, इसलिये 'घट' के प्रति 'दण्ड' तो कारण है, कि तु 'दण्डत्व' अन्यथा सिद्ध है। क्योकि धट के प्रति 'दण्डत्व' का कोई उपयोग नही है। अर्थात 'दण्ड' दण्डत्व रूप धम से 'घट' के प्रति कारण होता ह। इस कारण 'घट' के प्रति 'दण्डत्व' अन्यथासिद्ध ह। निष्कष यह है कि जिसरूप से वह कारण बना है, उसका वह 'रूप' अन्यथा सिद्ध है। घट काय के प्रति 'दण्ड' किस रूप से कारण है? तो बताना होगा कि वह न तो 'पार्थिव' रूप से, या न किसी अन्यरूप से कारण है, अपितु 'दण्डत्व' रूप से ही वह (दण्ड) कारण है। अतएव 'दण्डत्व' को अ यथा-सिद्ध स्वीकार कर लिया गया है। दूसरी बात यह है कि 'दण्डत्व' को कारण मानना निष्प्रयोजन भी ह। इसी बात को न्याय की भाषा मे इस तरह कहा जायगा—घटम्प्रति दण्ड कारणम, कारणता दण्डनिष्ठा, तदवच्छेदको धम दण्डत्वम, अत तत (दण्डत्वम) अ यथासिद्धम। एवञ्च 'कारणतावच्छेदकधर्मत्व प्रथमम् अन्यथासिद्धमिति भाव।

अब द्वितीय अन्यथासिद्ध को बताते है—'कारणमादाय वा यस्य'।

द्वितीयमन्यथासिद्धमाह—कारणमिति। यस्य स्वातन्त्र्येणान्वयव्यतिरेकौ न स्त कि तु कारणमादायैवान्वयव्यतिरेकौ गृह्येते तदन्यथासिद्धम्। यथा दण्डरूपम्।

इति द्वितीयमन्यथाऽसिद्धनिरूपणम।

—o—

जिसका ग्रहण, कारण के ग्रहणपूवक हो, वह भी अन्यथा सिद्ध होता है। अर्थात किसी काय के प्रति जिस वस्तु का अन्वय तथा व्यतिरेक स्वत त्ररूप से नही बन सकता, अपितु कारण को लेकर ही जिसके अन्वय व्यतिरेक का निश्चय जिस काय के प्रति किया जाय, उस काय के प्रति वह वस्तु अ यथासिद्ध है। जैसे—'घट' के प्रति 'दण्डरूप'। 'घट' के प्रति दण्डरूप का अन्वय—व्यतिरेक अपने कारण 'दण्ड' को लेकर ही बन पाता ह, इसलिये 'दण्डरूप' भी 'घट' के प्रति 'दण्डत्व' की तरह अन्यथासिद्ध ही है। क्योकि दण्डका रूप 'दण्ड'

से पथक नही किया जा सकता । 'अन्वय' का अथ है– स्वाधिकरणे कायसत्त्वम ।' काय का अपने अधिकरण मे होना । व्यतिरेक का अथ है—'स्वाभावाधिकरणे कार्यासत्त्वम ।' अपने अभाव के अधिकरण मे काय का न होना । इसी अभिप्राय को सस्कृत मे इस प्रकार कहा जायगा दण्डरूप घटम्प्रति अन्यथासिद्धम । दण्डरूपस्य घटम्प्रति न स्वतत्रतया पूवभाव, कि-तु स्वकारणस्य (दण्डरूपस्य समवायिकारण दण्ड) दण्डस्य पूवभाव गहीत्वव दण्डरूपस्यापि घटम्प्रति पूवभावो गृह्यते, अत दण्डरूप घटोत्पत्ते पूवक्षणे सदपि अन्यथासिद्धमेवेतिभाव ।

अब ततीय अ-यथासिद्ध को बताते है - 'अन्यम्प्रतिपूर्वभावे' ।

तृतीयमाह—अन्य प्रतीति । अन्य प्रति पूर्ववृत्तित्व गृहीत्वैव यस्य यत्कार्य प्रति पूर्ववृत्तित्व गृह्यते तस्य तत्कार्य प्रत्यन्यथासिद्ध त्वम् । यथा घटकादिक प्रत्याकाशस्य । तस्य हि घटादिक प्रति कारणत्वमाकाशत्वेनैव स्यात् । आकाशत्व हि शब्दसमवायिकारणत्वम् । एव च तस्य शब्द प्रति जनकत्व गृहीत्वैव घटादिक प्रति जनकत्व ग्राह्यमतस्तदन्यथासिद्धम् ।

ननु शब्दाश्रयत्वेन तस्य कारणत्वे काऽन्यथासिद्धिरिति चेत् ? पञ्चमीति गृहाण । नन्वाकाशस्य शब्द प्रति जनकत्वे किमवच्छेदक मिति चेत् ? कवत्वादिक विशेषपदार्थो वेति ॥१९॥

इति ततीयमन्यथासिद्धनिरूपणम ।



● किसी अन्य काय के प्रति जिसके कारणत्व (पूववृत्तित्व) का ग्रहण करने के अनन्तर ही जिस काय के प्रति उसके कारणत्व का ग्रहण किया जाता है, वह उस काय के प्रति अन्यथासिद्ध हाता है । जैसे—घट के प्रति आकाश । आकाश' नित्य और व्यापक है । अत वह काय मात्र के प्रति नियत पूववर्ती है । एवव 'घट' के प्रति भी नियतपूववर्तित्वस्वरूप कारणत्व आकाश मे सिद्ध ही ह । परन्तु घट के प्रति 'आकाश' को आकाशत्वेनरूपेण कारण मानना होगा । तब 'आकाशत्व क्या वस्तु है ? यह पूछने पर कहना होगा कि 'शब्दसमवायिकारणत्व' । एवच 'शब्दसमवायिकारणत्व' कहने मात्र से ही 'शब्द' का कारण 'आकाश' है, यह सिद्ध हो जाता है । इस रीति से आकाश' मे शब्द के प्रनि कारणता (जनकत्व ता) का निश्चय करके ही घटादिकाय के प्रति उसमे कारणता (जनकता) का निश्चय करपाते है । ऐसी स्थिति में

'शब्द' के प्रति ही 'आकाश' को कारण माना जाता है और घटादि के प्रति उसे अन्यथासिद्ध ही कहा जाता है।

शङ्का—आकाश को शब्दसमवायिकारण के रूप मे घट के प्रति पूववत्ति कहने पर 'शब्द' के प्रति आकाश की कारणता गृहीत हो जाती ह और घट के प्रति आकाश को अन्यथासिद्ध समझा जाता है, किन्तु 'आकाश' को यदि 'शब्दाश्रय' कहा जाय, तब तो 'आकाश' को 'शब्द' का कारण नही कह सकते, क्योकि आकाश तो 'शब्द' का आश्रय प्रतीत होता है, न कि कारण। यदि हम 'आकाश' को 'शब्दाश्रयत्वेन' रूपेण 'घट' के प्रति कारण कहे तो पाच अन्यथासिद्धो मे से वह (आकाश) किस श्रेणी का अ यथासिद्ध कहलायेगा ?

समा०—वह (आकाश) तीसरे अ यथासिद्ध के लक्षण मे न आकर पञ्चम अन्यथासिद्ध होगा। इस पञ्चम अन्यथासिद्ध को आगे बताया जायगा। अभिप्राय यह है कि 'आकाश शब्दसमवायिकारणम' इस लक्षण को त्याग कर 'आकाश शब्दाश्रय' यह लक्षण करे तब भी वह (आकाश) 'घट' के प्रति अन्यथासिद्ध ही रहेगा। क्योकि अवश्य नियत पूववर्ती कारण से ही कार्योत्पत्ति यदि हो जाती है तो उसके अतिरिक्त सभी कुछ कार्योत्पत्ति के प्रति अन्यथासिद्ध हो जाता है।

शका—'घट' के प्रति 'आकाश' भले ही कारण न हो, किन्तु 'शब्द' के प्रति तो वह (आकाश) कारण ह ही। तब आकाश मे रहनेवाली 'कारणता' का 'अवच्छेदक धम कौन होगा ? कारणता का अवच्छेदक धम तो अवश्य ही मानना होगा क्योकि 'निरवच्छि नाया कारणनाया असम्भवात'—'कारणता' कभी भी अवच्छेदक धम से रहित नही होती।

समा०—'निरवच्छिन्नकारणताया असभवात' इस नियम के अनुरोध से आकाशीयसमवायिकारणता (आकाश मे रहनेवाली शब्द की समवायिकारणता) का अवच्छेदक धम[1] 'कवत्त्व' 'खवत्त्व' 'गवत्त्व' आदि समझना चाहिये। अर्थात कारणतावच्छेदक धम हुआ 'कवत्त्व' खवत्त्व' आदि।

यहा ज्ञातव्य विषय यह है कि 'शब्द' की कारणता आकाश मे रहती है, उस कारणता का अवच्छेदक (भेददशक = भेदक) कोई धम तो मानना ही होगा। वह कौन सा धम होगा ? यह जिज्ञासा होने पर, वह धम 'आकाशत्व' है, यह कहे तो 'आकाशत्व'—शब्द की कारणतास्वरूप ही होगा। तब शब्द-

१ क = ककार विद्यते समवायेन अस्मिन इति 'कवत' तद्भाव कवत्त्वम'। इसी तरह 'खवत्त्व' 'गवत्त्व' आदि को भी समझना चाहिये।

कारणतास्वरूप 'आकाशत्व' और तदभेदक (कारणता का भेदक) 'आकाशत्व' ये दोनो एक ही होंगे,[1] ऐसी स्थिति मे दोनो का भेद नही समझा जा सकेगा। एवच 'दुर्ज्ञेयत्व' रूप दोष का प्रसग प्राप्त होगा। अत उस कारणता के भेद को प्रदर्शित करनेवाले 'क' 'ख इत्यादि अक्षरो को माना गया ह। एवच शब्द-समवायिकारणतावच्छेदक 'कवत्त्व' होगा,[2] 'आकाशत्व नही। 'क' यह जो वर्णात्मक शब्द ह, तद्वान् 'आकाश' ही होगा अर्थात क' वान 'आकाश' हुआ, और आकाश ही शब्दमात्र का समवायिकारण है, तब कारणतावच्छेदक 'कवत्त्व' होगा क्योकि कारण मे रहनेवाला धम ही कारणतावच्छेदक होता है।

शका— आपने जैसे 'कवत्त्व' को शब्दकारणता का अवच्छेदक माना, वैसे ही विनिगमनाविरहात 'खवत्त्व' 'गवत्त्व' आदि को भी 'कारणतावच्छेदक' माना जा सकता है। क्योकि 'क'–वान् की तरह 'ख' वान अर्थात् 'ख' शब्दवान भी आकाश है। वैसे ही 'ग' वान (ग शब्दवान) भी आकाश है तब 'कवत्त्व' 'खवत्त्व' ये सभी कारणतावच्छेदक धम हो सकत हैं।

समा• ककार, खकार आदि वण तो अनेक तथा अनित्य है, उनको अवच्छेदक मानने मे गौरव होगा। अत अनेक वर्णो को कारणतावच्छेदक मानने की अपेक्षा एक विशेप पदाथ को ही आकाशनिष्ठ शब्दजनकता (कारणता) का अवच्छेदक मान लेना उचित होगा। तात्पय यह ह कि 'कवत्त्व' आदि को अवच्छेदक मानने मे गौरव होगा। अर्थात नाना वर्णा मे कारणतावच्छेदकता को मानने पर शरीरकृत गौरव होगा और विनिगमना विरह भी ह। इस अस्वारस्य के कारण ग्र थकार ने कहा—'विशेषपदार्थो वा' इति। 'विशेष' सज्ञक पदाथ ही शब्दनिरूपित आकाशनिष्ठकारणता का अवच्छेदक (इतरव्यावतक) है यह मान-लेने पर कोई किसी प्रकार का दोष नही है।

● चतुर्थमन्यथासिद्धमाह—जनक प्रतीति। यत्कार्यंजनक प्रति पूर्व-वृत्तित्व गृहीत्वैव यस्य यत्कार्यं प्रति पूर्ववृत्तित्व गृह्यते तस्य तत्कार्य प्रत्यन्यथासिद्धत्वम्। यथा कुलालपितुर्घट प्रति। तस्य हि कुलाल-

१ शब्दस्य समवायिकारणमाकाश ,कारणता आकाशनिष्ठा, कारणतावच्छेदक-माकाशत्वम, आकाशत्वञ्च शब्दसमवायिकारणतैव। तथाच—स्वावच्छेदक स्वमेव प्राप्तम्, तच्च अनुपपन्नम, अवच्छेद्यावच्छेदकभावस्य भेदनियतत्वात्।

२ शब्दसमवायिकारणता 'कवति',शब्दसमवायिकारणतावच्छेदक 'कवत्त्वम्', न तु आकाशत्व, येन शब्दसमवायिकारणतैव अवच्छेदिका स्यात्।

पितृत्वेन घट प्रति जनकत्वे एवान्यथासिद्धि-कुलालत्वेन जनकत्वे त्विष्टापत्ति, कुलालमात्रस्य घट प्रति जनकत्वात्।

इति चतुर्थान्यथासिद्धनिरूपणम्।

— ० —

● अत्र चतुर्थ अन्यथासिद्ध को प्रदर्शित करते है—'जनकम्प्रतिपूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गह्यते।' जो वस्तु जिस कार्य के उत्पादक के प्रति कारण है उसे जानकर बाद में वह वस्तु उस कार्य के प्रति कारण है ऐसा समझने से उस कार्य के प्रति वह वस्तु अन्यथासिद्ध समझी जाती है। इसी को न्याय की भाषा में इस प्रकार कह सकते है—'स्वजन्यतानिरूपितजनकतानिरूपितजनकतावत्त्व' चतुर्थमन्यथासिद्धमिति। जैसे—घट कार्य के प्रति कुलालपिता। घट-कार्य के प्रति कुलाल ही कारण है, अत उसका (कुलाल का) पिता घट के प्रति अन्यथासिद्ध समझा जाता है। कुलाल________ने पुत्र कुलाल की उत्पत्ति का कारण है, यह जानने के अनन्तर—कुलाल के पिता को कुलालपितृत्वेन रूपेण घट के प्रति यदि कारण मानें तो वह कुलालपितृत्वेन रूपेण घट के प्रति अन्यथासिद्ध ही है। तात्पर्य यह है कि कुलाल का पिता समझकर घट के प्रति यदि उसे (पिता को) कारण माना जाय अर्थात जब कि यह (पिता) घट के कारण (कुलाल) का भी—कारण है तो उसे 'घट' का कारण अवश्य ही मानना चाहिये, किन्तु उसे घट का कारण नही माना जाता, अपितु उसे अन्यथासिद्ध ही माना जाता है। और वही कुलालपिता यदि कुलालत्वेनरूपेण (कुलालस्वरूप से) घट के प्रति कारण माना जाय अर्थात यह कुलाल है ऐसा समझकर यदि उसे (पिता को) घट के प्रति कारण कहा जाय तो कोई आपत्ति नही है, वह तो अभीष्ट ही है, क्योकि सभी कुलाल घट के प्रति कारण होते ही हैं। यदि किसी कुलाल ने आजतक किसी घट का निर्माण ही नही किया हो, फिर भी उसमें घट निर्माण की स्वरूप-योग्यतारूप कारणता रहती ही है। निष्कर्ष यह है कि बाप और बेटा ये दोनो ही कुम्हार (कुलाल) है ऐसा मानकर यदि बाप मे कारणता कही जाय तो कोई दोष नही है।

☯ पञ्चममन्यथासिद्धमाह—अतिरिक्तमिति अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्तिन एव कार्यसम्भवे तद्भिन्नमन्यथासिद्धमित्यर्थ। अत एव प्रत्यक्षे महत्त्व कारणम्। अनेकद्रव्यवत्त्वमन्यथासिद्धम्। तत्र हि महत्त्वमवश्यक्लृप्त तेनानेकद्रव्यवत्त्वमन्यथासिद्धम्।

न च वैपरीत्ये किं विनिगमकमिति वाच्यम्, महत्त्वत्वजाते कारणतावच्छेकत्वे लाघवात् ॥ २०-२१ ॥

● अब पञ्चम अन्यथासिद्ध को बताते है—'अतिरिक्तमथापि यद भवेत नियतावश्यकपूर्वभाविन' ॥ २० ॥ नियम से काय के पूव रहनेवाले के अतिरिक्त जो हो उसे पञ्चम अन्यथासिद्ध कहते है। घटोत्पत्ति मे दण्ड, चक्र, चीवर, कुलाल, मृत्तिका आदि अवश्य तथा निश्चित है और नियम से घट के पूव रहनेवाले है, इनसे ही घटादिकाय का होना यदि सभव है, तो इनके अतिरिक्त जो भी हो वे सब घटादिकाय के प्रति अन्यथासिद्ध समझे जाते है। अभिप्राय यह है कि कार्यात्पत्ति मे नियतपूववर्ती होने के साथ साथ जिसका स्वीकार किया जाना आवश्यक रहता है, उसे तो उस काय का कारण कहते है और तदतिरिक्त जो हो उसे उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध कहते है। अतएव प्रत्यक्ष मे 'महत्त्व' (महत्परिमाण) को कारण बताया गया है और 'अनेकद्रव्यवत्त्व' (अनेक अयवयभूतद्रव्यो से निर्मित होना) को अन्यथासिद्ध कहा है। क्योकि वहाँ (प्रत्यक्षात्मक काय मे) महत्त्व (महत परिमाण) को तो अवश्य ही मानना पडता है उसके बिना माने काम नही चलता, इसलिये प्रत्यक्षात्मक काय के प्रति वही (महत्त्व) कारण कहा जाता है और 'अनेकद्रव्यवत्त्व' का होना वैसा आवश्यक न होने से उसे अन्यथासिद्ध माना गया है। किसी काय की उत्पत्ति में कम से कम वस्तु का पर्याप्त होना ही 'आवश्यक, पदाथ है। अर्थात् जिसमें कल्पना का लाघव हो उसी को आवश्यक कहते है और वही 'कारण' होता है। इसके अतिरिक्त सभी अन्यथासिद्ध रहते है। सभी वस्तुओ के प्रत्यक्ष मे उन वस्तुओ का 'महत्त्व' कारण होता है। महत्त्व (महतपरिमाण) के बिना किसी वस्तु का प्रत्यक्ष हो ही नही सकता। इसीलिये तो 'अणु' तथा 'द्वचणुक' का प्रत्यक्ष नही हो पाता, क्योकि अणु तथा 'द्वचणुक' मे महत्परिमाण नही ह। एवच प्रत्यक्ष के होने मे 'महत्त्व' का होना नितान्त आवश्यक है।

शंका—प्रत्यक्ष के होने मे 'महत्त्व' जैसे नियतपूववर्ती ह वसे ही 'अनेकद्रव्यवत्त्व'[१] धम भी नियत पूववर्ती है, क्योकि प्रत्यक्ष होनेवाले सभी द्रव्य, सावयव हुआ करते है यानी अनेकद्रव्यो से बनते ह। अत अनेक द्रव्यवत्त्व को भी प्रत्यक्ष का कारण क्यो न कहा जाय ?

---

१ अनेक द्रव्यो से बना होना, अनेक द्रव्यो मे समवेत होना।

समा०—पहले बताचुके है कि किसी भी द्रव्य के प्रत्यक्ष होने मे 'महत्त्व' का रहना आवश्यक होता है, जब उसी से काम चल जाता है, तब एक और को मानने की कोई आवश्यकता नही होती । अत अनेक द्रव्यवत्त्व को अन्यथासिद्ध माना गया है ।

शका—जबकि दोनो (महत्त्व और अनेक द्रव्यवत्त्व)—प्रत्यक्षात्मक काय के नियतपूववर्ती है तो हम विपरीत ही क्यो न मान ले ? अर्थात अनेक द्रव्यवत्त्व को ही कारण मान लें और 'महत्त्व' को अन्यथासिद्ध कह लें तो क्या हानि है ? ऐसी शका करने पर सिद्धान्ती के पास अपने पक्ष के समथन में क्या विनिगमक है ?

समा०—यदि हम प्रत्यक्ष के होने मे महत्परिमाण (महत्त्व) को कारण कहे तो महत्त्व (महत्परिमाण) गुण है, उसमें 'महत्त्वत्व' जाति रहेगी, और वही कारणतावच्छेदक' हो जायगी । यदि 'अनेकद्रव्यवत्त्व' को प्रत्यक्ष का कारण कहेंगे तो कारणतावच्छेदक 'अनेकद्रव्यवत्त्वत्व होगा । किन्तु वह कोई 'जाति' नही है बल्कि अनेक पदार्थो से बनी हुई 'उपाधि' ह । उपाधि की अपेक्षा जाति को अवच्छेदक मानने मे लाघव माना जाता है । क्योकि 'जाति' तो एक बाह्य पदाथ ह और 'उपाधि' अनेक वस्तुओ से बनती है । पहले कह चुके है कि आवश्यक वही होता है, जिसकी कल्पना मे लाघव हो । अत महत्त्व ही आवश्यक होने से कारण कहा जा सकता है और उससे भिन्न 'अनेकद्रव्यवत्त्व'[1] अन्यथा सिद्ध होगा । यही उपयुक्त विनिगमक सिद्धान्ती के पास है । 'नियतावश्यक पूर्वभाविन ' यहाँ कमधारय समास है—नियतश्चासौ आवश्यक पूवभावी च तस्य । अन्यथासिद्ध का यही सामान्यलक्षण हुआ कि 'नियतावश्यक—पूवभाविभिन्न यत् स (पञ्चम) अन्यथासिद्ध ।' एवञ्च—'अन्यथासिद्धिशून्यत्वे सति कायनियतपूर्ववृत्तित्व कारणत्वम' यह कारण का सामान्य लक्षण है । 'कारण' और 'अन्यथासिद्ध' को समझने के साथ ही साथ एक बात और भी समझने की है कि 'लाघव' के तीन प्रकार होते है –(१) शरीरकृत, (२) उपस्थितिकृत, (३) सम्बन्धकृत । प्रत्यक्ष के प्रति अनेकद्रव्यवत्त्व की अपेक्षा 'महत्त्व' को कारण मानने मे 'शरीरकृत' लाघव है । गन्ध के प्रति 'रुपप्रागभाव' की अपेक्षा 'गन्धप्रागभाव' को कारण मानने

१ 'अनेकद्रव्यत्व' भी पाठान्तर उपलब्ध होता है । अत इस पाठ के पक्ष में 'अनेक द्रव्य हो जिसमे' यह बहुव्रीहि करने से वही अथ होगा जो अनेक द्रव्यवत्त्व का होता है ।

मे 'उपस्थितिकृतलाघव ह, क्योकि रूप की अपेक्षा प्रतियोगिरूप गन्ध की शीघ्र उपस्थिति होती है। घट के प्रति 'दण्डत्व' या 'दण्डरूप' की अपेक्षा दण्ड' को कारण मानने मे 'सम्बन्धकृतलाघव' होता है क्योकि दण्ड का सयोग सम्बन्ध साक्षात होने के कारण प्रथम उपस्थित होना है, और दण्डत्वादिको का 'स्वसम वायिदण्डसयोगसम्ब ध' तो परम्परया गुरुभूत होने से विलम्ब से उपस्थित हाता है।

अन्यथासिद्धो के क्रमश उदाहरणो को मूलकार ने 'एते पञ्चान्यथामिद्धा' इत्यादि ग्र थ से बताया है।

 रासभादिरिति। यद्यपि यत्किञ्चिद्घटव्यक्तिं प्रति रासभस्य नियतपूर्ववर्तित्वमस्ति, तथापि घटजातीय प्रति सिद्धकारणभावैर्दण्डादिभिरेव तद्व्यक्तेरपि सम्भवे रासभोऽन्यथासिद्ध इति भाव ।

एतेष्विति। एतेषु पञ्चस्वन्यथासिद्धेषु मध्ये पञ्चमोऽन्यथासिद्ध आवश्यक, तेनैव परेषा चरितार्थत्वात्। तथाहि—दण्डादिभिरवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्तिभिरेव कार्यसम्भवे दण्डत्वादिकमन्यथासिद्धम्।

न च वैपरीत्ये किं विनिगमकमिति वाच्यम्, दण्डत्वस्य कारणत्वे दण्डघटितपरम्पराया सम्बन्धत्वकल्पने गौरवात्। एवमन्येषामप्यनेनैव चरितार्थत्व सम्भवतीति बोध्यम्॥ २१–२२॥

इति पञ्चविधान्यथासिद्धनिरूपणम।

—●—

● ये पूर्वोक्त पाँच अन्यथासिद्ध है, अर्थात कारण न होकर सिद्ध है। इन पाच अन्यथासिद्धो मे से 'दण्डत्व' प्रथम अन्यथासिद्ध है। घटोत्पत्तिरूप काय मे 'दण्ड रूप' आदि द्वितीय अन्यथासिद्ध है। उसी प्रकार घटादि-काय के प्रति 'व्योम' (आकाश) तृतीय अन्यथासिद्ध है। उसी तरह घटादि काय में 'कुलालपिता' चतुर्थ अन्यथासिद्ध है। और घटादि-काय के प्रति 'रासभ' (गधा) प्रभति पञ्चम अन्यथासिद्ध है। कही किसी घट के बनाने के समय किसी गधे पर मिट्टी लादकर ले भी आये या उस समय कोई गधा अचानक उपस्थित हो भी जाय तथापि समस्त घटो के प्रति तो उसका उपस्थित हो जाना सम्भव नही, इस कारण घट के प्रति दण्डादिक ही कारण है और गदभ (रासभ) अन्यथासिद्ध है अर्थात निष्प्रयोजन है।

पूर्वोक्त पाच प्रकार के 'अन्यथासिद्धो' मे 'पञ्चम अन्यथासिद्ध' आवश्यक

है। इस पञ्चम अन्यथासिद्ध का जो लक्षण है वह शेष चारो अन्यथासिद्धो मे भी घट सकात है।

शका—पञ्चम अन्यथासिद्ध के लक्षण मे चारो अन्यथासिद्धो के लक्षण यदि अन्तभूत हो जाते है तो चारो के लक्षणो को बताने की क्या आवश्यकता थी ?

समा०—चार अन्यथासिद्धो के लक्षणो को बताने की आवश्यकता यह थी कि पढनेवाले बालको (विद्यार्थियो) की बुद्धि विशद हो जाय।

अब पाचवे अन्यथासिद्ध के लक्षण मे ही चारो अन्यथासिद्धो के उदाहरण इस प्रकार है—अवश्यक्लप्त नियतपूववर्ती दण्ड चक्र-चीवर आदि से ही 'घट' हो सकता है तो उसके प्रति (घट के प्रति) दण्डत्व, दण्डरूप अन्यथासिद्ध है।

शका—यदि कोई इसके विपरीत अर्थात दण्डत्व' कारण है और 'दण्ड' अन्यथासिद्ध है, कहने लग जाय तो सिद्धान्ती के पास निर्णायक युक्ति (विनिगमक) क्या होगी ?

समा०—इस प्रकार शका करना उचित न होगा, क्योकि 'दण्डत्व' को कारण यदि कहेगे तो 'दण्ड' के द्वारा परम्परा सम्बन्ध की (कारणतावच्छेदकसबध-की) कल्पना करने मे गौरव होगा। अर्थात 'दण्डत्व' घट के प्रति साक्षात् कारण तो हो नही सकता, बल्कि वह (दण्डत्व) दण्ड के द्वारा ही कारण बन सकेगा। 'दण्ड' तो घट के प्रति स्वजन्यभ्रमण' (स्वजन्यभ्रमिवत्तासम्बन्ध) के द्वारा अर्थात दण्ड से उत्पन्न हुए चक्कर के द्वारा कारण होता है, सभी ने देखा ही होगा कि कुलाल दण्डे से चाके को घुमाकर ही घट बनाता है। इसलिये दण्ड' 'स्वजन्य-भ्रमि' द्वारा घट का कारण होता है। किन्तु 'दण्डत्व' 'स्वाश्रयजन्यभ्रमण' (स्वाश्रयजन्यभ्रमिवत्तासम्बन्ध) के द्वारा घट का कारण कहा जा सकेगा, साक्षात् नही। 'स्व शब्द से 'दण्डत्व' उसका आश्रय 'दण्ड', उससे उत्पन्न हुए भ्रमण (स्वाश्रयजन्यभ्रमिवत्ता सबध) के द्वारा वह (दण्डत्व) कारण कहलायगा। एवच 'दण्डत्व' की कारणता 'दण्ड' के द्वारा होती है। ऐसी स्थिति मे 'दण्डत्व' के इस कारणतावच्छेदक सम्बन्ध मे स्वाश्रयतया जब कि 'दण्ड' प्रविष्ट है ही तो लाघवात 'दण्ड' को ही कारण क्यो न माना जाय, क्योकि दण्ड के कारणता वच्छेदकसम्बन्ध मे 'दण्डत्व' का प्रवेश नही ह, यही लाघव ह। इसी पद्धति से शेष अन्यथासिद्धो को भी इस पञ्चम से ही चरिताथ समझना चाहिये।

यहाँ पर यह भी ध्यान देने योग्य है कि सामान्यतया कारण दो प्रकार का होता है—एक साधारण और दूसरा असाधारण। कायमात्र के प्रति जो

कारण है उसे साधारण कारण कहते है। ये साधारण कारण आठ है-- ईश्वर, उसका ज्ञान, इच्छा, कृति, प्रागभाव, काल, दिक्, अदृष्ट (धर्माधर्म)। कुछ लोग 'प्रतिबन्धकसामान्याभाव' को भी नवम साधारण कारण कहते है।

किसी कार्यविशेष के प्रति जो कारण हो उसे असाधारण कारण कहते है। जैसे--पट के प्रति तन्तु, घट के प्रति कपालादि। इसी प्रसग मे एक विशेषता और भी ध्यान रखने योग्य है। एक कारणता समुदाय में विश्रान्त रहती है। जैसे— घट के प्रति दण्डादिनिष्ठा कारणता, इसी को 'दण्डचक्रादिन्यायेन कारणता' कहते है। दण्डादिको में से किसी एक कारण के भी न होने पर घटोत्पत्ति नही हो सकती। और दूसरी कारणता वह है, जो प्रत्येक में विश्रान्त है। जैसे—वह्नि के प्रति तृणारणिमणिसयोगनिष्ठा कारणता। इसी को तृणारणिमणिन्यायेन कारणता कहते है। तृणादि कारणो मे से किसी एक कारण के रहने पर भी वह्नि की उत्पत्ति हो सकती है ॥ २२ ॥

इति पञ्चमान्यथासिद्धनिरूपणम्।

—०—

❀ समवायिकारणवत्वं द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम्।
गुणकर्ममात्रवृत्ति ज्ञेयमथाप्यसमवायिहेतुत्वम् ॥२३॥

'समवायिकारणत्व' अर्थात समवायिकारण होना, यह केवल द्रव्य का साधर्म्य है। निष्कर्ष यह हुआ कि समवायिकारण केवल द्रव्य ही होगा, द्रव्य के अतिरिक्त कोई भी समवायिकारण नही हो सकता। और 'असमवायिकारणत्व' अर्थात् असमवायिकारण होना गुण कर्म का साधर्म्य है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि असमवायिकारण गुण, कर्म ही होते है। द्रव्य, गुण, कर्म तीनो का समवायिकारण 'द्रव्य' ही होता है। वह (द्रव्य) कभी भी असमवायिकारण नही होता और सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव तो किसी प्रकार के भी कारण नही होते। असमवायिकारण केवल गुण कर्म ही होते है। जैसे—घट का असमवायिकारण 'तन्तुसयोग' तथा पटरूप का असमवायिकारण 'तन्तुरूप' होता है। ये दोनो (सयोग और रूप) असमवायिकारण 'गुण' है। इसी तरह कर्म (क्रिया) भी सयोग विभाग का असमवायिकारण होता है। कोई पक्षी उडकर वृक्ष पर बैठता है, तब 'पक्षी' वृक्ष सयोगरूपी कार्य का असमवायिकारण पक्षी की उड्डयन क्रिया है, क्योकि उस सयोग का समवायिकारण वृक्ष और पक्षी दोनो है। उनमें से एक समवायिकारण (पक्षी) में क्रिया (उड्डयन) समवेत

है, इस रीति से पक्षी में सयोगरूपकार्य और उसका असमवायिकारण (कर्म) दोनो वर्तमान (प्रत्यासन्न) है। एवञ्च असमवायिकारण का लक्षण (समवायिकारणे आसन्न प्रत्यासन्न कारणम असमवायिकारणम) कर्म (क्रिया) मे सगत होता है।

● समवायीति स्पष्टम्।

गुणकर्मेति। असमवायिकारणत्व गुणकर्मभिन्नाना वैधर्म्य न तु गुणकर्मणो साधर्म्यमित्यत्र तात्पर्यम्। अथवा असमवायिकारणवृत्तिसत्ताभिन्नजातिमत्त्व तदर्थ। तेन ज्ञानादीनामसमवायिकारणत्वविरहेऽपि न क्षति ॥२३॥

इति समवाय्यसमवायिकारणत्वरूपसाधर्म्यद्वयकथनम्।

(शका)—आत्मा के ज्ञानादि विशेषगुण कही भी असमवायी नही होते हैं, इसलिये असमवायिकारण के सामान्य लक्षण मे 'ज्ञानादिभिन्नत्व' विशेषण देकर अव्याप्ति का निवारण किया जा चुका है। इस कारण उपयुक्त असमवायिकारणत्व साधर्म्य की ज्ञानादि मे अव्याप्ति हो रही है।

समा०—उपयुक्त आशङ्का का दो प्रकार से समाधान किया जा सकता है। एक समाधान तो यह है—ऊपर जो कहा गया था कि 'असमवायिकारणत्व-गुण-कर्म का साधर्म्य ह' अर्थात गुण-कर्म हमेशा असमवायिकारण ही होते है, उसका तात्पर्य यह है कि 'असमवायिकारणत्व' गुण कर्मो से जो भिन्न (अतिरिक्त) है, उनका वैधर्म्य है। अर्थात गुण कर्म से भिन्न पदार्थ असमवायिकारण कदापि नही होते। साधर्म्य बताने मे तात्पर्य नही है। अत ज्ञानादि मे अव्याप्ति होने का कोई प्रश्न ही नही है।

(शका)साधर्म्य के प्रसग मे वैधर्म्य को बताना कहा तक सगत है ?

समा०—असमवायिकारण में रहनेवाली जो सत्ताभिन्न जाति, तादृश जातिमत्त्व ही असमवायिकारणत्व है। जैसे—तन्तुसयोग, पट के प्रति असमवायिकारण है। उस तन्तुसयोग में रहनेवाली सत्ताभिन्नजाति 'गुणत्व' जाति, तद्वत्ता समस्त गुणो में है, अर्थात ज्ञानादि मे भी है, क्योकि ज्ञानादि भी गुणत्वजातिमान् है। अत ज्ञानादि मे असमवायिकारणता न होने पर ज्ञानादि में असमवायिकारणत्व साधर्म्य की अव्याप्ति नही है। अपितु उनमे भी (ज्ञानादि मे भी) ऊपर कहा हुआ साधर्म्य उपलब्ध होता है ॥२३॥

❀ अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य आश्रितत्वमिहोच्यते।

● नित्य द्रव्यो (पथिव्यादि चार के परमाणु, आकाश, काल, दिक, आत्मा और मन ये छह नित्य द्रव्य है) से भिन्न पदार्थों (अनित्यद्रव्य और गुणादिको) का साधम्य 'आश्रितत्व' (किसी दूसरे में रहना) है।[1]

शका – कालिक विशेषणता (कालिक सबध) से नित्यद्रव्य भी काल आदि मे रहते है। अत नित्य पदार्थों का भी आश्रितत्व साधम्य होगा। कि तु इनमे 'आश्रितत्व' साधम्य नही माना गया है अत अव्याप्ति होगी।

समा॰ — यहा पर आश्रितत्व का अथ 'समवाय, सयोग सम्ब-ध से रहना' किया जाता है। क्योकि ये दो सम्ब ध ही मुरयतया वत्तिनियामकसम्बन्ध[2] कहे जाते है। इ ही दो सम्बन्धो का बाह्य वस्तु रूप से अस्तित्व माना गया है। काल और दिक् मे सभी पदाथ जो रहते है, वे इन दोनो मे से किसी सम्ब ध से नही रहत, अपितु 'दैशिक विशेषणता' सम्ब ध से रहते है, जो मुरय सम्बन्ध नही है।

◒ नित्यद्रव्याणि परमाण्वाकाशादीनि विहायाश्रितत्व साधर्म्य-मित्यर्थ । आश्रितत्व तु समवायादिसम्ब-धेन वृत्तिमत्त्वम, विशेषणतया नित्यानामपि कालादौ वृत्ते ।

कालिकसम्ब धान्यसम्बन्धेनावृत्तित्वमिति परमाथ तेन समवायेनावृत्तावपि न क्षति ।

इति नित्यद्रव्यातिरिक्तसाधम्यकथनम ।

---

१ क्योकि ये नित्यद्रव्य किसी अन्य पदाथ मे नही रहते। (शका) ये नित्यद्रव्य अन्य पदाथ मे क्यो नही रहते ?

समा॰ यह नियम ह कि 'द्रव्य अपने अवयवो मे रहा करता है' इस नियम के अनुसार इसे भी अपने अवयव मे ही रहना चाहिये। लेकिन परमाणु, आकाश आदि नित्यद्रव्यो के अवयव नही हुआ करते, यह भूलना नही होगा। इसलिये ये नित्यद्रव्य किसी दूसरे द्रव्य (पदाथ) मे नही रहते कहा गया था। किन्तु नित्यद्रव्यो को छोडकर शेष सभी पदाथ किसी अन्य आश्रय मे रहते है। जितने भी अनित्य द्रव्य है, वे अपने अवयवो से बने है। अत वे अपने अवयवरूप द्रव्यो में रहते है। गुण कम दोनो द्रव्यो मे रहते है, जाति (सामान्य) व्यक्ति मे रहती है, विशेष, नित्यद्रव्य मे और समवाय, द्रव्यादि मे रहता है।

२ वृत्तिनियामक = वृत्ते आधेयताया नियामक अवच्छेदक गमक इतियावत् ।

● परमाणु, आकाश, काल, दिक, आत्मा और मन इन नित्य द्रव्यो के बिना बाकी सब पदाथ किसी आश्रय पर रहकर ही योग्य होते है। इस कारण नित्यद्रव्यो के विना बाकी बचे सब पदार्थों का आश्रितत्व (किसी पदाथ मे रहना) साधम्य है। यहा पर आश्रितत्व का अथ समवायादि सम्बन्ध से रहना है। इसका तात्पय यह है कि 'कालिक विशेषणता'[1] सज्ञक सम्बन्ध के विना बाकी किसी न किसी सम्बन्ध से रहना। ऐसा अथ यदि न करें तो नित्य द्रव्य भी कालिकविशेषणता सम्बन्ध से काल मे रहते है (उस द्रव्य पर आश्रित होते है) तब अतिव्याप्ति का प्रसग प्राप्त होगा। जब आश्रितत्व का अथ 'समवाय-सम्बन्ध से रहना' करते है तब 'समवाय' तथा 'अभाव' ये दोनो, नित्य द्रव्यो से भिन्न पदाथ है उनमे आश्रितत्व न रहने से अतिव्याप्ति का प्रसग प्राप्त न हो सकेगा। निष्कष यह निकला कि ऐसा स्वीकार करने से अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोनो दोष नही होते।

★ **क्षित्यादीनां नवानां तु द्रव्यत्वं गुणयोगिता ॥ २४ ॥**

इति नवद्रव्यसाधर्म्यकथनम।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक, आत्मा और मन इन नौ द्रव्यो का साधम्य द्रव्यत्व और गुणवत्व ह।

● **इदानी द्रव्यस्यैव विशिष्य साधर्म्यं वक्तुमारभते—क्षित्यादीना-मिति। स्पष्टम् ॥ २४ ॥**

इति द्रव्यमात्रसाधम्यकथनम।

कारिका मे जो 'तु' शब्द है वह द्रव्यभिन्न साधम्य प्रकरण का भेदक है। अब विशेषरूप से द्रव्य का ही साधम्य बता रहे है। क्षित्यादि नौ द्रव्यो का साधम्य द्रव्यत्व और गुणाश्रयत्व है ॥२४॥

इति नवद्रव्यसाधम्यकथनम।

★ **क्षितिर्जलं तथा तेजः पवनो मन एव च।**
परापरत्वमूर्तत्वक्रियावेगाश्रया अमी ॥ २५ ॥

मूतत्व = अपकृष्टपरिमाणवत्व अर्थात परिच्छिन्नपरिमाणवत्व यानी जिस पदाथ के परिमाण की सीमा (मर्यादा) होती है। उसे 'मूतत्व' कहते है। परत्व

---

१ 'कालिकविशेषणता' यह काल के साथ पदार्थों का एक सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध से सब पदाथ काल मे रहते है।

(परत्ववत्त्व), अपरत्व (अपरत्ववत्त्व), मूतत्व (मूतत्ववत्त्व), क्रियावत्त्व और और वेगवत्त्व ये पाँच क्षिति (पृथ्वी) जल तेजस् (अग्नि), पवन, (वायु) और मन इन पाच द्रव्यो के साधम्य है। प्रत्येक द्रव्य मे ये (परत्व, अपरत्व, मुतत्व, क्रियावत्त्व और वेगवत्त्व) पाँच धम रहते है।

क्षितिरिति। पृथिव्यप्तेजोवायुमनसां परत्वापरत्ववत्त्व मूर्तत्व क्रियावत्त्व वेगवत्त्व च साधर्म्यम्। नच यत्र घटादौ परत्वमपरत्व वा नोत्पन्न तत्राऽव्याप्तिरिति वाच्य, परत्वादिसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्। मूर्तत्वमपकृष्टपरिमाणवत्त्वम्। तच्च तेषामेव, गगनादिपरिमाणस्य कुतोऽप्यपकृष्टत्वाभावात्। पूर्ववत् कर्मवत्त्व कर्मसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व, वेगवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व च बोध्यम्॥ २५॥

इति क्षित्यादिचतुष्टयमन साधम्यकथनम।

● शका—परत्व, अपरत्व ये दिककृत् (देशसम्बन्धी) और कालकृत (कालसम्बन्धी) दो प्रकार के होते है। दोनो ही प्रकार के ये गुण किसी वस्तु में हर समय नही रहते। बल्कि कभी कभी दो पदार्थो मे 'यह इससे सन्निकृष्ट है, अथवा 'यह इससे अल्पतरकाल से सम्बद्ध है या बहुतरकाल से सम्बद्ध है इस प्रकार की अपेक्षा बुद्धि से कुछ समय के लिये (परत्व अपरत्व) उत्पन्न होते है और नष्ट होते है। अर्थात दिककृत परत्वापरत्व मे 'इदमस्मात सन्निकृष्टम' यह अपेक्षाबुद्धि कारण है और कालकृत परत्वापरत्व मे 'अयमस्मात कनिष्ठ, 'अयमस्माज्ज्येष्ठ' यह अपेक्षाबुद्धि कारण है। किन्तु जिस उत्पन्न विनष्ट या आद्यक्षणावच्छिन्न घटादि पदाथ में परत्वापरत्व उत्पन्न ही नही हुए वहाँ उक्त साधम्य की अव्याप्ति होगी।

समा॰ परत्ववत्त्व = परत्वाश्रयत्व और अपरत्ववत्त्व=अपरत्वाश्रयत्व का अथ यह है—'परत्वादिसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व = परत्व—अपरत्वादि गुणो के साथ साथ रहनेवाली द्रव्यत्व की व्याप्यजातिवाला होना। द्रव्यत्व (इस व्यापकजाति) की व्याप्य जातिया जो परत्व, अपरत्व गुण के साथ साथ पाई जाती ह, केवल पाच ही है पृथ्वीत्व, जलत्व, तेजस्त्व, वायुत्व और मनस्त्व। तात्पय यह है कि परत्व, अपरत्व के अधिकरणस्वरूप जो पृथ्वी, जल, तेज, वायु मन इनमें रहनेवाली जो द्रव्यत्वव्याप्यजाति—पृथ्वीत्व, जलत्व, तेजस्त्व, वायुत्व और मनस्त्व ये पाँच जातिया ह, तादृशजातिमत्त्व इन पाच ही में रहेगा। अत उत्पन्न विनष्ट या आद्यक्षणावच्छिन्न घटादि मे अव्याप्ति नही होगी।

शका—उपयुक्त पाँचो के अतिरिक्त द्रव्यत्व की व्याप्य जाति 'आत्मत्व' भी है, तादृशजातिमत्त्व 'आत्मा' मे रहेगा, अत साधम्य की अतिव्याप्ति उसमे होगी।

समा॰—आत्मा में द्रव्यत्वव्याप्यजाति 'आत्मत्व' रहने पर भी, वह (आत्मत्वजाति) परत्व—अपरत्व गुण के साथ साथ कभी भी नही रहती, अत उसमे अतिव्याप्ति नही हो सकती। और जिन घट, पटादिको मे 'परत्वापरत्व' जाति उत्पन्न न भी हुई हो, वहा द्रव्यत्वव्याप्यपृथ्वीत्व जाति उपलब्ध होती है, इसलिये कोई दोष नही है। अपकृष्ट परिमाणवत्त्व (छोटा परिमाण) को मूतत्व कहते है। यह मूतत्व अर्थात सीमित—परिच्छिन्न परिमाण केवल उन्ही (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, मन) का है, आकाश (गगन), काल, दिक आत्मा का परिमाण, किसी से भी अपकृष्ट नही है, क्योकि गगन आदि की अपेक्षया किसीका भी उत्कृष्ट परिमाण प्रसिद्ध नही है।

शका—जब द्वयणुकादि की उत्पत्ति होती है, उस उत्पत्तिक्षण के समय उसमें (द्वयणुकादि मे) परिमाण उत्पन्न नही होता क्योकि 'उत्पन्न द्रव्य क्षणमगुण निष्क्रियञ्च तिष्ठति' यह नियम है, अत उसमे अव्याप्ति होगी।

समा॰—इस अव्याप्ति के वारणाथ 'अविभुपरिमाणवदवृत्ति द्रव्यत्वन्यूनवत्ति-जातिमत्त्व की विवक्षा करनी चाहिये।

शका—जिस पाषाण आदि मे क्रिया नही है, वहा कमत्व की भी अव्याप्ति होगी।

समा॰—उस अव्याप्ति के वारणाथ 'पूववत' कहा गया है अर्थात 'परत्वादि समानाधिकरण इत्यादि लक्षण की तरह कमवत्त्व का भी अथ कमसमानाधिकरण द्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व' अर्थात् कम के अधिकरण मे रहनेवाली जो द्रव्यत्वव्याप्य जाति, तादृशजातिमत्त्व—यह अथ करना चाहिये। न्याय की भाषा मे लापनिक इस प्रकार होगी—कम = घटादिनिष्ठा क्रिया तत्समानाधिकरणा या द्रव्यत्वव्याप्य जाति पृथ्वीत्वरूपा, जलत्वरूपा, तेजस्त्वरूपा वायुत्वरूपा च, समवायेन तद्वत्त्वः क्रियाशून्ये पाषाणादावपि सत्त्वात लक्षणसमन्वय।

वेगवत्त्व का भी अर्थ 'वेगवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व' अथ करना चाहिये अन्यथा वेगवत्त्व की भी वेगशून्य पाषाणादि मे अव्याप्ति होगी। वेगवान च आदि मे वतमान जो द्रव्यत्वव्याप्यजाति पृथ्वीत्वादिरूपा तद्वत्त्व। ऐसा अथ क से क्रिया तथा वेगशून्य घटादि में भी साधम्य चला जाता है। यद्यपि उनमे त्रि

तथा वेग नही है तथापि क्रिया और वेग के अधिकरण मे रहनेवाली व्यत्व व्याप्यजाति पृथ्वीत्व आदि तो विद्यमान ह ही, अत साधम्य लक्षण को उनमें अव्याप्ति नही होती ॥२५॥

इति पञ्चद्रव्यसाधम्यकथनम् ।

✽ कालखात्मदिशां सर्वगतत्वं परमं महत् ।

इति कालाकाशात्मदिशा साधम्यकथनम ।

क्षित्यादि पञ्च भूतानि चत्वारि स्पर्शवन्ति हि ॥ २६॥

काल, ख (आकाश), आत्मा, और और दिक इन चार पदार्थों का साधम्य सवगतत्व और परममहत्त्व है । और क्षिति (पथ्वी), अप (जल), तेजस (अग्नि), वायु और आकाश ये ही पाच भूत पदाथ है, अत इनका भूतत्व साधम्य है ।

☯ कालेति । कालाकाशात्मदिशा सर्वगतत्व—सर्वमूर्तसयोगित्व परममहत्त्व च साधर्म्यम् । परममहत्त्व जातिविशेष , अपकर्षानाश्रय-परिमाणत्व वा ।

इति कालखात्मदिशा साधम्यकथनम ।

क्षित्यादीति । पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाना भूतत्व साधर्म्यम् । तच्च बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वम् अत्र ग्राह्यत्व लौकिकप्रत्य-क्षस्वरूपयोग्यत्व बोध्यम् । तेन ज्ञातो घट इत्यादिप्रत्यक्षे ज्ञानस्याप्यु पनीतभानविषयत्वात्तद्वत्यात्मनि नातिव्याप्ति । न वा प्रत्यक्षाविषय-रूपादिमति परमाण्वादावव्याप्ति, तस्यापि स्वरूपयोग्यत्वात् । मह-त्त्वलक्षणकरणान्तरासन्निधानाच्च न प्रत्यक्षम् । अथवा आत्मावृत्ति-विशेषगुणवत्त्व तत्त्वम् ।

इति क्षित्यप्तेजोवय्वाकाशसाधम्यकथनम ।

चत्वारीति । पृथिव्यप्तेजोवायूना स्पर्शवत्त्वम् ॥ २६ ॥

● काल आकाश, आत्मा, दिक इन चार द्रव्यो का साधम्य **सर्वगतत्व** अर्थात् सम्पूण मूत या परिच्छिन्न परिमाणयुक्तपदार्थों के साथ सयोगसम्बन्ध से युक्त होना, और **परममहत्त्व** (परममहत्परिमाणवत्त्व) यह साधम्य है । सवगतत्व और परममहत्त्व दोनो का अथ स्थूलदृष्टि से सर्वव्यापक ही प्रतीत होता है । किन्तु सूक्ष्मदृष्टि से देखनेपर दोनो मे कुछ अन्तर प्रतीत होता है । 'सवगतत्व'

का अथ होगा जो सब जगह प्राप्त हुआ हो अर्थात जिसका प्रत्येक सीमित परिमाण वाले (मूत द्रव्य के साथ सयोग हुआ हो। आकाशादि का प्रत्येक सीमित-परिमाणवाले द्रव्य के साथ सयोग है ही। अब रहा परममहत्त्व (परममहतपरिमाणवत्त्व), उसका निरूपण दो प्रकार से किया जा सकता है। या तो 'परम-महत्त्वत्व' को एक जातिविशेष मान लिया जाय, और वह जातिविशेष जिसमे रहता हो उसे परममहतपरिमाण समझा जाय। यदि 'परममहत्त्वत्व' को जाति-विशेष न माने तो परममहत्परिमाण को इस प्रकार बताना होगा कि ऐसा परिमाण, जो मूतद्रव्य में न रहता हो अर्थात जो किसी परिच्छेद या सीमा का आश्रय न होता हो। 'क्षित्यादि पञ्चभूतानि' की व्याख्या करते है—पथ्वी जल, अग्नि वायु और आकाश इनका साधम्य 'भूतत्व' ह यानी ये पाचो भूत हैं। 'आकाश' को छोडकर शेष पृथ्वी, जल, तेज, वायु चार पदार्थों का स्पश हो पाता ह। भूतत्व (भूत) का अथ 'बाह्येन्द्रियो के द्वारा ग्रहण करनेयोग्य विशेषगुण से युक्त रहना'। यहा पर ग्राह्यत्व (ग्रहण करने योग्य) का अथ लौकिक प्रत्यक्ष की स्वरूपयोग्यता' समझनी चाहिये। अर्थात् लौकिकसन्निकषमात्र प्रयोज्य जो बहिरि-न्द्रियजन्यप्रत्यक्षविषयता, उसी को स्वरूपयोग्यता कहते है। अर्थात तादृशविषयता वच्छेदकधमवत्त्व ही ग्राह्यत्व पदाथ है। एवच भूतत्व का लक्षण यह निष्पन्न हुआ कि 'लौकिकसन्निकषमात्रप्रयोज्या या बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षीयविषयता, तादशविषय-तादच्छेदक धमवद्विशेषगुणनिरूपित - समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधिकरणतावत्त्वम्।' जैसे—चक्षु सयुक्तसमवायमात्रप्रयोज्या या चक्षुजन्यप्रत्यक्षविषयता घटसमवेतरूप निष्ठा, तदवच्छेदकरूपत्वधर्मवद्विशेषगुण रूप, समवायेन तदधिकरणो घटो भूत-पदाथ। साधारणतया 'ज्ञानविषयत्व' ही ग्राह्यत्व समझा जाता है। तथापि यहा 'ज्ञान' शब्द से लौकिक प्रत्यक्षात्मकज्ञान समझना चाहिये। और 'विषयता' शब्द से स्वरूपयोग्यत्वरूप विषयता को समझना चाहिये, यह निष्कष है।

शका—'ग्राह्यत्व' मे 'ज्ञान' पद से लौकिक प्रत्यक्षात्मक ज्ञान क्यो समझना चाहिये? तथा 'विषयता' पद से स्वरूपयोग्यत्वरूपविषयता को क्यो समझना चाहिये? केवल 'बहिरिन्द्रियजन्य जो ज्ञान तादशज्ञानविषयतावद्विशेषगुणवत्त्व' इतना ही 'भूतत्व' का अथ क्यो न समझा जाय?

समा०—'ग्राह्यत्व' के परिष्कार में 'ज्ञान' पद से अलौकिकप्रत्यक्षात्मक ज्ञान को यदि न लें तो 'भूतत्व' साधम्य की 'आत्मा' मे अतिव्याप्ति होगी। क्योकि 'ज्ञातो घट' इस प्रत्यक्षज्ञान मे 'ज्ञान' प्रकार (विशेषण) रूप से भासित

हो रहा है, अत प्रकारीभूत जो ज्ञान, (उसका) 'चक्षु सयुक्त जो मन, (उसस) सयुक्त हुआ जो आत्मा (उसमे) समवेत (समवाय सम्बन्ध से रहनेवाली) स्मृति, तद्विषयत्वरूप अर्थात चक्षु सयुक्त मन सयुक्त आत्मसमवेत स्मृति विषयत्वरूप ज्ञानलक्षणासन्निकष से 'घट' का प्रत्यक्ष होता है। अत बाह्येन्द्रिय (चक्षु) से होनेवाला जो ज्ञान ज्ञातो घट' इत्याकारक ज्ञान, उसका विषय होनेवाला विशेषगुण जो 'ज्ञान तद्वत्ता 'आत्मा' मे हो सकती ह इस कारण भूतत्व साधम्य की 'आत्मा' मे अतिव्याप्ति हो जायेगी। किन्तु जब हम 'ज्ञान' पद से लौकिक-प्रत्यक्षात्मकज्ञान का ग्रहण करते हैं तो 'ज्ञातो घट' यहाँ पर 'ज्ञान' का ज्ञान लक्षणासन्निकष से लौकिक प्रत्यक्ष नही होता। ज्ञानलक्षणासन्निकष तो अलौकिक सन्निकष है, उस कारण यहा पर 'ज्ञान' का अलौकिक प्रत्यक्ष ही होता है। 'ज्ञातोघट' यह ज्ञानविषयकज्ञान है, इस कारण उसे 'अनुव्यवसाय' ज्ञान कहते है। और ज्ञानलक्षणासन्निकषजन्य जो ज्ञान है, उसे 'उपनीतभान' कहते है। 'ज्ञातो घट' इस ज्ञान में ज्ञानविशिष्ट 'घट' विशेष्य है और व्यवसायात्मक प्रथमज्ञान, विषय होने के कारण (उसके) विशेषण के रूप मे भासित होता है। वहाँ 'घट' के साथ 'चक्षु सयोग' लौकिक सन्निकष है, और ज्ञानाश में ज्ञानलक्षणा अलौकिक सन्निकष है, । इस कारण ज्ञान में लौकिकविषयता न होने से अतिव्याप्ति नही हो सकती। निष्कष यह है कि 'ज्ञातो घट' इस प्रत्यक्षात्मक अनुव्यवसायज्ञान मे 'अय घट' यह प्रकारीभूत (विशेषणीभूत) बना ज्ञान है, वह उपनीतभान (ज्ञानलक्षणा सन्निकष) का विषय है। अर्थात उपनीत हुआ ज्ञानलक्षणा सन्निकर्षाश्रय घट, उसका जो भान अनुव्यवसायात्मकज्ञान, उसका विषय है यानी अलौकिक सन्निकषप्रयोज्य जो प्रत्यक्षविषयता, तदाश्रयगुणता होने के कारण तादृशज्ञानगुणवाले आत्मा में अतिव्याप्ति नही हो पायगी। अर्थात् ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष का योग होने से आत्मा में भूतत्व सिद्ध नही होता।

इसी प्रकार 'विषयता' पद का अथ 'स्वरूपयोग्यत्वरूपविषयता' न किया जाय तो परमाणु भी भूतो में है, उनमें भूतत्वलक्षण की अव्याप्ति होगी, क्योकि परमाणुओ के रूप आदि जो विशेषसज्ञकगुण है, वे प्रत्यक्षके विषय न होने से परमाणुओ की 'भूत' सज्ञा नही हो सकेगी। अर्थात भूतत्व का लक्षण परमाणुओ मे घटित न हो सकने से उनमे उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी। उस अव्याप्ति के वारणाथ 'विषयता' पद से 'स्वरूपयोग्यत्वविषयता' समझनी होगी। ऐसा समझने से परमाणुओ के रूप, जो प्रत्यक्ष के विषय नही हैं, किन्तु परमाणु तथा उसके

रूपादि मे लौकिक प्रत्यक्ष की स्वरूपयोग्यता तो है ही, अर्थात् परमाणु में चाक्षुष-प्रत्यक्ष होने के अन्यान्य कारणो के उपस्थित रहने पर भी केवल महत्त्व के न रहने के कारण परमाणु तथा उनके रूपादि का प्रत्यक्ष नही हो पाता, क्योकि चाक्षुषप्रत्यक्ष के प्रति 'महत्त्वावच्छिन्न उद्भूतरूपावच्छिन्न अलौकिकसयोगावच्छिन्न-चक्षु सयोग कारण होता है । अत परमाणु मे महत्त्व होने से उसका प्रत्यक्ष नही हो पाता तथापि चाक्षुष प्रत्यक्ष की स्वरूपयोग्यता तो परमाणु मे तथा उसके रूपादि मे है ही, तब 'बहिरिन्द्रियजन्य लौकिकप्रत्यक्षनिरूपित स्वरूपयोग्यताव द्विशेषगुण' तो परमाणु के रूपादि भी है, तादशविशेषगुणवत्त्व परमाणु आदि मे भी है, इस कारण परमाणु आदि मे अव्याप्ति नही है । 'तस्यापि स्वरूपयोग्यत्वात्' इस ग्रन्थ का यही अभिप्राय ह ।

अथवा 'आत्माऽवृत्ति विशेषगुणवत्त्व' ही 'भूतत्त्व' का लक्षण किया जाय, क्योकि आगे चलकर ग्रन्थकार स्वय कह रहे है कि 'आत्मानो भूतवर्गाश्च विशेष-गुणयोगिन —आत्मा और भूतवग (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश) विशेष-गुण (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श शब्द) वाले है । तब आत्मा मे न रहनेवाले (अवृत्ति) गन्धादि पाँच जो विशेषगुण (पथ्वी-आदि पाच भूतो के विशेष गुण) तादश विशेषगुणवत्त्व उन्ही परमाणु सहित पाँच द्रव्यो मे ही रहेगा, अत उन पाचो के परमाणुओ मे अव्याप्ति नही ह। तथापि आत्मा मे अवृत्ति जो परत्व अपरत्व है, उसको लेकर 'मन' में उस भूतत्व लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणाथ उन गुणो में 'विशेष' यह विशेषण जोडा गया है । तब परत्व-अपरत्वादि गुण, विशेषसज्ञक नही है, अपितु सामान्यगुण है, अत मन मे अतिव्याप्ति नही है । 'चत्वारि स्पर्शवन्ति हि'—पथ्वी, जल, तेज, वायु इन चारो का 'स्पर्श-वत्व' साधर्म्य है । अर्थात् पथ्वी आदि चार भूत स्पर्शवाले है । इन चारो में ही स्पर्शगुण उपलब्ध होता है, अन्यत्र नही, अर्थात् आकाशादि पाच द्रव्य में स्पर्श नही रहता ॥ २६ ॥

★द्रव्यारम्भश्चतुर्षु स्यादथाकाशशरीरिणाम् ।
अव्याप्यवृत्तिः क्षणिको विशेषगुण इष्यते ॥२७॥

● पृथिवी जल, तेज, वायु इन चार भूतो का 'द्रव्यारम्भकत्व' (नवीनद्रव्य को उत्पन्न करना) साधर्म्य है । अर्थात पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार द्रव्य किसी एक द्रव्य के उत्पादक है । अवयव, अवयवी के उत्पादक होते है। अत चार द्रव्यो का 'द्रव्यारम्भकत्व' साधर्म्य माना गया है । अभिप्राय यह है कि क्षिति

(पृथ्वी), अप (जल), तेजस और वायु ये द्रव्य के समवायिकारण है। आकाश किसी द्रव्य का समवायिकारण नही अपितु निमित्तकारण है। इसलिये द्रव्य-समवायिकारणता क्षिति—आदि चार भूतो का साधर्म्य है। आकाश और आत्मा का विशेषगुण अव्याप्यवत्ति और क्षणिक है अर्थात आकाश और आत्मा का साधर्म्य अव्याप्यवृत्ति क्षणिकविशेषगुणवत्त्व है।

द्रव्यारम्भ इति। पृथिव्यप्तेजोवायुषु चतुर्षु द्रव्यारम्भकत्व साधर्म्यम्। न च द्रव्यानारम्भके घटादावव्याप्ति, द्रव्यसमवायिकारण-वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्।

इति क्षित्यप्तेजोवायूना साधर्म्यकथनम्।

आकाशशरीरिणामिति। आकाशात्मनाम व्याप्यवृत्तिक्षणिकवि-शेषगुणवत्त्व साधर्म्यमित्यर्थ। आकाशस्य विशेषगुण शब्द, स चाव्याप्यवृत्तिर्यदा किञ्चिदवच्छेदेन शब्द उत्पद्यते तदाऽन्यावच्छेदेन तदभावस्यापि सत्त्वात्। क्षणिकत्व च तृतीयक्षणवृत्तिध्वसप्रतियो गित्वम्। योग्यविभुविशेषगुणाना स्वोत्तरवर्तिगुणनाश्यत्वात्प्रथम-शब्दस्य द्वितीयशब्देन नाश। एव ज्ञानादीनामपि। ज्ञानादिक यदा-ऽऽत्मनि विभौ शरीराद्यवच्छेदेनोत्पद्यते तदा घटाद्यवच्छेदेन तदभावो-ऽस्त्येव। एव ज्ञानादिकमपि क्षणद्वयावस्थायि। इत्थ चाव्याप्यवृत्तिविशेष-गुणवत्त्व क्षणिकविशेषगुणवत्त्व चार्थ। पृथिव्यादौ रूपादि विशेषगुणो ऽस्तीत्यतोऽव्याप्यवृत्तीत्युक्तम्। पृथिव्यादावव्याप्यवृत्ति सयोगादिरस्ती-त्यतो विशेषगुणेत्युक्तम्।

न च रूपादीनामपि कदाचित्तृतीयक्षणे नाशसम्भवात्क्षणिकवि शेषगुणवत्त्व क्षित्यादावतिव्याप्तमिति वाच्यम् चतु क्षणवृत्तिजन्या वृत्तिजातिमद्विशेषगुणवत्त्वस्य तदर्थत्वात्। अपेक्षाबुद्धि क्षणत्रय तिष्ठति, क्षणचतुष्टय तु न किमपि जन्यज्ञानादिक तिष्ठति।

रूपत्वादिक तु क्षणचतुष्टयस्थायिन्यपि रूपादौ वर्तत इति तद्व्यु-दास। ईश्वरज्ञानस्य चतु क्षणवृत्तित्वाज्ज्ञानत्वस्य तद्वृत्तित्वाज्जन्ये त्युक्तम्। यद्याकाशजीवात्मनो साधर्म्य तदा जन्येति न देयम्। द्वेष-त्वादिकमादाय लक्षणसमन्वयात्, परममहत्त्वस्य तादृशगुणत्वाच्च-तुर्थक्षणे द्वित्वादीनामपि नाशाभ्युपगमाद् द्वित्वादीनामपि तथात्वात्त-द्वारणाय विशेषेति। त्रिक्षणवृत्तित्व वा वाच्यम्। द्वेषत्वादिकमादाया-त्मनि लक्षणसमन्वय ॥ २७ ॥

शका—घट आदि जो कितने ही पूण अवयवी हैं, उनसे कोई अ‍न्य अवयवी द्रव्य उत्पन्न नही होते, तो अब घट आदि में द्रव्यारम्भकत्वरूप धम नही रहा अर्थात घट से घट उत्लन्न नही होता है। अत घट मे द्रव्यारभकत्वरूप साधर्म्य के न होने से अव्याप्ति होगी।

समा०—'द्रव्यारम्भकत्व' का जातिघटित अथ करने पर अव्याप्ति नही होगी। द्रव्यारम्भकत्व का यह प्रयोजन है कि किसी एक अवयवरूपी द्रव्य मे रहकर तथा द्रव्यत्व जाति की अपेक्षा अल्प स्थान में रहने वाली जो जाति (पथ्वीत्व, जलत्व, तेजस्त्व, और वायुत्व) ऐसी विवक्षा की जा सके। यही जाति इन्ही चार द्रव्यो में रहकर घट मे जो अव्याप्ति आती थी, अब नही हो सकती। अर्थात द्रव्य के समवायिकारण मे रहनेवाली जो द्रव्यत्वव्याप्यजाति (पथ्वीत्वजाति, जलत्वजाति आदि चार जातिया है) तादशजातिमत्त्व पृथ्वी, जल आदि सभी मे ह, तथा घटादि में भी है, इस कारण घटादि मे अव्याप्ति नही होती। शेष पाच पदार्थो मे से आकाश, काल, दिक् ये द्रव्य एक एक होने से उनमे जाति नही रहती और आत्मत्व, तथा मनस्त्व जाति आत्मा और मनस मे रहेगी जो कदापि समवायिकारण नहीं होते। इस प्रकार साधम्य के लक्षण को परिष्कृत कर दिया गया है। अन्त्यावयवी घट आदि यद्यपि किसी दूसरे नवीन घट को पैदा नही करता, तथापि उसमें पथ्वीत्वजाति तो रहती ही है जो द्रव्यत्वव्याप्य जाति है और द्रव्य के समवायिकारण द्वयणुक, त्र्यणुक आदि में रहती है, अत कोई अव्याप्ति दोष नही है।

शका—द्रव्य समवायिकारणवृत्ति जाति मे 'द्रव्यत्वव्याप्य' यह विशेषण क्यो दिया गया है ?

समा०—यह विशेषण यदि नही देंगे तो द्रव्यसमवायिकारणवत्ति द्रव्यत्व जाति को तथा सत्ताजाति को लेकर आकाशादि द्रव्यो मे उक्तलक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी, उसके निरसनाथ 'द्रव्यसमवायिकारणवत्तिजाति' मे 'द्रव्यत्वव्याप्य' यह विशेषण दिया गया है। द्रव्यत्वजाति तथा सत्ताजाती, द्रव्यत्वजाति को व्याप्य जातियाँ नही है।

अथाकाशशरीरिणामिति। आकाश तथा शरीरी (आत्मा) का अव्याप्यवृत्ति-विशेषगुणवत्त्व तथा क्षणिकविशेषगुणवत्त्व' साधम्य है। अर्थात दोनो में रहने

वाले विशेषगुण अव्याप्यवत्ति और क्षणिक होते है। आकाश का विशेषगुणशब्द है, वह 'अव्याप्यवृत्ति' है। अव्याप्यन्वत्ति (एकदेशवृत्ति) शब्द का यह अथ है कि जो पदाथ किसी जगह अपने अभाव के साथ रहे, उसी को अव्याप्यवृत्ति कहते है। जैसे—शब्द तथा ज्ञान आदि ये पदाथ अव्याप्यवत्ति होकर रहते है। क्योकि शब्द, आकाश का विशेषगुण है। जिस समय आकाश मे जा शब्द किसी एक प्रदेश मे रहता है, उसी समय (आकाश में) उस प्रदेश के अतिरिक्त अन्य प्रदेश मे उस शब्द का अभाव भी रहता ह, इस कारण वह शब्द अव्याप्यवत्ति कहा जाता है। जैसे आकाश तो सवत्र व्यापक है अर्थात सभी जगह फैला हुआ है, ऐसी स्थिति मे नगाडे (भेरी) का जो प्रदश ह वह भी आकाश से अवच्छिन्न (युक्त) है। इस कारण जिस समय किञ्चिदवच्छदेन (भेरीप्रदेशावच्छदन) अर्थात् भेरीप्रदेशावच्छिन्न आकाश मे शब्द उत्पन्न होता है उसी समय आकाश मे अन्यावच्छदेन (घट-पटाद्यवच्छदेन) अर्थात् शब्दशून्य घटात्मकप्रदेश से अवच्छिन्न आकाश मे शब्दाभाव भी रहता है। निष्कष यह हुआ कि आकाश के व्यापक रहने से वह सभी प्रदेशो से सम्बद्ध है। अत जिस भेरी प्रदेश मे शब्द हो रहा है तद्देशावच्छदेन आकाश शब्दवान् और घट पटादि के प्रदेश मे शब्द नही हो रहा ह तद्देशावच्छोदेन आकाश शब्दाभाववान् भी ह, इस कारण यह कह सकते हैं कि एक ही आकाशरूप अधिकरण मे शब्द भी ह और शब्दाभाव भी है। जहा एक ही अधिकरण मे प्रतियोगी और उसका अभाव दोनो रहते है, उसे अव्याप्य-वृत्ति कहते है। जैसे एक ही वृक्ष पर कपिसयोग और उसका अभाव दोनो रहते है अत कपिसयोग को अव्याप्यवत्ति कहा जाता है। ऊपर बता चुके है कि आकाश और आत्मा मे रहनेवाले विशेषगुण, अव्याप्यवृत्ति और क्षणिक होते हैं यानी अव्याप्यवृत्ति विशेषगुणवाला होना और क्षणिक विशेषगुण वाला होना ही दोनो का साधर्म्य है।

आकाश के विशेषगुणस्वरूप शब्द की अव्याप्यवृत्तिता को बता चुके। अब उसके क्षणिकत्व को देखें। 'शब्द' क्षणिक भी है। क्षणिक उसे कहते है, जिसका तृतीय क्षण मे ध्वस (नाश) हो। अर्थात उस ध्वस के प्रतियोगी को क्षणिक कहते है। नैयायिको का क्षणिकत्व, बौद्धो के क्षणिकत्व से भिन्न है। बौद्धो के मत में क्षणिक उसे कहते है जिसका स्वोत्पत्ति के दूसरे क्षण मे ही ध्वस हो। किन्तु नैयायिक तथा वैशेषिक किसी भी पदाथ का द्वितीयक्षण में ध्वस (नाश) नही मानते। इनके मत में प्रथम क्षण में उत्पत्ति और द्वितीय क्षण मे

स्थिति तथा ततीय क्षण मे ध्वस होता ह । ये स्थिति का भी एक क्षण मानते है, कि‍न्तु बौद्धो ने उत्पत्ति क्षण के अतिरिक्त स्थिति का कोई क्षण नही माना है । अत नैयायिको के मत मे 'तृतीय क्षणवृत्ति ध्वसप्रतियोगित्व' होना 'क्षणिक' पदाथ है । अथात जिसका ततीय क्षण मे नाश हो वह क्षणिक है । अत भेरीप्रदेश म उत्पन्न हुआ जो शब्द ह, वही हमारे कान तक नही पहुचता, बल्कि वह शब्द अगले दूसरे शब्द को उत्पन्न करता ह और उस अगले शब्द से प्रथम शब्द का ध्वस हो जाता है । एवच प्रत्येक शब्द प्रथम क्षण मे उत्पन्न हाता ह, द्वितीय क्षण मे अगले दूसरे शब्द को उत्पन्न करता ह और उस अगले उत्पन्न हुए द्वितोय शब्द से प्रथम का ततीय क्षण मे नाश हो जाता है । यानी प्रथम क्षण उत्पत्ति का क्षण ह, द्वितीय क्षण उसकी स्थिति का ह और तृतायक्षण उसके नष्ट होने का ह । एवच आकाश का विशेषगुण जो शब्द है वह अव्याप्यवृत्ति भी है और क्षणिक भी है । इसी प्रकार ज्ञानादि विशेषगुणो को भी समझना चाहिये । अर्थात आत्मा के नौ विशेषगुण है उनमे ज्ञान, इच्छा, द्वेष, सुख दु ख और प्रयत्न ये छह विशेषगुण अव्याप्यवत्ति भी है तथा क्षणिक भी है, और धम, अधम, भावनाख्यसस्कार ये तीन गुण केवल अव्याप्यवत्ति ही है, क्षणिक नही । 'आत्मा' सवव्यापक है तथापि उसका विशेषगुण ज्ञान, आत्मा के उसी प्रदेश मे उत्पन्न होता है, जो प्रदेश शरीर से अवच्छिन्न हो यानी आत्मा के जिस प्रदेश मे उस (आत्मा) का अपना शरीर वतमान है । घट-पटादि के प्रदेश मे भी आत्मा है कि‍न्तु वहाँ उसका अपना शरीर न होने से (वहा) ज्ञान उत्पन्न वही हाता । इस रीति स आत्मा के विशेषगुण ज्ञान आदि आत्मा के एक देश मे रहनेवाले होने से वे गुण अव्याप्यवत्ति है । ज्ञान आदि आत्मा के विशेष गुण केवल दो क्षण रहकर ततीय क्षण मे उनका नाश हो जाता है, अत वे क्षणिक भी है । जहा कही किसी घट पटादि वस्तु का ज्ञान लगतार कुछ समय तक होता प्रतीत होता है वहा भी यही समझना चाहिये कि वह एक ही ज्ञान नही है, अपितु उसी ज्ञान से उसी प्रकार का दूसरा ज्ञान, पुन उससे तीसरा ज्ञान, पुन उससे चौथा ज्ञान उसी तरह अगला अगला ज्ञान उत्पन्न होता रहता है । कहने का तात्पय यह है कि ज्ञानादि भी 'ततीयक्षणवृत्तिध्वसप्रतियोगी' होने से क्षणिक है । अत यह ठीक ही कहा गया है कि अव्याप्यवृत्ति विशेषगुण का हाना और क्षणिक विशेषगुण का होना आकाश और आत्मा का साधर्म्य है ।

शका—'अव्याप्यवृत्तिविशेषगुणवत्त्व' इस साधर्म्य में 'अव्याप्यवत्ति' यदि न कहे, केवल 'विशेषगुणवत्त्व' इतना ही कहे तो क्या आपत्ति है ?

समा०—'विशेषगुणवत्त्व' इतना ही यदि कहे तो पृथ्वी आदि में भी उसके अपने रूपादि विशेष गुण रहते ही है तो 'विशेषगुणवत्त्व' पथ्वी आदि मे भी रहने से उनमे (पृथ्वी आदि में) भी साधम्य की अतिव्याप्ति होगी, उस अति व्याप्ति के 'निरसनाथ अव्याप्यवत्ति' कहा गया ह । पृथिवी आदि के रूपादि विशेष-गुण अव्याप्य वत्ति नही है बल्कि 'व्याप्यवत्ति' है । अर्थात वे रूपादि विशेषगुण, पथिवी आदि को पूणतया व्याप्त करके रहते है । अत अव्याप्यवत्ति कहने से पथिवी आदि मे अतिव्याप्ति नही हो पायगी ।

शका—'अव्याप्यवृत्तिविशेषगुणवत्त्व' इस साधम्य लक्षण मे 'विशेष' पद क्यो दिया ? केवल 'अव्याप्यवत्तिगुणवत्त्व' इतना ही कहे तो क्या हानि है ?

समा०—केवल 'अव्याप्यवत्तिगुणवत्त्व' कहे और उसमे 'विशेष' पद न जोडें तो 'सयोगादिगुण' जो पथिवी आदि मे रहते है, वे भी अव्याप्यवत्ति है । अत सयोगादिगुणवाली पथिवी आदि मे इस साधम्य लक्षण की अतिव्याप्ति होगी । उसी अतिव्याप्ति के निरसनाथ लक्षण मे विशेष' पद जोडा गया है । तब सयोगादि तो विशेषगुण नही है, वे सामान्यगुण है । भले ही वे अव्याप्यवत्ति हो । अत सयोगादि मे विशेषगुणत्व न होने से पृथिवी आदि मे अतिव्याप्ति नही होगी ।

शका—मुक्तावलीकार ने 'क्षणिकविशेषगुणवत्त्व' यह साधम्य बताकर आगे उसका परिष्कार किया कि 'चतु क्षणवत्तिजन्याऽवत्तिजातिमद्विशेषगुणवत्त्व' इसकी (इस परिष्कार की) आवश्यकता क्यो हुई ?

समा०—पहले यह बता चुके है कि 'ततीय क्षण में जिसका नाश होता है उसे क्षणिक कहते है । किन्तु कभी कभी रूप आदि का भी किसी विशेष निमित्त (कारण) से ततीयक्षण मे नाश होना सम्भव है । जैसे—प्रथमक्षण मे घट पर दण्डप्रहार हुआ द्वितीयक्षण में घटनाश हुआ, तृतीयक्षण मे उसके रूप का नाश हुआ, क्योकि घट रूपनाश, घटनाश के अधीन है । तब ततीयक्षणवत्ति जो ध्वस अर्थात रूपध्वस (नाश) तत्प्रतियोगि 'क्षणिकत्व' रूप (घटरूप) में रहने से 'रूप' भी क्षणिकविशेषगुण हो गया, तादशरूपवत्ता पृथिवी आदि द्रव्यो में है ही । इस कारण 'क्षणिक विशेषगुणवत्त्व' साधम्य की पृथिवी आदि मे अतिव्याप्ति हो जायगी, उसके निरसनाथ उपयुक्त परिष्कार करने की आवश्यकता हुई ।

'चतु क्षणवत्तिजन्यावृत्तिजातिमद् विशेषगुणवत्त्व' यह अथ 'क्षणिकत्व' का करने पर अव्याप्ति नही होगी । क्योकि चारक्षण रहनेवाला जन्य पदाथ 'रूप' आदि भी है, उसमे 'रूपत्व' आदि जाति विद्यमान (वत्ति) है ही, और अवत्तिजाति अर्थात चतु क्षणवत्ति रूपादिजन्यपदाथ मे न रहनेवाली जाति 'ज्ञानत्व, शब्दत्व' आदि जाति ही होगी, तादशजातिमान (वैसी जाति का) विशेषगुण ज्ञान, शब्द आदि होगे। तद्वत्ता आत्मा मे, आक श मे ही होगी, पथिवी में तो होगी नही, इस का ण पथिवी आदि म अतिव्याप्ति नही पायेगी । कोई भी जन्यज्ञान चारक्षण नही रहता । अपेक्षाबुद्धि (अयमेक अयमेक इमौ द्वौ इत्याकारिका) तीन क्षण ही रहती है । रूपत्वजाति तो तीन, चार या उससे भी अधिक क्षण रहनेवाले रूप मे भी रहती है। अत कदाचित ततीयक्षण मे रूप आदि का नाश होने पर भी कोई दाष नही र्थात रूपत्वादि जाति को लेकर पृथिवी आदि मे अतिव्याप्ति हो सकेगी ।

शका—'चतु क्षणवत्ति ज यावत्तिजातिमदविशेषगुणवत्त्व' इस—क्षणिकत्व के परिष्कृतलक्षण मे 'जन्य' पद क्यो दिया है ? केवल इतना ही कहते कि 'चतु क्षणवृत्ति जो हो उसमे अवृत्ति जो जाति तादश जातिमद्विशेषगुणवत्त्व' तो क्या आपत्ति होगी ?

समा०—चतु क्षणवत्ति (चारक्षण रहनेवाला) ईश्वरज्ञान भी है क्योकि वह नित्य है उस पर ज्ञानत्व' जाति रहती है (वत्ति है) । यदि ज्ञानत्वजाति, चतु क्षणवत्ति ईश्वरज्ञान मे अवत्ति हाती तो तादशजातिमान विशेषगुण 'ज्ञान' होता, आर तब ज्ञानवत्ता (ज्ञानवाला) आत्मा मे होने से आत्मा मे लक्षणसमन्वय हो जाता, परन्तु हो नही पा रहा है इस कारण आत्मा मे अव्याप्ति हो जायगी, यह आपत्ति है । और दूसरी आपत्ति (दोष) यह भी होगी कि चतु क्षणवत्ति ईश्वरज्ञान मे अवत्तिजाति 'रूपवत्व जाति को भी ले सकते है, तब पृथिवी आदि में अतिव्याप्ति होगी । उसके निरसनाथ उक्त लक्षण में 'जन्य पद का निवेश किया है । तब चतु क्षणवत्ति जो जन्य होगे वे रूपादि ही हागे, उन रूपादिको मे अवृत्ति जाति, ज्ञानत्वादि होगी, उस जाति को लेकर तादृशजातिमान ज्ञानादि ही होगे, उस प्रकार के ज्ञानादिविशेष गुणवाला आत्मा हाने से लक्षणसमन्वय हो जायगा । एवच आत्मा मे अतिव्याप्ति नही, तथा पृथिवी आदि मे अतिव्याप्ति भी नही होगी । यदि 'आत्मन शब्द से जीवात्मा की ही विवक्षा करके जीवात्मा और आकाश का ही क्षणिक

विशेषगुणवत्त्व' यह साधम्य कहे तो क्षणिकत्व' के इस परिष्कृत चतु क्षणवत्ति जन्याऽवत्ति' अथ मे 'जन्य' पद को जोडने की आवश्यकता नही है। केवल 'चतु क्षणवृत्त्यवत्तिजातिमदविशेषगुणवत्त्व' इतना ही कहना पर्याप्त होगा। तब जीवात्मा मे भी लक्षणसमन्वय हो जायगा। जैसे—चतु क्षणवत्ति 'रूप आदि' को लेंगे तब द्वेषत्वजाति' उनमे (रूप आदि मे) अवत्ति है ही, क्योकि 'रूप म 'रूपत्व' जाति रहेगी द्वषत्वजाति नही,और यदि ईश्वर के विशेषगुणो को भी 'चतु क्षणवत्ति' के रूप मे ले, तब भी द्वेष को तो ले ही नही सकेगे, क्योकि ईश्वर मे द्वष नही रहता। इस कारण ज्ञान या ईश्वर की इच्छा आदि को ही लेना पडेगा। उनमे (ईश्वरीय ज्ञान या इच्छा मे) अवत्तिजाति 'द्वेषत्वजाति' होगी तादश जातिमान विशेषगुण 'द्वेष' होगा। तादश 'द्वेपवत्ता' जीवात्मा मे ही आवेगी। इसलिए चतु क्षणवत्ति' इत्यादि जो 'क्षणिकत्व' का लक्षण है, उसका जीवात्मा में सम-वय हो जायगा। एवच 'क्षणिकत्व' के दो लक्षण सम्पन्न हो गये—एक 'ज-य' पद से घटित (सहित) और दूसरा 'ज-य' पद से अघटित (रहित)। तात्पय यह है कि जब आकाश और जीवात्मा का 'क्षणिकत्व' साधम्य बताना हो तब 'क्षणिकत्व' का अथ 'चतु क्षणवत्त्यवत्तिजातिमदविशेषगुण वत्त्व' (यह जन्य पदाऽघटित अथ) करना चाहिये। और जब 'आत्मा' पद से जीवात्मा परमात्मा दोनो का सग्रह करना हो तब 'चतु क्षण वृत्तिजन्याऽवृत्तिजातिमदविशेषगुणवत्त्व' इस प्रकार 'जन्य' पदघटित परिष्कृत अर्थ को कहना चाहिये अर्थात् 'क्षणिकत्व' का अथ ज-यपदघटित करना चाहिये।

शका—उपर्युक्त दो प्रकार के (जन्यपदघटित तथा जन्यपदाऽघटित) लक्षणो मे विशेष' पद क्यो जाडा गया है ?

समा०—'जन्य पदघटित लक्षण मे 'विशेष' पद को यदि न जोड़ें तो 'चतु क्षणवत्तिज याऽवत्तिजातिमद गुणवत्त्व' यह 'क्षणिकत्व' का अथ हागा। तब इस लक्षण की काल आदि मे अतिव्याप्ति हो जायगी। जैसे—चतु क्षण वत्तिजन्य 'रूपादि' ही होगे, परममहत्त्व' तो होगा नही, क्योकि वह नित्य है। उनमें (रूपाद मे) अवत्तिजाति करके 'परममहत्त्व' जाति को लेंगे, तादश जातिमान् गुण परम-महत्त्व' होगा, तद्वत्त्व 'कालादि' मे रहेगा। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार ने बताया कि 'परममहत्त्वस्य तादशगुणत्वात' यानी 'परममहत्त्व' चतु क्षणवृत्तिज याऽवत्ति जातिमदगुण ह। तद्वत्त्व काल आदि मे रहने से अति-

व्याप्ति होगी। 'विशेष' पद के जोडने पर 'तादृशजातिमान जो गुण अपेक्षित होगा, वह विशेषगुण ही अपेक्षित होगा। तब 'परममहत्त्व' तो विशेषगुण नही है। इसलिये काल आदि मे अतिव्याप्ति नही होगी।

शङ्का०—जन्यपदाऽघटित लक्षण मे 'विशेष' पद यदि नही देगे तो 'घट आदि' में अतिव्याप्ति होगी। जैसे—चतु क्षणवत्ति करके 'द्वित्व' सख्या को तो ले नही सकेंगे, क्योकि द्वित्वोत्पत्ति से चतुर्थक्षण मे द्वित्व सख्या का विनाश होता है। ग्रन्थकारने भी कहा है कि 'चतुर्थक्षणे द्वित्वादीनामपि नाशाभ्युपगमात्'—द्वित्वोत्पत्ति से चतुर्थक्षण मे द्वित्व सख्याका नाश हो जाता है। अत 'चतु क्षणवत्ति जैसे रूपादि है वैसे ही 'परममहत्त्व' परिमाण भी है। उस पर वृत्ति 'परममहत्त्व' जाति ही होगी, अवत्तिजाति 'द्वित्वत्व' जाति होगी, तादृशजातिमान गुण 'द्वित्व-सख्या' होगी, तद्वत्ता 'घटादि' मे रहने से घटादि मे अतिव्याप्ति हो जायेगी।

समा०—उक्त अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'विशेष' पद का जोडना आवश्यक है। 'विशेष' पद के जोडने पर अर्थ इस प्रकार होगा कि तादृशजातिमान जो विशेषगुण तब 'द्वित्वसख्या' तो विशेषगुण नही है, वह तो सामान्य गुण है। इस कारण घटादि मे अतिव्याप्ति नही होगी।

अथवा— चतु क्षणवृत्तिजन्याऽवत्तिजातिमद्विशेषगुणवत्त्वम' यहा पर 'चतु-क्षणवृत्ति' के स्थान पर अर्थात 'चतु क्षणवृत्ति' न कहकर 'त्रिक्षणवृत्ति' कहे तो 'जन्य' पद देने की आवश्यकता नही रहेगी। एवच 'क्षणिक' (त्व) का 'त्रिक्षण-वत्त्यवृत्तिजातिमदविशेषगुणवत्त्व' इतना ही अर्थ होगा। तब 'द्वेष' तो दो क्षण ही रहता है अर्थात द्विक्षणात्रस्थायी होता है। अत त्रिक्षणावृत्ति करके 'रूपादि' को लेना पडेगा, उनमें अवृत्ति जाति 'द्वेषत्वजाति' होगी, तदृशजातिमान विशेषगुण 'द्वेष' होगा, तद्वत्ता 'जीवात्मा' मे होगी। क्योकि 'द्वेषत्व' जाति, तीनक्षण रहने वाले किसी पदार्थ में नही रहती। 'द्वेष' ऐसा क्षणिक विशेषगुण है, जो 'जीवात्मा' में रहता है। तब 'द्वेषत्वजाति' का लेकर जीवात्मा मे साधर्म्यलक्षण का समन्वय हो जायगा ॥२७॥

(* रूपद्रवत्वप्रत्यक्षयोगिन' प्रथमास्त्रयः।
गुरुणी द्वे रसवती द्वयोर्नैमित्तिको द्रवः ॥२८॥

● प्रथमत्रिक अर्थात पृथिवी, अप् तेज। 'रूप च द्रवत्व च प्रत्यक्ष च' यह यह द्वन्द्वसमास है। तब 'तैर्युज्यन्ते' इस अर्थ मे 'णिनि' प्रत्यय किया गया है।

'द्वन्द्वा ते द्वन्द्वादौ वा श्रूयमाण पद प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इस नियम के अनुसार 'योगि' पद का प्रत्येक के माथ अ वय (सम्ब ध) करना चाहिये। तब अथ होगा कि रूपयोगित्व, द्रव्ययोगित्व, प्रत्यक्षयोगित्व यह साधम्य पथिवी, जल (अप्), तेज (तेजस्) इन तीनो का है। पथिवो, अप (जल) ये दो द्रव्य, 'गुरुणी' अर्थात गरुत्ववान और रसवान है। यानी उक्त दो द्रव्यो (पृथ्वी, जल) का गुरुत्ववत्त्व और रसवत्त्व—साधम्य है। अर्थात ये दोनो द्रव्य समवाय सबध से गुरुत्ववान और रसवान है और पृथ्वो, तेज दोनो द्रव्यो का समवायसम्बन्ध से नैमित्तिक द्रवत्ववत्त्व साधम्य है।

रूपद्रवत्वेति। पृथिव्यप्तेजसा रूपवत्त्व, द्रवत्ववत्त्व प्रत्यक्ष-विषयत्व च साधर्म्यमित्यर्थ। न च चक्षुरादीना भर्जनकपालस्थवह्ने रूष्मणश्च रूपवत्त्वे किं मानमिति वाच्यम् तत्रापि तेजस्त्वेन रूपानुमानात्। एव वाय्वानीतपृथिवीजलतेजोभागानामपि पृथिवीत्वादिना रूपानुमान बोध्यम्।

न च घटादौ द्रुतसुवर्णादिभिन्ने तेजसि च द्रवत्ववत्त्वमव्याप्तमिति वाच्यम्, द्रवत्ववद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्। घृतजतुभृतिषु पृथिवीषु, जलेषु, द्रुतसुवर्णादौ तेजसि च द्रवत्वस त्त्वात्तत्र च पृथिवीत्वादिसत्त्वात्तदादाय सर्वत्र लक्षणसमन्वय।

न च प्रत्यक्षविषयत्व परमाण्वादावव्याप्तमतिव्याप्त च रूपादाविति वाच्यम्, चाक्षुषलौकिकप्रत्यक्षविषवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्। आत्मन्यतिव्याप्तिवारणाय चाक्षुषेति।

● पृथिवी, जल, तेज (अग्नि) इन पहले तीन द्रव्यों का साधम्य, रूपवत्त्व (रूपवाला=रूपयुक्त) द्रवत्ववत्त्व (द्रवत्ववाला=द्रवत्वयुक्त), और प्रत्यक्ष-विषयत्व (प्रत्यक्ष का विषय होना) है। ये तीनो द्रव्य प्रत्यक्ष के विषय होते है। पृथिवी आदि नौ द्रव्यो मे से केवल पथ्वी, जल, तेज य तीन द्रव्य ही रूपवाले (रूप युक्त) है, बाकी बचे वायु से लेकर आत्मा तक सभी द्रव्य रूपरहित है। और द्रवत्व (तरलता) भी इन्ही तीन द्रव्यो में पाया जाता है। जितने भी तरल (द्रव) पदाथ दिखाई देते है, वे सब पृथिवी, जल, तेज मे से ही अ यतम (कोई एक) द्रव्य होगे। उसी प्रकार चाक्षुष प्रत्यक्ष, भी इन्ही तीन पृथ्वी, जल और तेज का ही होता है। कारिका में दिये गये 'प्रत्यक्ष' पद का अभिप्राय केवल

'चाक्षुषप्रत्यक्ष' से ही है। आत्मा का भी प्रत्यक्ष होता है किन्तु वह चाक्षुषप्रत्यक्ष न होकर मानस प्रत्यक्ष है।

शका—तैजस कहे जाने वाले चक्षु, भजनकपाल (भाड) में स्थित अग्नि, और ऊष्मा (गरमी) एन तीनो के रूपवत्त्व मे कोई प्रमाण नही है, क्याकि इन तीनो के रूप का प्रत्यक्ष नही हो पाता। अत 'रूपवत्त्व' साधम्य की इनमे अव्याप्ति होगी।

समा०—जिन स्थलो मे अव्याप्ति प्रतीत हो रही है, उन स्थलो मे रूप की प्रतीति न होने पर भी 'तेजस्त्व' हेतु से रूप का अनुमान कर लेना चाहिये। अनुमान का आकार यह होगा—'चक्षु रूपवत तेजस्त्वात प्रदीपवत', 'भजनकपाल स्थवह्नि रूपवान तेजस्त्वात विद्युदवत', 'ऊष्मा रूपवान तेजस्त्वात प्रभावत' यहा सवत्र साध्य और हेतु का समवायसम्बन्ध समझना चाहिये। उसी प्रकार हवा मे मिले हुए या हवा मे उठते हुए पथिवी के, जल के, और तेज के कणो मे भी रूप की प्रतीति नही होती है अत वहा पर भी पथिवीत्व आदि हेतुओ से अर्थात् पृथ्वीत्व, जलत्व तेजस्त्व हेतुओ से रूप का अनुमान करना चाहिये।

शका—पथ्वी मे, जल मे, तेजस् मे, 'द्रवत्व' गुण बताया लेकिन वह 'द्रवत्व' गुण समस्त पृथ्वी (घट पटादि) मे तथा पिघले हुए सुवण को छोडकर दूसरे अग्नि (रसोई आदि का अग्नि) मे नही दिखाई देता, अत द्रवत्व की अव्याप्ति हुई।

समा०—ऐसे स्थल पर 'द्रवत्ववत्त्व' का परिष्कृत अथ करना चाहिये। अर्थात जातिघटित लक्षण कर देना चाहिये। द्रवत्ववत्त्व का परिष्कृत अर्थ इस प्रकार होगा –'द्रवत्ववदवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व' इस अथ के करने से अव्याप्ति का निवारण हो जायगा। क्योकि द्रवत्ववान् करके घृत, जतु, पृथिवी, जल, पिघला हुआ सुवर्णादिरूप तेज, उनमें वत्ति (रहनेवाला) जो द्रव्यत्वव्याप्य जाति, क्रम से पथिवीत्व, जलत्व, तेजस्त्व जाति, उस जाति के अन्तगत पथिवीत्वजातिमत्त्व घटादिरूप पृथिवी मे तथा तेजस्त्वजातिमत्त्व द्रुत (पिघले) सुवर्णादि से भिन्न वह्निरूप तेज मे भी है, इसलिये अव्याप्ति नही हो पायेगी। इसी पद्धति से पृथ्वीत्वजाति को लेकर पूवप्रदर्शित सभी स्थलो मे लक्षण को घटा लेना चाहिये।

शका—'चाक्षुषप्रत्यक्षविषयत्व' रूपसाधम्य की पृथिवी, जल आदि के

परमाणुओ में तथा द्वचणुक मे अव्याप्ति होगी क्योकि—परमाणु एव द्वचणक का चाक्षुषप्रत्यक्ष नही होता, वे अतीन्द्रिय है। अत उनमें प्रत्यक्ष विषयत्व' न होने से अव्याप्ति हो रही है। उसी प्रकार रूप, रूपत्व और क्रिया में अतिव्याप्ति होगी, क्योकि रूप, रूपत्व और क्रिया का प्रत्यक्ष होता है। अत उनमे 'प्रत्यक्षविषयत्व' है। कि तु रूप आदि उक्त साधर्म्य के लक्ष्य नही है। अत अलक्ष्य में साधर्म्य का लक्षण जाने से अतिव्याप्ति हो रही है।

समा—यहा पर भी जाति घटितलक्षण करने से अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोषो का वारण हो जायगा। जातिघटित करने का प्रकार—चाक्षुष प्रत्यक्ष के जो विषय है उनमे वृत्ति (रहनेवाली) जो द्रव्यत्वव्याप्यजाति'—यह अथ 'प्रत्यक्षविषयत्व' का करना चाहिये। जैसे—चाक्षुषप्रत्यक्ष का विषय 'पृथिवी' (घट), जल, तेज होगे, उनमे वृत्ति (रहनेवाली) द्रव्यत्वव्याप्यजाति करके पथिवीत्व, जलत्व, तेजस्त्व जाति होगी, तादृशजातिमान, पृथिवी जल, तेज के परमाण भी होगे। अत तादश (उस प्रकार के) जातिमत्त्वरूप प्रत्यक्षविषयत्व की परमाणु, द्वचणुक आदि में अव्याप्ति नही होगी। और रूप, रूपत्व, क्रिया मे तादश द्रव्यत्वव्याप्यजाति के न होने से उनमे अतिव्याप्ति भी नही होगी। चाक्षुषप्रत्यक्ष के विषय मे रहनेवाली द्रव्यत्वव्याप्य जातिया केवल पृथिवीत्व, जलत्व और तेजस्त्व ये तीन ही होती है।

शका—'प्रत्यक्षविषयत्व' का अथ 'चाक्षुष लौकिक प्रत्यक्षविषयत्व' है ऐसा पहले कह चुके है। परन्तु इस परिष्कृत अथ में से यदि 'चाक्षुष पद हटा दिया जाय तो कहा दोष आवेगा ?

समा०—'चाक्षुष' पद न देने पर 'आत्मा मे अतिव्याप्ति होगी। क्योकि 'आत्मा' का भी लौकिक मानस प्रत्यक्ष होता ह। एवच लौकिक मानस प्रत्यक्ष का विषय होनेवाले आत्मा में वृत्ति (रहनेवाली) द्रव्यत्वव्याप्यजाति आत्मत्व' जाति होगी, तादशजातिमान 'आत्मा' होगा। इस रीति से 'लौकिकप्रत्यक्षविषयत्व' की अतिव्याप्ति हो जायगी। किन्तु 'चाक्षुष पद के देने पर—अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है। क्योकि—'आत्मा' चाक्षुषप्रत्यक्ष का विषय नही होता, उसका तो मानस प्रत्यक्ष होता है। इस रीति से अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिये 'चाक्षुष' पद देना आवश्यक है।

इति पथिव्यप्तेजसा साधम्यकथनम ।

●गुरुणी इति। गुरुत्ववत्त्व रसवत्त्व च पृथिवीजलयोरित्यर्थ । न च घ्राणेन्द्रियादीना वाय्वानीतपार्थिवादिभागाना च रसादिमत्त्वे कि मानमिति वाच्यम् , तत्रापि पृथिवीत्वादिना तदनुमानात्।

इति पृथिवीजलयो साधर्म्यकथनम ।

● पथिवी और जल का 'गुरुत्ववत्त्व तथा रसवत्त्व' साधर्म्य पहले बता चुके है। उस सम्बन्ध मे भी जिज्ञासा उपस्थित होती है—नैयायिक तथा वैशेषिको के मत मे पथिवी और जल मे ही 'गुरुत्व' माना गया है। सुवर्ण भी तैजसपदार्थ होने से उसमें जो 'गुरुत्व' है, वह पार्थिव अश के कारण है। पथिवी और जल दोनो मे ही रस माना गया है। जल मे मधुर रस और पथ्वी मे अनेक प्रकार के रस रहते है, यह भूलना नही चाहिये।

शका—नयायिको ने घ्राणेन्द्रिय को पथ्वी माना है, तब उस (घ्राणेन्द्रिय) के पार्थिव भाग में तथा वायुवेग के द्वारा उडकर आये हुए पार्थिव कणो मे या जलीय कणो मे तथा द्वचणको मे रस (रसादिमत्त्व या गुरुत्ववत्त्व) की प्रतीति क्यो नही होती ?

समा०—वहा पर भी (घ्राण, रसना, परमाणु आदि में भी) 'पृथिवीत्व और जलत्व' हेतु के द्वारा रसादिमत्त्व (उनके रस) का अनुमान कर लेना चाहिये। जैसे— घ्राणेन्द्रिय रसवत पथिवीत्वात शकरावत'। 'घ्राण गुरुत्ववत् पथिवीत्वात घटवत्'। रसन रसवत् जलत्वात कूपोदकवत','रसन गुरुत्ववत जलत्वात् करकावत'। उसी तरह 'पार्थिवपरमाण्वादय रसवन्त गुरुत्ववन्तश्च पृथिवीत्वात् शकरादिवत्'। 'जलपरमाण्वादय रसवन्त गुरुत्ववन्तश्च जलत्वात नारिकेल जलवत'। इन अनुमान प्रयोगो से पृथ्वी, जल का गुरुत्ववत्त्व और रसवत्त्व साधर्म्य सिद्ध होता है।

इति पृथिवीजलयो साधर्म्यकथनम ।

● द्वयोरिति। पृथिवीतेजसोरित्यर्थ । न च नैमित्तिकद्रवत्ववत्त्व घटादौ वह्न्यादौ चाव्याप्तमिति वाच्यम् नैमित्तिकद्रवत्वसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् ॥२८॥

इति पथिवीतेजसो साधर्म्यकथनम ।

पथ्वी और तेजस (तेज) दोनो का नैमित्तिकद्रवत्ववत्त्व साधर्म्य है। जिस द्रव्य में किसी कारण (निमित्त) से द्रवत्व होता है, उस द्रव्य को नमित्तिक-

और 'रूप, रस, गन्ध स्पश' ये चार और स्नेह, सासिद्धिकद्रवत्व, अदष्ट अर्थात धम अधम, भावनाख्यसस्कार तथा शब्द ये सोलह विशेष गुण कहे जाते हैं। ये 'विशष गुण' पाच भूत और आत्मा में होते ह। अवशिष्ट 'दिक्, काल और मन' तीन द्रव्यो मे कोई विशेषगुण नही रहता। जो गुण किसी खास द्रव्य में रहे उसे विशषगुण कहते है और साधारणरूप से अनेक द्रव्यो में जो पाया जाय उसे सामान्यगुण कहते है। जैसे—सख्या, परिमाण, पथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व आदि ये गुण सभी द्रव्यो मे पाये जाते है। अत ये सामान्यगुण समझे जाते है।

अभी तक जो जिसका साधम्य बताया गया ह, वही साधम्य अन्य द्रव्यो का वैधर्म्य है। जैसे द्रव्य, गुण, कम तीनो का 'सत्तावत्त्व' साधम्य बताया है। अत इन तानो से अन्य जो सामान्यादि है, उनका वैधम्य 'सत्तावत्त्व' होगा अर्थात विरुद्ध धम कहलायगा। किन्तु ज्ञेयत्व, 'वाच्यत्व' प्रमेयत्व, अभिधेयत्व, पदाथत्व ये केवलान्वयी धम किसी के भी वधम्य (विरुद्धधम) नही होते। ये सभी पदार्थो के समान धम हाते ह। केवलान्वयी धम उसे कहते है जो- अत्यन्ताभावाऽप्रतियागित्व केवलान्वयित्वम—अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी न हो अर्थात् अप्रतियोगी धम हो।

'आत्मान' इति। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशात्मना विशेषगुणवत्त्व साधर्म्यमित्यर्थ।

इति भूतात्मनो साधम्यकथनम्।

• पथिवी मे रूप, रस, गन्ध, स्पश। जल में रूप, रस, स्पश। तेजस् (तज) में रूप, स्पश। वायु में स्पश। आकाश मे शब्द। जीवात्मा में बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वष, प्रयत्न, धम, अधम, भावना। ईश्वर (परमात्मा) में ज्ञान, इच्छा प्रयत्न ये धर्म समवाय सम्बन्ध से रहत है। अत समवायेन विशषगुणवत्त्व' को पथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, आत्मा का साधम्य कहा है। यहा तक साधम्य बताया।

इति भूतात्मनो साधम्यकथनम।

यदुक्तमिति। ज्ञेयत्वादिक विहायेति बोध्यम्। तत्त न कस्यापि वैधर्म्य, केवलान्वयित्वात्॥२९॥

इति वैधम्यनिरूपणम।

अब उनका वैधर्म्य भी 'यदुक्तम्' से सक्षेप मे बता रहे हैं। जो जो धम (गुण अथवा कम आदि) जिस जिस पदाथ का साधम्य ह, उन धर्मो मे ज्ञेयत्व, अभिधेयत्व आदि धर्मो का भी सावम्य समझना चाहिये। इनके अतिरिक्त ये वम उक्त पदार्थो से भिन्न पदार्थो के वैधम्यरूप है। जसे—'समवायिकारणता' द्रव्यो का साधम्य है, किन्तु वही समवायिकारणता 'गुणो' का वैधम्य है। 'सत्तानामपि साधम्य ज्ञेयत्वादिकमुच्यते' इससे स्पष्ट है कि 'ज्ञेयत्व प्रमेयत्वादि वम' किसी भी पदाथ के वैधम्य नही, ये तो सातो पदार्थो के साधम्य है। अत ज्ञेयत्वादि वर्मों से भि न वर्मो को वैधम्यरूप समझना चाहिये।' ज्ञेयत्वादि धम' तो केवला-वयी है, वे किसी पदाथ के विरुद्ध धम नही हो सकते ॥२९॥

इति वैधम्यनिरूपणम ।

स्पर्शादयोऽष्टौ वेगाख्यः संस्कारो मरुतो गुणाः ।
स्पर्शाद्यष्टौ रूपवेगौ द्रवत्वं तेजसो गुणाः ॥३०॥
स्पर्शादयोऽष्टौ वेगश्च गुरुत्वं च द्रवत्वकम् ।
रूपं रसस्तथा स्नेहो वारिण्येते चतुर्दश ॥३१॥
स्नेहहीना गन्धयुताः क्षितावेते चतुर्दश ।
बुद्ध्यादिषट्कं सङ्ख्यादिपञ्चकं भावना तथा ॥३२॥
धर्माधर्मौ गुणा एते ह्यात्मनः स्युश्चतुर्दश ।
सङ्ख्यादिपञ्चकं कालदिशोः शब्दश्च ते च खे ॥३३॥
सङ्ख्यादयः पञ्च बुद्धिरिच्छा यत्नोऽपि चेश्वरे ।
परापरत्वे संख्याद्याः पञ्च वेगश्च मानसे ॥३४॥

'स्पर्शादय इति ।' ते च पञ्चसख्यादय । खे आकाशे ॥३०-३४॥

इति सामा-यतो द्रव्यगुणकथनम् ।

● उ तीस कारिकाओ तक पदार्थों का साधम्य-वैधम्य बता चुके। अब तीसवी कारिका से चौतीसवी कारिका तक किन किन द्रव्यो में कितने और कौन-कौन गुण रहते हैं, उसे बता रहे है। इस विषय मे एक प्राचीन कारिका भी है—'वायोनवैकादश तेजसो गुणा, जलक्षितिप्राणभता चतुर्दश। दिक्कालयो पञ्च,

षडेव चाम्बरे, महेश्वरेऽष्टौ, मनसस्तथैव च।' इस प्राचीन कारिका के अनुसार ही ग्र थकार ने वायु आदि द्रव्यो मे गुणो की व्यवस्था का निरूपण किया है। वायु में नौ गुण रहते है, तेज (तेजस) में ग्यारह गुण रहते है जल, पथिवी, जीवात्मा मे चौदह गुण रहत है, दिक् (दिशा) और काल मे पाँच गुण रहते है, अम्बर (आकाश) मे छह गुण रहते है, ईश्वर में आठ गुण रहते है, मन में भी आठ गुण रहते है। इस कारिकाथ को ही ध्यान मे रखकर ग्रथकार अपनी कारिकाओ के द्वारा किस द्रव्य में कितने और कौन गुण रहते है उसे बता रहे है। **'स्पर्शादयोष्टौ'** (१) स्पर्श, (२) सख्या, (३) परिमाण, (४) पथकत्व, (५) सयोग, (६) विभाग, (७) परत्व, (८) अपरत्व, (९) वेगाख्य सस्कार—ये नौ गुण 'वायु) के है। उनमे 'स्पश' विशेष गुण है शेष सामान्य गुण है। 'स्पशाद्यष्टाविति (१) स्पश, (२) सख्या, (३) परिमाण, (४) पृथकत्व, (५) सयोग, (६) विभाग, (७) परत्व, (८) अपरत्व, (९) रूप, (१०) वेगाख्यसस्कार, (११) नैमित्तिकद्रवत्व—ये ग्यारह गुण 'तेज' के है। उनमे स्पश और रूप विशेषगुण है, शेष सामान्यगुण है॥ ३०॥ **स्पर्शाद्योष्टाविति।'** (१) स्पश (२) सख्या (३) मरिमाण (४) पथकत्व, (५) सयोग, (६) विभाग, (७) परत्व, (८) अपरत्व, (९) वेगाख्य-सस्कार, (१०) सासिद्धिक [स्वाभाविक] द्रवत्व, (११) गुरुत्व, (१२) रूप, (१३) रस, (१४) स्नेह—ये चौदह गुण 'जल' के है। उनमे स्पश, सासिद्धिकद्रवत्व, रूप, रस, स्नेह विशेषगुण है, शेष सामा यगुण है॥ ३१॥ **'स्नेहहीनेति।'** उपयुक्त चौदह गुणो मे से 'स्नेह' के स्थान मे 'गन्ध' को रख देने से चौदह गुण पथिवी के हो जाते है। जैसे—(१) स्पश, (२) सख्या (३) परिमाण, (४) पृथक्त्व (५) सयोग, (६) विभाग, (७) परत्व, (८) अपरत्व, (९) वेग, (१०) नैमित्तिकद्रवत्व, (११) गुरुत्व, (१२) रूप, (१३) रस, (१४) गन्ध—ये चौदह गुण, 'पृथ्वी' के है। उनमें से स्पश, रूप, रस, गन्ध विशेष-गुण है, शेष सामान्यगुण है। **'बुद्ध्यादिपटकमिति।'** (१) बुद्धि, (२) सुख, (३) दु ख, (४) इच्छा, (५) द्वेष, (६) प्रयत्न—ये बुद्धियादिषट्क (छह) हैं। **सख्यादिपञ्चकमिति।** (१) सख्या, (२) परिमाण, (३) पृथक्त्व, (४) सयोग, (५) विभाग—ये सख्यादि पञ्चक है। (६) भावनाख्यसस्कार (७) धम (८) अधम—ये चौदह गुण जीवात्मा के है, उनमें से बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, भावना, धम अधम विशेष गुण हैं, शेष सामान्य गुण

है। **सख्यादिपञ्चक कालदिशोरिति**।' (१) सख्या, (२) परिमाण, (३) पथकत्व, (४) सयोग, (५) विभाग—ये पाच गुण काल के और दिक (दिशा) के है। सामान्यगुण है, क्योकि काल और दिक के विशेषगुण नही होते। **शब्दश्च ते च खे इति**। ते च' अर्थात् (१) सख्या, (२) परिमाण, (३) पथकत्व, (४) सयोग, (५) विभाग, (६) शब्द—ये छह गुण ख = आकाश के ह। उनमें से 'शब्द' विशेषगुण ह, शेष सामान्यगुण है ॥३२॥३३॥ **सख्याद्य पञ्च** इति। (१) सख्या, (२) परिमाण, (३) पृथक्त्व, (४) सयोग, (५) विभाग, (६) बुद्धि, (७) इच्छा, (८) प्रयत्न—ये आठ गुण ईश्वर के है। उनमें से बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न विशेषगुण है, शष सामान्यगुण है **परापरत्वे इति**। (१) परत्व, (२) अपरत्व, (३) सख्या, (४) परिमाण, (५) पथकत्व, (६) सयोग, (७) विभाग, (८) वेग—ये आठ गुण 'मन' के है। ये सब सामान्यगुण है, क्योकि 'मन के विशेषगुण नही होते। 'रूप, रस, गन्ध, स्पश, बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धम, अधम, भावनारूपसस्कार, शब्द स्नेह, सासिद्धिकद्रवत्व—ये विशेषगुण कहे जाते है। और सख्या, परिमाण, पृथकत्व, सयोग विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, नैमित्तिकद्रवत्व वेग-स्थितिस्थापकसस्कार—ये सामान्यगुण कहे जाते है ॥ ३४ ॥

ते च पञ्च सख्यादय । खे = आकाशे ॥ ३०, ३१, ३२, ३३, ३४ ।

मुक्तावलिकार ने 'ते सवनाम से सख्यादि पांच और 'खे' पद का अथ बताया 'आकाशे' आकाश में ॥ ३०—३४ ॥

इति सामान्यतो द्रव्यगुणकथनम ।

इति बालप्रियासनाथाया मुक्तावल्या साधर्म्य वैधर्म्यनिरूपणात्मिका प्रथमप्रकरणलक्षणा ।

—•—

प्रत्यक्षखण्डे द्रव्यनिरूपणं नाम द्वितीयं प्रकरणम्

[*] तत्र क्षितिर्गन्धहेतुर्नानारूपवती मता।
षड्विधस्तु रसस्तत्र गन्धस्तु द्विविधो मतः ॥३५॥

द्रव्यनिरूपण—नामक द्वितीय प्रकरण का आरम्भ किया जा रहा है। चौतीसवी कारिका तक सात पदार्थों का साधर्म्य वैधर्म्य बताते हुए किन द्रव्यो में कितने और कौन कौन गुण रहते है, यह बताया गया। अब पथिवी आदि प्रत्येक द्रव्य का निरूपण कर रहे है। 'ग घहेतु' = गन्ध का समवायिकारण। उक्त द्रव्यो में 'पृथ्वी' द्रव्य, गन्ध का समवायिकारण है।

साधर्म्यवैधर्म्ये निरूप्य सम्प्रति प्रत्येक पृथिव्यादिक निरूपयति 'तत्रे'ति। गन्धहेतुरिति। गन्धसमवायिकारणमित्यर्थ। यद्यपि गन्धवत्त्व-मात्र लक्षणमुचित, तथापि पृथिवीत्वजातौ प्रमाणोपन्यासाय कारण-त्वमुपन्यस्तम्। तथा हि—पृथिवीत्व हि गन्धसमवायिकारणतावच्छे-दकतया सिद्ध्यति अन्यथा गन्धत्वावच्छिन्नस्याकस्मिकत्वापत्ते।

● यह सवसम्मत सिद्धान्त है कि 'काल' कायमात्र के प्रति कारण है। तब 'गन्धहेतुत्वम्पृथिवीत्वम' ग ध का जो हेतु हो वह पथ्वी' ह—इस 'पृथ्वीलक्षण' की 'काल और दिक्' में अतिव्याप्ति होगी। अत 'ग ध हेतु' शब्द का अथ बताते है–'गन्धसमवायिकारणमिति।' अर्थात 'समवायेन गन्धकारण पृथ्वीलक्षणम्' समवायसम्बन्ध से जो गन्ध का कारण हो, उसे 'पृथ्वी' कहेंगे। काल कालिकसम्ब धेन गन्धहेतु —काल, कालिकसम्ब-ध से गन्ध का कारण होता है, समवायसम्बन्ध से नही। उसी तरह दिक 'दैशिकसम्बन्ध से गन्ध की हेतु होती ह, समवायसम्ब-ध से नही। अत दोनो मे पृथ्वीलक्षण की अतिव्याप्ति नही होगी।

शका—सुरभ्यसुरभिकपालारब्ध तथा प्रथमक्षणवर्ती निगन्ध 'घट' मे उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी।

समा॰—जातिघटित लक्षण करने से अव्याप्ति नही होगी। अर्थात् 'गन्ध-वद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वम' इतना अर्थ 'गन्धवत' पद का विवक्षित करेंगे, तब अव्याप्ति नही होगी। गन्धवान् जो कपालादि उनमे रहनेवाली (तद्वृत्ति) जो द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्यजाति, यानी 'पृथ्वीत्व' जाति, तादृशजातिमत्त्व'

'ग धवत' पद से विवक्षित किया गया है। अत सुरभ्यसुरभिकपालारब्ध तथा प्रथमक्षण के निगन्धघट मे भी पृथ्वीत्व के होने से लक्षणसमन्वय हो जाता है। अत अव्याप्ति नही होगी। नौ द्रव्यो में से यह 'पृथ्वी' ही 'ग ध' के प्रति समवायिकारण है। पथ्वी से गन्ध उत्पन्न होता है। वह 'गन्ध' समवायसम्ब ध से पृथ्वी मे रहता है। अत 'गन्धवत्त्व' यह लक्षण 'पृथ्वी' का किया गया है। अर्थात 'जिसमे गन्ध हो वही पथ्वी है' यह समझना चाहिये।

शका—'गन्धवत्त्व पथ्वीत्वम' इस लघु लक्षण से ही निर्वाह हो सकता है तो 'ग धसमवायिकारणम—पृथ्वीत्वम' इस गुरुभूत लक्षण करने की आवश्यकता क्यो हुई? अर्थात 'पथ्वी ही' ग ध के प्रति कारण है, यह क्यो कहा गया? इसी आशय को दूसरे शब्दो में इस प्रकार भी कह सकते है कि कारिकाकार ने 'गन्धहेतु' इस पृथ्वी के लक्षण मे 'हेतु पद का ग्रहण क्यो किया?

समा०—तथापिति। 'पृथ्वी व' जाति की प्रामाणिकता (पृथ्वीत्व जाति को सिद्ध करने मे अनुमान प्रमाण है) प्रदर्शित करने के लिये ही लक्षण मे हेतु' पद दिया गया है, जिसका अथ 'ग ध-समवायिकारणम' है। पृथ्वीत्वजाति के सिद्ध करने मे अनुमान इस प्रकार किया जायगा—'समवायसम्बन्धावच्छिन्ना गन्धत्वावाच्छिन्न गन्धनिष्ठकायतानिरूपिता या तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न पृथ्वीनिष्ठा कारणता, सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात, घटनिष्ठकायतानिरूपितकपाल गतकारणतावत। यथा कपालनिष्ठा कारणता कपालत्वधर्मावच्छिन्ना, तथा पृथिवीनिष्ठा कारणता अपि पृथिवीत्वधर्मावच्छिन्ना अवगन्तव्या।' इस अनुमान के बल पर ही यह कहा गया है कि 'पृथ्वी ही ग ध के प्रति कारण है अर्थात् 'गन्धसमवायिकारण पृथ्वीत्वम' यह लक्षण किया गया है। इस रीति से ग ध समवायिकारणतावच्छेदकतया 'पृथ्वीत्व जाति की सिद्धि हो जाती है अर्थात जो गन्ध का समवायिकारणतावच्छेदक हो उसी को 'पृथ्वीत्व' जाति कहते है। क्योकि अन्यून और अनतिप्रसक्तधम ही कारणतावच्छेदक होता है। **अन्यथेति**। पृथ्वी को यदि गन्ध के प्रति कारण न मानें तो 'गन्ध' की उत्पत्ति अकस्मात कहनी होगी। अर्थात कारण के बिना ही (गन्ध) काय की उत्पत्ति माननी पडेगी। कि तु कारण के बिना तो काय की उत्पत्ति होती नही, यह नियम है। कारण के रहने पर ही काय की उत्पत्ति हुआ करती है। यदि कारण के विना ही काय की आकस्मिक उत्पत्ति हुआ करेगी तो विना जल के ही पिपासा (प्यास) शान्त होनी चाहिये। विना खाद्य के ही बुभुक्षा (भूख) की शान्ति होनी

चाहिये, किन्तु ऐसा होता नही है। अत कहना होगा कि जो ग ध का कारण है, वह पृथ्वी ही है। जिस किसी भी वस्तु (द्रव्य) मे गन्ध आता है, उसमें पृथ्वी का अश होने से ही गन्ध आता है, आकस्मिक नही। वह कारणता निरवच्छिन्न (किसी अनुगत धम से रहित) नही हुआ करती, अपितु वह किसी अनुगत धम से अवच्छिन्न (युक्त) ही रहती है, वह अनुगत धर्म ही उस कारणता का अवच्छेदक (मर्यादक भेदक) माना जाता है, उस अनुगत अवच्छेदक धम को ही 'पथ्वीत्वजाति' कहते है। इस कारण पृथ्वी[1] ही गन्ध की उत्पत्ति का कारण है, तथा उस पृथिवी मे समवायसम्बन्ध से गन्ध रहता है यह सिद्ध हुआ।

---

१ पथिवी का परिष्कृत लक्षण यह होगा—'गन्धसमानाधिकरण द्रव्यत्व-साक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्व'—पथिव्या लक्षणम्। गन्ध के समानाधिकरण तथा द्रव्यत्व जाति का साक्षातव्याप्यजातिवाला जो द्रव्य, वही पथ्वी' है। 'गन्ध' समवाय सम्ब-ध से पृथिवी मे रहता है। 'पथ्वीत्व' जाति भी समवायसम्बन्ध से पथ्वी मे रहती हैं। इस कारण 'पथ्वीत्व' जाति, ग-धसमानाधिकरण हुई। वह 'पथ्वीत्वजाति' द्रव्यत्वजाति की साक्षात व्याप्य भी है। क्योंकि वह 'पृथ्वीत्व-जाति' एकमात्र सम्पूण पथ्वी में रहती ह। और 'द्रव्यत्व जाति' सम्पूण नौ द्रव्यो मे रहती है। उपयुक्त लक्षण मे 'गन्धसमानाधिकरण' यह पद यदि न दें तो 'जलत्व' आदि जातियाँ भी 'द्रव्यत्व' जाति की साक्षात् व्याप्य जातिया हैं। तब उन जातिवाले जलादि द्रव्यो में अतिव्याप्ति होगी। उस अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिये 'ग धसमानाधिकरण' पद देना आवश्यक है। अब 'द्रव्यत्वसाक्षाद्-व्याप्य' पद न दें तो 'द्रव्यत्वजाति' तथा 'सत्ताजाति' को लेकर जल आदि मे अतिव्याप्ति होगी। क्योकि जिस पथ्वी में ग-ध रहता है, वही पर द्रव्यत्व तथा सत्ताजाति भी रहती है। उन जातिवाले जल आदि द्रव्य भी है। अत इस अतिव्याप्ति के निवारणाथ, द्रव्यत्वसाक्षादव्याप्य' यह पद देना आवश्यक हुआ। तब 'सत्ताजाति' द्रव्यत्वजाति की व्यापक है, व्याप्य नही। क्योकि 'सत्ताजाति' गुण तथा कम में भी रहती है। अत वह, द्रव्यत्वजाति की व्याप्यजाति नही हुई। अब यदि उक्त लक्षण मे 'साक्षात' पद न दें तो गन्धसमानाधिकरण तथा द्रव्यत्वजाति की व्याप्यजाति करके 'घटत्व' जाति को ले तो केवल 'घटरूप पृथ्वी' में तो लक्षणसमन्वय हो जायगा, किन्तु पटादिरूप पथ्वी मे 'अव्याप्ति' होगी। इस अव्याप्ति के निवारणाथ 'साक्षात' पद देना आवश्यक है। 'साक्षात्' पद देने पर 'घटत्व' आदि जाति, 'द्रव्यत्वजाति' की साक्षात् व्याप्य नही है, साक्षात्

(★) नच पाषाणादौ गन्धाभावादगन्धवत्वमप्राप्तमिति वाच्य तत्रापि गन्धसत्वात्। अनुपलब्धिस्त्वनुत्कटत्वेनाप्युपपद्यते। कथमन्यथा तद्भस्मनि गन्ध उपलभ्यते? भस्मनो हि पाषाणध्वसजन्यत्वात्पाषाणोपादानोपादेयत्व सिद्धयति। 'यद्द्रव्य यद्द्रव्यध्वसजन्य तत्तदुपादानोपादेयमि'ति व्याप्ते। दृष्ट चैतत्खण्डपटे महापटध्वसजन्ये। इत्थ च पाषाणपरमाणो पृथिवीत्वात्तज्जन्यस्य पाषाणस्यापि पृथिवीत्वम्। तथा च तस्यापि गन्धवत्वे बाधकाभाव।

शका—'गन्धसमवायिकारणत्व पृथिवीत्वम' इस लक्षण की पाषाण आदि मे गन्ध की उपलब्धि न होने से उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी। 'आदि' शब्द से 'काच' को समझिये। उक्त आशका को हम अनुमान प्रयोग से इस प्रकार कह सकते है—पाषाण न पृथिवी, गन्धाभाववत्वात'।

व्याप्य तो पृथ्वीत्व' जाति ही होगी। 'घटत्व' आदि जाति तो 'पृथ्वीत्वजाति' की साक्षात व्याप्य है, 'द्रव्यत्वजाति' की नही। अत पृथ्वीत्व, जलत्व आदि जातिया ही 'द्रव्यत्वजाति' की साक्षात व्याप्य है।

शका—'इय नीलरूपा पृथ्वी, इय पीतरूपा च' इस प्रत्यक्ष प्रमाण से ही 'पृथ्वीत्व' जाति की सिद्धि हो सकती है, तब अनुमान प्रमाण से 'पथ्वीत्व' जाति को क्यो सिद्ध किया गया है?

समा०—परमाणु, द्वयणुक और घ्राणेन्द्रियरूप पथ्वी मे प्रत्यक्ष प्रमाण की पहुँच नही है। इस कारण अनुमान-प्रमाण से पृथ्वीत्व जाति को सिद्ध करने की आवश्यकता हुई। यथा—'पथ्वीवत्ति या गन्धसमवायिकारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, कारणतात्वात, तन्तुवत्तिकारणतावत।' पृथ्वी मे जो गन्ध की समवायिकारणता है, वह किसी धम से अवच्छिन्न (युक्त मर्यादित) होने योग्य है, कारणता होने से। जो जो 'कारणता' होती है वह किसी न किसी धम से तो अवच्छिन्न होतो ही है, निरवच्छिन्न कोई भी कारणता नही हुआ करती। जैसे तन्तुओ में पट की समवायिकारणता, तन्तुत्वधम से अवच्छिन्न रहती है, उसी-प्रकार पथ्वीवृत्ति गन्धसमवायिकारणता भी, किसी धम से अवश्य अवच्छिन्न होगी। वह धम 'पृथ्वीत्व' जाति ही है। इस अनुमान प्रमाण से परमाणु द्वैचणुक, घ्राणेंद्रियरूप अतीन्द्रिय पृथ्वी मे तथा प्रसिद्ध पृथ्वी मे 'पृथ्वीत्व' जाति की सिद्धि करना सुगम हो जाता है।

समा०—पाषाण, गन्धाभाववान् है अर्थात पाषाण में गन्ध नही है, इस कथन मे कोई प्रमाण नही है। शका करने वाले ने जो 'ग धाभाववत्त्व' हेतु दिया है, वह 'स्वरूपासिद्ध' है। 'स्वरूपासिद्धि' यह एक हेतुदोष है, उस दोष से दूषित होने के कारण उक्त हेतु' हेत्वाभास है यथाथ हेतु नही, अत असत् हेतु से अनुमान करना उचित नही है। पाषाण, काच आदि मे भी 'पथिवीत्व' होने से गन्ध हाने का अनुमान किया जा सकता है। जैसे—'पाषाण गन्धवान् पृथ्वीत्वात घटवत'।

शका—यदि पाषाण, काच आदि मे गन्ध होता तो सूँघने पर उसकी उपलब्धि अवश्य होती। जब की नही होती तो उससे गन्ध के अभाव (गन्ध न होने) का ही निणय किया जा सकता है।

समा०—पाषाण मे गन्ध की जो अनुपलब्धि है, उसका कारण ह—उस गन्ध का अनुत्कट (अनुदभूत) होना। गन्ध की अनुत्कटता के कारण उसकी (ग ध की) उपलब्धि नही हो पाती। उत्कट गन्ध का ही प्रत्यक्ष (उपलब्धि) हुआ करता है। अनुत्कट ग ध का नही। पाषाण मे गन्ध के रहनेपर भी अनुत्कटता के कारण उसकी उपलब्धि नही हो पाती।

शका—पाषाण मे गन्ध के आने न आने मे उत्कटता-अनुत्कटता की कल्पना करते बैठने की अपेक्षा यही क्यो न मान लिया जाय कि पाषाण में उत्कट या अनुत्कट किसी प्रकार का कोई ग ध ही नही है।

समा०—**कथमन्यथेति**। पाषाण मे उत्कट, अनुत्कट किसी प्रकार का कोई गन्ध ही यदि न होता तो पाषाणभस्म मे गन्ध की उपलब्धि (घ्रणजप्रत्यक्ष) कैसे हो पाती। क्योकि पाषाण का भस्म (चूना) पाषाण के ध्वस (नाश) से उत्पन्न होता है। अत पाषाणभस्म का उपादानकारण 'पाषाण' है। इस कारण पाषाणरूपउपादानकारण का वह पाषाणभस्म (चूना) उपादेय है। अर्थात् उपादानकारणनिरूपिता उपादेयता उस भस्म मे है। अनुमान का आकार यह होगा—'पाषाणभस्म पाषाणोपादानोपादेयम् पाषाणध्वसजन्यत्वात महापटध्वसज-य-खण्डपटवत'।

जो अवयव (परमाणु) उस पाषाण के है, वे ही अवयव (परमाणु) उस भस्म के भी है। क्योकि जो द्रव्य, जिस वस्तु (द्रव्य) के नाश से उत्पन्न होता है, उन दोनो द्रव्यो के अवयव एक ही होते है। क्योकि ऐसा नियम (व्याप्ति) है कि यदद्रव्य भस्मादिद्रव्य, यद्द्रव्यध्वसजन्य पाषाणादिद्रव्यध्वसजन्य, तत् भस्मादि-

द्रव्य, तदुपादानोपादेयम पाषाणादिद्रव्यस्य यदुपादान पार्थिवपरमाण्वादि, तस्य उपादेय काय भवति ।' जो भस्मादि द्रव्य, जिस (पाषाणादि) द्रव्य के ध्वस से उत्पन्न होता है वह (भस्मादि द्रव्य) उस (पाषाणादि) द्रव्यरूप उपादान का उपादेय होता है । उपादान का अथ है—'समवायिकारण' और उपादेय का अथ है—'काय' । जैसे-- बडे वस्त्र के नाश से (फाडने से) जो खण्डवस्त्र (टुकडा) उत्पन्न होता है, तो उस बडे तथा छोटे वस्त्र (टुकडे) के अवयव एक ही है, अर्थात बडे वस्त्र के उपादानभूत परमाणु के ही दोनो (बडा तथा छोटा टुकडा) काय है, यह अनुभवसिद्ध है । उसी प्रकार प्रकृत प्रसग मे भी पाषाण के उपादान जो पाषाणपरमाणु, उसी के ये दोनो (पाषाण और पाषाणभस्म) काय है । तब पाषाणभस्ममे गन्ध रहे और पाषाण मे गन्ध न रहे यह कैसे सभव हो सकता है ? इसलिये पाषाण में भी 'गन्ध' को अवश्य ही स्वीकार करना होगा । यह जो प्रश्न है कि उसका प्रत्यक्ष क्यो नही होता तो उसका उत्तर ऊपर दिया जा चुका है कि गन्ध की अनुत्कटता (अनुद्भूतता) के कारण उसका (गन्ध का) वहा (पाषाणमें) प्रत्यक्ष नही हो पाता । इस रीति से पाषाणके परमाणु जैसे पथिवीरूप ह वसे ही उनसे उत्पन्न हुआ पाषाण भी पृथिवीरूप है । अत पाषाण क गन्धवान होने में कोई बाधक नही है ।[१]

---

१ उपयुक्त प्रघट्टक का सरल भाव इस प्रकार है—

(शका)—पथ्वी के उक्तलक्षण की 'पाषाण' मे अव्याप्ति होती है, तथा 'जल और वायु' मे अतिव्याप्ति होती है, क्योकि 'जल तथा वायु' सुगन्ध तथा दुगन्धवाले हैं, यह प्रतीति होती है, और पाषाण, काच मे गन्ध की प्रतीति नही होती ।

समा०—जिस जल तथा वायु मे कस्तूरी, पुष्प आदि गन्धयुक्त पृथ्वी का सयोग सम्बन्ध है, वही गन्ध की प्रतीति होती है, अन्यत्र नही । इस कारण परम्परा सम्बन्ध से वह पृथ्वी का गन्ध ही जल और वायु मे प्रतीत होता है । अत पथ्वी में 'गन्ध' समवायसम्बन्ध से रहता है, यह निर्णीत है ।

शका—यदि कस्तूरी पुष्पादिरूपपथ्वी का गन्ध ही सयोग सम्बन्ध से वायु के साथ उड जाता है तो पुष्पो में छेद होना चाहिये तथा कस्तूरी भी तौल मे कम हो जानी चाहिये, किंतु ऐसा होता नही ।

समा०—जितने सूक्ष्म अशो को उनमे से वायु उडा ले जाता है उतने ही

सूक्ष्म अशो की भोक्ता प्राणियो के अदृष्ट से उनमें पुन उत्पत्ति हो जाती है। इस कारण पुष्पो में छेद तथा कस्तूरी के तौल मे न्यूनता नही होती।

शका—यदि दूसरे अशो की उत्पत्ति होती है तो सुरक्षित रक्खा कपूर कम क्यो हो जाता है ?

समा०—कपूर आदि मे भोक्ता प्राणियो के अदृष्ट नही है। अत पृथ्वी का ही गन्ध, जल तथा वायु मे आता है यह निश्चित होता है।

अब पाषाण के पक्ष में वादी से यह पूछना चाहिये की—तुम पाषाण में 'पृथ्वीत्व' को न मानकर दोष दे रहे हो, या पाषाण में 'पृथ्वीत्व' को मानकर दोष दे रहे हो ?

यदि प्रथम पक्ष अगीकार करो तो दोष देना सभव ही नही होगा। यदि द्वितीय पक्ष का अगोकार करो तो, वह भी उचित न होगा। क्योकि यदि आपने पथ्वीत्व को मान लिया तो उसमें गन्ध अवश्य ही होगा। अनुमानप्रयोग इस प्रकार होगा—'पाषाणादय गन्धवन्त पृथ्वीत्वात, प्रसिद्ध पृथ्वीवत।'—पाषाणादि गन्धवाले है, पथिवीत्व धमवाले होने से, जो जो द्रव्य पृथ्वीत्व धमवाला है, वह वह गन्धगुणवाला भी है, जैसे कस्तूरी, पुष्पादि द्रव्य। अत पाषाण में भी गन्ध की सिद्धि हो जाती है।

शका—कस्तूरी, पुष्पादि के समान पाषाण मे भी गन्ध की प्रतीति क्यो नही होती ?

समा०—कस्तूरी, पुष्प आदि के समान पाषाण का गन्ध उदभूत नही है, अपितु अनुद्भूत है। इस कारण प्रत्यक्ष प्रतीति को छोडकर 'पृथ्वीत्व' हेतु के द्वारा अनुमान प्रमाण से उसमे गन्ध की प्रतीति होती है।

शका—पाषाण आदि को पृथ्वी मानने मे ही कोई प्रमाण नही है।

समा०—अनुमान प्रमाण से पाषाण आदि में 'पृथ्वीत्व' सिद्ध ही है। तथा युक्ति से भी सिद्ध ह। यथा—अग्निसयोग आदि से जब पाषाण भस्मभाव को प्राप्त हाता है, तभी घ्राणेन्द्रिय से गन्ध का प्रत्यक्ष होता है। 'जहाँ गन्ध ह वहाँ पृथ्वी है' इसमे किसी का विवाद नही है। अवयवो का गन्धगुण ही अवयवी के गन्धगुण का असमवायिकारण होता है। इस कारण भस्म के आरम्भक अवयवोंमे पथ्वीत्व सिद्ध होने पर उन पाषाणादिको के आरम्भक अवयवो में भी पथिवीत्व को अवश्य स्वीकृत किया जायगा। क्योकि यह नियम है कि सौ हाथपरिमित महापट

● कारिकाकार ने 'पृथिवी' का एक अन्य लक्षण भी किया है।

इस अन्य लक्षण की व्याख्या कर रहे है। 'नानारूपवती मता' इति। पृथ्वी—शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश, चित्र, भेद से विविधरूप-विशिष्ट है।

नानारूपेति। शुक्लनीलादिभेदेन नानाजातीय रूप पृथिव्यामेव वर्तते न तु जलादौ, तत्र शुक्लस्यैव सत्त्वात्। पृथिव्या तु एकस्मिन्नपि धर्मिणि पाकवशेन नानारूपसम्भवात्। न च यत्र नानारूप नोत्पन्न तत्राऽव्याप्तिरिति वाच्य, रूपद्वयवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्, रूपनाशवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य वा वाच्यत्वात्। वैशेषिकनये पृथिवीपरमाणौ रूपनाशस्य रूपान्तरस्य च सत्त्वात्। न्याय नये घटादावपि तत्सत्त्वाल्लक्षणसमन्वय।

शुक्ल, नीलादि भेद से सात प्रकार का, नानाजातीयरूप पृथिवी में ही

(महान् वस्त्र) के ध्वस से उत्पन्न हुआ जो दसहाथ परिमित खण्डपट (वस्त्र का) टुकडा है, वह (खण्डपट) महापट के उपादान (समवायिकारण) रूप तन्तुओ का ही उपादेय (काय) है, अर्थात महापट के तन्तु ही खण्डपट के उपादान कारण है।

क्योकि महापट के अन्य समवायिकारण और खण्डपट के अन्य समवायिकारण मानने में कोई प्रमाण नही है। दोनो (महापट और खण्डपट) ही ततूपादानजन्यत्व धम से अवच्छिन्न है। उसी प्रकार पाषाण भी पृथ्वीपरमाणुजन्य होने से पृथ्वीत्वधमवान् (पार्थिव) है। अर्थात जो अवयव पाषाणादि द्रव्यो के उपादानकारण है, वे ही (अवयव) उस भस्मरूपद्रव्य के उपादान-कारण होगे। इस रीति से पथिवीपरमाणु मे गन्ध होने से पाषाण में भी गन्धवत्ता का होना स्पष्ट होता है। अन्यथा उसके भस्म (चूण) मे कभी भी गन्ध की उपलब्धि न होती। क्योकि कारण मे अविद्यमान गुणो की उपलब्धि काय मे कभी नही हुआ करती। अत 'कारणगुणा एव कायगुणानारभन्ते' इस न्याय[1] से पाषाणादिको में भी पृथिवीत्व सिद्ध होता है।

एवच—'पाषाणो न पृथिवी, गन्धाऽभाववत्त्वात' इस पूवपक्षीय अनुमान में हेतु के पक्षवृत्ति न होने से स्वरूपासिद्धिदोष है। इस दूषित अनुमान से पाषाण में पृथिवीत्वाभाव सिद्ध नही किया जा सकता।

---

१ 'कारणगुणपूवक कायगुणो दृष्ट'—(वै सू ५।२।२५)

माना जाता है। वैसा जल, तेजस् (तेज) आदि में नही। जल और तेज में तो केवल शुक्लरूप रहता है। अर्थात् जल में अभास्वर (न चमकने वाला) शुक्लरूप और तेज मे भास्वर (चमकने वाला) शुक्लरूप रहता है। यद्यपि पथिवीद्रव्य एक ही धर्मी (गुणो का आश्रय) है, तथापि उस एक में भी (घट में)पाक (अग्निसयोग अर्थात विजातीय तेज सयोग) के द्वारा नाना (अनेक) रूपो की उत्पत्ति का होना सभव है। वैसा पाक जल आदि में नही होता। इस कारण उन जल आदि में अनेक प्रकार के रूपो की उत्पत्ति होना समव नही है।

शका—जिस पृथिवी (पटादि) में कदाचित नानारूप उत्पन्न नही हो पाये तो उनमे 'नानारूपवत्त्व' इस पृथिवीलक्षण को अव्याप्ति होगी। क्योंकि पटादिरूप पृथिवी में यदि पाक (विजातीयतेज सयोग) किया जायगा तो पट ही जलकर नष्ट हो जायगा। ऐसी स्थिति मे पट मे नानारूपो की उत्पत्ति कैसे होगी ? और नानारूपो की उत्पत्ति तो पाक से ही होती हैं। अत 'नानारूपवत्त्व' इस पृथिवी लक्षण की घटपटादि पथिवी में अव्याप्ति होगा।

समा०—'नानारूपवत्त्व' इस पृथिवीलक्षण को जातिघटित कर देने से अव्याप्ति नही होगी। अर्थात 'नानारूपवत्त्व' का अथ करेंगे 'रूपद्वयवदवत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व' या 'रूपनाशवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व' पृथिवी में नाना प्रकार के रूप है इस कथन का तात्पय यह है कि जिस एक पृथिवी (घटादि) में दो रूप उत्पन्न हुए हो अर्थात कच्ची अवस्था में घट नीला (काला) होता है, वही घट पकने के अनन्तर रक्त (लाल) हो जाता है, उसी तरह दूसरा उदाहरण 'फल' को लीजिये। वह भी प्रथम हरा रहता है, बाद मे सूय किरण रुप तेज-सयोग से पीला रग उसमे हो जाता है। एवच दो रूप (तीन रूप भी) वाली पार्थिव वस्तु मे वतमान (रहनेवाली) जो द्रव्यत्व की व्याप्य जाति, वही जाति यहा अपेक्षित है, तादृश जातिवाला होना—अथवा जहाँ रूप का नाश होता हो ऐसी वस्तु मे रहने वाली जो द्रव्यत्व व्याप्य जाति,—तादृश जाति वाला होना इस अथ मे 'नानारूपवत्त्व' का तात्पय है।

दोनो प्रकार के जातिघटित लक्षणो के अनुसार व्याप्यजाति 'पृथ्वीत्व' ही होगी। वह पृथ्वीत्वजाति, उस पार्थिव घट पट आदि पृथ्वी मे भी रहती है, जहाँ अनेक रूप नही है, अत अव्याप्ति दोष नही होगा। इन दो जाति घटित लक्षणो मे से प्रथम लक्षण अपेक्षा बुद्धिविशेषविषयकत्वरूप जो द्वित्व है, उससे युक्त है। इस कारण प्रथम लक्षण में उपस्थितिकृत गौरव प्रतीत होता है। उस गौरव को दूर

करने के लिये तथा शीघ्र उपस्थिति करानेहेतु दूसरा जातिघटित लक्षण किया गया है। (अयमेक अयमेक यह अपेक्षा बुद्धि का आकार है)। पाक से रूप-परिवतन के विषय मे नैयायिक और वैशेषिको की प्रक्रिया मे मतभेद है। **नैयायिकों को 'पिठरपाकवादी'** कहते है। 'पिठर' = घटादिपात्ररूप अवयवी, उसमे पाक अर्थात अवयवी मे पाक। भट्टी मे कच्चा घट रखा जाता ह तब पाक (विलक्षण तेज सयोग) से पहिला श्याम (नील) रूप नष्ट होता है पश्चात रूपान्तर अर्थात लालरूप उत्पन्न होता है। इस रूपपरिवतन के लिये जो पाक हुआ, वह पार्थिव कपालादिजन्य घटादि अवयवी में ही हुआ। उस अवयवी मे ही पूवरूप का नाश और रूपान्तरोत्पत्ति हुई। इनके मत मे परमाणुरूप अवयव तथा अवयवी (घट) दोनो में एक साथ ही पाक होता है, उससे पूवरूप का नाश और रूपान्तर की उत्पत्ति होती है। एवच रूपनाशवान घटादि पदाथ हुआ, उस नष्टरूपवाले अर्थात् रूपनाशवान घटादि पदाथ मे वृत्ति है जिसकी (रहनेवाली) ऐसी पृथ्वीत्व जाति ही होगी। क्योकि वही द्रव्यत्व की साक्षात व्याप्यजाति है, तादृशजातिमत्त्व ही 'नानारूपवत्त्व' पद से यहा विवक्षित है।

वैशेषिको को **'पीलुपाकवादी'** कहते है। 'पीलु' = परमाणु, उसमे पाक अर्थात अवयवो में पाक। इनका है कि भट्टी मे रखे हुए घट मे कहना रूपपरिवतन के लिये जो पाक हुआ, वह (पाक) पृथ्वी (घट) के परमाणु मे ही हुआ। अर्थात् पाक (विलक्षण अग्नि सयोग) से घटरूप अवयवी क्रमश टूट जाता ह, वह परमाणु की अवस्थातक प्राप्त होता है। तब उन परमाणुओ मे श्यामरूप नष्ट हो जाता है और रक्तरूप उत्पन्न होता है। उनसे (परमाणुओ से) द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि क्रमश होकर घटरूप अवयवी पुन निर्माण होता है।[1] उसमें (घट में) अपने कारणभूत परमाणुओ का रक्तरूप क्रमश आ जाता है। इस प्रकार घट का नाश पुन उसकी उत्पत्ति इतनी शीघ्रता से होती है कि हमे पता ही नही चल

---

१ विलक्षणतेज के सयोग से परमाणुआ मे क्रिया पैदा होती है। पश्चात् क्रिया से विभाग तत्पश्चात पूवसयोग का नाश तत्पश्चात उत्तरदेश का सयोग होता है और साथ ही द्व्यणुक का नाश होता है। इस क्रम से त्र्यणुक आदि का नाश होने पर घट का नाश होता है। केवल परमाणुमात्र बचा हुआ है। जब अग्निसयोग से प्रत्येक परमाणु पक जाता है तब पुन अदृष्टवदात्मसयोग से परमाणुओ में क्रिया पैदा होती है और क्रमश द्व्यणुकादिको की उत्पत्ति के बाद घट पूर्व की तरह बन जाता है यानी उत्पन्न होता है।

पाता। इनके मत में पाक से परमाणुरूप अवयवो मे पूर्वरूप का नाश तथा दूसरे रूप की उत्पत्ति होती है।

एवञ्च दोनो के अनुसार जिस घटरूप पृथ्वी में पूर्वरूप का नाश तथा दूसरे रूप की उत्पत्ति होती है, उसमें रहनेवाली जाति पृथ्वीत्व होगी वह पृथ्वीत्व जाति, जिसमे नानारूप उत्पन्न नही हुए ऐसे पट आदि मे भी रहती है तादश-जातिमान वे घटादि हैं। अत कही भी अव्याप्ति दोष नही है।

'षडविधस्तु रसस्तत्रे'ति। अम्ल, मधुर, लवण, कटु, तिक्त, और कषाय यह छह प्रकार का रस (आस्वाद) पृथ्वी मे है। इस कारण 'षडविधरसवत्त्व' यह भी पथ्वी का लक्षण है।

● षड्विध इति। मधुरादिभेदेन य षडविधो रस स पृथिव्यामेव। जले च मधुर एव रस। अत्रापि पूर्ववद्रसद्वयवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्य-जातिमत्त्व लक्षणार्थोऽवसेय।

गन्धस्त्विति। द्विविध इति वस्तुस्थितिमात्र, न द्विविधगन्धवत्त्व लक्षण, द्विविधत्वस्य व्यर्थत्वात्। द्वैविध्य च सौरभासौरभभेदेन बोध्यम्॥ ३५॥

● मधुर, अम्ल, लवण, कटु (तीखा), कषाय (कसैला), तिक्त (कडुआ) भेद से जो (प्रसिद्ध) षडविध अर्थात मधुरत्व, अम्लत्व, लवणत्व, कटुत्व, कषायत्व, तिक्तत्व, इस प्रकार षड्विधजातीय रस है, वह अपने समवायिकारण पृथिवी मे ही रहता हैं। यहाँ ग्रन्थकार ने 'एव' कार का प्रयोग किया है उससे यह स्पष्ट होता है कि पथ्वीत्व से रहित जल में षडविधरसवत्त्व नही है। जल से मुक्त जल में मधुरत्वजातीय रस ही रहता है।

शका—'समवायेन षड्विधरसवत्त्व इस पृथ्वीलक्षण की जहाँ षड्विध-रसो की क्रमश उत्पत्ति नही होती उन शकरादि पार्थिव वस्तुओ मे अव्याप्ति होगी। और यदि 'समवायेन रसवत्त्व' इतना ही लक्षण रखें तो 'जल मे अतिव्याप्ति होगी।

समा०—प्रदर्शित अव्याप्ति, अतिव्याप्ति का निबारण करने के लिये यहाँ भी 'रसद्वयवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व' ऐसा जातिघटित लक्षण कर देना चाहिये। अर्थात पार्थिव आम्रकल आदि मे जो दो प्रकार के रस उत्पन्न होते हैं, अथवा पाक के कारण रस का नाश होता है, उनमें रहनेवाली जो पृथ्वीत्वजाति, वह पृथ्वीत्वजाति, द्रव्यत्वव्याप्यजाति होने से पार्थिव शकरा आदि में भी रहेगी,

अत अव्याप्ति नही होगी। और केवल समवायेनरसवत्त्व कहने के बजाय 'षड्विधरसवत्त्व' कह दें तो जल मे होनेवाली अतिव्याप्ति का निवारण हो जायगा, क्योंकि जल में तो केवल मधुर रस ही रहता है, षड्विधरस नही।

शका—भि न भि न जलो में भिन्न भिन्न मधुर रस होते है। अत मधुर-रसद्वयवाले जल भी है, इस कारण जल में अतिव्याप्ति यथावस्थित रही।

समा॰—'रसद्वयवत' का अथ रसत्वव्याप्य-मिथोविरुद्ध मधुरत्व अम्लत्वादिजातीयवत' करना होगा। तब अतिव्याप्ति नही होगी। 'ग धस्तु द्विविधो मत' इति। पथ्वी मे ग ध दो प्रकार का है, सुरभि (सुग ध) और असुरभि (दुगन्ध)। 'गन्धस्तु द्विविधो मत' यहा पर 'द्विविध' पद केवल वस्तुस्थिति का बोधक है। अर्थात ग धरूप वस्तु की सुरभि असुरभि भेद से द्विविधतया पृथ्वी मे स्थिति है, यह सूचित करने के लिये 'द्विविध' पद दिया गया है। एवच गन्धत्वव्याप्यसुरभित्व असुरभित्वजाति से गन्ध की द्विविधता समझनी चाहिये। सुरभि या असुरभि गन्ध पथ्वी में ही सम्भव है। पथ्वी से भिन्न अन्य किसी वस्तु मे सम्भव नही। अत समवायेन गन्धवत्त्व' इतना ही लक्षण करना पर्याप्त है। 'ग धत्वव्याप्य सुरभित्वासुरभित्व-जातीयवत्त्व' इस प्रकार जातिघटित लक्षण करने की आवश्यकता नही है। और दो प्रकार का ग ध ही पृथ्वी का लक्षण है, यह भी नही समझना चाहिये। दो प्रकार का गन्ध तो केवल वस्तु के स्वरूप को बता रहा है। अत 'समवायेन गन्धवत्त्व' यही पथ्वी का लक्षण है। इस प्रकार लघुपरिष्कार से ही निर्वाह हो जाता है। इस कारण 'दो प्रकार का ग धवत्त्व, इस गुरुभूत परिष्कार करने का कुछ भी प्रयोजन नही ह, लक्षण में उसका निवेश करना व्यथ ह ॥ ३५ ॥

❀ स्पर्शस्तस्यास्तु विज्ञेयो ह्यनुष्णाशीतपाकजः।

तस्या पृथिव्या। अनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्व वायोरपि वर्तत इत्युक्त पाकज इति। इत्थ च पृथिव्या स्पर्शोऽनुष्णाशीत इति ज्ञापनार्थं तदुक्तम्। वस्तुतस्तु पाकजस्पर्शवत्त्वमात्र लक्षणम्, अधिकस्य वैयर्थ्यात्। यद्यपि पाकजस्पर्श पटादौ नास्ति तथापि पाकजस्पर्शवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वमर्थो बोध्य।

इति पृथिवीनिरूपणे पृथिवीलक्षणम।

तस्या = उस (पृथ्वी) का स्पश तो 'अनुष्णाऽशीतपाकज' = जो न गरम

और न ठण्डा तथा अग्निसयोग से उत्पन्न होनेवाला है। 'अनुष्ण अशीतश्चासौ पाकजश्चे'ति कमधारय । एवञ्च 'षड्विधरसवत्त्व' और 'पाकजस्पशवत्त्व' पथ्वी का लक्षण होता है। 'अनुष्ण' 'अशीत' में 'नञ्' का अथ अल्पत्व है, क्योकि 'नञ' के छह अथ होते है, केवल 'अभाव' अथ ही नही है।

तथाहि—'तत्सादश्यमभावश्च तदन्यत्व तदल्पता।

अप्राशस्त्य विरोधश्च नञर्था षट् प्रकीर्तिता ।

● पृथ्वी का स्पश, 'पाकज अनुष्णाशीत' समझना चाहिये । अनुष्णाशीत = जो स्पश उष्ण न हो और शीतल भी न हो किन्तु उससे विलक्षण हो, तथा पाकजन्य = पाक के सयोग से उत्पन्न हो। ऐसा स्पश पथ्वी में (घट आदि मे) रहता है। अत 'पाकज अनुष्णाशीतस्पशवत्त्व' यह भी पथ्वी का लक्षण है।

शका—पथ्वी का लक्षण, अनुष्णाशीतस्पशवत्त्व' इतना ही क्यो न किया जाय ? उसमे 'पाकज' विशेषण देने की क्या आवश्यकता है ?

समा०—'अनुष्णाशीतस्पशवत्त्व' तो वायु मे भी होता है, अत उसमे अतिव्याप्ति हो जायगी। उस अतिव्याप्ति के निवारणाथ 'पाकज' विशेषण दिया गया है। वायु का स्पश पाकज=पाकजन्य नही है। पृथ्वी के ही रूप, रस, गन्ध, और स्पश ये चार 'पाकज' हुआ करते है। अत 'पाकजस्पशवत्त्वम्' —पाकजन्यस्पश का होना—इतना ही पृथ्वी का लक्षण है। 'अनुष्णाशीत' इस विशेषण को देने की कोई आवश्यकता नही है। ग्रन्थकार ने 'अनुष्णाशीत' विशेषण देकर इतना ही बताना चाहा है कि पृथिवी का स्पश, अन्य स्पर्शो की अपेक्षा विलक्षण है। 'अनुष्णाशीत' यह पद पृथ्वी के लक्षण के अभिप्राय से नही कहा है, किन्तु पृथ्वी का स्पश अनुष्णाशीत होता है, यह शिष्यो को समझन के लिये कहा है। इसके अतिरिक्त और कोई उसका प्रयोजन नही है, इसलिये 'पाकजन्यस्पशवत्त्व' ही पृथ्वी का लक्षण है।

शका—पाकजस्पर्शवत्त्वम' इस पथ्वीलक्षण की तृण पटादि जो पृथ्वी के भाग है उनमे पाकजन्यस्पशवत्त्व नही है, क्योकि पट मे पाक नही होता, यह पहले बता चुके है। अत उनमे उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी।

समा०—'पाकजस्पशवत्त्व' का जातिघटित अथ कर देना चाहिये। अर्थात 'पाकजस्पर्शवद्वृत्तिद्रव्यत्व व्याप्यजातिमत्त्वम' ऐसा अथ करने से अव्याप्ति नही

होगी । पाकजस्पर्शवाला हुआ 'घट', उसमे रहनेवाली (वत्ति) जो द्रव्यत्वव्याप्य-जाति 'पृथ्वीत्वजाति'—तादशपथिवीत्वजातिमान यावत पथिवी हुई, तो उसके अन्तगत पटादिरूपा पथिवी भी होगी । इस कारण अव्याप्ति की आशका नही करनी चाहिये । यहा ध्यान देने की बात यह है कि 'शीत स्पश' जल मे, उष्ण स्पश' अग्नि मे, और वायु तथा पथिवी मे अनुष्णाशीत स्पश रहता है । दोनो में अन्तर इतना ही है कि 'वायु' का अनुष्णाशीत स्पश 'अपाकज' ह और 'पथ्वी' का अनुष्णाशीतस्पश 'पाकज' है । 'घट' को आवे (भाड) मे पकाते है, इस कारण उसके स्पश में पाक (अग्निसयोग) भी कारण कहा जाता है । अतएव पथ्वी के स्पश को (पाकज) कहते है । वैसा (पाकज) पट आदि का स्पश नही है ।

इति पथिवीनिरूपणे पथिवीलक्षणम ।

*** नित्यानित्या च सा द्वेधा नित्या स्यादणुलक्षणा ॥३६॥**

(पथ्वी) नित्य और अनित्य दो प्रकार की है । 'अणुलक्षणा' परमाणु[1] के स्वरूप मे वह नित्य है, और सावयव (अवयवो से युक्त) कायरूप पृथ्वी अनित्य है । अर्थात् द्वयणुकादि के रूप मे वह अनित्य है । नित्य उसे कहते है—जो 'भावत्वेसति ध्वसाऽप्रतियोगित्व नित्यत्वम'—भावरूप होता हुआ ध्वस का प्रतियोगी न हो ।

नित्येति सा पृथिवी द्विविधा, नित्या अनित्या चेत्यर्थ अणुलक्षणा परमाणुरूपा पृथिवी नित्या ॥३६॥

● वह पथिवी नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार की है । परमाणुरूपा पथ्वी नित्य ह, क्योकि अणु या परमाणु को निरवयव माना गया है । इस कारण 'अणु' रूप पृथिवी का (अवयवनाश या अवयवो के सयोग का) नाश सम्भव न हो सकने से उसे नित्य कहा गया है और अणु से द्वयणुक, त्र्यणुक आदि से स्थूलकाय जो होते है । वे सावयव होते है । इस कारण सावयव—पृथिवी को अनित्य कहा गया है ।

---

१ जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्म दश्यते रज । तस्य षष्ठतमो भाग परमाणु प्रकीर्तित । अणु और परमाणु का एक ही अथ है अणु निरवयव होता है ।

अर्थात जिसकी उत्पत्ति तथा नाश नही होता और जो निरवयव होती है उस पथिवी को नित्य[1] कहते है ॥३६॥

अब जिसकी उत्पत्ति और नाश होता है तथा जो सावयव है उस पृथ्वी को 'अनित्य[2] कहते हैं, यह अग्रिम कारिका से बतावेंगे।

---

१ नित्य वस्तु का लक्षण—'प्रागभावाप्रतियोगित्वे सति ध्वसाऽप्रतियोगित्व नित्यत्वम।' जो पदाथ प्रागभाव का अप्रतियोगी होकर ध्वस का अप्रतियोगी होता हो उसे 'नित्य' कहते है। परमाणु (अणु) आदि नित्य पदार्थों की उत्पत्ति नही होती इस कारण उन नित्य पदार्थों मे प्रागभाव का प्रतियोगित्व (प्रतियोगीपना) नही होता। और नित्य पदार्थों का विनाश भी नही होता। इस कारण नित्या मे ध्वस (प्रध्वसाभाव) का प्रतियोगित्व भी नही रहता यही नित्य वस्तु का लक्षण है। इस लक्षण मे यदि 'ध्वसाप्रतियोगित्व' यह पद न दें तो 'प्रागभाव' मे अतिव्याप्ति होगी। क्योकि नैयायिको ने प्रागभाव' को उत्पत्ति रहित (अनादि) तथा अनित्य माना है। इस कारण वह प्रागभाव अपने प्रागभाव का प्रतियोगी नही हुआ।अत अनित्य प्रागभाव मे 'नित्य' के लक्षण की अतिव्याप्ति के वारणाथ 'ध्वसाऽप्रतियोगित्व' पद दिया गया है। इस प्रागभाव मे ध्वस का 'अप्रतियोगित्व' नही है, क्योकि 'घट' बनकर अपने प्रागभाव को नष्ट कर देता है अर्थात प्रागभाव का अभाव होता है। अत वह (प्रागभाव) अपने अभाव का प्रतियोगी हो गया, अप्रतियोगी नही। अत प्रागभाव मे अतिव्याप्ति नही है। अब यदि 'प्रागभावाऽप्रतियोगित्वे सति' यह पद न दें तो 'ध्वस' में अतिव्याप्ति होगी, क्योकि ध्वस' का ध्वस नही मानते। और उस ध्वस को अन त तथा सादि मानते हैं। तब ध्वस का अप्रतियोगित्व 'ध्वस' मे ह ही। इस कारण सादि (अनित्य) ध्वस में अतिव्याप्ति होगी। उसके वारणाथ 'प्रागभावाऽप्रतियोगित्वे सति' यह विशेषण दिया गया है। घटादि कार्यो के तुल्य वह ध्वस भी उत्पत्तिमान होने से वह प्रागभाव का प्रतियोगी ही होता है, अप्रतियोगी नही। अत ध्वस में अतिव्याप्ति नही होगी।

२ अनित्य वस्तु का लक्षण—'प्रागभावप्रतियोगित्व ध्वसप्रतियोगित्वाऽन्यतरवत्त्व' अनित्यत्वम। जो पदाथ प्रागभाव का प्रतियोगी हो या ध्वस का प्रतियोगी हो अथवा प्रागभाव और ध्वस दोनो का प्रतियोगी हो, उसे अनित्य कहते है। यदि केवल 'प्रागभावप्रतियोगित्व' इतना ही लक्षण करें प्रागभाव' में प्रागभाव का प्रतियोगित्व ही नही होता, या 'ध्वसप्रतियोगित्व' इतना ही लक्षण करें तो 'ध्वस' में ध्वस का भी प्रतियोगित्व नही होता। इस कारण यह स्पष्ट

अनित्या तु तदन्या स्यात्सैवावयवयोगिनी ।
सा च त्रिधा भवेद्देहमिन्द्रियं विषयस्तथा ॥ ३७ ॥

परमाणुरूप पृथ्वी से भिन्न द्व्यणुकादिरूप समस्त पृथ्वी कायरूप है। और वही अनि य अर्थात सावयवा है। वह कायरूप पथ्वी, शरीर, इन्द्रिय, विषय के भेद से तीन प्रकार की है।

अनित्येति। तदन्या परमाणुभिन्ना पृथिवी द्व्यणुकादिरूपा सर्वाऽप्यनित्येत्यर्थ । सैव—अनित्या पृथिव्येव अवयववतीत्यर्थ ।

ननु अवयविनि किं मान, परमाणुपुञ्जैरेवोपपत्ते । न च परमाणूनामतीन्द्रियत्वाद्धटादे प्रत्यक्ष न स्यादिति वाच्यम्, एकस्य परमाणोरप्रत्यक्षत्वेऽपि तत्समूहस्य प्रत्यक्षत्वात्। यथैकस्य केशस्य दूरेऽप्रत्यक्षत्वेऽपि तत्समूहस्य प्रत्यक्षत्वम्। न चैको घट स्थूल इति बुद्धेरनुपपत्तिरिति वाच्यम्, एको महान् धान्यराशिरितिवदुपपत्ते ।

● 'नित्याऽनित्या च साद्वेधा' इस पूर्वकारिका के द्वारा नित्य और अनित्य भेद से पथिवी दो प्रकार की बता चुके हैं। परमाणुरूप पृथिवी नित्य है और 'तदन्या' अर्थात उससे भिन्न द्व्यणुकादिरूपा पथिवी अनित्य होती ह, और अनित्य पथिवी ही अवयववती (सावयवा) होती है।

बौद्धों की शका—अवयव से पृथक् अवयवी के होने मे क्या प्रमाण ? शका करनेवाले का अभिप्राय यह है—नैयायिक 'अवयव और अवयवी' ऐसे दो भिन्न पदाथ मानते है। परन्तु देखा जाय तो कहना पडता ह कि केवल अवयवो का समूह (समुदाय, इकट्ठा होना) ही तो 'अवयवी' है। अत परमाणुओ का समुदाय (परमाणुपुञ्ज) ही 'घट' है। तब 'अवयवी' को एक तथा अवयवो से पृथक् पदाथ मानने की क्या आवश्यकता ? अत अवयवसमुदाय ही अवयवी है,

हो जाता है कि 'प्रागभाव' मे तो केवल ध्वस का प्रतियोगित्वरूप 'अनित्यत्व' है, और 'ध्वस' (प्रध्वसाभाव) मे केवल प्रागभाव का प्रतियोगित्वरूप 'अनित्यत्व' है। और घट पटादि पदार्थों में प्रागभाव तथा प्रध्वसाभाव दोनो का प्रतियोगित्व रूप अनित्यत्व है, यही अनित्य का लक्षण है। एवच नित्य पृथिवी का लक्षण यह होगा—'ध्वसाऽप्रतियोगित्वे सति प्रागभावाऽप्रतियोगित्वे च सति गन्धवत्त्व—नित्य पृथिव्या लक्षणम। तथा अनित्य पृथिवी का लक्षण यह होगा—'ध्वसप्रागभावाऽन्यतरप्रतियोगित्वेसति गन्धवत्त्वम्—अनित्यपृथिव्या लक्षणम्।

अवयव से पृथक् अवयवी नही है[1]। क्योकि परमाणुसमूह को मानने से ही काम चल जाता है। बौद्ध का कहना है कि यहा पर यह शका भी नही की जा सकती कि परमाणु तो अतीन्द्रिय (प्रत्यक्ष के अयोग्य) है, इस कारण परमाणु-समूहरूप घट का प्रत्यक्ष नही हो सकेगा। उक्त शका का समाधान (बौद्ध के मत मे) इस प्रकार होगा कि दूर से प्रत्येक (एक एक) केश का प्रत्यक्ष नही होता, किन्तु उन केशो के समूह का तो प्रत्यक्ष होता ही है। वैसे ही एक परमाणु का प्रत्यक्ष न भी हो तो भी परमाणुसमूहरूप घट के प्रत्यक्ष होने मे कोई बाधा (अडचन) नही है।

---

१ यह 'अवयविवाद' नैयायिको का है। इनका कहना है कि अवयव और अवयवी परस्पर भिन्न पदार्थ हैं। किन्तु बौद्धो का कहना है कि 'अवयवी अपने अवयवो से अतिरिक्त कोई नवीन पदार्थ (वस्तु) नही है। वह तो अवयवो का समूहरूप (समुदाय) मात्र है। नैयायिक कहता है कि 'पट' तन्तुओ का समुदाय-मात्र नही है। वह (पट) तो तन्तुओ मे (से) उत्पन्न होता है, अत वह (पट) तन्तुओ से पृथक एक नवीन पदार्थ है। यह अवयविवाद का सिद्धान्त ही नैयायिक-विशेषको के कार्यकारणवाद का आधार है। किन्तु सांख्य वेदान्त बौद्ध आदि सभी उक्त सिद्धान्त के विरोधी है। सांख्य कहता है कि 'पट' तन्तुओ का परिणाम है। अर्थात दूध, दही की तरह तन्तु ही पट' के रूप मे परिणत हो जाते हैं। तन्तुओ से पृथक 'पट' नामकी कोई नवीन वस्तु नही है। यही सांख्य का 'सत्कार्यवाद' है।

उसके विपरीत न्याय-वैशेषिक का कहना है कि तन्तु', 'पट' के रूप मे परिणत नही होते। वे तो अपने स्वरूप (तन्तुरूप) मे ही यथास्थित रहते है। और उन तन्तुओ मे 'पट' नामकी एक नवीन वस्तु उत्पन्न होती है। यही इनका आरम्भवाद' या 'असत्कार्यवाद' है। यह दर्शन तन्तुओ से 'पट' का पृथक अस्तित्व मानता है। अर्थात् अवयवो से अवयवी पृथक् है। वह (अवयवी) अवयवो का समूह (समुदाय) मात्र नही है। यह (न्याय-वैशेषिक) दर्शन, यथार्थ (बाह्य) वस्तुवादी है। इस दर्शन का नामान्तर 'पदार्थ विज्ञान-शास्त्र' है। जगत के दृश्यमान पदार्थो के अस्तित्व का, उनके स्वरूप का यथार्थ परिचय करा देना ही इस दर्शन का उद्देश्य है। एवच 'सांख्य' सत्कार्यवादी (परिणामवादी) और 'न्याय वैशेषिक' आरम्भवादी (असत्कार्यवादी कहलाते है।)

बौद्ध 'स्वलक्षणवादी' है। वह नैयायिको के अवयविवाद का खण्डन करता

शंका—परमाणुसमूह (समुदाय अर्थात पुष्कल परमाणु) ही घट' है, ऐसा यदि मानेंगे तो 'एको घट स्थूल —घट एक ह तथा स्थूल (बडा) है ऐसी प्रतीति न हो सकेगी। क्योकि परमाणु मे स्थूलता नही है। यदि परमाणु मे स्थूलता मानी जाय तो उसका (परमाणु का) प्रत्यक्ष होना चाहिये, कि तु होता नही। इस कारण परमाणुसमूहरूप घट मे भी स्थूलता का ज्ञान सम्भव नही हो पायगा।

है। बौद्धो का 'स्वलक्षण' नामक तत्त्व अनन्त है, यथाथ है किन्तु क्षणिक है। यह सम्पूण दश्यमान जगत और उसके पदार्थो की प्रतीति 'स्वलक्षण' नामक तत्त्वो के आधार पर ही हुआ करती है। तथापि उन स्वलक्षणो को मिलाकर कोई काय (घट पटादि द्रव्य) उत्प न नही किया जाता। न्याय वैशेषिक के 'परमाणु' तत्त्व के समान ही बौद्धो ने भी अपने अभिमत 'स्वलक्षणो को मूलतत्त्व के रूप मे माना ह। वस्तुत 'स्वलक्षणो' का स्वरूप 'परमाणओ' से भिन्न है। तथापि मूलतत्त्व की समानता को मन मे रखकर बौद्ध का कहना है कि 'परमाणुपुञ्ज से ही घट पटादि स्थूल द्रव्यो की प्रतीति सभव हो जाती है तो 'अवयवी' नामक एक अतिरिक्त पदाथ मानन की क्या आवश्यकता ह ? अपने कथन मे बौद्ध यह युक्ति देता है कि दूर स्थित एक केश की तरह एक परमाणु यद्यपि 'अप्रत्यक्ष' है तथापि दूर स्थित केश समूह की तरह परमाणुपुञ्ज (समूह) का प्रत्यक्ष हो सकता है। और धान्य (धान) के राशि (ढेर) मे 'एक और बडा ढेर' यह प्रतीति जैसे हुआ करती है, वसे ही परमाणुपुञ्जरूप 'घट' में भी 'एक और महान्' वस्तु होने की प्रतीति हो सकती है। अत 'अवयवो से पथक 'अवयवी नामक वस्तु को अलग से मानने की कोई आवश्यकता नही ह। इस पर न्याय वैशेषिक का कहना है कि यद्यपि केश अपनी सूक्ष्मता के कारण दूर से दृष्टिगोचर (प्रत्यक्ष) नही हो पाता तथापि वह (केश) वस्तुत प्रत्यक्ष के अयोग्य तो नही है, क्योकि 'वही केश' समीप से दृष्टिगोचर (प्रत्यक्ष) होता है। अत प्रत्यक्षयोग्य 'केश' अपनी सूक्ष्मता के कारण अकेला दूर मे दष्टिगोचर न भी होता हो, किन्तु उसका समूह दूर से भी दिखलाई पड जाता है। यह स्थिति परमाणु मे नही ह। 'परमाणु' तो सवथैव प्रत्यक्ष के आयोग्य है। उसका कितना ही महान् समूह क्यो न हो, वह भी प्रत्यक्ष के अयोग्य ही होगा, क्योकि वस्तु के स्वभाव मे कभी परिवतन नही होता। अत 'अवयवी' को 'अवयवो' से पृथक रूप में स्वीकार करना ही पडेगा।

उक्त आशका का समाधान बौद्ध इस प्रकार करता है—प्रत्येक छोटे छोटे धान्यकणो मे महत्त्व (स्थूलता) बुद्धि न होने पर भी तथा धन्यकणो की पुष्कलता के होने पर भी उन अनेक छोटे छोटे धान्य कणो से बनी राशि मे 'एक बडी धान्यराशि है' ऐसी प्रतीति होती है, उसी प्रकार प्रत्येक परमाणु मे स्थूलता की बुद्धि (ज्ञान) न होने पर भी परमाणुसमुदाय रूप घट मे 'एक घट स्थूल (महान) है ऐसी प्रतीति हो सकती है। अर्थात उक्त प्रतीति के होने मे कोई बाधा नही है। इसलिये परमाणुओ का (अवयवो का) जो समुदाय है, वही घट —(अवयवी) है। एवच अवयव से अवयवी भिन्न नही है।

मैव, परमाणोरतीन्द्रियत्वेन तत्समूहस्यापि प्रत्यक्षायोग्यत्वात्। दूरस्थकेशस्तु नातीन्द्रिय, सन्निधाने तस्यैव प्रत्यक्षत्वात्। न च तदानीमदृश्यपरमाणुपुञ्जाद् दृश्यपरमाणुपुञ्जस्योत्पन्नत्वान्न प्रत्यक्षत्वे विरोध इति वाच्यम्, अदृश्यस्य दृश्यानुपादानत्वात्। अन्यथा चक्षुरूष्मादिसन्ततेरपि कदाचित् दृश्यत्वप्रसङ्गात्। न चातितप्ततैलादौ कथमदृश्यदहनसन्ततेर्दृश्यदहनोत्पत्तिरिति वाच्यम्, तत्र तदन्तःपातिभिर्दृश्यैरेव दहनावयवै स्थूलदहनोत्पत्तेरुपगमात्। न चादृश्येन द्व्यणुकेन कथ दृश्यत्रसरेणोरुत्पत्तिरिति वाच्य, यतो न दृश्यत्वमदृश्यत्व वा कस्यचित्स्वभावादाचक्ष्महे, किन्तु महत्त्वोद्भूतरूपादिकारणसमुदायवशाद् दृश्यत्व तदभावे चादृश्यत्वम्। तथा च त्रसरेणोर्महत्त्वात्प्रत्यक्षत्व न तु द्व्यणुकादेस्तदभावात्। न हि त्वन्मतेऽपि सम्भवतीद, परमाणौ महत्त्वाभावात्।

• बौद्धो की आशका का उत्तर नैयायिक देता है—'मैवमि'ति। बौद्ध ने जो कहा (अवयव से भिन्न अवयवी नही है) वह उचित नही है। जब कि परमाणु अतीन्द्रिय (प्रत्यक्ष के आयोग्य) है, तब उनका (अतीन्द्रिय परमाणओ का) समूह (पुञ्ज) रूप जो घट, उसका भी प्रत्यक्ष कैसे सम्भव होगा ? अर्थात परमाणु, प्रत्यक्ष के आयोग्य होने से उसका समूह भी प्रत्यक्ष के आयोग्य होगा। इसलिये अवयव[1] से अतिरिक्त

---

१ 'द्रव्यसमवायिकारणमवयव'—यह '**अवयव**' का लक्षण है। द्रव्य का का जो समवायिकारण हो, उसे '**अवयव**' कहते है। जैसे '**पट**' (द्रव्य) का '**तन्तु**', '**घट**' (द्रव्य) का '**कपाल**' समवायिकारण है। शरीर (द्रव्य) के

अवयवी[1] को स्वीकार करना होगा। दूरदेश स्थित केश का दृष्टान्त बौद्ध ने जो दिया था, वह यहाँ ठीक नही बैठता, क्योकि दूरदेशस्थ केश को अतीन्द्रिय (प्रत्यक्ष के अयोग्य) नही कह सकते क्योकि समीप लाने पर उसका प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् दूर स्थित केश की अप्रत्यक्षता स्वाभाविक नही है, वह तो दूरतादोष के कारण है। उस दूरतादोष की निवृत्ति होने पर वही केश, प्रत्यक्ष का विषय हो जाता ह। एवञ्च केश मे अतीन्द्रियता के न होने से अर्थात प्रत्यक्ष योग्यता होने से केश समूह की प्रत्यक्षता (केशसमूह का प्रत्यक्ष होना) भी स्वाभाविक ह। किन्तु परमाणु की अप्रत्यक्षता तो स्वाभाविक है अत उसका पञ्ज (समूह) भी अप्रत्यक्ष मानना होगा।

बौद्ध कहता है कि हमारा अभिप्राय[2] यह नही है कि जो अतीन्द्रिय वस्तु

समवायिकारण हस्त पादादि है। अत वे 'अवयव' कहलाते है। उक्त लक्षण में यदि 'द्रव्य' पद न दें तो 'आकाशादि' द्रव्य भी 'शब्दादि' गुणो के समवायिकारण है, पर तु उनमें अवयवरूपता नही ह। इस अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'द्रव्य' पद दिया गया है। तब 'आकाशादिकों' मे किसी द्रव्य को समवायिकारणता नही ह, अत अतिव्याप्ति दोष नही हो पाता। यदि 'समवायि' पद न दे तो 'तन्तु' आदि अवयवो का सयोग भी 'पटादि' द्रव्यों का असमवायिकारण ह। और 'काल' आदि उन्ही के निमित्तकारण ह। इन दोनो कारणो (असमवायिकरण और निमित्तकरणो) मे अतिव्याप्ति हो जायगी। उस अतिव्याप्ति के वारणार्थ लक्षण मे 'समवायि' पद दिया गया है।

१ 'जन्यद्रव्यमवयवी'—यह 'अवयवी' का लक्षण है। जो जन्य द्रव्य हो उसे 'अवयवी' कहते हैं। पृथिवी, जल तेज और वायु और उनके द्व्यणुक से लेकर जितने भी उत्पत्तिवाले पार्थिव, जलीय, तैजस, वायवीय द्रव्य है वे सब जन्यद्रव्य होने से 'अवयवी' कहलाते है। इस लक्षण मे यदि 'जन्य' पद न दे तो 'परमाणु' आदि नित्य द्रव्यो मे अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ 'जन्य' पद दिया गया है। अब यदि 'द्रव्य' पद न दें तो गुण–कर्मादिको मे अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ 'द्रव्य' पद दिया गया है।

२ शका— न च तदानीमिति।' 'अय घट ' इत्याकारक प्रत्यक्ष होने के पूर्वक्षण मे ही प्रत्यक्ष के विषय (योग्य) न होनेवाले समुदित परमाणुओ (अदृश्य=इन्द्रियागोचर परमाणुपुञ्ज) के द्वारा प्रत्यक्षयोग्य परमाणुसमुदाय (दृश्य=इन्द्रिय गोचर परमाणुपुञ्ज) उत्पन्न किया जाता है अत परमाणुपुञ्जरूपी घट का प्रत्यक्ष हो

है, उसके समूह का प्रत्यक्ष होता है।' किन्तु क्षणभङ्गुर (प्रतिक्षण मे भिन्नविभिन्न) परमाणुआ मे से जिस परमाणुसन्तान का पिण्ड, कपाल, घट आदि शब्दो से व्यवहार किया जाता है, वह अतीन्द्रिय नही है, इसलिये उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। और जो उनके पूर्ववर्ती ह, वे अतीन्द्रिय हैं ही। इस कारण उनका चाक्षुषप्रत्यक्ष

सकता है, क्याकि यत सत तत क्षणिकम' इस नियम के अनुसार क्षणभगवादियो (बौद्धा) क मत मे परमाणुआ की उत्पत्ति मानी गई ह।

समा०—इस पर नयायिक कहते है कि यह जो बौद्ध कहता है कि 'घट' शब्द से व्यपदेश (व्यवहार) करने के योग्य जो 'परमाणु' है, वे दश्य होते है और चक्षुरादि से व्यपदेशाह परमाणु तो प्रतिक्षण उत्पन्न होते रहने पर भी नही दिखलाई दत। अत उक्त व्यवस्था की उपपत्ति के लिये बौद्धो को कहना होगा कि दश्यत्व मे दश्योपादेयत्व प्रयोजक होता है, और अदश्यत्व मे अदृश्योपादेयत्व प्रयोजक होता ह। एवञ्च अदश्य पूर्वपरमाणुओ के द्वारा घटात्मक दृश्य परमाणुओ का उपादान कैसे कर सकोगे। इसी आशय को मन मे रखकर ग्रथकार ने समाधान किया है—**अदृश्यस्येति**' बौद्धमतानुसार पूव परमाणुपुञ्ज' अदृश्य (अप्रत्यक्ष) होने से वह प्रत्यक्ष (दृश्य) परमाणुपुञ्ज का कारण (उपादान) नही हो सकता। और दृश्यपरमाणुपञ्ज मे दश्योपादेयता (दश्योपादेयत्व) न होने से दश्यपरमाणपुञ्ज की उत्पत्ति होना ही सभव नही है। एवञ्च अदश्य वस्तु से दश्य वस्तु की उत्पत्ति कभी भी नही हो सकती। अर्थात अदश्य वस्तु, दश्य वस्तु का उपादान (कारण) नही हुआ करती। अत बौद्ध यह नही कह सकता कि 'कार्योत्पत्तिकाल मे अदश्य परमाणुपुञ्ज से दश्य परमाणुपुञ्जरूप घटकी उत्पत्ति होती है, इसलिये उसके प्रत्यक्ष होने मे कोई बाधा नही है।' क्योकि अदृश्य पदाथ, दश्य पदाथ का उपादान (कारण) नही होता। **अन्यथेति**। अन्यथा अर्थात अदश्य को दश्य का उपादान (कारण) माना जाय तो कदाचित चक्षुरिन्द्रिय तथा ऊष्मा (भाप) आदि अदश्य तेज पदार्थो का भी प्रत्यक्ष होने लगेगा। अर्थात अदश्य चक्षु से कदाचित दश्य चक्षु की तथा अदृश्य ऊष्मा से दश्य ऊष्मा की उत्पत्ति होने लगेगी। और त्वगिन्द्रिय से उसका प्रत्यक्ष होने लगेगा। किन्तु शास्त्रकारो ने चक्षुरिन्द्रिय तथा ऊष्मा (भाप को तेज पदाथ और अदश्य (प्रत्यक्ष का अविषय माना ह।

शका—बौद्ध कहता है कि किसी पात्र में रखे हुए अतितप्त तेल मे विद्यमान अदश्य अग्नि से कभी कभी ज्वालारूपी अदश्य अग्निकी उत्पत्ति (अर्थात्

नही होता। एवच अतीन्द्रिय परमाणओ के पुञ्जरूप घट के प्रत्यक्ष होने मे कोई बाधा नही है। घट के प्रत्यक्ष की सिद्धि के लिये अवयवातिरिक्त अवयवी के मानने की आवश्यकता नही।

अत्यधिक तपे हुए तेल मे जल का छीटा देने से तप्त तैलस्थ अदश्य अग्नि प्रज्वलित हो जाती है) जैसे दष्टिगोचर होती है, वैसे ही प्रकृत मे भी अदश्य परमाणु पुञ्ज से एक दश्य परमाणु पुञ्जात्मक घट भी उत्पन्न हो सकता है।

"जालान्तरगते भानौ सूक्ष्म यद दश्यते रज। प्रथम तत्प्रमाणाना त्रसरेणु प्रचक्षते।" —याज्ञ १।३।१,— मनु० ८।१३२

समा०—नैयायिक का कहना है कि अत्यधिक तप्त हुए तेल के भीतर रहने वाले अग्नि के जो सूक्ष्म अवयव है उनमे प्रत्यक्ष होने की योग्यता है अर्थात वे दश्य है, जल का छीटा पडने पर उनसे ही स्थूल अग्नि (दश्य ज्वाला) की उत्पत्ति होती है। अत दृश्य से ही दश्य की उत्पत्ति होती है अदृश्य से दश्य की नही।

शका— बौद्ध 'नैयायिक' से पूछता है कि आपके मत मे द्व्यणुक अदश्य है उससे दश्यत्रसरेणु (त्र्यणुक) की उत्पत्ति होती है। यदि अदश्य से दश्य की उत्पत्ति न मानी जाय तो अदश्य द्व्यणुक से दश्य त्रसरेणु की उत्पत्ति कैसे कह सकोगे ?

समा०—नैयायिक कहता है— अमुक वस्तु दश्य है और अमुक वस्तु अदश्य है। यह कहने के लिये कुछ हेतु (कारण) प्रदर्शित करना होता ह। बिना कारण के अर्थात् अकस्मात ही कोई वस्तु दश्य या अदश्य नही हुआ करती, क्योकि दश्यत्व या अदृश्यत्व किसी वस्तु के स्वाभाविक धम नही है। प्रत्यक्ष की सामग्री (कारण) महत्त्व तथा उदभूतरूप है। वह सामग्री जिस वस्तु मे रहेगी वही वस्तु दश्य कहलाती है। और वह सामग्री जिस वस्तु मे नही रहेगी वह वस्तु अदृश्य कहलाती है। त्रसरेणु आदि में महत्त्व आदि प्रत्यक्ष की सामग्री है। अत उसका (त्रसरेणुका) प्रत्यक्ष होता है। और द्व्यणुक मे महत्त्व (प्रत्यक्ष की सामग्री न होने से उसका प्रत्यक्ष नही होता। इस कारण त्रसरेणु को दश्य और द्व्यणुक को अदश्य कहा जाता है।

शका—यद्यपि प्रत्येक परमाणु अदृश्य है तथापि परमाणुपुजात्मक घट को दृश्य मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है ?

नैयायिक कहता है कि अदृश्य वस्तु किसी दृश्य वस्तु का कारण (उपादान) नही बन सकती। यदि अदृश्य वस्तु को भी दृश्य वस्तु का उपादान (कारण) स्वीकार कर ले तो अदृश्य चक्षु से कदाचित दृश्य चक्षु की तथा अदृश्य ऊष्मा से कदाचित दृश्य ऊष्मा की उत्पत्ति भी कहनी होगी अर्थात चक्षु तथा ऊष्मा आदि अदृश्य तेज पदार्थों का भी प्रत्यक्ष होने लगेगा[1]।

बौद्ध कहता है—कटाह (कढाव) के अत्यन्त तप्त तैल मे विद्यमान अदृश्य अग्नि से कभी कभी ज्वालारूप दृश्य अग्नि की उत्पत्ति होती जैसे देखते है। उसी प्रकार यहा पर भी अदृश्यपरमाणुपुञ्ज से एक दृश्यपरमाणुपुञ्ज घट भी उत्पन्न हो सकता है।

नैयायिक कहता है—अत्यन्त तप्त तैल में अग्नि के सूक्ष्म अवयव विद्यमान हैं और वे दृश्य भी है, उन्ही से ज्वालारूप दृश्य (स्थूल) अग्नि की उत्पत्ति होती है। अत बौद्ध का आक्षेप ठीक नही है, क्योकि वहाँ दृश्य से ही दृश्य की उत्पत्ति हो रही है।

बौद्ध पूछता है कि आपके यहाँ अदृश्य द्व्यणुक से दृश्य त्रसरेणु का प्रत्यक्ष (उत्पत्ति) कैसे होता है ?

नैयायिक बताता है कि दृश्यत्व, अदृश्यत्व किसी वस्तु के स्वाभाविक धर्म नही है, अपितु जहा महत्त्व आदि कारणसमूह होता है, वह वस्तु दृश्य होती है

समा॰ नैयायिक के मत मे तो उपपत्ति हो जाती है, किन्तु **बौद्ध के मत मे अदृश्य से दृश्य की** उपपत्ति नही बन पाती है। क्योकि अदृश्य परमाणुओ के समूह (पुञ्ज) मे महत्त्वरूपी प्रत्यक्षसामग्री के न रहने से उस घट के प्रत्यक्ष की उपपत्ति नही होगी। अर्थात बौद्ध के मत मे भी परमाणु मे महत्त्व न होने से उसका दृश्यत्व नही है। अत असख्य परमाणु क्यो न हो, उनमे महत्त्व कहाँ से आवेगा। अत बौद्ध का (प्रत्येक परमाणु का प्रत्यक्ष न हो किन्तु परमाणुपुञ्जात्मक घट का प्रत्यक्ष हो सकता है) कथन कदापि उचित नही है। क्योकि पुञ्ज (समूह) भी तो परमाणुओ से पृथक् नही है। इसलिये परमाणुओ से द्व्यणुक उससे त्र्यणुक आदि के द्वारा उत्पद्यमान एक घटादिरूप अवयवी को पृथक स्वीकार करना ही होगा।

१ इस दोष के निवारणार्थ 'अदृश्य वस्तु से दृश्य वस्तु की उत्पत्ति नही होती यह मानना ही पडेगा।

और जहा महत्त्व आदि कारणसमूह नही रहता वह वस्तु अदृश्य होती है। त्रसरेणु मे महत्त्व होने से उसका प्रत्यक्ष होता है और द्व्यणुक मे महत्त्व के न रहने से उसका प्रत्यक्ष नही हो पाता।

बौद्ध कहता है कि प्रत्येक परमाणु के अदृश्य रहने पर भी परमाणुपुञ्ज रूप 'घट को दृश्य मान लेने मे क्या हानि है ?

नैयायिक 'नहि त्वन्मतेऽपि' कहकर उत्तर दे रहा है कि तुम्हारे बौद्ध-सिद्धान्त के अनुसार भी परमाणु मे अर्थात परमाणुपुञ्जरूप कार्य मे महत्त्व आदि कारणो के न होने से यह दृश्यत्वोपपादन सगत नही हो पा रहा है। अर्थात कारणीभूत परमाणु मे दृश्यत्व का उपपादन नही हो पा रहा है। अत कार्यभूत परमाणु पुञ्ज मे भी महत्त्व आदि कारणो के न होने से दृश्यत्व का उपपादन सगत नही हो सकता। अत परमाणुओ से द्व्यणुकादि के द्वारा उत्पद्यमान घटादि अवयवी का महत्परिमाण आदि के आश्रय के रूप मे स्वीकार करना ही होगा। एवच अवयवी की पृथक सत्ता सिद्ध हो जाती है।

इत्थ चावयविसिद्धौ तेषामुत्पादविनाशयो प्रत्यक्षसिद्धत्वाद नित्यत्वम् ।

॥ इति अवयव्यनुमानम ॥

● इस रीति से अवयवी (घट-पटादि) अवयवो (परमाणुओ) से भिन्न है। अर्थात 'वह अवयवी, अवयवो की अपेक्षा एक स्वतत्र वस्तु है' यह सिद्ध हो जाने पर अवयवो के उत्पाद विनाश[1] प्रयुक्त अवयवी का उत्पाद विनाश (उत्पत्ति तथा नाश) प्रत्यक्ष ही है, उससे अवयवी की अनित्यता[2] स्पष्ट हो जाती है। और परमाणुओ की उत्पत्ति तथा नाश न होने से वे (परमाणु) नित्य है। एक अवयवी के अवयव अनेक है। अत अवयवातिरिक्त अवयवी सिद्ध हो जाता है।

॥ इति अवयव्यनुमानम ॥

तेषा चावयवावयवधारायां अनन्तत्वे मेरुसर्षपयोरपि साम्यप्रसङ्ग । अत क्वचिद्विश्रामो वाच्य , यत्र तु विश्रामस्तस्याऽनित्यत्वेऽसमवेतभावकार्योत्पत्तिप्रसङ्ग इति तस्य नित्यत्वम् । महत्परिमाणता

१ आद्यक्षणसम्बन्धरूप उत्पाद और चरमक्षणसम्बन्धरूप विनाश (ध्वस) ये प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है।

२ प्रागभावप्रतियोगित्व और ध्वसप्रतियोगित्वरूप अनित्यत्व।

रतम्यस्य गगनादौ विश्रान्तत्वमिवाणुपरिमाणतारतम्यस्यापि क्वचिद्विश्रान्तत्वमस्तीति तस्य परमाणुत्वसिद्धि । न च त्रसरेणावेव विश्रामोऽस्त्विति वाच्य, त्रसरेणु सावयव चाक्षुषद्रव्यत्वात् घटवदित्यनुमानेन तदवयवसिद्धौ, त्रसरेणोरवयवा सावयवा महादारम्भकत्वात् कपालवदित्यनुमानेन तदवयवसिद्धे । न चेदमप्रयोजकम् , अपकृष्टमहत्त्व प्रत्यनेकद्रव्यवत्त्वस्य प्रयोजकत्वात् । न चैव क्रमेण तदवयवधाराऽपि सिध्येदिति वाच्यम्, अनवस्थाभयेन तदसिद्धेरिति ।

॥ इति परमाणुसाधनम ॥

यदि परमाणुओ के अवयव तथा उन अवयवो के भी अवयव फिर उनके भी अवयव इसप्रकार अवयवो की धारा मानी जाय । अर्थात किसी एक वस्तु (अवयवी) के अवयव अमुक पर्यन्त है ऐसा यदि न माना जाय—तो मेरुपवत तथा सरसो इन दोनो के परस्पर परिमाणो का तारतम्य नही रहेगा । अर्थात् अनन्त भाग सुमेरुपवत के यदि होते चले जायेंगे तो वैसे ही अनन्त भाग सरसो के भी होगे । अत दोनो की तुल्यता होनी चली जायगी । तात्पय यह है कि अवयविया में जो विषमता होती ह वह उनके अवयवो की न्यूनाधिकता पर ही निभर है । यदि सभी अवयवी अनन्तावयववाले हो गये तो अवयवियो की विषमता का कोई प्रयोजक हा नही रहेगा । इस रीति से मेरु और सषप मे समानता का प्रसग उपस्थित होगा । अत कही न कही पर तो अवयवधारा को विश्राम देना ही होगा । जहा अवयवधारा विश्रान्त होगी तब उस भाग की अपेक्षा अन्य कोई सूक्ष्म भाग नही होगा । जहा धारा विश्रान्त होगी वही सबकी अपेक्षा सूक्ष्म होगा । और उस सूक्ष्मतम भाग को नित्य कहना हागा । यदि उसे भी अनित्य (जन्य) कहेगे तो 'असमवेतभावकार्योत्पत्ति' का प्रसग होगा । 'असमवेतञ्च तद्भावकायञ्च'— यह कमधारय समास ह । किन्तु सभी 'भावकार्य' अपने अवयवो में समवायसम्बध से उत्पन्न होते है । जैसे—घट, पटादि भावकाय अपने अवयव कपाल और तन्तुओ मे समवायसम्बन्ध से उत्पन्न होते ह, इसी को 'समवेतभावकार्योत्पत्ति' कहते है । जितने भी भावकाय है वे सभी अपने अवयवो म समवेत होकर ही उत्पन्न होते ह, यह हमने घट पटादि भावकार्यों की उत्पत्ति में देखा है । एवच जहा अवयवधारा समाप्त होगी, उसे ही अन्तिम अवयव कहा जायगा । वह अन्तिम अवयव होने के कारण उसे असमवेत कहना होगा, क्योकि यदि उसका भी अन्य कोई अवयव होता, तो उसमे वह (अन्तिम अवयव) समवेत हो पाता ।

यदि उस अन्तिम अवयव को अनित्य (जन्य) कहते है तो घट पटादि के समान उसे भावकाय कहना पडेगा। एवच अनित्य मानने पर असमवेतभाव काय की उत्पत्ति कहने का प्रसग आवेगा। कि-तु इस प्रकार असमवेतभावकार्योत्पत्ति का होना कभी भी सम्भव नही हो सकता। इसलिये उस अन्तिम अवयव को 'नित्य' ही कहना चाहिये[1] और वही 'परमाणु' पदाथ है। क्योकि जैसे महत्परिमाण के तारतम्य की विश्रान्ति गगन (आकाश) आदि मे होती है, (आदि शब्द से काल, दिक, आत्मा का सग्रह कर लेना चाहिये) वैसे ही अणुपरिमाण के तारतम्य (न्यूनाधिकभाव) की विश्रान्ति भी कही न कही तो अवश्य करनी ही होगी। एवच जहाँ अणुपरिमाण के तारतम्य की विश्रान्ति होगी, वही 'परमाणु'[2] है, और उससे पृथक घटादि अवयवी अनित्य है यह स्पष्ट हुआ। अत परमाणु पुञ्जवादी बौद्ध को परास्त हुआ समझना चाहिये।

---

१ परमाणु का पुन अवयव न मानने का कारण यही है कि वे अवयव अपने समवायिकारण के बिना उत्पन्न होने लगेंगे यह सैद्धान्तिक दोष होगा। न मानने पर यह दोष नही होगा। जो भाव 'ज य' होता है वह समवायिकारण के विना उत्पन्न नही होता। 'परमाण भाव पदार्थ है, फिर भी वह 'जन्य' नही है अपितु 'नित्य' ह। अत उक्त आपत्ति नही हो पाती। 'परमाणु' का लक्षण इस प्रकार होगा—'मनोभिन्नत्व सति परमाणुत्वपरिमाणवान परमाणु, जो द्रव्य मन से भिन्न होकर समवायसम्बन्ध से 'परमअणुत्व' परिमाणवान हो उस द्रव्य को 'परमाणु' कहते हैं। पथिवी, जल, तेज और वायु के परमाणु, मन से भिन्न हैं, तथा समवायसम्बन्ध से परमअणुत्व परिमाणवाले भी है। 'मन' भी 'परम-अणुत्व' परिमाणवाला है। अत अतिव्याप्ति होगी, उसके निवारणाथ लक्षण मे 'मनोभिन्नत्वे सति' यह सत्यन्त विशेषणपद दियागया ह। उसी प्रकार 'द्व्यणुक' मे अतिव्याप्ति न हो इसलिये 'अणुत्वपरिमाण' का परम' विशेषण दिया गया है। 'द्व्यणुक' में ता 'मध्यम अणुत्व परिमाण'—माना गया है। 'परम अणुत्वपरिमाण' नही। पृथिवी आदि नौ द्रव्यो मे 'परिमाण' है, तथापि 'परम अणुत्वपरिमाण' तो केवल परमाणु' तथा 'मन का ही माना गया है। द्रव्यादिक समस्त पदार्थो में लक्षण की अतिव्याप्ति दूर करने के लिये 'परमाणुत्वपरिमाणवान' यह विशेषण दिया गया है।

२ 'न प्रलयोऽणुसद्भावात —न्या सू (४।२।१६) इस पर भाष्य 'यस्मान्नाल्पतर मस्ति य परमोऽल्पस्तत्र निवर्तते, यतश्च नाल्पीयोऽस्ति तम्परमाणुम्प्रचक्ष्महे' इति।

शका—त्रसरेण पर ही यदि अवयव धारा को विश्रान्त करें, परमाणु पयन्त न माने, तब त्रसरेणु ही अवशिष्ट अवयव कहलायगा। अर्थात 'परमाणुत्वपरिमाण' (सूक्ष्मतम परिमाण) वाला त्रसरेणु ही कहा जाय। अर्थात त्रसरेणु को ही परमाणु मान लिया जाय, उसके और आगे अन्या य कल्पना करने से क्या लाभ ?

समा॰—पहले बता चुके है कि त्रसरेणु का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। अत यह अनुमान प्रयोग किया गया है—'त्रसरेण सावयव **चाक्षुषद्रव्यत्वात्** घटवन' इस अनुमान प्रयोग से यह व्याप्ति (नियम) समझ मे आती है, कि यच्चाक्षुष तत सावयवम' - जो द्रव्य चक्षुरिन्द्रिय का विषय होता है, वह सावयव रहता है' अर्थात उसके अवयव रहते है। जैसे 'घट' द्रव्य, चक्षुरिन्द्रिय का विषय है तो वह सावयव भी है। उसी प्रकार त्रसरेणु भी चक्षुरिन्द्रिय का विषय होने से सावयव है, ऐसा अनुमान होता है। इस अनुमान से त्रसरेणु के अवयवो (द्व्यणुक) की सिद्धि हो जाती है। एक और दूसरे अनुमान से 'त्रसरणो रवयवा सावयवा **महदारभकत्वात्** कपालवत'—त्रसरेणु का अवयव द्व्यणुक भी सावयव है, क्योकि वह महान का आरम्भक ह, कपाल की तरह। इस अनुमान से यह व्याप्ति (नियम) ममझ में आती है 'यो महदवयव अर्थात महत्परिमाणवत कायस्य आरम्भक अवयव सोऽपि सावयव'—जिस द्रव्य से बडा द्रव्य (दृश्य द्रव्य) उत्पन्न होता है, उस द्रव्य का अवयव भी सावयव होता ह। जैसे—कपालद्रव्य से बडा घट उत्पन्न होता है, अत वह अवयवरूप कपाल भी सावयव है, अर्थात उस कपाल के भी अवयव है। वैसे ही द्व्यणुकस्वरूप अवयवो से त्रसरेणु स्वरूप बडा द्रव्य उत्पन्न होता ह। अत द्व्यणुकस्वरूप अवयव सावयव है यानी उस द्व्यणुक के अवयव ही 'परमाणु' है, यह स्पष्ट हो जाता है। त्रसरेणु या त्रसरेणु के अवयवो को परमाणु' नही माना जा सकता। प्रथम अनुमानप्रयोग की व्याप्ति से त्रसरेणु की सावयवता सिद्ध की गई है और द्वितीय अनुमानप्रयोग की व्याप्ति से द्व्यणुक की सावयवता को निराबाध बताया गया है।

शका—चाक्षुषद्रव्यत्वहेतुक प्रथम अनुमान को त्र्यणुक के सावयव होने में अप्रयोजक (अनुकूल तकरहित) क्यो न माना जाय ?

समा—हेतु में व्यभिचारशकानिवतक तकशून्य अनुमान को 'अप्रयोजक अनुमान' कहते है। एवच हेतु में यदि व्यभिचार की आशका हो जाय तो उस आशका को हटानेवाले 'तक' को ही अनुकूल तक कहते है। तथाहि—प्रथम अनुमान मे व्याप्ति यह थी—'यच्चाक्षुष तत सावयवम्। इस व्याप्ति मे यदि 'हेतुरस्तु, साध्य मास्तु इति हेतु साध्यव्यभिचारी न वा' इस प्रकार

व्यभिचार शका—त्रसरेणु' रूप पक्ष में 'चाक्षुषद्रव्यत्व रूप हेतु तो रहे किन्तु 'सावयवत्व' रूप साध्य न रहे—हो जाय, तो उसे दूर करने वाला अनुकूल तक नैयायिक के पास है। यदि नैयायिक के पास अनुकूल तक न हो तो चाक्षुषद्रव्यत्वात' यह हेतु 'सावयवत्व'-रूप साध्य की सिद्धि नही कर सकेगा। नैयायिक के पास अनुकूल तक ह। अनुकूल तर्क काय कारणभाव मूलक होता है। उमे इस प्रकार बता सकते है—'चाक्षुषद्रव्यत्व यदि सावयवत्व व्यभिचारि स्यात तर्हि सावयवत्वव्याप्य-अनेकद्रव्यवत्त्वव्याप्य-अपकृष्टमहत्त्वव्याप्य न स्यात, किन्तु चाक्षुषद्रव्यत्व सावयवत्वव्याप्य अनेकद्रव्यत्वव्याप्य अपकृष्ट महत्त्वव्याप्य भवति, अतो न व्यभिचारि।' नैयायिको का सिद्धान्त ह कि 'तीन द्व्यणुको से एक त्र्यणुक उत्पन्न होता है। अत त्र्यणुकपरिमाण अनेक अवयाव जन्यद्रव्यरूप हुआ, इस कारण उस त्र्यणुक मे अपकृष्ट महत्त्व (विभु से अतिरिक्त महत्परिमाण) उत्पन्न होता है। क्योकि उस अपकृष्टमहत्त्व के प्रति 'अनेकावयविजन्य अनेकद्रव्यवत्त्वरूप द्रव्यत्व प्रयोजक है। यदि त्र्यणुक में चाक्षुष द्रव्यत्व को तो मान लें और 'सावयवत्व को न मानें, तो-'अपकृष्टमहत्त्व और अनेकावयविजन्य अनेक द्रव्यवत्त्वरूप द्रव्यत्व दोनो मे स्थित प्रयोज्यप्रयोजकभाव (काय कारण-भाव) हो नही सकेगा। अत त्र्यणुक में सावयवत्व तो मानना ही होगा। अर्थात त्र्यणुक को सावयव कहना ही होगा। ऊपर बता चुके ह कि अपकृष्ट महत्त्व के प्रति 'अनेकद्रव्यवत्त्व' प्रयोजक है। जैसे—अपकृष्ट महत्परिमाणवाले द्रव्य का ही चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। अत कहना होगा कि चाक्षुष प्रत्यक्षयोग्य द्रव्यत्व—व्याप्य है, और अपकृष्ट महत्परिमाण व्यापक है। अर्थात जिस जिस द्रव्य का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, उस उस द्रव्य में अपकृष्ट महत्परिमाण अवश्य ही रहता है। क्योकि किसी भी द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष में 'महत्परिमाण' कारण होता है। उसी प्रकार जहा जहा अपकृष्ट महत्परिमाण रहता है, वहाँ वहाँ अनेक द्रव्यवत्त्व अवश्य ही रहता है। अत 'अपकृष्ट महत्परिमाण' व्याप्य हुआ और अनेक 'द्रव्यवत्त्व व्यापक हुआ। क्योकि त्र्यणुक आदि मे अपकृष्ट महत्परिमाण रहता है और वे (त्र्यणुक आदि) अनेक द्रव्यो से उत्पन्न हुए रहते है। उसी तरह अनेकद्रव्यवत्त्व—व्याप्य है और सावयवत्त्व—व्यापक ह यानी जो जो अनेक द्रव्यवाला (अनेकद्रव्यवान) होगा वह अवश्य ही सावयव भी होगा। एवच जिस जिस द्रव्य मे चाक्षुष-प्रत्यक्षयोग्यता रहेगी, वहाँ वहाँ सावयवत्व अवश्य रहेगा। अत वह (त्र्यणुक का अवयव द्व्यणुक) भी सावयव है, यह कल्पना की जाती है। अत चाक्षुष प्रत्यक्षयोग्यद्रव्यत्व-व्याप्य हुआ

और सावयवत्व—व्यापक हुआ । इस कारण यदि किसी द्रव्य (वस्तु) मे चाक्षुप प्रत्यक्षयोग्य द्रव्यत्व है तो उसमे सावयवत्व भी अवश्य होगा । अत चाक्षुष प्रत्यक्षयोग्य द्रव्य मे की गई व्यभिचारशका (त्र्यणुक मे 'चाक्षुषद्रव्यत्वरूप हेतु हो और सावयवत्त्व रूप साध्य न हो) का निराकरण इस रीति से हो जाता ह । एवच इस प्रकार प्रदर्शित किये गये प्रयोज्य-प्रयोजकभाव (काय कारणभाव) से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि यदि त्र्यणुक मे चाक्षुष प्रत्यक्षयोग्य द्रव्यत्व ह अर्थात यदि त्र्यणुक द्रव्य चक्षुरिन्द्रिय के गोचर है तो वह अवश्य ही सावयव है, यानी उसके अवयव भी मानने होगे । जैसे—घटद्रव्य चक्षुरिन्द्रिय के गोचर होता है । अत वह सावयव भी होता है । उसी प्रकार त्रसरेणु भी चक्षुरिन्द्रिय के गोचर होने से उसके (त्रसरेणुके) अवयव (द्वयणुक) है, यह कल्पना की जाती है । जिससे त्र्यणुक के अवयवो (द्वयणुक) की सिद्धि हो जाती है । क्योकि यह नियम है कि 'जिस द्रव्य से कोई बडा द्रव्य (दृश्य द्रव्य) उत्पन्न होता है उस द्रव्य का अवयव भी सावयव होता है, जैसे— कपालद्रव्य से बडा घटरूप द्रव्य (दृश्य द्रव्य) उत्पन्न होता ह, अत वह कपाल भी सावयव है अर्थात उस कपाल के भी अवयव है । वसे ही द्वयणुकस्वरूप अवयवो से त्रसरेणु (त्र्यणुक) स्वरूप बडा दश्य द्रव्य उत्पन्न होता है, अतएव द्वयणुकस्वरूप अवयव भी सावयव है, अर्थात उस द्वयणुक के अवयव 'परमाणु' ही है, यह सिद्ध हो जाता है ।

शका—उक्त नियम को न मानकर **बौद्ध** शका कर रहा है कि द्वयणुक से जो महत परिमाणवाला त्रसरेणु (दश्य) उत्पन्न होता है, क्या वह महत्परिमाण-वाला त्रसरेणु 'द्वयणुक के परिमाण को स्वीकार नही करेगा ? अर्थात अवश्य ही करेगा ।[1] अत पूर्वोक्त अनुमान में अनुकूल तक का अभाव है ।

समा०—नैयायिक समाधान करता है कि जो द्रव्य, चक्षुरिन्द्रिय का गोचर होकर महत (साधारण बडा) है, वह (द्रव्य) इन्द्रियो के अगोचर तथा अतिसूक्ष्म द्रव्य से कदापि उत्पन्न नही होगा । इस कारण अतिसूक्ष्म द्रव्य की अपेक्षा किंचित बडा तथा पूर्वोक्त साधारण बडे द्रव्य की अपेक्षा किंचित छोटा ऐसी मध्यस्थिति का द्रव्य स्वीकार किया जाता है । अतएव उत्तम (बडा), मध्यम, तथा कनिष्ठ (अतिसूक्ष्म) ऐसा तीन प्रकार का द्रव्य है, यह स्पष्ट होता है । उक्त तीन प्रकारो मे से जो उत्तम है वह त्रसरेणु है और जो मध्यम है वह द्वयणुक है और जो कनिष्ठ है वही परमाणु है, यह समझना चाहिये । अत बौद्ध का

---

१ क्योकि 'परिमाणस्य स्वसमानजातीयोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वनियमात्' ।

नियम (त्र्यणुक का परिमाण द्व्यणुक के परिमाण पर निभर है) उचित नही है । क्योकि त्र्यणुक का महत्परिमाण द्व्यणुक के अणुपरिमाण से उत्पन्न नही होता, प्रत्युत तीन द्व्यणुको मे रहनेवाली त्रित्व सख्या से उत्पन्न होता है । एवच 'अपकृष्ट महत्त्व के प्रति अनेक द्रव्यवत्त्व मे प्रयोजकता (कारणता) होती है' इस तरह व्यभिचारशकानिवतक के रूप मे अनुकूल तर्क सिद्ध होता है ।

शका—इस प्रकार यदि अनुमान से सावयवत्व को सिद्ध करते है, तो द्व्यणुकावयवा सावयवा महदारम्भकारम्भकत्वात, कपालिकावत् इस अनुमान से परमाणु को भी सावयव सिद्ध कर सकते हैं ।

समा०—'न चवक्रमेणेति । 'अवयव साधक उपयुक्त अनुमान के द्वारा द्व्यणकावयव स्वरूप परमाणुओ के अववो की तरह उन अवयवो के भी अवयव पुन उनके भी अवयव इस प्रकार उन अवयवो की धारा (प्रवाह) ही बह उठेगी, तब अप्रामाणिक अनन्त कल्पना समाप्त्यभावात्मक अनवस्था हो जायगी, उस अनवस्था दोष के भय से अवयवधारा को अनुमिति का विषय नही बनाया जाता, अर्थात अवयवधारा का अनुमान नही किया जाता । क्याकि हेतु मे अनवस्था दोष रहने पर, वह (अनवस्थादोष) हेतु में अप्रामाण्य बुद्धि को उत्पन्न करता है, तब उससे साध्य की सिद्धि नही हो पाती । अत परमाणु के पुन अवयव नही है यह अवश्य मानना ही होगा ।

॥ इति परमाणुसाधनम ॥

साचेति सा कायरूपा पृथिवी त्रिधेत्यर्थ । शरीरेन्द्रियविषयभेदादित्यर्थ ॥३७॥

● वह पृथ्वी नित्य तथा अनित्य भेद मे दो प्रकार की है, यह पहले कहचुके है । अब उन दोनो में से जो अनित्य पथिवी ह, वह शरीर, इन्द्रिय और विषय भेद से तीन प्रकार की है । यहाँ पर कायरूपा पृथिवी' को पक्ष बनाया है, 'त्रिविधत्व'[1] को साध्य बनाया है, और 'शरीरेन्द्रियविषयभेदात' को हेतु बनाया है । इस प्रकार अनुमानप्रमाण के द्वारा कायरूपा पथिवी मे त्रिविधत्व' को सिद्ध

१ उद्देश्यतावच्छेदक जो पथ्वीत्व, उसकी समनियत सख्या त्रित्व सख्या' होती है, तादृशसख्यावत्त्व का नाम ही 'त्रिविधत्त्व' है । सख्या की आश्रयता 'स्वाश्रयाश्रयत्त्व' सम्बन्ध से लेनी चाहिये । 'स्व' पद से 'त्रित्व' सख्या, उसका आश्रय

किया गया है। शरीर और इंद्रिय का आत्मा से सम्बन्ध रहने के कारण उनका निरूपण विशेषरूप से ग्रथकार ने किया है। अन्य जितने भी पार्थिव पदार्थ है, उनका विषय मे अतर्भाव समझना चाहिये।

इन्द्रिय से ग्रहण किये जाने वाले पदार्थों को 'विषय' कहते ह। अथवा शरीर एव इन्द्रिय से भिन्न होते हुए जा उपभाग का साधन हो उसे विषय कहते ह। सुख एव दुख के साक्षात्कार को भोग कहा गया है ॥३७॥

*** योनिजादिर्भवेद्देहमिन्द्रियं घ्राणलक्षणम् ।**
विषयो द्व्यणुकादिश्च ब्रह्माण्डान्त उदाहृतः ॥३८॥

'देह अर्थात पार्थिव[1] शरीर, योनिजादि अर्थात स्त्री के गभ मे रहने के कारण योनि से अर्थात भग के द्वारा उत्पन्न हुआ, उसे यानिज' कहा गया है। अर्थात शुक्र-शोणित के मिश्रण मे उत्पन्न होनेवाला शरीर 'योनिज' है। 'आदि' शब्द से तद्भिन्न 'अयोनिज' समझना चाहिये। तात्पय यह ह कि 'योनिज' और 'अयोनिज भेद से देह' दो प्रकार का ह। 'इन्द्रिय' अर्थात पार्थिव इन्द्रिय[2] जिसका स्वरूप 'घ्राण ही है। 'विषय अर्थात पार्थिवविषय[3], द्व्यणुक से लेकर समस्त ब्रह्माण्ड ह।

'शरीरत्व' इंद्रियत्व, विषयत्व, ये तीनो होते है। उनका आश्रय शरीर, इन्द्रिय और विषय होगा।

'समनियतत्व' – 'व्याप्यत्वे सति व्यापकत्व' को कहते है। यहा पर उद्देश्य तावच्छेदक 'पृथ्वीत्व' जाति है, वह जहा जहा रहेगी वहा वहा शरीरत्व, इन्द्रियत्व, एव विषयत्व में रहनेवाली 'त्रित्व' सख्या भी 'स्वाश्रयाश्रयत्व' सम्बन्ध से रहती है। इसलिये 'पृथ्वीत्व' का व्याप्य 'त्रित्व' हो जाता है, एव जहा जहा 'स्वाश्रयाश्रयत्व' सम्बन्ध से 'त्रित्व सख्या रहती है वहा वहाँ 'समवाय' सम्बन्ध से 'पृथ्वीत्व' जाति भी रहती ह, इसलिये 'पृथ्वीत्व' जाति 'त्रित्व' जाति की व्याप्य होती है। इस तरह पृथ्वीत्व के साथ त्रित्व सख्या की समव्याप्ति ह—ऐसा समझना चाहिये।

१ पार्थिव देह का सामान्य लक्षण—'चेष्टावदन्त्यावयवित्वेसति गन्धवत्त्वम'
२ पार्थिव इंद्रिय का सामान्य लक्षण—'प्रत्यक्षकरणत्वे सति गन्धवत्त्वम'
३ पार्थिव विषय का सामान्य लक्षण – उपभोगसाधनत्वेसति गन्धवत्त्वम्'

तत्र देहमुदाहरति—

'योनिजादिरिति ।' योनिजमयोनिज चेत्यर्थ । योनिजमपि द्विविध जरायुजमण्डज च। जरायुज मानुषादीनाम् । अण्डज सर्पादीनाम् । अयोनिज स्वेदजोद्भिज्जादिकम् । स्वेदजा कृमिदशाद्या । उद्भिज्जास्तरु गुल्माद्या । नारकिणा शरीरमप्ययोनिजम् ।

● 'तत्रदेहमिति' । देह इंद्रिय और विषयो मे म पार्थिव शरीर (देह) को उदाहरण देकर बता रहे है । कारिकागत 'योनिजादि पद का अथ करने है— योनिज और अयोनिज । शुक्र शोणित के परस्पर सम्मिश्रण से उत्पन्न होने वाले देह । शरीर) को योनिज' कहते है और उससे भिन्न (पूर्वोक्त प्रकार मे उत्पन्न न होनेवाले) शरीर को अयोनिज' कहते है । यानिज तथा अयोनिज इन दो प्रकार के शरीरो मे से जो योनिज है, उसके भी दो प्रकार है – (१) जरायुज और (२) अण्डज । गभवेष्टनचमपुटक (झिल्ली) को 'जरा' कहते है, उससे उत्पन्न होनेवाले 'शरीर' को 'जरायुज कहते है । (२) गभवेष्टनशुक्तिकटाह को 'अण्ड' कहते है । उससे उत्पन्न होनेवाले शरीर को 'अण्डज' कहते है । जरायुज शरीर, मनुष्य, पशु, मग आदि का हाता है ' और अण्डज शरीर–साप, पक्षी आदि का होता ह । अयोनिज शरीर भी अनेक प्रकार के हाते है – (१) शरीर से निकलने वाले जल (घम) बिंदु को 'स्वेद' कहते ह, उससे उत्पन्न होनेवाले शरीर को 'स्वेदज' कहते है। अर्थात् पसीने से उत्पन्न हुए शरीर 'स्वेदज' है । जैसे—खटमल, मच्छर, जूँ आदि के शरीर 'स्वेदज' है ।

जमीन को फोडकर उत्पन्न होनेवाले शरीर को 'उद्भिज्ज कहते है । जैसे—पेड, लता, झाडी आदि के शरार 'उद्भिज्ज' है । 'स्वेदजोद्भिज्जादिकम' यहा के 'आदि' पद से देवशरीर[2] तथा नारकीय (नरकवासियो के) शरीर को

१ कुछ लोगो का कहना है कि 'जिनको स्वेदज कहा है वे सब अण्डज है — किन्तु वह उचित नही है, क्योकि गूलर के फल में सैकडो भुनगे निकल पडते हैं तो प्रत्येक के अण्डो की कल्पना करने में कोई युक्ति नही है । अत स्वेदज तथा अण्डज भिन्न ही है ।

२ 'ब्रह्मणो मानसा मन्वादय पुत्रा , प्रजापति अनेका प्रजा असृजत, स तपोऽतप्यत, प्रजा सृजेयमिति, स मुखतो ब्राह्मणमसृजत, बाहुभ्या राजन्यम,

समझ लेना चाहिये । ये शरीर भी अयोनिज' कहे जाते है । धमविशेषसहित अणुओ से 'देवशरीर' उत्पन्न होते है । अधमविशेपसहित अणुओ से नारकी लोगो के शरीर उत्पन्न होते है । योनि विना न शरीरम' इस वाक्य मे 'योनि' शब्द को कारणमात्र का उपलक्षक समझना चाहिये ।

न च मानुषादिशरीराणा पार्थिवत्वे कि मानमिति वाच्य, गन्धादिमत्त्वस्यैव प्रमाणत्वात्। न च क्लेदोष्मादेरुपलम्भादाप्यत्वादिकमपि स्यादिति वाच्य, तथा सति जलत्वपृथिवीत्वादिना सङ्करप्रसङ्गात्। न च तर्हि जलीयत्वादिकमेवास्तु न तु पार्थिवत्वमिति वाच्य, क्लेदादीना विनाशेऽपि शरीरत्वेन प्रत्यभिज्ञानाद् गन्धाद्युपलब्धेश्च पृथिवीत्वसिद्धे । तेन पार्थिवादिशरीरे जलादीना निमित्तत्वमात्र बोध्यम्।

शका०—मनुष्य आदि का शरीर पार्थिव (उसमे पथ्वी का भाग) है, इस कथन मे क्या प्रमाण है ?

समा०—मनुष्य आदि के शरीर की पार्थिवता मे (उसमे पथ्वी का भाग होने मे) 'गन्धादिमत्त्व' ही प्रमाण है । अनुमान प्रयोग इस प्रकार करेंगे—'मानुषादिशरीर पार्थिव समवायेन गन्धवत्त्वात' एवच मनुष्यादिशरीर, पार्थिव (पथ्वी का ही भाग) ही है, यह सिद्ध हो जाता ह ।

शका—मनुष्यादिको के शरीर मे जैसे पृथिवी का भाग है, वैसे ही स्वेद (जल का भाग अर्थात पसीना) तथा ज्वरादि के हो आने से उष्णता भी उपलब्ध होती है । अत उन शरीरो को जल या तेजस् से उत्पन्न हुए अर्थात जलीय (आप्य) आदि भी क्यो न कहा जाय ? यानी उक्त शरीरो मे पथ्वी की तरह जल तथा तेजस (तेज) का, 'आदि' पद से वायु तथा आकाश का भी भाग है, यह कह सकते है । यहा अनुमान प्रयोग इस प्रकार करेंगे—'मनुषादिशरीर

ऊरुभ्या वैश्यम, पद्भ्या शूद्रमित्यागम । मनु आदि ब्रह्मा के मानस पुत्र है । अर्थात् अदृष्टवशात् वे मनु आदि ब्रह्मा के सकल्पमात्र से ही उत्पन्न होते हैं ।

शका—'योनि विना न शरीरम' योनि के विना शरीर की उत्पत्ति नही होती । यह श्रुति तो सभी शरीरो को योनिज ही बताती है । तब देवशरीर को अयोनिज कैसे कहा जाय ?

समा०—उक्त श्रुति में 'योनि' शब्द कारणमात्र का वाचक है, शुक्रशोणित के मेलन रूप योनि का वाचक नही है । अत देवता आदि अदृष्टादि कारणो से ही जन्य होते है । यह मानने से उक्त दोनो श्रुतियो मे परस्पर कोई विरोध नही है ।

जलीय क्लेदवत्त्वात क्लेदावयववत । वैसे ही 'मानुषादिशरीर तैजस ऊष्मावत्त्वात', 'मानुषादिशरीर वायवीय, श्वासवत्त्वात', 'मानुषादिशरीर आकाशीय अवकाशवत्त्वात' इति ।

समा०—सभी भागो की कल्पना करने से अर्थात पृथ्वीत्व, जलत्व आदि जाति एक ही शरीर (वस्तु) म रहने लगेगी तो 'सकर' (जातिबाधक) दोष होगा । जो वस्तु पृथ्वीस्वरूप है, वह वस्तु जल या तेज स्वरूप नही हो सकती । शका करनेवाला, मनुष्य शरीर मे 'क्लेद' (स्वेद = पसीना) को 'समवाय' सबध से भ्रमवश समझकर उसे हेतु बना रहा ह, किन्तु मनुष्यादिशरीर मे 'क्लेद' तो 'सयोग' सम्बन्ध से रहता ह, 'समवाय' सम्बन्ध से नही । अत पूर्वपक्षी का दिया 'क्लेदवत्त्वात' हेतु 'असद्धेतु' है । मानुषादि शरीर में जलीयत्वादि के मानने पर सकर दोष इस प्रकार होगा—'पृथिवीत्वाऽभाववति सरिज्जले जलत्व, जलत्वाभाववति च घटे पृथिवीत्व, द्वयोजलत्व पृथ्वीत्वयो समवेशो मनुष्यशरीरे' । पृथ्वीत्वाभाववान हुआ 'सरिज्जल' उसमे 'जलत्व' है और जलत्वाभाववान हुआ 'घट', उसमे पृथ्वीत्व' ह, दोनो (पृथ्वीत्व जलत्व) का समावेश 'मनुष्यशरीर' म ह, इस कारण 'सकर' होगा । इसी तरह 'पृथ्वीत्वाऽभाववति सूर्यकिरणे तेजस्त्व, तेजस्त्वाभाववति च घटे पृथ्वीत्व, द्वयो पृथ्वीत्व तेजस्त्वयो समावेशो मानुषशरीरे इति सकर । इस सकरदोष से पृथ्वीत्वादि धर्मो मे जो जातित्व माना जाता है, उसका व्याघात हो जायगा अर्थात पृथ्वीत्वादिधर्मो को जाति नही कह सकेंग ।

शका—'सकर' दोष का यदि भय है तो मनुष्यादिशरीर मे पार्थिवत्व, और जलीयत्व दोनो का एक साथ स्वीकार मत करिये, केवल जलीयत्व या केवल तैजसत्व या केवल वायवीयत्व या केवल आकाशीय ही उसे मान लीजिये । उसे 'पार्थिव' मानने का आग्रह क्यो किया जा रहा है ?

समा०—मनुष्यादिशरीर केवल जल या तेज के ही (जलीय, या तैजसादिही) है, पृथ्वी के (पार्थिव) नही है, ऐसी उलट पुलट कल्पना करना ठीक नही है। क्योकि स्वेद (क्लेद) या उष्णता उस शरीर मे उसी समय कही जायगी कि जिस समय उस शरीर मे जल या तेज का सम्बन्ध रहेगा । किन्तु उनके सम्बन्ध के नष्ट होने पर भी (पसीना आदि के सूखने पर भी) उस मानुषशरीर मे 'यही वह शरीर है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा (चक्षु सयोग और सस्कार दोनो से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान (अर्थात प्रत्यभिज्ञात्मकप्रत्यक्ष) होती है । यदि उस शरीर को जलीय या तैजस कहा जाय तो वैसी प्रत्यभिज्ञा नही हो सकेगी । जल या तेज का सम्बन्ध

नष्ट होने पर भी होनेवाली प्रत्यभिज्ञा के समय 'गन्ध', 'गौर श्याम' आदि रूप की ही 'सयुक्त समवाय' सम्ब ध से प्रत्यक्षोपलब्धि होती है। अत तथाकथित अनुमान 'मानुषादिशरीर पार्थिवम ग-धादिमत्त्वात' से यह निश्चित होता ह कि मानुषशरीर पार्थिव ही है। मनुष्यादिको के शरीर की उत्पत्ति मे मुख्य (प्रधान) कारण (समवायिकारण) पृथिवी ही है और जल, तेज, वायु तथा आकाश—ये सब निमित्तकारण है, अर्थात जल आदि का सयोग उस पार्थिवशरीर[1] मे गौण (अप्रधान अशभूत) ह, मुख्य अश तो पृथ्वी का ही है।

शका—मनुष्यादिशरीर मे जलीयत्व, तैजसत्व आदि के होने का निराकरण कर 'पार्थिवत्व' ही यदि सिद्ध करते है तो उस शरीर को 'पाञ्चभौतिक' क्यो कहा जाता है ?

समा०—मनुष्यादिशरीर मे 'पाञ्चभौतिकत्व' व्यवहार, पञ्चभूतोपादनकत्व-निबन्धन नही है अर्थात् उस शरीर की उत्पत्ति म पञ्चभूत उपादानकारण है, यह मान कर 'पाञ्चभौतिक उसे नही कहते, अपितु पञ्चभूतसाहचर्यनिबन्धन अर्थात् उसकी उत्पत्ति मे पञ्चभूतो का सहयोग मात्र ह, यह मानकर उसे 'पाचभौतिक' कहा जाता है। पार्थिव शरीर मे जल, तेज, वायु, आकाश के अश स्वल्प होते है, इस कारण वे केवल निमित्तकारण मात्र है। जलीयशरीर मे पृथ्वी, तेज, वायु, आकाश के अश स्वल्प होते है। तैजसशरीर मे पृथ्वी, जल, वायु, आकाश के अश स्वल्प होते हैं। वायवीय शरीर मे पृथ्वी, जल, तेज, आकाश के अश स्वल्प होते है, अत ये स्वल्प अश निमित्तकारणमात्र माने जाते हैं। तत्तच्छरीरो में एक एक ही 'भूत' मुख्य होता ह, जो उपादानकारण कहा जाता है, शेष चार भूत तो निमित्तकारण होते है।

---

१ पार्थिव शरीर के अनुमान का 'आकार— मनुष्यादिशरीर पार्थिव गन्ध-वत्त्वात् गौरनीलादिरूपवत्त्वाद्वा प्रसिद्धपृथिवीवत' यह मनुष्यशरीरादि पार्थिव है, गन्धविशिष्ट अथवा गौर नीलादिरूपविशिष्ट होने से, जो जो ग ध तथा गौर-नीलादिरूपवाला होता है, वह वह पार्थिव द्रव्य होता है। जैसे प्रसिद्ध कस्तूरी-कुसुमादिद्रव्य, गन्ध तथा नीलादिरूपवाले होने से पार्थिव है, वैसे ही मनुष्य-शरीरादि भी गन्ध तथा गौर-नीलादि रूपवाले होने से पार्थिव होगे। मरण-मूर्च्छादिक अवस्थाओ मे स्वेद, उष्णता के नाश होने पर भी इन मनुष्यशरीरादिको की शरीररूप से प्रत्यभिज्ञा होती है, तथा गन्धगुण और नील गौरादिरूपगुण की भी प्रतीति होती है। अत मनुष्यादि शरीरो मे पार्थिवत्व सम्भव है।

शरीरत्व तु न जाति , पृथिवीत्वादिना साङ्कर्यात्, किन्तु चेष्टाश्रयत्वम् । वृक्षादीनामपि चेष्टासत्त्वान्नाव्याप्ति । न च वृक्षादे शरीरत्वे किं मानमिति वाच्यम्, आध्यात्मिकवायुसम्बन्धस्य प्रमाणत्वात् । तत्रैव किं मानमिति चेद् ? भग्नक्षतसरोहणादिना तदनुमानात् । यदि हस्तादौ शरीर यवहारो न भवति तदाऽन्त्यावयवित्वेन विशेषणीयम् ।

शका—अवयवो मे अवयवी उत्पन्न होता है, अर्थात अवयवरूप कारण से अवयवीरूपकाय बनता है । अवयव अपने अवयवी के समवायिकारण कहलाते ह । अवयवीरूपकाय अपने अनेक अवयवो के समवायसम्बन्ध से उत्पन्न होता है । अवयवी की उत्पत्ति के इस इतिहास से वक्षादिको के अयोनिज शरीर होने मे सदेह होता है ।

सन्देह इस प्रकार है—शरीररूपी अवयवी के कर-चरण आदि अवयव समवायिकारण है, उनमे समवायसम्ब ध से शरीररूपी अवयवी (काय) उत्पन्न होता है । कायता होने के नाते उस काय (शरीर) मे रहनेवाली कायता' भी किसी न किसी धम (शरीरत्व) से अवश्य ही युक्त होगी । इसी वक्तव्य को न्याय की भाषा में इस प्रकार कहेंगे—कर चरणादिनिष्ठसमवायिकारणतानिरूपित-समवायसम्बन्धावच्छिन्ना कायता किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, कायतात्वात'—इस अनुमान से सिद्ध हुई 'शरीरत्व' जाति, वृक्षादिको मे बाधित होने से वृक्षादिको मे अयोनिजदेहता (शरीरता) कैसी हो सकती है ?

समा०—ग्रन्थकार स्वय 'शरीरत्व न जाति' कहकर उक्त शका का समाधान करते है । 'शरीरत्व' धर्म को जाति के रूप मे माना जाय या नही ? यह प्रश्न उपस्थित होने पर ग्रन्थकार कहते है कि 'शरीरत्व' धम को जातिरूप नही मान सकते, क्योकि उसे जातिरूप मानने पर 'शरीरत्व' का 'पथ्वीत्व' 'जलत्व' आदि के साथ सकर[1] होगा । शरीर तो पार्थिव, जलीय, तैजस, वायवीय

---

१ 'सकरो' नाम—'परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयोरेकत्र समावेश ।' 'सकर' दोष को यदि जातिबाधक न माना जाय तो 'स्वसामानाधिकरण्य स्वाभाव-सामानाधिकरण्येत्युभयसम्बन्धेन यज्जातिविशिष्टजातित्व यत्र, तत्र तज्जातिव्यापकत्वम' इस नियम का भग हो जायगा । यथा—घटे, घटत्वसमानाधिकरण पृथ्वीत्व, पटे च घटत्वाभावसमानाधिकरण पृथ्वीत्व, तादृशोभयसम्बन्धेन घटत्व-विशिष्टा पथ्वीत्वजाति , तत पृथ्वीत्व, घटत्वव्यापकम् । सकरधमयोर्जातित्वे व्याप्य-व्यापकभावो न स्यात ।

भी होते है किन्तु शरीरत्व और पृथ्वीत्व आदि जातियो मे परस्पर व्याप्य व्यापकभाव नही होता। एक पदाथ मे एक साथ रहनेवाली जातियो मे व्याप्य व्यापकभाव होना चाहिये यानी वे एक दूसरे को काटने वाली न हो। 'पथिवीत्व' जाति पार्थिव मनुष्यादि शरीर के अतिरिक्त पार्थिव घट पटादि वस्तुओ मे भी रहेगी, वैसे ही 'जलत्व' जाति सरिता आदि के जल मे रहेगी। एवच शरीरत्व को जाति मानने पर 'शरीरत्व' जाति की अपेक्षा पथ्वीत्व, जलत्व जाति व्यापक होनी चाहिये ऐसा प्राचीनो का नियम है। किन्तु शरीरत्वजाति जलादिशरीर मे भी रहती ह, वहा पृथ्वीत्व के न होने से पथ्वीत्वजाति की व्यापकता नही हो सकती। अभिप्राय यह है कि शरीरत्वधम के अत्यन्ताभाववाले घटादिको मे 'पथ्वीत्व' रहता है और पथ्वीत्वधम के अत्यन्ताभाववाले जलीय शरीर मे शरीरत्व धम रहता है। ये दोनो धर्म मनुष्यादि के पार्थिव शरीर मे रहते है— यही 'सकर' नामका दोष है। इसलिये 'शरीरत्व' धम को जातिरूप नही मान सकते। इसी अभिप्राय को अनुमान प्रयोग के द्वारा इस प्रकार बताया जा सकता है—'शरीरत्व, जातित्वाऽभाववत साकयवत्त्वात भूतत्ववत्', तथाहि—पृथिवीत्व विहाय शरीरत्व जलादित्रितयशरीरेषु। शरीरत्व विहाय पथिवीत्व घटादौ। मनुष्यशरीरेतु शरीरत्व पथ्वीत्वमुभय विद्यते, इति कृत्वा 'शरीरत्व'स्य साकयदोषग्रस्तत्वात जातित्व नास्ति। अत 'शरीरत्व' धम को 'जाति' न मानकर 'उपाधि' माना गया ह। चेष्टा का आश्रय होना ही 'शरीरत्व' का स्वरूप है। हिताऽहितप्राप्ति परिहारार्था क्रिया चेष्टा'—हित की प्राप्ति तथा अहित की निवत्ति के लिये की जानेवाली क्रिया को चेष्टा' कहते है। यह चेष्टा समवाय' सम्बन्ध से जहाँ रहती है उसे 'शरीर' कहते है। समवायेन चेष्टावत्त्व शरीरत्वम'। यह शरीर का लक्षण वृक्षादिशरीर मे भी उपलब्ध होता है। क्योकि वृक्षादिको में भी अपने हित (जल आदि) प्राप्ति के लिये (पानादि) क्रिया और तथा क्षार एव अग्निज्वाला आदि का परिहार (अग्रहण) रूप क्रिया का आश्रयत्व होने से उनमे शरीरत्व का समन्वय हो जाता है। अत शरीरत्व लक्षण की वक्षादिशरीरो में अव्याप्ति नही है। एवच वृक्षादिको मे चेष्टा रहती है, इस कारण उनके शरीर है, यह सिद्ध हो जाता है।

शका—भाष्यकार ने 'स्थावरावृक्षास्तृणौषधिगुल्मलता वनस्पतय' कहकर वृक्षादिको की गणना पार्थिव विषय मे की है। तब भाष्यकार के विरुद्ध वृक्षादिको को 'पार्थिव शरीर' में कैसे कहा जा रहा है? अर्थात वृक्षादिको के शरीर होने मे कोई प्रमाण नही है।

समा०—वक्षादिको के शरीर मानने में यही प्रमाण है कि वक्षादिको मे आध्यात्मिक वायु (प्राणवायु) का सम्ब ध रहता है। प्राणवायु का नियम है कि उसका मम्बन्ध शरीर से ही होता हैं। यद्यपि मनुष्य पशु आदि मे शरीरवत्ता प्रतीत होती ह, वैसी वक्षादिको मे नही दीखती, तथापि अनुमान प्रमाण से वृक्षादिको मे शरीरवत्त्व सिद्ध किया जा सकता ह। तथाहि—'वक्ष शरीरवान आध्यात्मिकवायुसम्बन्धवत्त्वात, मनुष्यदहादिवत'—वृक्ष आदि शरीरी कहलाने के योग्य हैं, प्राणवायु से सम्बन्धित होने के कारण। जो द्रव्य, प्राणवायु से सम्बन्धित रहता है, वह द्रव्य, शरीरी होता है। जैसे मनुष्यादिक।

शका—मनुष्य शरीर मे प्राणवायु का सम्बन्ध जैसे प्रत्यक्ष प्रतीत होता है, वैसा वक्षादिको मे नही प्रतीत होता।

समा०—वृक्षादिको में भी प्राणवायु का सम्ब ध प्रतीत होता ह, क्योकि वृक्ष को कुल्हाडी से काटने पर फिर भी वह जम जाता ह, तथा क्षत (घाव) होने पर भी वह भर आता है, यह क्रिया प्राणवायु के सम्बन्ध के बिना और किसी प्रकार नही हो सकती। क्योकि जिस शरीर में प्राणवायु का सम्ब ध नही होता उस शरीर में अवयव भग होने पर सवधन नही होता। इससे प्राणवायु का सम्बन्ध उन वृक्षादिको मे है[1], ऐसी कल्पना को जाती है। तस्मात 'चेष्टा श्रयत्व शरीरत्वम्'—'चेष्ट का आश्रय होना' यही शरीर का लक्षण है और 'शरीरत्व' चेष्टाश्रयत्वरूप है। वृक्षादिशरीर मे चेष्टा है, अत वे भी चेष्टाश्रय हैं। उनमे उक्त लक्षण की अव्याप्ति नही ह।

---

१ यद्यपि प्राणवायु का सम्बन्ध वक्षादिको मे प्रत्यक्ष प्रतीत नही होता, तथापि वद्धि (बढना) आदि हेतुओं से अनुमान किया जाता है। तथाहि—'वृक्ष आध्यात्मिकवायुसम्बन्धवान, वद्धिमत्त्वात्' भग्नक्षतावयवसरोहणवत्त्वाद्वा, मनुष्यादिशरीरवत'—वृक्ष प्राणवायु के सम्बन्ध से युक्त है, वृद्धिवाला अथवा भग्न क्षत अवयवो के सरोहणवाला होने से। जो जो द्रव्य, वृद्धिवाले तथा भग्नक्षत अवयवो के सरोहणवाले होते है, वे वे द्रव्य प्राणवायु के सम्बन्धवाले भी होते है, जैसे—मनुष्यादिको के शरीर। अर्थात मनुष्यादिको के शरीरो मे जब कोई हस्त पादादि टूट जाता है, तब वही अवयव कुछ काल पीछे पुन जुड जाता है, इसी को 'भग्नावयवसरोहण' कहते हैं। और जब शस्त्रादि के लगने से घाव हो जाता है, तब वही घाव कुछ दिनो के बाद भर जाता है, इसी को 'क्षतावयव-सरोहण' कहते है। यह बात प्राणवायु के सम्बन्ध के बिना नही हो सकती। शब्द

शका—हस्त पादादि अवयवो को तो 'शरीर' नही कहा जाता। किंतु उनमे चेष्टा तो रहती ह, अत उनमे (शरीरावयवो मे) 'चेष्टाश्रयत्व' इस शरीर लक्षण की अतिव्याप्ति है।

समा०—उस अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये 'अ त्यावयवित्वे सति-चेष्टाश्रयत्वम' यह लक्षण कर देना चाहिये। अर्थात पूर्वोक्त शरीरलक्षण (चेष्टाश्रयत्व) मे 'अन्त्यावयवी'[1] यह विशेषण जोड देना चाहिये। जो अ त्य अवयवी

प्रमाण से भी वक्षादिको का शरीर है, यह बात सिद्ध होती है। तथाहि—"नमदा तीरसजाता सरलाजुनपादपा। नमदातोयसस्पर्शात ते यान्ति परमा गतिम"।

गुरु हु कृत्य तु कृत्य विप्रान्निर्जित्य वादत।
श्मशाने जायने वक्ष ककगध्रोपसेवित॥

प्रथम श्लोक मे नमदा के जल स्पश के पुण्य से वृक्षावच्छिन्न जीवात्मा को उत्तमगति की प्राप्ति बताई गई है। और द्वितीय श्लोक से गुरु, ब्राह्मणो के तिरस्काररूप पाप से उस जीवात्मा को श्मशान भूमि मे वृक्षदेह की प्राप्ति कही गई ह। अत वक्षादिको के भी शरीर होते है, यह अवश्य ही स्वीकार करना होगा।

१ अन्त्यावयवित्व नाम 'समवायेन' द्रव्यवदभिन्नत्वम अर्थात' द्रव्यानारम्भकद्रव्यत्वम। अथवा 'अवयवजन्यत्वेसति अवयव्यजनक अन्त्यावयवी।' जो द्रव्य अवयवो से जन्य होकर दूसरे किसी अवयवी का जनक नही होता, वह द्रव्य 'अन्त्य अवयवी' है। जैसे—मनुष्यादिशरीर, हस्त पादादि अवयवो से जन्य है और दूसरे अवयवी का अजनक भी है। इस कारण मनुष्यादि का देह (शरीर) अन्त्यावयवी है। इसी प्रकार घट पटादि भी कपाल तन्तु आदि से जन्य है, तथा दूसरे अवयवी के अजनक है, इसलिये वे अन्त्यावयवी ह। उक्त लक्षण में 'अवयवजन्यत्वे सति' यदि न कहे तो 'आकाशादि' समवाय सम्बन्ध से अपने किसी भी अवयवी के जनक नही है। अत वे 'अवयव्यजनक' हुए, तब उन्हे भी अन्त्यावयवी कहना पडेगा। इस अतिव्याप्ति को दूर करने के लिये 'अवयवजन्यत्वे सति' यह विशेषण जोडना पडा। तब आकाशादि तो किसी अवयव से जन्य नही ह, अत अतिव्याप्ति का निवारण हो गया। पुन 'अवयवी अजनक' न कहे तो हस्त पाद अङ्गुली आदि शरीरावयव भी अपने-अपने अवयवो से जन्य है, तो 'अवयवजन्यत्व' उनमे होने से उन्हे 'अन्त्यावयवी' कहना पडेगा, किंतु वे अन्त्यावयवी तो ह नही, अत अतिव्याप्ति होगी। उसके वारणाथ 'अवयव्यजक' कहना पडा। अब 'अवयवी' पद न दें तो असभव ही हो जायगा। तात्पय यह

होकर चेष्टावान[1] होता है, वही 'शरीर' है। ऐसा लक्षण करने से शरीर के हस्त पादादि अवयव अन्त्यावयवी नही है, वे तो मध्यावयवी है। अत अतिव्याप्ति नही ह।

न च यत्र शरीरे चेष्टा न जाता तत्राव्याप्तिरिति वाच्य, तादृशे प्रमाणाभावात्। अथवा चेष्टावद न्त्यावयविवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वम्, अन्त्यावयविमात्रवृत्तिचेष्टावद्वृत्तिजातिमत्त्व वा तत्। मानुषत्वचैत्रत्वादिजातिमादाय लक्षणसमन्वय।

● —**शका** - जिस मूर्छित शरीर मे तथा सुषुप्त (सोए हुए) शरीर में चेष्टा नही होती, उसमे 'अन्त्यावयवित्वविशिष्ट चेष्टाश्रयत्व' इस शरीर लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी।

समा —मूर्छाकाल मे या सुषुप्ति काल मे शरीर चेष्टाशून्य रहता है—यह मानने मे कोई प्रमाण नही है। मूर्छाकाल मे तथा सुषुप्तिकाल मे प्राणग्रहण तथा निद्राग्रहणात्मक हितानुकूल क्रिया का होना तो प्रत्यक्षसिद्ध है। अत तत्कालीन शरीर चेष्टासहित ही है, चेष्टारहित नही। अत अव्याप्ति नही ह।

शका—फिर भी उत्पत्तिकालावच्छिन्न शरीर में तथा मतशरीर मे चेष्टा न रहने से शरीर के लक्षण की पन, अव्याप्ति होगी।

समा०— वास्तव मे तो मृतशरीर को 'शरीर' ही नही कहा जाता, उसे 'शव' कहते हैं। यदि मृतशरीर को भी 'शरीर' कहने का आग्रह ही हो तो शरीर लक्षण को 'जातिघटित' बना देंगे। तथा हि—'चेष्टावान जो अन्त्यावयवी, उसमें वत्ति जो द्रव्यत्वव्याप्यजाति–तादशजातिमत्त्व' इस प्रकार शरीर का लक्षण कर देने से अव्याप्ति नही होगी। अर्थात चेष्टावत जो अन्त्यावयवी जीवच्छरीर, उसमें वत्ति जो द्रव्यत्वव्याप्यजाति, मनुष्यत्व, ब्राह्मणत्व, चैत्रत्वादि जाति, तादशजातिमत्त्व–चैत्रीयमृतशरीर तथा उत्पत्तिकालीनशरीर में भी रहने मे लक्षण-समन्वय हो सकेगा, तब अव्याप्ति नही होगी। इसी अभिप्राय से ग्रथकार ने

है कि जिस अवयवी से फिर दूसरा अवयवी होना सभव न हो, वह पूर्ण या शेषी होता है। जसे—'कपाल, शाखा' अवयव है और घट तथा वृक्ष अन्त्यावयवी है। घट से घट कभी नही होगा।

१ शरीर के लक्षण मे यदि 'चेष्टा' पद न दें तो घट पटादि भी अन्त्यावयवी है, परन्तु उनमें चेष्टा न होने से लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणाथ 'चेष्टा पद दिया है, अत अतिव्याप्ति नही है।

कहा है कि '**चेष्टावदन्त्यावयविवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वम्**'। मनुष्यत्व, ब्राह्मणत्वादि ऐसी जाति ह, जो चेष्टायुक्त अन्त्यावयवी जीवच्छरीर मे रहती है और वह जाति द्रव्यत्वव्याप्य भी है, तादृशजातिमत्त्व सभी शरीरो मे है, अत कोई दोष नही है। यदि 'अन्त्यावयवी मे रहनेवाली जाति' इतना ही कहे, 'चेष्टावत' न कहे तो 'घटत्व' जाति भी केवल अन्त्यावयवी 'घट' मे रहती है, तो उसमे भी शरीर लक्षण के चले जाने से अतिव्याप्ति हो जायगी, उसके निवारणाथ 'चेष्टावत्' कहना पडा। कर पाद आदि में अतिव्याप्ति के वारणाथ 'अन्त्यावयवी' कहा। अब 'द्रव्यत्वव्याप्य' यदि न कहे तो 'सत्ता' जाति भी चेष्टावत (चेष्टाविशिष्ट) अन्त्यावयवी मे रहती है, अर्थात द्रव्य, गुण कम तीनो मे 'सत्ता' जाति रहती है, अत उनमे शरीरलक्षण की अतिव्याप्ति होगी, तन्निवारणाथ 'द्रव्यत्वव्याप्य' कहना पडा। फिर भी कालिकसम्बन्ध से चेष्टावद्घट मे अतिव्याप्ति हो सकती है, उसके निवारणाथ 'समवायसम्बन्ध' से चेष्टावत्त्व समझना चाहिये।

शका— द्रव्यत्वव्याप्यजाति' कहने पर भी 'चेष्टावदन्त्यावयवी' 'शरीर' हुआ तदवृत्ति (उसमे रहनेवाली) द्रव्यत्वव्याप्यजाति 'पृथ्वीत्व' होगी, वह पृथ्वीत्वजाति 'घट' मे भी है। अत शरीरलक्षण की 'घट' मे अतिव्याप्ति होगी।

समा०—इसी अरुचि के कारण ग्रथकार ने उसी लक्षण को और परिष्कृत कर दिया '**अन्त्यावयविमात्रवृत्तिचेष्टावद्वृत्तिजातिमत्त्व**' वा "तत। अर्थात जो जाति केवल अन्त्यावयवी में ही रहती हो तथा चेष्टावाले मे भी रहती हो ऐसी जाति से युक्त होना। अब देखिये कि 'पथ्वीत्व' जाति, केवल अन्त्यावयवी मे ही नहीं रहती, बल्कि कपाल मे भी (जो अन्त्यावयवी नही है) रहती है। अत परिष्कृत लक्षण के अनुसार ऐसी जाति लेनी होगी, जो केवल अन्त्यावयवी मे रहती हो और चाष्टावाले मे रहती हो। ऐसी जाति केवल 'मनुष्यत्व' आदि ही हो सकती है, पृथ्वीत्व जाति नही। 'मनुष्यत्व' आदि जाति, शरीर मे ही रहती है, तादशजातिमत्त्व मृतशरीर तथा उत्पत्तिकालीन शरीर में भी रहने से लक्षण सम वय हो जाता ह। तात्पय यह है कि मनुष्यत्व, चैत्रत्व आदि जाति को लेकर शरीर मात्र मे लक्षणसमन्वय कर लेना चाहिये। यदि केवल 'अन्त्यावयविमात्र में रहनेवाली जाति' इतना ही कहे और 'चेष्टावद्वत्ति' न कहे तो 'घटत्व' जाति भी केवल अन्त्यावयवी' (घट) में ही

रहती ह, उसमें अतिव्याप्ति हो जायगी। अत 'चेष्टावद्वृत्ति' कहना पडा। तब अतिव्याप्ति नही होगी। 'द्रव्यत्व' को लेकर अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये प्रथम वृत्यन्त और घटत्व' को लेकर अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये द्वितीय वृत्यन्त का उपादान किया गया है। इस परिष्कृत लक्षण मे 'द्रव्यत्वव्याप्य' कहने की भी आवश्यकता नही ह। क्योकि 'सत्ता', 'द्रव्यत्व', 'पृथ्वीत्व', जातिया केवल अन्त्यावयवी मे ही नही रहती, अपितु अन्यत्र भी रहती ह। केवल अन्त्यावयवी मे रहनेवाली जाति तो 'मनुष्यत्व', 'चैत्रत्व', आदि जाति ही मिलेगी, तादृशजातिमत्त्व समस्त शरीरो मे होगा।

न च नृसिंहशरीरे कथ लक्षणसमन्वय ? तत्र नृसिंहत्वस्यैकव्यक्तिवृत्तितया जातित्वाभावाज्जलीयतैजसशरीरवृत्तितया देवत्वस्यापि जातित्वाभावादिति वाच्य, कल्पभेदेन नृसिंहशरीरस्य नानात्वेन नृसिंहत्वजात्या लक्षणसमन्वयात्।

॥ इति पार्थिवशरीरनिरूपणम ॥

शका—ऊपर कहा गया ह कि परिष्कृत किये हुए 'अन्त्यावयविमात्रवृत्तिचेष्टावदवृत्तिजातिमत्त्वम—शरीर लक्षण का शरीर मात्र म (समस्त शरीरो मे) लक्षणसमन्वय हो जाता है, कि तु भगवान विष्णु का जो 'नृसिंह' रूप मे अवतार है, वह 'नसिंह' शरीर तो एक ही है। अत उस शरीर मे द्वितीय परिष्कृत शरीर-लक्षण का समन्वय कसे होगा ? क्योकि नसिंहत्व' धम, 'एकव्यक्तिमात्रवृत्ति' होने से उसे 'जाति' नही कह सकते। यदि उस शरीर मे 'मनुष्यत्व' जाति कहे तो वह भी नही कह सकते। क्योकि परिष्कृतलक्षण के अनुसार केवल अन्त्यावयविमात्र मे रहनेवाली और चेष्टावाले मे रहनेवाली 'मनुष्यत्व' आदि कोई जाति हो ही नही सकती। वह नृसिंह का शरीर भी 'शरीर' ही है। उसमे शरीर का लक्षण न घटने से शरीरलक्षण की अव्याप्ति है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'नृसिंहत्व न जाति, एकव्यक्तिवृत्तित्वात्'। यदि 'नरत्व' या 'सिंहत्व' जाति मानकर लक्षणसमन्वय करें तो वह भी नही हो सकता, क्योकि केवल एक एक को स्वीकार करने मे कोई प्रमाण नही है। दानो को यदि स्वीकार करें तो दोनो मे जातिसकर का प्रसग प्राप्त होगा और आशिकत्व भी प्राप्त होगा। यदि कहे कि 'नसिंह' देवता है, अत उस 'नसिंह शरीर' में 'देवत्व' जाति ह, तो यह भी नही कह सकते, क्योकि देवत्व' कोई जाति नही है। क्योकि देवत्वजाति' को मानने पर 'सकर' दोष आवेगा। देवत्व तो जलीय शरीरवाले 'वरुण' मे और

तैजस शरीरवाले 'सूय मे रहता है। अर्थात वरुणलोक मे प्रसिद्ध जलीय-शरीर तथा सूयलोक मे प्रसिद्ध तैजसशरीर मे 'देवत्व' रहता है। अत जलीयत्व तथा तैजस्त्व के साथ 'देवत्व' का साकय होगा। तथाहि–'देवत्व' को छोडकर 'जलीयत्व', सरिज्जल मे और 'जलीयत्व' को छोडकर 'देवत्व', तैजस सूर्यादिदेवो मे और दोनो का समावेश जलीयशरीर में। उसी प्रकार देवत्व को छोडकर तैजसत्व सुवण मे, और तैजसत्व को छोडकर देवत्व वरुणादि जलीय देव मे, और दोनो का समावेश 'तैजसशरीर' में है। इस साकय दोष के कारण 'देवत्व' को जाति नही कह सकते। एवच 'नसिह शरीर' मे रहनेवाली ऐसी कोई जाति नही, जिसे लेकर परिष्कृत लक्षण का सम वय नृसिंहशरीर मे किया जा सके।

समा॰—काल अनादि तथा अन त है, उसमे कृत त्रता, द्वापर आदि युग के क्रम स अनेक कल्प होते है। 'कल्प' शब्द ब्रह्मा के एक दिन का वाचक है। यह एक दिन का काल चालीस अबुद बत्तीस कोटि वर्षों का होता है। ब्रह्मा के प्रत्येक कल्प मे 'नसिंहावतार' होता ह। उन नसिंहशरीरो का एकत्व ही 'नसिंहत्व' जाति है। इस रीति से 'नसिंहत्व' जाति की सिद्ध की गई है। अत नृसिंह शरार मे शरीरलक्षण का लक्षण समन्वय हो जाता है।। क्योकि 'नसिंहत्व' अनेक व्यक्तिवृत्ति हो जाता है। अत नसिंहत्वधम को जाति मानने मे 'एकव्यक्तिवत्तित्व' बाधक नही है।

इति पार्थिवशरीरनिरूपणम।

इन्द्रियमिति। घ्राणेन्द्रिय पार्थिवमित्यर्थ।[1] पार्थिवत्व कथमिति चेत्? इत्थम्। घ्राणेन्द्रिय पार्थिव रूपादिषु मध्ये गन्धस्यैव व्यञ्जक-

१ गन्धसमानाधिकरणद्रव्यत्वसाक्षात्व्याप्यजातिमद्रिय पार्थिवेन्द्रियम्'— यह घ्राणेन्द्रिय गन्धगुणवाली है। इसमे यह नियम है कि—'यदिन्द्रिय रूपादिषु मध्ये य गुण गृह्णाति तत् इन्द्रिय तद्गुणयुक्तम'—जो इन्द्रिय, रूप रस-गन्ध स्पर्श-शब्द–इन पाच गुणो मे से जिस गुण को ग्रहण करती है, वह इन्द्रिय उस गुण वाली कहलाती ह। जैसे—चक्षु, रसन, घ्राण, त्वक् श्रोत्र ये इन्द्रिया यथा क्रम रूपादिको का ग्रहण करती है।। 'घ्राणेन्द्रिय गन्धवत ग धग्राहकेन्द्रियत्वात' 'चक्षरादिवत्'—यह घ्राणेन्द्रिय गन्धगुणवाला है, ग ध की ग्राहक इन्द्रिय हाने से, चक्षुरादि इन्द्रिय के समान। **अथवा** दूसरा अनुमान यह है—'घ्राणेन्द्रिय पार्थिव रूपादिषु मध्ये गन्धस्यैव अभिव्यञ्जकत्वात, कुकुमगन्धाभिव्यजकगोघतवत, वायूपनीतसुरभिपार्थिवभागवत्—घ्राणेन्द्रिय पार्थिव होने योग्य है,

त्वात्, कुकुमगन्धाभिव्यञ्जकगोघृतवत्। न च दृष्टान्ते स्वकीयरूपादिव्यञ्जकत्वादसिद्धिरिति वाच्य, परकीयरूपाद्यव्यञ्जकत्वस्य तदर्थत्वात्। न च नवशरावगन्धव्यञ्जकजलेऽनैकान्तिकत्वमिति वाच्य, तस्य सक्तुरसाभिव्यञ्जक वात्। यद्वा परकीयेति न देयम्, वायूपनीतसुरभिभागस्य दृष्टान्तत्वसम्भवात्। न च घ्राणेन्द्रियसन्निकर्षस्य गन्धमात्र व्यञ्जकत्वात् तत्र व्यभिचार इति वाच्य, द्रव्यत्वे सतीति विशेपणात्।

इति पार्थिवेन्द्रियनिरूपणम।

क्योकि रूपादि चारो के मध्य मे से वह केवल गन्ध को ही प्रकट करता है। जो जो गन्ध का अभिव्यजक होता है, वह वह पार्थिव होता है। कु कुम (केशर) मे मिला हुआ गोघत कु कुम के रूपादिको मे से ग ध का ही अभिव्यजक ह। अत गोघत मे पार्थिवत्त्व प्रत्यक्ष सिद्ध है।

अथवा - कस्तूरी, कुसुमादि पार्थिव भागो का वायु से उडाया हुआ जो पार्थिव भाग है वह भी रूपादि चारो मे से गन्ध का ही अभिव्यजक है, इस कारण भी सुरभिभाग मे पार्थिवत्त्व निश्चित होता है। अब घ्र णेद्रिय पार्थिव है, क्योकि रूपादिको में से वह केवल गन्ध का ही ग्रहण करती है। इस लक्षण मे यदि 'एव' पद न दें तो नवीन सकारे में डाला हुआ जल, सकोरे के ग ध का भी अभिव्यजक होता है, इस कारण जल को भी पार्थिव कहना होगा, तब तो व्यभिचार हो जायगा। तथा मन के बिना किसो वस्तु का ज्ञान होगा, अत मन भी गन्ध का अभिव्यजक है। इस कारण मन में भी दोष (व्यभिचार) हुआ। इस दोष के निवारणाथ लक्षण में 'एव' पद दिया गया है। यह 'एव' पद गन्ध से भिन्न रूप, रस, स्पश का निषेधक है। वह नवशरावस्थित जल केवल गन्ध का ही अभिव्यजक नही, कि तु सक्तु में पडकर रस का भी अभिव्यजक है। तथा 'मन' जैसे ग न्ध का अभिव्यजक है, वैसे ही रूपादिको का भी वह अभिव्यजक है। यदि 'रूपाद्मिध्ये' यह पद न दें तो हेतु मे स्वरूपाऽसिद्धि (पक्ष मे हेतु का न रहना) दोष होगा। घ्राणेन्द्रिय केवल गन्ध का ही अभिव्यजक नही किन्तु गन्धत्वजाति तथा गन्धाभाव का भी अभिव्यजक है। 'द्रव्यत्वे सति' यह पद न देने से 'सन्निकष' के द्रव्य न होने से दोष नही है। 'गोघत' यद्यपि अनेक रूपादिको का अभिव्यजक है तथापि 'कु कुम' के रूपादिको में से केवल गन्ध का ही अभिव्यजक है। इस कारण उस हेतु में उन रूपादिको का 'परकीयत्व' विशेषण कहने से 'गोघत' दष्टान्त मे हेतु की असिद्धि नही होती।

●अनित्य पथ्वी के तीन भागो मे से जो 'इन्द्रिय' सज्ञक भाग ह वह 'घ्राणेद्रिय' (नासिका) है। 'घ्राणेन्द्रिय पार्थिवम'—यह प्रतिज्ञा वाक्य ह। उस पर शका की गई है कि 'पार्थिवत्व कथम' अर्थात घ्राणन्द्रिय में पार्थिवत्व' की सिद्धि करने मे (घ्राणेद्रिय को पार्थिव कहने मे) हेतु क्या है ? तब इत्थम' कहकर उत्तर दिया जा रहा ह, अर्थात अनुमान प्रयाग के द्वारा 'हेतु' बता रहे है। घ्राणेन्द्रिय पार्थिव (पथ्वी का भाग) है, इसे सिद्ध करने के लिये अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा— 'घ्राणेन्द्रिय पार्थिव, रूपादिषु मध्ये गन्धस्यैव व्यजकत्वात, कुकुम ग धाभिव्यञ्जकगोघतवत'–इसमे 'घ्राणेद्रिय' पक्ष है, 'पार्थिवत्व' साध्य है, 'रूपादिषु मध्ये गन्धस्यैव अभिव्यञ्जकत्वात' हेतु है, 'कुङ्कुमगन्धाभिव्यञ्जक-गोघतवत' यह दष्टान्त है। जसे—गाय का घन कुङ्कुम (केशर) मे जब मिला देते है, तब वह (गो घृत) केवल कुङ्कुम के गन्ध का ही ज्ञान कराता है, बाकी के जो कुङ्कुम के रूप, रस, स्पश ह, उनका (तीनो का) ज्ञान वह नही कराता। तथापि वह (गो घत) अपने रूपादिका तो अभिव्यञ्जक होता ही है। दूसरे के (केशर के) रूपादि का अभिव्यजक नही होता—यह केवल' का तात्पय है। इसलिये 'केवलगन्ध का ही ज्ञान कराना (अभिव्यजक होना) यह जो हेतु का

'परकीय' पद के देने से शरीरकृत गौरव होता है, इस कारण 'परकीय' पद का छोड देते ह और वायूपनीतसुरभिभागवत' यह दूसरा दष्टान्त दिया है। वह 'सुरभि' पार्थिवभाग, स्वकीय रूपादिको के अभिव्यजक नही होते, किन्तु स्वकीय गन्धमात्र के ही अभिव्यजक होते है।

शका—'सति कुडचे चित्रम'—यदि भित्ति (दीवार भीत) हो, तो उस पर चित्र चितारे जाय। भीत के न होने पर अपने आप ही चित्र का अभाव होगा। इस न्याय के अनुसार जब छह इन्द्रिया सिद्ध हो जाय, तभी पार्थिवत्वादि भी सिद्ध हो जायगा।

समा०—उक्त आशका के निवारणाथ अनुमान प्रदर्शित किया जा सकता है—'रूपाद्युपलब्धि करणसाध्या क्रियात्वात् छिदिक्रियावत'—रूपादिको की उपलब्धि (ज्ञान) किसी करण से ही साध्य होने योग्य है, क्रियारूप होने से। जो जो क्रिया है, वह वह किसी करण से ही साध्य होती है। जैसे छेदन क्रिया, कुठाररूप करण से ही साध्य है। इस अनुमान से रूपोपलब्धि का करण चक्षु, रस का रसनेन्द्रिय, गन्ध का घ्राणेद्रिय, स्पश का त्वगिन्द्रिय, और शब्द की उपलब्धि का करण श्रोत्रेन्द्रिय है तथा सुख दुःखादि का मन इन्द्रिय है—यह सिद्ध होता है।

स्वरूप प्रदर्शित किया गया है, वह दृष्टान्त मे घटित न हो पाने से 'विशेषणासिद्धि' दोष की शका नही करनी चाहिये। यदि 'असिद्धि' दोष, 'हेतु' मे आता तो उस हेतु को 'असिद्ध हेतु मानकर 'हेत्वाभास कहते, किन्तु वैसा है नही। निष्कष यह है कि 'रूप आदि का अभिव्यजक न होकर केवल गन्ध का ही अभिव्यजक हो, इसका तात्पय यह है कि 'दूसरे (पर) के रूपादि का अभिव्यजक न हो।

शका—उपयुक्त 'विशेषणाऽसिद्धि' दोष के न रहने पर भी नवशरावगन्ध व्यजक जल म व्यभिचार हो सकता ह। नवीन मृत्पात्र (मिट्टी का बतन) की ग ध तभी अभिव्यक्त हो पाती है, जब उस मृत्पात्र पर पानी गिराया (छिन्का) जाता है। इस रीत से पानी (जल) भी ग ध का अभिव्यजक ह। अत पार्थिवत्व'—साध्य के अभाव धिकरणस्वरूप 'जल मे 'गन्धेतरविषयकज्ञानाऽजनकत्वेसति गन्धविषयकज्ञानजनकत्वात' इस हेतु के रहने से व्यभिचार होता ह। अत 'हेतु' व्यभिचरित हो गया। क्योकि सद्धेतु वही होता है जो हमेशा साध्य के साथ ही रहता हो, तथा जहा साध्य का अभाव रहता हो, वहा कभी भी न रहता हो।

समा०—नवीन मत्पात्र (मिट्टी का पात्र शराव=सकोरा आदि) के गन्ध का अभिव्यजक जल, केवल 'गन्ध' का ही अभिव्यजक नही है, अपितु सक्तु (सत्तू=सतुआ) के रस का भी अभिव्यजक ह। क्योकि पानी में घोलन पर ही सक्तु का स्वाद आता है। अत जल मे, 'परकीयरसादिज्ञानाऽजनकत्वे सति' इस विशेषण के घटित न होने से व्यभिचार नही हो पाया।

'लाघव' को ध्यान में रखकर उपयुक्त हेतु मे 'परकीय' विशेषण देने की भी आवश्यकता नही है। इसी अभिप्राय को सूचित करने के लिये 'विशेषणाऽसिद्धि' दोषशून्य एक अन्य दृष्टान्त के भी प्रदर्शित किया जा रहा है—'यद्वा परकीये ति इस दृष्टान्त के देने में अभिप्राय यह है कि हेतु मे जो विशेषण जोडा गया था—'परकीय (दूसरे के) रूपादि का अभिव्यजक न होकर केवल ग ध का अभिव्यजक हो'—उसमे 'परकीय' (दूसरे के) यह अश न दिया जाय। केवल इतना ही हेतु रखा जाय कि रूपादि का अभिव्यजक न होकर केवल गन्ध का हो अभिव्यजक हो' इसके लिये 'वायूपनीत सुरभिभाग' का दृष्टान्त दे रहे हैं। अर्थात वायु से उडाए पुष्पादि के सुगन्धित अश को दृष्टान्त के रूप में रखा जा सकता है। क्योकि वह सुगन्धित अश केवल ग ध

का ही ज्ञान कराता है, गन्ध के अतिरिक्त रूपादि का ज्ञान नही कराता। एवच 'रूप रस स्पर्शज्ञानाऽजनकत्वेसति गन्धज्ञानजनकत्वात' यह हेतु दृष्टान्त मे घटित हो जाने से 'भागासिद्धि दोष नही है। अत वे 'वायूपनीतसुरभिभाग' रूपादिको मे से केवल गन्ध के ही व्यजक ह और पार्थिव भी है।

शका—यद्यपि उक्त अन्य दष्टान्त मे भी कोई दोष नही है, तथापि—घ्राणेन्द्रिय और गध का जो 'स्व-सयुक्त-समवाय' अर्थात घ्राणसयुक्तसमवाय सम्बन्ध ह, उसमे व्यभिचार हागा। क्योकि घ्राणसयुक्तसमवायसम्बध मे रूप रस स्पर्शाऽव्यजकत्वे सति गन्धस्यैव अभिव्यजकत्वात यह हेतु विद्यमान है। तस्मात अपार्थिव समवायसम्बधरूप षष्ठ पदाथ मे हेतु का व्यभिचार हो जाता ह।

समा०—हेतु मे 'द्रव्यत्वे सति' यह विशेषण जोड देना चाहिये। तब अथ होगा कि द्रव्य होकर रूपादिको मे से गन्ध का ही व्यजक होना।' अर्थात गन्ध के व्यजक कहलानेवाले को साथ साथ 'द्रव्य' भी होना आवश्यक है। स्वसयुक्त समवाय' सज्ञक सम्बन्ध (घ्राणेन्द्रिय सन्निकष) 'द्रव्य' नही है। अत उसमे हेतु के न रहने से व्यभिचार नही ह।

विषय इति। उपभोगसाधन विषय 'सर्वमेव हि कार्यजातम दृष्टाधीनम्'। यत्कार्यं यददृष्टाधीन तत्तदुपभोग साक्षात्परम्परया वा जनयत्येव। न हि बीजप्रयोजनाभ्या विना कस्यचिदुत्पत्तिरस्ति। तेन द्वयणुकादिब्रह्माण्डान्त सर्वमेव विषयो भवति। शरीरेन्द्रिययोर्विषयत्वेऽपि प्रकारान्तरोपन्यास शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थ ॥ ३८ ॥

॥ इति **पृथिवीग्रन्थ** ॥ ॥ इति पार्थिवविषयनिरूपणम ॥

● द्वयणुकादि से लेकर ब्रह्माण्ड तक जितना पदाथसमुदाय है वह सब पृथ्वी का विषय ह। अनित्यसज्ञक पथिवी के भागो मे से जो 'विषय' सज्ञक भाग है, उसका निरूपण करते है—**'विषय' इति**। जिस वस्तु से सुख दु ख का उपभोग होता ह उस वस्तु को **'विषय'** कहते है। अर्थात सुख दु ख साक्षात्कार के प्रयोजक को 'विषय' कहते है। साक्षात अथवा परम्परासबध से कायसम्पादक का नाम 'प्रयोजक' है। द्वयणक से लेकर ब्रह्माण्डपयन्त जितनी पथिवी है, वह सब 'विषय' ह। इस विषय से उत्पन्न हुए सुख या दु ख के उपभोग का प्रकार यह है कि इस लोक या परलोक मे जो वस्तु उत्पन्न हुई ह, या उत्पन्न होगी अथवा उत्पन्न हो रही है वह सभी वस्तु (कायसमुदाय) जीवो के अदृष्ट (पुण्य पाप) के अधीन

ह। जो वस्तु (कार्य) जिस जीव के जिस अदष्ट के अधीन है, वह वस्तु (काय) उसी जीव को उसी के अदष्ट के अनुसार साक्षात अथवा परम्परासम्ब घ से सुख दु ख साक्षात्कार की प्रयोजक होती है। तत्तत जीवो के अदष्ट (भाग्य, दैव, पुण्य पाप) से उत्पन्न हो गई या होगी या हो रही ह—ऐसा माना जाता है। तथा च 'सव काय धर्माधर्माधीन भवति, कहा जाता ह। इसम प्रमाण यह है—जो वस्तु (विषय, काय) उत्पन्न होती ह, उसकी उत्पत्ति का बीज (कारण) तथा प्रयोजन (उपयोग अथवा फल) आवश्यक मानने पडते है। इन दो कारणो के बिना कोई भी वस्तु उत्पन्न नही होती। अर्थात् प्रत्येक काय की उत्पत्ति मे कोई न कोई समवायि असमवायि या निमित्त कारणो मे से कोई भी एक अवश्य ही होगा। उसी तरह कोई न कोई प्रयोजन भी अवश्य ही होगा। इससे यह सिद्ध होता है कि द्व्यणुक से ब्रह्माण्ड तक जितनी भी वस्तुएँ है, वे सभी वस्तुएँ उनके विषय है।

शका—शरीर तथा इन्द्रिय इन दो से ही सुख-दु ख का उपभोग होता ह। अत शरीर और इन्द्रिय ये ही दो विषय कहे जा सकते है,[1] तब शरीर, इन्द्रिय और विषय—ये तीन भेद क्यो किये गये है ?

---

१ पार्थिवशरीरलक्षणम—'गन्धवत्त्वे सति भोगायतनत्वम्पार्थिवशरीरत्वम।' पार्थिवेन्द्रियलक्षणम्—'ग धवत्त्वे सति गन्धज्ञानकारणत्वम्पार्थिवेन्द्रियत्वम।' पार्थिवविषयलक्षणम—'गन्धवत्त्वे सति उपभोगसाधनत्वम्पार्थिवविषयत्वम।' द्व्यणुक तथा त्र्यणुक से लेकर ब्रह्माण्ड तक सभी अनित्य पथिवी के विषय है। अत द्व्यणुक तथा त्र्यणुक की सिद्धि का प्रकार यह होगा—'तत त्र्यणुक अवयवजन्य चाक्षुषद्रव्यत्वात् घटवत'—घट चाक्षुषद्रव्य है, और कपालरूप अवयवो से जन्य भी ह, उसी प्रकार त्र्यणुक भी चाक्षुषद्रव्य है। अत वह भी अवयवो से जन्य होगा। इस लक्षण मे यदि 'चाक्षुष' पद न दें तो आकाशादि नित्य द्रव्यो मे व्यभिचार होगा। यदि 'द्रव्य' पद न दें तो गुणादिको मे व्यभिचार होगा। त्र्यणुक के अवयव द्व्यणुक होते है। परस्पर सयुक्त तीन द्व्यणुको से त्र्यणुक उत्पन्न होता है। द्व्यणुक की सिद्धि का प्रकार—'द्व्यणुक अवयवजन्य महदारम्भकत्वात कपालवत'—कपालरूपद्रव्य महत्त्वपरिमाणवाले घटरूपद्रव्य का आरम्भक ह। यह कपालरूपद्रव्य, कपालिकारूप अवयवो से जन्य भी है, वैसे ही महत्त्व-परिमाणवाला त्र्यणुकरूप द्रव्य भी द्व्यणुकरूप अवयवो से अवश्य ही जन्य होगा।

समा॰—शिष्यो की बुद्धि को विशद बनाने के लिये (पदार्थो के सूक्ष्म भेद जानने की शक्ति प्राप्त कराने के लिये) उक्त तीन भेद किये गये है। अर्थात सभी उपभोगसाधन होने के नाते विषय कहे जा सकते ह, एन शरीर और इन्द्रिय का पथक् विभाग करने की आवश्यकता नही थी, तथापि ये शरीर है, ये इन्द्रिया ह, उनसे भिन्न ये विषय भी है, इस प्रकार से शिष्यो की बुद्धि को विकसित करना यही एक मात्र प्रयोजन ग्रन्थकार का है। इति पथिवीग्रन्थ ।

इति पृथ्वीनिरूपणम् ।

ॐ वर्णः शुक्लो रसस्पर्शौ जले मधुरशीतलौ ।
स्नेहस्तत्र, द्रवत्वं तु सांसिद्धिकमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

● जल का शुक्ल (सफेद) वण है, मधुर रस तथा शीतलस्पश है। उसमे (जल मे) स्नेहगुण अर्थात् चिकनापन तथा स्वाभाविक द्रवता (तरलता) बताई गई है। 'सव वाक्य सावधारणम' इस नियम के अनुसार जसे 'अब्भक्षो वायुभक्ष' का अर्थ जल को ही भक्षण करता है (पीता है), वायु को ही भक्षण करता है,–उपलब्ध होता है, उसी तरह यहाँ भी जल मे अभास्वर शुक्ल ही वण है अर्थात जल मे अभास्वर शुक्लरूप समवायसम्बन्ध से रहता है। जल मे मधुर ही रस है और शीत ही स्पश है अर्थात मधुर रस और शीतस्पश दोनो समवायसम्बन्ध से उसमें रहते है। उसी तरह जल मे ही स्नेह है। अर्थात जल मे स्नेह समवायसम्बन्ध से रहता है। और जल में द्रवत्व तो सासिद्धिक=स्वाभाविक, उदाहृतम् = समवायसम्बन्ध से रहता है, ऐसा स्वीकार किया है[1]। एवच—'अभास्वरशुक्लमात्ररूपवत्त्वम' 'शीतमात्रस्पशवत्त्वम', 'स्नेहवत्त्वम्', 'सासिद्धिकद्रवत्ववत्त्वम'—इस प्रकार जल के अनेक लक्षण हो सकते है।

जल निरूपयति—'वर्ण शुक्ल'इति स्नेहसमवायिकारणतावच्छेदकतया जलत्वजाति सिद्धयति ।

● **जल निरूपयतीति** । यहा पर (निरूपण) 'नि + रूप' का अर्थ है— जल के लक्षण, स्वरूप, प्रामाण्य का ज्ञान करानेवाला व्यापार। इसी को सस्कृत मे इस प्रकार कहा जायगा–लक्षण-स्वरूप प्रामाण्यादिप्रकारकज्ञानाऽनुकूलव्यापारो निरूपयतेरथ । तथाच—जलनिष्ठविषयतानिरूपक यत् लक्षण स्वरूप-प्रामाण्यादि-

१ "रूपरसस्पशवत्य आपो द्रवा स्निग्धा'—(वै सू २।१।२)

प्रकारक ज्ञान, तदनुकूलव्यापारानुकूलकृतिमान ग्रन्थकार इति 'जल निरूपयती' त्यस्य शाब्दबोध । जल के अभास्वरशुक्लरूपवत्त्वादि जो लक्षण ऊपर बनाये गये है, उन लक्षणो का 'लक्ष्य' 'जल' है । अत लक्ष्यता 'जल' मे रहेगी, और लक्ष्यतावच्छेदक 'जलत्व' होगा । वह 'जलत्व' धम जातिरूप ह । अर्थात—जल के 'स्नेह' गुण को छोडकर बाकी बचे अन्य विशेषगुण रूप, रस, स्पश, द्रवत्व ये, कतिपय अन्यान्य विशेषताओ के साथ पथ्वी आदि अन्य द्रव्यो मे भी उपलब्ध होते है। एक 'स्नेह' ही ऐसा गुण ह जो केवल जल मे पाया जाता है, इस कारण स्नेह का समवायिकारणस्वरूप जो जल उसमें रहनेवाली जो समवायिकारणता, उसकी अवच्छेदक 'जलत्व' जाति मानी जाती है ।

यद्यपि स्नेहत्व नित्यानित्यवृत्तितया न कार्यतावच्छेदक, तथापि जन्यस्नेहत्व तथा बोध्यम् । अथ परमाणौ जलत्व न स्यात्, तत्र जन्यस्नेहाभावात् तस्य च नित्यस्य स्वरूपयोग्यत्वे फलावश्यम्भाव नियमादिति चेत् ? न, जन्यस्नेहजनकतावच्छेदकतया जन्यजलत्वजाते सिद्धौ, तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदकतया जलत्व जातिसिद्धि ।

शका—कायरूप अनित्य पथिवी के समान उसके (पृथ्वी के) परमाणुओ मे भी रूप, रस, गन्ध आदि अनित्य ही माने जाते है, क्योकि वे (रूप, रसादि) अग्निसयोग से उत्पन्न होते है । अतएव उनमें परिवतन होता है, अत वे पाकज गुण है । इस कारण पथ्वी के परमाणुओ के भी गुण अनित्य है । किन्तु जल, तेज और वायु में जो गुण है, वे पाकज नही माने जाते। इसलिये जल आदि के परमाणुओ के गुणो को 'नित्य' ही कहना होगा। क्योकि उनके पाकज न होने के कारण उनमे (गुणो मे) परिवतन होने की कोई बात ही नही है । अनित्य जल के गुण भी अनित्य ही होगे, क्योकि अनित्य जल की उत्पत्ति के पश्चात उसमे वे गुण उत्पन्न होते है यह है वस्तुस्थिति । तब जल-परमाणुओ मे रहनेवाला 'स्नेह' तो नित्य ही कहना होगा । इस कारण 'स्नहत्व' जाति को जो नित्य और अनित्य दोनो प्रकार के 'स्नेहो' मे रहती है। अत उसे 'कायता' की अवच्छेदक नही कह सकते । तब स्नेहत्वावच्छिन्न (स्नेह मे रहनेवाली) कायता की (निरूपित) जो जलनिष्ठ कारणता उसकी अवच्छेदक एक अनुगत 'जलत्व' जाति कैसे सिद्ध हो सकेगी ?

समा —कायरूप अनित्य 'जल' मे रहनेवाली अनित्य (जन्य) स्नेह की जो कारणता, उसकी अवच्छेदक 'जलत्व' जाति ही होगी, क्योकि वह (जलत्व-

जाति) जन्य जल मे भी रहती है। उसके बाद उस जन्यजल मे रहनेवाली जो जन्यता उससे निरूपित जो नित्य जलनिष्ठा जनकता, उस जनकता की अवच्छेदक 'जलत्व' जाति की सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार नित्य और अनित्य जल दोनो में रहनेवाली जलत्वजाति, जन्यजल-निष्ठ समवायिकारणता के अवच्छेदक रूप मे सिद्ध हो जाती है। इसी अभिप्राय को इस प्रकार भी समझ सकते है। स्नेहरूप काय की (निरूपित) जलनिष्ठ समवायिकारणता की अवच्छेदक होने से 'जलत्व' जाति सिद्ध होती है। क्योकि स्नेह का समवायिकारण हुआ 'जल', उसमे रहनेवाली जो समवायिकारणता, उसका अवच्छेदक होगा 'जलत्व'। एवं स्नेहसमवायिकारण तावच्छेदकतया[1] 'जलत्व' जाति की सिद्धि हो जाती है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'स्नेहत्व' धर्म, नित्य स्नेह तथा अनित्यस्नेह दोनो में रहता है, तब उसे कार्यतावच्छेदक (कार्यतामात्र का अवच्छेदक) कैसे कह सकते है ? परन्तु इस प्रश्न का उत्तर यह दे सकते है कि—'जन्यस्नेहत्व' रूप धर्म को कार्यतावच्छेदक मान लीजिये। किंतु फिर भी प्रश्न हो सकता है कि 'जन्यस्नेहत्वावच्छिन्न कार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकतया'—सिद्ध होनेवाली जो 'जलत्व' जाति, वह जलीय 'परमाणुओ' मे नही रह सकेगी, क्योकि परमाणुओ मे जन्य स्नेह नही है। यदि स्नेह रूप काय के प्रति जलीय परमाणुओ मे 'स्वरूपयोग्यता' रूपकारणता को माने, तो उसे भी नही मान सकते, क्योकि उनमे (नित्यपरमाणुओं में) स्वरूप योग्यतारूप कारणता को मानने पर उससे कभी तो फल अवश्य ही होना चाहिये, किंतु होता नही। इसकारण स्नेहरूप काय की निरूपित (जलनिष्ठ) समवायिकारणता की अवच्छेदक किसी अनुगत 'जलत्व' जाति की सिद्धि नही हो सकती। परतु इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जाता है कि पहले [2]जन्यस्नेहत्वावच्छिन्नजन्यता-

---

१ **जलत्वजाति की सिद्धि**—समवायसम्बन्धावच्छिन्न स्नेहत्वावच्छिन्न स्नेहनिष्ठकार्यतानिरूपिता, तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना या जलनिष्ठा समवायि कारणता, सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात, घटनिष्ठकार्यतानिरूपित कपाल-गतकारणतावत।

२ **जन्यजलत्वजाति की सिद्धि**—समवायसम्बन्धावच्छिन्न जन्यस्नेह त्वावच्छिन्न-जन्यस्नेहनिष्ठजन्यतानिरूपिता, तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना या जन्य जलनिष्ठा समवायिकारणता, सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, कारणतात्वात, पटनिष्ठकार्यता निरूपित-तन्तुगतकारणतावत।

निरूपितजनकतावच्छेदकतया 'जन्यजलत्व' जाति की सिद्धी कीजिये। अर्थात जन्यस्नेहनिष्ठजन्यतानिरूपित जो जन्यजलनिष्ठा जनकता, तादश जनकता की अवच्छेदक होने से जन्य जल मे 'जलत्व' जाति सिद्ध कर लेनी चाहिये। उसके पश्चात [1]जन्यजलत्वावच्छिन्न, जन्यतानिरूपित जनकतावच्छेदकतया 'जलत्व' जाति की सिद्धि करनी चाहिये। अर्थात जन्यजलनिष्ठजनकतावच्छेदकतया जन्यजल मे 'जलत्व' जाति की सिद्धि करने के पश्चात जन्यजलनिष्ठा जो जन्यता, उससे निरूपित जो शुद्धजलनिष्ठा जनकता, तादशजनकता की अवच्छेदक होने से 'शुद्धजलत्व' जाति की सिद्धि कर लेनी चाहिये। वह 'जलत्वजाति' परमाणु जल में भी ह। तात्पय यह है—'जलत्व' यह जाति है, ऐसा सिद्ध करने मे अनुमान [2]प्रमाण है— जैसे स्नेह (चिकनाहट) गुण जल ही का है, वह नित्य तथा अनित्य होने से दो प्रकार का है। जल के परमाणुओ का स्नेह नित्य है और द्वयणुकादिको का स्नेह अनित्य है। एवच सभी स्नेह के (नित्य अनित्यस्नेह के) प्रति 'जल' कारण ह। इस प्रकार का काय—कारणभाव नही माना जाता। यदि माना जायगा तो परमाणुओ का नित्य स्नेह भी जल के सभी स्नेहरूपी कार्यों मे समाविष्ट होकर वह (नित्य-स्नेह) उत्पन्न होने लगेगा, किन्तु होता नही ह। इस कारण नित्यस्नेह के बिना केवल 'अनित्यस्नेह के प्रति अनित्यजल कारण है—ऐसा काय कारणभाव प्रथम मानकर, तदनन्तर जल परमाणुओ मे 'जलत्व' सिद्ध होता ह। अन अनित्य जल के प्रति सब जल (नित्य—अनित्य) कारण है—ऐसा काय कारण भाव मानना चाहिये। इस प्रकार उस कारण के भेद की दशक, सर्व जलसाधारण 'जलत्व' जाति सिद्ध हो जाती है।

---

१ शुद्ध जलत्वजाति की सिद्धि—समवायसम्बन्धावच्छिन्न जन्यजलत्वावच्छिन्न जन्यजलनिष्ठा या जन्यता, तन्निरूपिता, तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना या शुद्धजलनिष्ठा समवायिकारणता, सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, कारणतात्वात।

(२) 'जलत्व' जाति के अनुमान का आकार—

'जल निष्ठा या स्नेहसमवायिकारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात तन्तुनिष्ठकारणतावत'—तन्तुओ मे रहनेवाली पट की समवायिकारणता तन्तुत्व धम से अवच्छिन्न होती है, उसी प्रकार जलनिष्ठ स्नेह की समवायि कारणता भी किसी धम से अवश्य अवच्छिन्न होगी, ऐसा 'जलत्व' धम ही जाति के रूप में सिद्ध होता है।

शका—जो धर्म नित्य तथा अनित्य दोनो मे रहता है, वह धर्म कार्यता का अवच्छेदक नही होता। यह स्नेहत्व धर्म भी नित्य तथा अनित्य स्नेह में रहता है, इस कारण वह जल निरूपित कार्यता का अवच्छेदक नही हो सकता। जन्य स्नेह की समवायिकारणता केवल जन्य जल मे ही है परमाणुरूप नित्य जल मे नही। इस कारण नित्य जल में जलत्व जाति की सिद्धि नही हो सकती।

समा०—द्व्यणुकादिरूप जन्यजल मे जन्य स्नेह की समवायिकारणता है, इस कारण प्रथम जन्य-जलत्व-मात्रवृत्ति जलत्व जाति की सिद्धि कर लेनी चाहिये, तदनन्तर उस जन्य जलत्वजाति से अवच्छिन्न जल की समवायिकारणता का अवच्छेदकरूप से जन्य तथा अजन्य सब जल मे शुद्ध-जलत्वजाति की सिद्धि करनी चाहिये। जैसे द्व्यणुक अनित्य जल मे त्र्यणुकादि जन्य जल की समवायिकारणता है, वैसे ही परमाणुरूप नित्य जल में द्व्यणुकरूप जन्य-जल की समवायिकारणता है, इस कारण उस परमाणुरूप नित्य जल मे तथा द्व्यणुकादि-रूप अनित्य जल में उस जन्य जल की समवायिकारणता के अवच्छेदक रूप से जलत्व जाति की सिद्धि सभव है।

शका—अन्त्यावयविरूप जल में उस जन्यजल की समवायिकारणता नही है, इस कारण अन्त्यावयविरूप जल मे जलत्व जति की सिद्धि नही होगी।

समा०—किसी भी जल मे अन्त्यावयवित्व नही होता, और दूसरे जल के सयोग से बहुत जल की उत्पत्ति की योग्यता तो है ही।

शका—जलमात्र में यदि जन्य जल की समवायिकारणता का स्वीकार करोगे तो वरुणलोकस्थ जलीय शरीरो से तथा रसनेन्द्रियरूप जल से भी किसी जन्य जल की उत्पत्ति होनी चाहिये, किंतु होती नही।

समा०—वरुणलोकस्थ जलीयशरीर तथा रसनेन्द्रिय मे यद्यपि जन्य जल की फलोपधायकत्वरूप कारणता नही है तथापि स्वरूपयोग्यत्वरूप कारणता तो विद्यमान है ही। अर्थात कारणता दो प्रकार की होती है—एक तो फलोपधायकत्वरूपा तथा दूसरी स्वरूपयोग्यत्वरूपा। इनमे से प्रथम का स्वरूप यह है—'अव्यवहितपूर्ववृत्तित्वसम्बन्धेन फलविशिष्टत्व फलोपधायकत्वम्'—व्यवधानरहित पूर्ववृत्तित्वसम्बन्ध से जो फलविशिष्टता है, वही फलोपधायकत्वरूप कारणता है। जैसे—घट की उत्पत्ति मे कुलाल के हाथ मे जो दण्ड है, उसमें

अव्यवहित—पूर्ववत्तित्वसम्बन्ध से घटरूप फलविशिष्टता है। यही दण्ड मे फलोपधायकत्वरूप कारणता है।

दूसरी कारणता का स्वरूप यह है—'कारणतावच्छेदकधमवत्त्व स्वरूपयोग्यत्वम'—कारणता का अवच्छेदक जो धम, उसी का नाम स्वरूपयोग्यत्वरूपकारणता है। जैसे- दण्ड मे रहनेवाली जो घट की कारणता है, उस कारणता का अवच्छेदक धम 'दण्डत्व' है। वह 'दण्डत्व' धम जैसे कुलाल के हाथ मे स्थित दण्ड मे है, वैसे ही वह (धम) वनस्थ दण्ड मे भी रहता है। वह कारणतावच्छेदक दण्डत्व धमवत्त्व (धम) ही, उस वनस्थित दण्ड में उस घट की स्वरूपयोग्यत्वरूप कारणता है। वैसे ही यहा प्रकृत में परमाणुरूप जल मे जो द्वयणुकादिरूप जन्य जल की समवायिकारणता है, वह फलोपधायकत्वरूप कारणता है, और जलीय शरीर तथा जलीय इद्रिय मे जिस जन्यजल की कारणता है, वह स्वरूपयोग्यत्व रूप कारणता है। ऐसी स्वरूपयोग्यत्वरूप कारणता के विद्यमान रहने परभी अन्य सहकारी कारणो के अभाव से जलीय शरीर तथा जलीय इन्द्रिय से किसी जन्य जल की उत्पत्ति नही होती। जैसे—वनस्थ दण्ड मे स्वरूपयोग्यत्वरूप कारणता के होने पर भी अ य कुलाल, मृत्तिका आदि— सहकारी कारणो के अभाव मे उस दण्ड से किसी घट की उत्पत्ति नही होती। अत जलीय शरीर तथा जलीय इद्रिय मे भी जन्य जल की स्वरूपयोग्यत्वरूप कारणता के अवच्छेदकरूप से जलत्व जाति की सिद्धि हो जाती है, और परमाणुरूप नित्य जल में जन्य स्नेह की जो स्वरूपयोग्यत्वरूप कारणता है, वह परमाणुरूप नित्य जल में किसी समय जन्य स्नेह की उत्पत्ति अवश्य करेगी। क्योंकि शास्त्रकारो का यह नियम है कि 'नित्यस्य स्वरूपयोग्यत्वे फलावश्यभावनियम'—नित्य पदाथ में यदि किसी काय की उत्पत्ति की स्वरूपयोग्यतारूप कारणता स्वीकार की जाय तो उस नित्य पदाथ से उस कायरूप फल की उत्पत्ति अवश्य होगी, क्योकि नित्य पदाथ का कभी भी नाश नही होता। नित्य पदाथ से किसी समय अ-य कारण सामग्री की सहायता से कार्य की उत्पत्ति अवश्य होगी। किन्तु अनित्य पदाथ में स्वरूपयोग्यत्वरूप कारणता के मानने पर भी काय की उत्पत्ति का नियम करना सभव नही। जैसे—वनस्थ दण्ड, घटकार्य मे स्वरूप योग्य होकर भी कुलालादि सामग्री के न होने पर काय की उत्पत्ति बिना किये ही अग्नि आदि से नष्ट हो जाता है। अत यह सिद्ध हुआ कि परमाणुरुप नित्य जल मे ज-य स्नेह की स्वरूप योग्यता को स्वीकार कर यदि जलत्वजाति की सिद्धि की है तो जलपरमाणुओ से किसी समय

●शुक्लरूपमेव जलस्येति दर्शयितुमुक्त वर्ण शुक्ल इति। न तु शुक्लरूपवत्त्व लक्षणम्। अथवा नैमित्तिकद्रवत्ववदवृत्तिरूपवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वम्, अभास्वरशुक्लतररूपासमानाधिकरणरूपवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्व वा तदर्थ। तेन स्फटिकादौ नातिव्याप्ति।

● 'शुक्लरूप' जल में ही है, यह पहले बता चुके है। कारिका मे इसी अभिप्राय से 'वण शुक्ल' कहा गया है। 'शुक्लरूपवत्त्व' यह जल का लक्षण नही है। क्योकि 'पृथ्वी तथा तेज में भी शुक्लरूप रहता है, अत अतिव्याप्ति हो जायगी। जल में 'शुक्लरूप' है यह कहने का तात्पय यही है कि जल में एक शुक्ल ही रूप है, अन्य रूप नही। अथवा 'शुक्लरूपवत्त्व' को ही यदि जाति घटित कर दिया जाय तो वही जल का निदुष्ट लक्षण हो सकता ह। जैसे— (१) जिनमे (पृथ्वी तथा वायुमें) नैमित्तिक द्रवत्व रहता है, उनमे न रहनेवाली, तथा जिममें 'रूप' रहता है, उसमें रहनेवाली जो जाति अर्थात् 'नैमित्तिक द्रवत्व के अधिकरण में न रहनेवाली और रूप के अधिकरण मे रहनेवाली जो 'द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जाति', तादशजातिमत्त्व—इतना अथ 'शुक्लरूपवत्त्व' के कहने से समझना चाहिये।

अथवा (२) अभास्वर[1] शुक्ल से भिन्न जो अन्य रूप है, वे जिनमें (पृथ्वी और तेज मे) ह, उनमे न रहनेवाली, तथा जिस मे रूप रहता है

स्नेह की उत्पत्ति अवश्य होगी। किन्तु यह कथन न्याय-सिद्धात के विरुद्ध है। इस कारण जन्य स्नेह की समवायिकारणतावच्छेदकरुप से जलत्व जाति की सिद्धि नही करनी चाहिये। किन्तु जन्य जल की समवायिकारणतावच्छेदकरूप से ही जलत्व—जाति की सिद्धि करनी चाहिये। अभिप्राय यही है कि जन्य स्नेह की समवायिकारणता के अवच्छेदक से जन्य जलत्व जाति सिद्ध कर लेना और जन्य जल की समवायिकारणता के अवच्छेदकरुप से शुद्ध जलत्व-जाति की सिद्धि करनी चाहिये, यही सिद्धान्त है।

१ 'शुक्लरूप' भास्वर तथा अभास्वर दो प्रकार का है। उनमे से 'भास्वर' तो स्पष्ट ही दीखता है और 'अभास्वर' अस्पष्ट दीखता है। 'भास्वर शुक्लरूप' तेज मे रहता है। और 'अभास्वर शुक्लरूप' जल मे रहता है। अभास्वर शुक्लरूप के बिना अन्य कोई भी रूप 'जल मे नही रहता।

उसमे रहनेवाली जो जाति अर्थात अभास्वर शुक्ल से इतर जो रूप उसके अधिकरण मे न रहनेवाली तथा रूप के अधिकरण मे रहनेवाली जो द्रव्यत्व जाति, उसकी साक्षात व्याप्य जाति, तादशजातिमत्त्व—इतना अथ 'शुक्ल रूपवत्त्व' के कहने से समझना चाहिये। प्रथम जाति घटित लक्षण करने से पृथ्वी तथा तेज मे अतिव्याप्ति नही होगी, क्योकि पृथ्वीत्व तथा तेजस्त्व जाति नैमित्तिक द्रवत्वजातिवाली घृतरूपा पथ्वी मे तथा सुवर्णादिरूप तेज मे वृत्ति (रहती) ही है। और द्वितीय जातिघटित लक्षण करने से स्फटिक मे अतिव्याप्ति नही होगी। उपयुक्त विशेषण विशिष्ट जो द्रव्यत्वसाक्षात व्याप्यजाति 'जलत्व' ही होगी। अत कही भी अतिव्याप्ति नही हो पायेगी।

●रसस्पर्शाविति। जलस्य मधुर एव रस, शीत[1] एवस्पर्श। तिक्त-रसवदवृत्तिमधुरवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्व तदर्थ।

● 'जल' मे केवल **मधुर रस** ही रहता है तथा **शीतस्पर्श** ही रहता है। अर्थात 'जल' मे **मधुररस** तथा **शीतस्पर्श** के अतिरिक्त कोई अन्य प्रकार का रस और स्पश नही रहता। एव च समवायेन '**मधुररसवत्त्व**' तथा समवायेन '**शीतलस्पर्शवत्त्व** ये लक्षण 'जल' के हुए।

शका—समवायेन '**मधुररसवत्त्व**' लक्षण की शकरादि (खाण्ड आदि) जल से भिन्न पार्थिव पदाथ में अतिव्याप्ति होगी, क्योकि उसमे भी मधुर रस है। तथा 'समवायेन शीतलस्पशवत्त्व' लक्षण की उत्पत्तिकालीन और उत्पन्न विनष्ट जल मे अव्याप्ति होगी। क्योकि 'उत्पन्न द्रव्य क्षणमगुण निष्क्रिय च तिष्ठति' इस नियम के अनुसार उत्पत्तिकालीन 'जल' द्रव्य मे शीतल स्पशरूप गुण नही होता।

समा०—उपयुक्त अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति के निवारणाथ उपयुक्त दोनो लक्षणो को **जातिघटित** बना लेना चाहिये। जातिघटित लक्षण बनाने का प्रकार ग्रन्थकार स्वय बता रहे है—'तिक्तरसवदवत्तिमधुरवदवृत्तिद्रव्यत्वसाक्षादव्याप्य-जातिमत्त्व'—'समवायेन मधुररसवत्त्वम'। अर्थात तिक्त (कटु = कडवा) रस के अधिकरण पृथ्वी मे न रहनेवाली (अवृत्ति), तथा मधुर रस के अधिकरण जल में वत्ति (रहनेवाली), जो द्रवत्व की साक्षात व्याप्यजाति

१ मुक्तावलीकार ने 'शीत एव स्पश' कहकर 'शीत' शब्द का पुल्लिङ्ग में प्रयोग किया है। 'शीतगुण' कोश के अनुरोध से 'शीत' शब्द का नपुसकलिङ्ग में प्रयोग करना चाहिये था। तथापि 'अस्त्रीनियतलिङ्गाना योगे तल्लिङ्गताऽपि च' इस नियम से 'शीत' शब्द का पुल्लिङ्ग में प्रयोग किया गया है।

'जलत्वजाति', वह (जलत्वजाति) जिसमे हो, उसे 'जल समझना चाहिये—यही 'जल' का लक्षण है। ऐसा जातिघटित लक्षण करने से 'शकरा' (पार्थिवपदाथ) में (अतिव्याप्ति नही होगी, क्योकि 'शकरा' पार्थिव पदाथ है, जलीय पदाथ नही है। उसमें रहनेवाली 'पथ्वीत्व' जाति, तिक्तादि रसो मे भी रहती ह तथा मधुररस में भी रहती है। यदि वह (पथ्वीत्व) केवल मधुररस में ही रहती तो जल का उक्तलक्षण 'शकरारूपपथ्वी' में अतिव्याप्त हो जाता। किन्तु शकरादि मे मधर रस के विद्यमान रहने पर भी तिक्तरसवदवत्तिजाति अर्थात 'जलत्वजाति' नही ह किन्तु तद्विरुद्ध तिक्तरसवद्वृत्ति ऐसी 'पथ्वीत्वजाति' ही शकरा मे है, अत अतिव्याप्ति नही है। इस जाति-घटितलक्षण मे 'तिक्तरसवत अवृत्ति' यदि न कहते तो 'पृथ्वी' मे अतिव्याप्ति होती। 'मधुरवदवृत्ति' न कहते तो तेज आदि में अतिव्याप्ति होती। 'द्रव्यत्व साक्षादव्याप्य' न कहते तो 'शकरात्व' मे अति-व्याप्ति होती तथा 'मधुरवद्वृत्तिजाति करकात्वजाति को लेकर उससे अनवच्छिन्न (रहित) 'हिम आदि में अव्याप्ति होती। 'जाति' न कहे तो 'जल-शकरोभयत्व' को लेकर 'वायु' में अतिव्याप्ति होती।

उसी तरह 'समवायेन शीत (ल) स्पर्शवत्त्व' लक्षण को भी जातिघटित करलेना चाहिये, जिसमे अव्याप्ति नही होगी। जातिघटित लक्षण करने का प्रकार ग्रन्थकार स्वय बता रहे है – शीतेतरस्पशवदवत्ति-स्पशवदवृत्ति-द्रव्यत्व साक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वम'—समवायेन शीतस्पशवत्त्वम। अर्थात शीतस्पश से इतर (अन्य) उष्ण और अनुष्णाशीतस्पश उसके अधिकरणस्वरूप जो तेज, पथ्वी और वायु, उनमें अवृत्ति (न रहनेवाले), तथा स्पश (शीतस्पश) के अधिकरणस्वरूप 'जल' में वृत्ति (रहनेवाली) द्रव्यत्व का साक्षात व्याप्य जो 'जलत्वजाति', वह उत्पत्तिकालीन तथा उत्पन्नविनष्ट जल में भी रहती है। अत जल के लक्षण की वहाँ अव्याप्ति नही होगी। यहा भी 'शीतेतरस्पशवत + अवृत्ति' यदि न कहे तो 'पृथ्वी' में अतिव्याप्ति होती। 'स्पशवदवृत्ति' न कहे तो 'आत्मा आदि' में अतिव्याप्ति होती। 'द्रव्यत्वसाक्षातव्याप्य' न कहे तो 'शीतेतरस्पशवत् + अवृत्ति अथ च स्पशवदवृत्ति' से 'करकात्व' को लेंगे, उससे अनवच्छिन्न (रहित) 'जल' मे अव्याप्ति होती। लक्षण मे 'जाति' न कहते तो 'करका चन्दनान्यतरत्व' को लेकर चन्दनरूपपृथ्वी में अतिव्याप्ति होती, अथवा 'करका हिमोभयत्व' को लेकर उससे अनवच्छिन्न (रहित) 'जलान्तर' में अव्याप्ति होती। एवच जल के लक्षण को जातिघटित कर देने से कही भी किसी प्रकार का दोष नही है।

(★ ननु शुक्लरूपमेवेति कुत, कालिन्दीजलादौ नीलिमोपलब्धे रिति चेत् —

न, नीलजनकतावच्छेदिकाया पृथिवीत्वजातेरभावाज्जले नील-रूपासम्भवात्। कालिन्दीजले नीलत्वप्रतीतिस्त्वाश्रयौपाधिकी। अत एव वियति विक्षेपे धवलिमोपलब्धि।

(शका)—पहले कह चुके है कि जल का लक्षण 'समवायेन शुक्लरूपवत्त्व मेव'—जल मे शुक्लरूप ही है। किन्तु जल का शुक्लरूप ही क्यो कहा गया है ? श्रीयमुनाजी के जल में तथा जलपूर्ण मेघ के मध्य, समुद्र के जल में नीलरूप भी दिखाई पडता है। इसलिये 'नीलरूपवत्त्वम' यह भी 'जल' का लक्षण कहना चाहिये। अत मूलग्रन्थ (कारिका) मे 'वर्ण शुक्ल' जो कहा गया है, वह प्रतीति (अनुभव) के विरुद्ध है।

समा०—इस प्रकार की आशका करना उचित नही है। क्योकि 'नीलरूप की समवायिकारणतावच्छेदिका जो पृथ्वीत्वजाति है, वह 'जल' में नही है। 'नीलारूप पृथ्वी मे ही रहता है, यह नि सन्दिग्ध है। इस कारण उस नीलिमरूप के प्रति समवायिकारण पृथ्वी ही है, यह अनुभवसिद्ध कार्य कारणभाव है। इस कार्य-कारणभावसम्बन्ध से सिद्ध जो जाति अर्थात पृथ्वीनिष्ठ समवायिकारणता की अवच्छेदक (भेददर्शक) जो 'पृथ्वीत्वजाति', वह 'जल में' नही रहती। अत 'जल' मे नीलरूप की कल्पना करना भी सम्भव नही। श्रीयमुनाजी के जल में जो नीलरूप दिखलाई पडता है, वह 'आश्रयोपाधिक' है अर्थात श्री जी के जल का आधार (आश्रय) जो पृथ्वी है, उसका वह 'नीला' रूप है, उस आश्रयभूत पृथ्वी की निलिमा (नीलारूप) ही श्रीजी के जल में दिखाई देती है। यही कारण है कि श्रीजी के जल को आकाश मे अर्थात ऊपर की ओर उछाला जाय तो जल की स्वाभाविक धवलता अर्थात उसका अपना निजी श्वेतवर्ण[1] (रूप) दिखाई

१ जल को ऊपर उछालने से उस जल से पृथ्वी का सम्बन्ध दूर होकर जल का अपना निजी (स्वभाविक) गुण (श्वेतवर्ण=सफेद रग) दिखाई देता है। यदि कहें कि वह श्वेतवर्ण, जो जल मे दिखाई दे रहा है, वह 'तेज' का गुण (रूप) है, तो परिपक्व हुए 'घट' आदि का भी रग, 'तेज' का ही गुण है—ऐसा क्यो नही मानते ? अत 'श्वेतिमा' जल का स्वाभाविक गुण है। यदि ऐसा न मानें तो (नारिकेल जल का माधुर्य, नारिकेल का गुण नही, अपितु वह जल का ही स्वाभाविक गुण है—ऐसा माने तो) नीबू के रस मे जो अम्लरस (खट्टापन) है,

देता है। इस कथन को नैयायिको की भाषा मे इस प्रकार कह सकते ह— मुक्तावली मे पथ्वीत्वजाति को 'नीलजनकतावच्छेदक' कहा ह। 'नीलजनकता' का अथ है—'नीलनिष्ठजन्यतानिरूपितजनकता' यह न्याय की भाषा है। एवच— नीलरूपनिष्ठा या जन्यता (कायता), तादृशजन्यतानिरूपिता या जनकता, अर्थात पथ्वीनिष्ठा समवायिकारणता, तदवच्छेदकम्पथ्वीत्व अर्थात् जातिरूपो धम, तस्य अभावात जले नीलरूपस्य असम्भव एव। अत 'नीलरूपवत्त्वम्' इति लक्षण जलस्य कथ भवितुमहति। कथन्तर्हि जले नीलत्वप्रतीति ? तत्रोच्यते-'स्वसम वायिसयुक्तत्वसम्बन्धेन पार्थिवरूप जले प्रतीयते तथाच—समवायेन नीलरूपाऽभाव वति जले 'समवायेन नीलरूपवज्जलम' इति कथनन्तु सिकताचवणमिवेति विज्ञेयम।

अथ जले माधुर्ये किं मानम् ? न हि प्रत्यक्षेण कोऽपि रसस्तत्रा-नुभूयते। न च नारिकेलजलादौ माधुर्यमुपलभ्यत एवेति वाच्य, तस्या-श्रयौपाधिकत्वात्। अन्यथा जम्बीररसादावम्लाद्युपलब्धेरम्लादिमत्त्व मपि स्यादिति चेत् ?

शका— जल में मधुर रस ह'—यह पीछे बता चुके है, परन्तु मधुर-रस में कोई प्रमाण तथा अनुभव नही है, क्योकि पीनेवालो को 'इस जल मे यह रस है'- ऐसा अनुभव नही होता। अर्थात जल मे किसी भी रस का अनुभव नही होता।

यदि कहे कि नारिकेल (नारियल) के पानी (दूध) मे तो मधुर-रस का अनुभव सभी को होता है तो उसका उत्तर यह हो सकता है कि—

समा०—नारियल के जल मे अनुभूयमान जो मधुररस है, वह आश्रय के कारण (आश्रयोपाधिक) है। अर्थात उस जल का आश्रय जो नारियलरूप पृथ्वी, उसके सम्बन्ध से है। अत नारिकेल के जल में जो माधुय ह, वह आश्रयोपाधिक है, स्वाभाविक नही।

आक्षेप०—यदि ऐसा न मानें तो (नारिकेलजल का माधुय, नारिकेल का गुण नही, अपितु वह जला का ही स्वाभाविक गुण है—ऐसा मानें तो) नीबू के रस मे जो अम्लरस (खट्टापन) है, वह उस रसरूपी जल का स्वाभाविक गुण है- यह भी मानना होगा।

न, हरीतक्यादिभक्षणस्य जलरसव्यञ्जकत्वात्। न च हरीतक्या

वह उस रसरूपी जल का स्वाभाविक गुण ह—यह भी मानना होगा। अत मधुरता, जल का स्वाभाविक गुण नही ह बल्कि मधुरता, अम्लता आदि पथ्वी (नारिकेल, नीबू आदि) का ही गुण ह, यह कहना होगा।

मेव जलोष्मसयोगाद्रसान्तरोत्पत्तिरिति वाच्य, कल्पनागौरवात्। पृथिवीत्वस्याम्लादिजनकतावच्छेदकत्वाच्च जले नाम्लादिकम्। जम्बीर-रसादौ त्वाश्रयौपाधिकी तथा प्रतीति ।

समा०—हर (हड) तथा आवला खाने पर जिह्वा से जो पानी छूटता है, अथवा हड तथा आवले खाकर ऊपर से जो पानी पिया जाता ह, उसमे मधुर रस उपलब्ध होता है। इस कारण वह मधुर-रस जल का स्वाभाविक गुण है, यह कल्पना की जाती है। हरीतकी भक्षण जल के मधुर-रस का व्यजक है।

प्रश्न—यदि कोई यह कल्पना करे कि आँवला या हरीतकी खाने के अनन्तर उसके पानी से जिह्वा की उष्णता (भाँप) का सम्बन्ध (सयोग) होने पर एक प्रकार का जो मधुर रस उत्पन्न होता ह वह आवले से ही उत्पन्न होता है। अर्थात आँवला या हरितकी मे ही जल तथा गरमी के सयोग से दूसरा रस उत्पन्न होता है।

उत्तर—किन्तु ऐसी कल्पना करने में बडा गौरव होगा। अर्थात फलादिरूप पथ्वी मे जहाँ पर पूवरस का नाश होने पर अन्य रस की उत्पत्ति, देखी जाती है वहा विलक्षण तेज सयोग (पाकविशेष) ही कारण होता है।[1]

यदि हरीतकी (हड) के उदाहरण के अनुरोध से जल के सयोग को भी पृथ्वी के रस का उत्पादक माना जाय तो वह एक अन्य प्रकार का ही काय कारणभाव माना जायगा और कल्पना गौरव होगा। अर्थात तेज सयोग को तो पार्थिवरस का व्यजक माना ही है, और एक उसी के समान जल सयोग को भी यदि माना जाय तो प्रतिवादी के पक्ष मे दो काय कारणभावो की कल्पना करनी होगी, तब गौरव होगा। इस कारण यह कल्पना करना उचित नही है। अम्ल आदि षड रस पृथ्वी मे ही उत्पन्न होते है, यह सव प्रसिद्ध है। अत उन रसो के प्रति पथ्वी ही कारण है, ऐसा काय कारणभाव मानना योग्य ह। अर्थात हमारे (सिद्धान्ती के) पक्ष में हरीतकी जल गत मधुररस का केवल व्यजिका ही है, अत गौरव नही ह। मधुरता, जल का स्वाभाविक गुण नही बल्कि मधुरता अम्लता आदि पृथिवी (नारिकेल, नीबू आदि) के ही गुण ह। इस आक्षेप का समाधान ग्रन्थकार स्वय दे रहे है।

---

१ अग्नि के सयोग से घट या आम्रादिरूप पृथ्वी मे नाना प्रकार के रस उत्पन्न होते है। उसी प्रकार जल से अग्नि का सयोग होने पर जल से पथ्वी में रस की उत्पत्ति होती है—ऐसा मानने मे तथा आँवले मे मधुर रस की कल्पना करने में गौरव है।

शंका—जल मे मधुर रस भले ही रहे, किन्तु जम्बीर रस मे प्रत्यक्ष अनुभूयमान अम्लरस का अपलाप कैसे कर सक्ते है ?

समा०—अम्ल आदि रस का जनकतावच्छेदक जो पृथ्वीत्व, वह जल में नही है, इस कारण जल में अम्ल आदि रस नही है। इसी को न्याय की भाषा में—अम्लादिरसनिष्ठा या जन्यता, तादृशजन्यतानिरूपिता या जनकता पृथ्वीनिष्ठा, तदवच्छेदकम्पृथ्वीत्वम, पृथिव्यामेव, न तु जले इति जले नाम्लादि स्वीकार। अर्थात पृथ्वीत्वसमानाधिकरणक एव अम्लादिरस, न तु जलत्वसमानाधिकरणक। जम्बीर (नीबू) के रस आदि मे तो आश्रय के कारण अम्लादि की प्रतीति होती है अर्थात 'स्वसमवायिसंयोग' सबन्ध से अम्लादि की प्रतीति होती है। अत वह औपाधिकी है। अर्थात पृथ्वीगत अम्लरस का जल में जो अनुभव है, उसे औपाधिक ही समझना चाहिये।[1]

●एव जन्यशीतस्पर्शजनकतावच्छेदक जन्यजलत्व तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदक तु जलत्व बोध्यम्। घृष्टचन्दनादौ तु शैत्योपलब्धिश्चन्दनान्तर्वर्तिशीततरसलिलस्यैव। तेज सयोगाज्जले उष्णप्रतीतिरौपाधिकी स्फुटैव, तत्र पाकासम्भवात्।

● इसी प्रकार जन्यजल मे जन्यशीतस्पर्शनिष्ठ-जन्यतानिरूपित जनकता की अवच्छेदक 'जलत्व' जाति सिद्ध होती है। और जन्यजलनिष्ठ जन्यतानिरूपित जनकता की अवच्छेदक 'शुद्धजलत्व' जाति सिद्ध होती है।

तात्पर्य यह है कि जल में शीतस्पर्श है, इसी कारण 'जलत्व' जाति सिद्ध होती है। यह कार्य कारणभाव माना गया है कि 'अनित्य स्पर्श के प्रति अनित्य जल कारण है। इसी कार्य कारणभाव सम्बन्ध से अनित्य जलत्वजाति सिद्ध होकर, तत पश्चात 'अनित्य जल के प्रति जलमात्र (नित्य और अनित्य) कारण है'—वह कार्य कारणभाव माना है। इस कार्य-कारणभाव के सम्बन्ध से सिद्ध होनेवाली ही—अर्थात् कारण के भेद का दर्शक जो धर्म, वही—'जलत्व' जाति है। तात्पर्य यह है कि जन्यशीतस्पर्शजनकतावच्छेदकतया जन्यजलत्व जाति की

१ जल में नीबू के सम्बन्ध से जो खट्टापन है वह खट्टापन उस नीबू का ही स्वाभाविक गुण है, क्योकि वह नीबू पृथ्वी का ही विकार है। अम्लता (खट्टापन) भी पृथ्वी का ही गुण है। इसकारण नीबू के रस में नीबू का ही खट्टापन भासता है। वह खट्टापन जल का गुण नही है।

सिद्धि, और जन्यजलत्वावच्छिन्नजनकतावच्छेदकतया जलत्व जाति की सिद्धि की जाती ह। अब घिसे हुए चन्दन मे जो शीतल स्पश है, वह उस चन्दन से सयुक्त हुए जल का ही गुण है अर्थात च दन मे वह शीतलस्पश जल के द्वारा भासता ह। उसी प्रकार जल मे जो उष्णता भासित होती है वह तेज का गुण है। तेज के सम्बन्ध से ही जल में उष्णता भासित होती ह, क्योंकि जल मे पाक नही होता, अत पाक के कारण जल मे उष्णता का होना सम्भव नही है। तेज के परमाणु जल के भीतर आने से जल में उष्णता प्रतीत होती है। अर्थात तेज सयोगरूप उपाधि से जल में उष्णत्व की प्रतीति होती है। अत शीतस्पश जल का गुण है, यह सिद्ध होता है।

स्नेहस्तत्रेति। घृतादावपि तदन्तर्वर्तिजलस्यैव स्नेह, जलस्य स्नेहसमवायिकारणत्वात्। तेन जल एव स्नेह इति मन्तव्यम्।

द्रवत्वमिति। सासिद्धिकद्रवत्वत्व जातिविशेष प्रत्यक्षसिद्ध। तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदकमपि तदेवेतिभाव। तैलादावपि जलस्य द्रवत्व स्नेहप्रकर्षेण च दहनानुकूल्यमिति वक्ष्यति ॥ ३९ ॥

इति जलनिरूपणे जललक्षणकथनम्।

• स्नेहस्तत्रेति। जल में स्नेह गुण अर्थात चिक्नापन है, तथा द्रवता है, कि तु उस द्रवता को स्वाभाविक समझना चाहिये। एवच जल में शुक्लरूप, मधुररस, शीतलस्पश, स्नेह और द्रवत्व ये सब समवाय सम्बन्ध से रहते है। अत अभास्वरशुक्लमात्ररूपवत्त्व, मधुरमात्ररसवत्त्व, शीतमात्रस्पशवत्त्व, स्नेह-वत्त्व सासिद्धिकद्रवत्ववत्त्व—ये सब जल के लक्षण हुए। स्नेह (चिकनापन) जल में ही रहता है। घृत आदि कितने ही जो स्निग्ध द्रव्य है, वे सब पृथ्वी के ही भाग हैं। उनमें जो स्नेह है वह तो उस द्रव्य में मिला हुआ जा जल का भाग ह, उसी का गुण है, क्योंकि स्नेह का समवायिकारण जल है, अत जल में ही स्नेह है, यह स्वीकार करना चाहिये। इस समवायिकारणता की अवच्छेदक (भेददर्शक) जलत्व जाति है। वह घृत आदि में न रहकर भी उसमें जल के सयोग से स्नेह रहता ही है। अत स्नेह, जल का ही गुण है, यह सिद्ध होता है।

द्रवत्वगुण सासिद्धिक तथा नैमित्तिक भेद से दो प्रकार का है। उनमे से सासिद्धिक (स्वाभाविक) द्रवत्व, जल में रहता है, यह सभी का प्रत्यक्ष अनुभव है। यह सासिद्धिक द्रवत्व जातिविशेष है। तथा सासिद्धिकद्रवत्वावच्छिन्नजन्यतानिरुपितजनकतावच्छेदक भी जलत्व ही है। इस द्रवत्व के प्रति जल ही कारण

है। इस कारणता के सम्बन्ध से अनित्य जलत्व जाति पहले सिद्ध हो चुकी है। तत पश्चात् उस अनित्य जल के प्रति समस्त जल कारण है—यह काय कारणभाव स्वीकार किया गया है। अब तेल, दूध आदि कितने ही पथ्वीभागो म जो सामिद्धिक द्रवत्व है, वह तेल आदि पदार्थों में जल का भाग मिश्रित होने से उस जल का द्रवत्व, तेल आदि पृथ्वीभागो में परम्परा सम्बन्ध (स्वसमवायिसयुक्तत्व सम्बन्ध) से भासित होता है।

शका -तेल आदि मे जो जल का भाग मिलता है, वह (जल) अग्नि की ज्वाला के प्रतिकूल ह। अर्थात जल मिश्रित तेल दीपक के जलने मे प्रतिकूल ही है, अनुकूल नही ह तब दीपक कैसे जलता है ?

समाधान—'स्नेह' प्रकृष्ट तथा अप्रकृष्ट दो प्रकार का होता है। उन दोनो मे से जो प्रकृष्ट स्नेह है वह ज्वाला के प्रति (जलने मे) अनुकूल होता है। और जो अपकृष्ट स्नेह है, बह ज्वाला के प्रति प्रतिकूल होता है (जलना नही है)। इस विषय मे सविस्तर निरुपण-स्नेह निरूपण के अवसर पर किया जायेगा ॥३९॥

इति जलनिरूपणे जललक्षणकथनम।

❀ नित्यतादि प्रथमवत्किन्तु देहमयोनिजम्।
इन्द्रियं रसनं सिन्धुहिमादिर्विषयो मतः ॥४०॥

● नित्यतादि प्रथमवत्=प्रथम बताई हुई पथ्वी की तरह जल की नित्यता, अनित्यता आदि समझनी चाहिये। अर्थात 'नित्याऽनित्या च सा द्वेधा नित्या स्यादणुलक्षणा। अनित्या तु तदन्या स्यात सैवावयवयोगिनी ॥' इत्यादिवत जल की भी नित्यता, अनित्यता आदि समझनी चाहिये। प्रथमस्य इव प्रथमवत—यहा पर 'तत्र तस्येव' (५।१।११६) सूत्र के द्वारा षष्ठयन्त से 'वति' प्रत्यय किया गया है। किंतु तीन प्रकार की अनित्य पथ्वी मे योनिज व अयोनिज दो प्रकार के देह बताये थे, उसकी अपेक्षया इस जलीय देह मे असमानता विशेष) ह। अर्थात् जलीय देह अयोनिज है। जलीय इन्द्रिय को 'रसना' अर्थात जिह्वा नाम दिया गया है। जलीयविषय समुद्र, हिम, नदी आदि है।

☙प्रथमवदिति। पृथिव्या इवेत्यर्थ। तथा हि, जल द्विविध-नित्य-मनित्य च। परमाणुरूप नित्य, द्व्यणुकादिक सर्वमनित्यमवयवसम वेत च। अनित्यमपि त्रिविध-शरीरेन्द्रियविषयभेदात्।

पृथिवीतो यो विशेषस्तमाह—किन्त्विति। देहमयोनिजम्, अयो-

निजमेवेत्यर्थ । जलीय शरीरमयोनिज वरुणलोके प्रसिद्धम् ।

इति जलीयशरीरनिरूणम ।

इन्द्रियमिति । जलीयमित्यर्थ । तथाहि,

● मुक्तावलीकार ने 'प्रथमवत्' पद का अथ बताया है—'पृथिव्या इव' पथ्वी के तुल्य । उसी को स्वय स्पष्ट करते है—'तथाहीति' । नि॰य और अनित्य भेद से 'जल' दो प्रकार का है । नित्य' उसे कहते ह, जो ध्वस से भिन्न हो एव ध्वस का प्रतियोगी न हो, अर्थात ध्वस भिन्नत्वे सति ध्वमाऽ प्रतियोगित्व—नित्यत्वम' । 'ध्वस' में अतिव्याप्तिवारण के लिये 'सत्यन्त' पद दिया है । 'घटादि' मे अतिव्याप्तिवारण के लिये 'विशेष्यदल' दिया गया ह । नित्यजल तथा अनित्यजल का नामत परिचय कराते है—नि॰यजल 'परमाणु-रूप' होता ह, और अनित्यजल द्व्यणुक, त्रसरेणु आदि स्थूल महाभूतरूप होता है । उसी को अवयविरूप जल समझना चाहिये, क्योकि वह अपने अवयवो मे समवाय सम्बन्ध से रहता है । अर्थात बौद्धो के कथनानुसार वह (जल) परमाणुपुञ्जरूप नही है । वही अनित्य जल पुन तीन प्रकार का है—शरीरात्मक, इन्द्रियात्मक और विषयात्मक । तीन प्रकार की पथ्वी मे जो योनिज और अयोनिज भेद से दो प्रकार का देह बताया था, उसकी अपेक्षया प्रस्तुत जलीय शरीर में कुछ विशेष अर्थात असमानता बता रहे है—जलीय शरीर (देह) केवल 'अयोनिज' ही होता है, अर्थात जलीय शरीर कभी योनिज नही होता । इस जलीय शरीर मे 'जल' उपादान कारण है और पथ्वी आदि निमित्त कारण होते है, अर्थात जलतत्त्व की मुख्यता (प्रधानता) होने से जलीय शरीर[1] कहते है । ऊपर वर्णित जलीय शरीर 'वरुण लोक में प्रसिद्ध है । स्वल्प जल में दुर्बीन के द्वारा देखने पर कीटाणु, जो अत्यन्त कोमल तथा छोटे बडे होते हुए दिखलाई पडते है । तालावो, नदियो में उनसे बडे और समुद्र में

१ जलीय शरीर का लक्षण—'शीतस्पर्शसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमच्छरीर जलीय शरीरम ।' जलीय इन्द्रिय तथा विषय में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'शरीर' पद दिया है ।

शका—जलीय शरीर में मुख, दात आदि अवयवो की सम्भावना नही हो सकती, और अवयवो के बिना आहार, विहार आदि नही हो सकते, और आहार, विहार के बिना भोगायतनत्व नही बन सकता और उसके बिना शरीरत्व का होना भी सभव नही ।

उनसे भी बडे इन सबके शरीरो में जल की ही प्रधानता रहती है। उसी तरह जल की देवता भी जलीय शरीरवाली होती है। मत्स्य आदि जन्तु पार्थिव है, जलीय नही। जल के भीतर वे उत्पन्न मात्र होते है। मनुष्य जीवन में श्वास की तरह उनके जीवित रहने मे 'जल' असाधारण सहकारि कारण रहता है।

इति जलीय-शरीर निरूपणम।

इन्द्रियमिति। जलीयमित्यर्थं। तथाहि, रसन जलीय गन्धाद्यव्यञ्जकत्वे सति रसव्यञ्जकत्वात् सक्तुरसाभिव्यञ्जकोदकवत्। रसनेन्द्रियसन्निकर्षे व्यभिचारवारणाय द्रव्यत्व देयम्।

इति जलीयेन्द्रियनिरूपणम्।

● अनित्य जल का इन्द्रिय-सज्ञक जो भाग है, वह रसनेन्द्रिय (जिह्वा) है। इसमे अनुमान[1] प्रमाण है—तथाहि—जिस द्रव्य मे रूप, गन्ध तथा स्पर्श के

समा०—वरुणलोकस्थित जलीय-शरीर में पृथ्वी आदि भूतो का भी भाग मिला रहता है। इस कारण मुख, दात आदि तथा आहार विहार और भोगायतनत्व के बनने से शरीरत्व भी सभव है। सभी भूतो के मिश्रित रहने पर भी जलतत्त्व की प्रधानता रहने से ही उसे 'जलीय शरीर' कहा जाता है। जल की अधिष्ठात्री देवता को 'वरुण' कहते है। इसमें प्रमाण है, ऋग्वेद का मन्त्र—'वरुण प्राविता भुवन्मित्रो विश्वाभिरूतिभि। करता न सुधारस'—(ऋ. म १।६।२४)

१ जलीय इन्द्रिय का लक्षण—'शीतस्पर्शसमानाधिकरणद्रव्यत्वजातिमदिन्द्रिय जलीयेन्द्रियम्।' जलीय इन्द्रिय के होने में अनुमान इस प्रकार होगा—'रसन (जिह्वास्थमिन्द्रियम) जलीय गन्धाद्यव्यञ्जकत्वे सति रस व्यञ्जकत्वात् सक्तुरसाभिव्यञ्जकोदकवत।'—रसनेन्द्रिय जलीय होने योग्य है, क्योकि गन्धआदि गुणो की व्यञ्जक न होकर रसगुण की व्यञ्जक होती है। जो (जो) द्रव्य गन्धादि गुणो का व्यजक न होकर रसगुण का व्यजक होता है, वह (वह) द्रव्य जलीय होता है। जैसे—जल, सक्तु के गन्ध आदि गुण का व्यञ्जक न होकर सक्तु के केवल रस का व्यञ्जक होता है, इस कारण उसमें (जल में) जलीयत्व प्रसिद्ध है। उसी प्रकार रसनेन्द्रिय भी अन्न आदि पदार्थों के गन्ध आदि का व्यञ्जक न होकर केवल रस का ही व्यञ्जक होता है, उस कारण रसनेन्द्रिय में जलीयत्व भी स्पष्ट हो जाता है। इस अनुमान मे 'गन्धाद्यव्यञ्जकत्वे सति' यह पद न दें तो 'मन' में व्यभिचार होगा। क्योंकि मन के बिना किसी वस्तु का ज्ञान नही होता। अतः 'मन' को भी रस का व्यञ्जक कहना होगा, परन्तु उसमें (मन में) जलीयत्व' रूप

ज्ञान पैदा कर देने की शक्ति नही है, किन्तु केवल रस के ही ज्ञान को उत्पन्न कर देने की शक्ति है, उस कारण उस (सक्तु में मिले हुए जल की तरह) जल भाग की रसनेन्द्रिय मे पूर्वोक्त शक्ति है। इस हेतु से वह 'इन्द्रिय' जल का भाग है, ऐसी कल्पना की जाती है। रसनेन्द्रिय का आम्रफल आदि के साथ जो सन्निकष (सयोग) है उसमे पूर्वोक्त शक्ति तो है, परन्तु वह जल का भाग नही है, इसलिये पूर्वोक्त नियम का व्यभिचार होता है। वह व्यभिचार न होने पाय इसलिये लक्षण मे 'द्रव्य' पद दिया गया है। 'वह सन्निकष' द्रव्य नही है अपितु गुण है। अत पूर्वोक्त व्यभिचार नही होने पाता।

इति जलीयेन्द्रियनिरूपणम्।

● विषय दर्शयति सिन्धुहिमादिरिति। सिन्धु समुद्र। हिम तुषार। आदिपदात्सरित्कासारकरकादि सर्वोऽपि ग्राह्य। न च हिमकरकयो कठिनत्वात्पार्थिवत्वमिति वाच्यम्, ऊष्मणा विलीनस्य तस्य जलत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्। यद् द्रव्य यद्द्रव्यध्वसजन्यमि'ति व्याप्तेर्जलोपादानोपादेयत्वसिद्धे अदृष्टविशेषेण वा द्रवत्वप्रतिरोधात्। करकादीना काठिन्य प्रत्ययस्य भ्रान्तित्वात्॥ ४० ॥

इति जलीयविषयनिरूपणम। इति जलग्रन्थ।

● अब अनित्य जल का विषय सज्ञक तीसरा भाग दिखाते हैं। समुद्र, हिम (बर्फ) करक (ओला), सरोवर, कूप तथा नदी आदि सब जल का विषयरूपी भाग है।

शका—हिम (तुषार) तथा करक ये कठिन द्रव्य है, अत इन्हे पृथ्वी का भाग क्यो न कहा जाय?

समा॰—सूर्यकिरणो की उष्णता से हिम और करक पिघलकर जलरूप हो

साध्य नही है, अत 'रसव्यञ्जकत्व' हेतु को व्यभिचारी कहना पडेगा। उक्त व्यभिचार के निवारणाथ 'गन्धाद्यव्यञ्जकत्वे सति' पद दिया गया है। तब 'मन' में गन्धादिको की अव्यञ्जकता न होने मे व्यभिचार नही है। कम, सामान्य आदि पदार्थ, गन्ध आदि के तो अव्यञ्जक है परन्तु उन पदार्थो में 'जलीयत्व' रूप साध्य नही रहता। इस व्यभिचार के निवारणार्थ 'रसव्यञ्जकत्वात' पद दिया है। कर्मादिको में रसव्यञ्जकता न होने से व्यभिचार दूर हुआ। रसनेन्द्रिय का रस के साथ 'स्वसयुक्तसमवाय' रूप सन्निकष भी गन्ध आदि का अव्यजक होकर रस मात्र का व्यजक है किन्तु इस सन्निकष मे 'जलीयत्व' रूप साध्य नही है। इस व्यभिचार के निवारणाथ द्रव्यत्वे सति' यह पद दिया गया है। सन्निकष तो गुण है, द्रव्य नही, अत कोई दोष नही है।

जाते है, यह सभी के दष्टिगोचर है। अर्थात हिम करक का स्वरूप नष्ट हो जाने पर 'हिम करके जलम' हिम और करका जलरूप ह—इस प्रकार की चक्षु प्रत्यक्ष-प्रमाणजन्य जो प्रमा, तद्विषयतावच्छेदकता जलत्व में होने से हिम-करक को पथ्वी का भाग (पार्थिव) नही कह सकते, अपितु 'हिम करके जलमेव' उन्हे (हिम-करक को) जल का ही भाग (जलीय ही) कहना होगा। क्योकि यह व्याप्ति (नियम) है कि 'जो द्रव्य, जिस द्रव्य के ध्वस से जन्य होता है, वह द्रव्य, उस द्रव्य के उपादान से उपादेय होता है' अर्थात 'यज्जलरूप द्रव्य यतो हिम करकादिद्रव्यस्य ध्वसात् जन्य भवति, तज्जलरूप द्रव्य, हिम कारकादि द्रव्यस्य उपादानरूपेणैव उपादेय भवति'। इस व्याप्ति के बल पर हिम करका भी जल के उपादान कारण भूत जलीय परमाणु के ही काय है। अत उनमे जलीयत्व[1] प्रत्यक्ष सिद्ध है।

शका—हिम-करक यदि जल के भाग है तो उनके सासिद्धिकद्रवत्व का अनुभव क्यो नही होता ?

समा॰—जिस किसी प्राणी के उपभोगाथ हिम-करका उत्पन्न हुई, उस प्राणी के अदृष्ट विशेष से उसका (हिम करका का) अपना सासिद्धिक (स्वाभाविक) द्रवत्व (द्रवता) भी अवरुद्ध हो जाता है, अत उसका (स्वभाविक द्रवता का)

---

१ जलीयविषय का लक्षण—'शीतस्पशसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्य-जातिमदविषय जलीयविषय।

शका—अग्नि आदि तेज के सयोग से जो 'द्रवत्व' होता है, वह नैमित्तिक द्रवत्व ह। जैसे—घत, जतु (लाख) आदि में। उसी तरह हिम-करक आदि की द्रवता भी सूयरश्मिरूप निमित्त से हुआ करती है। अत हिम-करका आदि को पथ्वीरूप ही क्यों न माना जाय ?

समा॰—हिम करकादिरूप जल में यद्यपि प्रसिद्ध जल की तरह सासिद्धिक (स्वाभाविक) द्रवत्व नही दिखलाई पडता, क्योकि वह, जीवो के पुण्य पापरूप अदृष्ट विशेष से अवरुद्ध (दबासा) रहता है। तथापि हिम-करका आदि में घृत-जतु के तुल्य नैमित्तिक द्रवत्व नही है, किन्तु सासिद्धिक द्रवत्व ही है। इनमें कठिनता की प्रतीति, भ्रान्तिरूप है, प्रमारूप नही। 'भ्रान्तित्व नामान्यथाभावेन वस्त्ववगाहनत्वम'। कुछ लोगो का कहना है कि जल के साथ विलक्षण दिव्य तेज के सयोग से ही हिम-करकादिको की उत्पत्ति होती है। दिव्य तेज के प्रवेश के अनन्तर उन जलो का सासिद्धिक द्रवत्व नष्ट हो जाता है, पुन सूर्यादितेज की उष्णता के सयोग से उस दिव्य तेज का सयोग निवृत्त हो जाता है। तदनन्तर उन जलो में सासिद्धिक द्रवत्व की पुन उत्पत्ति होती है।

प्रत्यक्ष नही हो पाता। मणिमत्रादि न्याय से सासिद्धिक द्रवता को अवरुद्ध करने मे अदृष्ट को भी स्वतन्त्र कारण समझना चाहिये।

शका—हिम-करका यदि पार्थिव नही है तो उनमें कठिनता क्यो है ?

समा॰—ऊपर कहा गया है कि अदष्ट के कारण उसकी द्रवता दब जाती है, अत उसमे कठिनता की प्रतीति होती है। अर्थात् 'हिम करका' कठोर (कठिन) है—इस प्रकारसे कठिनत्वाख्यसयोगप्रकारक प्रत्यय जो होता है, उसकी उपपत्ति तो पार्थिवद्वयणुकादि का सम्बध रहने के कारण 'स्वसमवायिसयुक्तत्व' सम्बन्ध से हो जाती है। 'समवायेन' कठिनत्व के न रहने पर भी उनमे (हिम कारका में) 'समवायेन हिम करकादि कठिनम्'—हिम-करका मे 'कठिनता' समवाय सम्बन्ध से रहती है, यह समझना अर्थात कठिनत्वप्रकारक प्रतीति का उनमे होना केवल भ्रम है। वास्तविक कठिनता उनमें नही है। वास्तविक द्रवत्व ही उनमें है। हिम आदि में पार्थिव भाग बहुत अल्प और जलतत्त्व का भाग अधिक ह। अत हिम-करकादि पार्थिव न होकर जलीय ही है ॥ ४० ॥

॥ इति जलीयविषयनिरूपणम् ॥ इति जलग्रन्थ ॥

इति जलनिरूपणम्।

उष्णः स्पर्शस्तेजसस्तु स्याद्रूपं शुक्लभास्वरम्।
नैमित्तिकं द्रवत्वं तु नित्यतादि च पूर्ववत् ॥ ४१ ॥

तेज का स्पर्श उष्ण होता है, उसका रूप भास्वर शुक्ल होता है, और द्रवत्व नैमित्तक होता है। ये सभी उसमे (तेज मे) समवाय से रहते है। तेज का नित्यत्व अनित्यत्व आदि अवान्तरभाग पूर्व की तरह (जल की तरह) समझना चाहिये।

तेजो निरूपयति। उष्णस्पर्श इत्यादिना। उष्णत्व स्पर्शनिष्ठो जातिविशेष प्रत्यक्षसिद्ध इत्थ च जन्योष्णस्पर्शसमवायिकारण-तावच्छेदक तेजस्त्व जातिविशेष। तस्य परमाणुवृत्तित्व तु जलत्व-स्येवानुसन्धेयम्।

न चोष्णस्पर्शवत्त्व चन्द्रकिरणादावव्याप्तमिति वाच्य, तत्राप्युष्ण-त्वस्य सत्त्वात्। किन्तु तदन्त पातिजलस्पर्शेनाभिभवादग्रह। एव रत्नकिरणादौ पार्थिवस्पर्शेनाभिभवाच्चक्षुरादौ चानुद्भूतत्वादग्रह।

● अब यथावसर तेज का निरूपण करते है—'उष्ण स्पश ' इत्यादिग्रन्थ से। अर्थात— तेजोनिष्ठविषयतानिरूपक लक्षणस्वरूपप्रामाण्यादिप्रकारक यज ज्ञान तदनुकूलव्यापारानुकूलकृतिमान ग्रथकार ' यह 'तेजो निरूपयति' का शब्दबोध होगा। जिसका स्पश उष्ण है, उसी का नाम तेज है। उष्णस्पश, तेज मे ही रहता है, अर्थात 'समवायेन उष्णस्पर्शवत्त्व' यह तेज का लक्षण[1] समझना चाहिये। स्पश में रहनेवाली 'उष्णत्वजाति' (उष्णत्व) त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष सिद्ध होती है। अर्थात् त्वाचप्रत्यक्षवेद्य है, क्याकि 'येनेन्द्रियेण यद गृह्यते, तेनैवेन्द्रियेण तन्निष्ठा जातिस्तदभावश्च गृह्येते'—इस न्याय से जबकि त्वगिन्द्रिय से उष्णस्पश का ज्ञान होता है, तो उसी इन्द्रिय से तन्निष्ठ उष्णत्वजाति का भी ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण से उष्णत्वजाति की सिद्धि होने पर 'कालिक और समवाय, एतदुभयसम्बन्ध से उष्णत्वजाति विशिष्ट जो अनित्य (जन्य) उष्णस्पश,

---

१ तेज का लक्षण—'उष्णस्पशसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत तेज '। उष्णस्पश समवाय सम्बन्ध से अग्नि, सूय आदि के तेज मे है। तथा 'तेजस्त्व' जाति भी समवाय सम्बन्ध से तेज में ही है। गुण तथा कम मे अतिव्याप्ति के वारणाथ 'जाति' में 'द्रव्यत्वव्याप्य' यह विशेषण जोड दिया ह। आत्मत्वजाति तथा मनस्त्वजाति भी द्रव्यत्वजाति की व्याप्य जाति है। इसलिये 'जाति' में दूसरा विशेषण 'स्पशसमानाधिकरण' भी दिया गया है। उसके देने से अतिव्याप्ति नही हो पाती, क्योकि 'आत्मत्व तथा मनस्त्व जाति' स्पर्श की समानाधिकरण नही है। पुनरपि यदि 'स्पश' में 'उष्ण' विशेषण न दें तो पथिवी आदि में अतिव्याप्ति होगी। किन्तु 'उष्ण' विशेषण के देने से अतिव्याप्ति नही हो पाती। अपिच— द्रव्यत्वजाति तथा सत्ताजाति, द्रव्यत्वजाति की व्याप्य नही है, इस कारण इन दोनो जातियो को लेकर तेज के लक्षण की पथिवी आदि में अतिव्याप्ति नही हो पाती। यद्यपि अग्नि, सूय आदि में 'इद तेज , इद तेज '—यह तेज यह तेज, इस प्रकार से तेजस्त्वजाति का प्रत्यक्ष होता रहता है, तथापि परमाणुरूप, अथवा चक्षुरिन्द्रियरूप अतीन्द्रिय तेज में तथा समस्त तेजो में अनुमान से ही तेजस्त्वजातिकी सिद्धि की जाती है। यथा—'तेजोनिष्ठा या उष्णस्पशसमवायिकारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात् तन्तुनिष्ठकारणतावत्'। तन्तुओ में स्थित पट की समवायिकारणता तन्तुत्व धर्म से अवच्छिन्न होती है, उसी तरह तेज में स्थित उष्णस्पश की समवायिकारणता तेजस्त्व धम से अवच्छिन्न है। अत तेजस्त्वजाति है, यह मानना होगा।

उसका समवायिकारण जो अनित्य तेज, तदवच्छेदक के रूप मे, जन्य 'तेजस्त्व' जाति की सिद्धि हो जाती है। तथाच **अनुमानप्रयोग** इस प्रकार होगा—'समवायसम्बन्धावच्छिन्न जन्योष्णस्पर्शत्वावच्छिन्न-जन्योष्णस्पर्शनिष्ठकार्यतानिरूपित-तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नजन्यतेजोनिष्ठा या कारणता, सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात्' —इस रीति से जन्यतेजस्त्व की सिद्धि करने के पश्चात नित्यतेजो वृत्ति **'तेजस्त्व'** की सिद्धि की जाती है। उसकी (परमाणुवृत्ति तेजस्त्व की) सिद्धि की रीति परमाणुवृत्ति जलत्व के तुल्य ही समझनी चाहिये। **तथाहि**—तेज के परमाणुओ में जन्य उष्णस्पर्श नही है, इस कारण जन्यस्पर्शनिष्ठ जन्यता-निरूपित-जनकता की अवच्छेदक, परमाणुसाधारण तेजस्त्वजाति की सिद्धि नही हो सकती, किन्तु जन्यस्पर्शनिष्ठ जन्यतानिरूपित जनकतावच्छेदकत्वरूप से जन्य तेजस्त्व जाति की सिद्धि कर लेनी चाहिये, पश्चात जन्यतेजस्त्वावच्छिन्न जन्यता-निरूपित जनकतावच्छेदकत्वरूप से शुद्धतेजस्त्वजाति की सिद्धि हो जाती है। तात्पर्य यह है कि अनित्य उष्णस्पर्श के प्रति अनित्य तेज द्व्यणुक आदि कारण हैं—ऐसा कार्य-कारणभाव पहले समझना और उसी कारणता के सम्बन्ध से अनित्य तेजस्त्व जाति की सिद्धि हो जाने के पश्चात अनित्य तेज के प्रति (नित्य तथा अनित्य) कारण हैं—ऐसा कार्य-कारणभाव समझना चाहिये। उस कारणता का अवच्छेदक (भेदक) जो धर्म है, वही 'तेजस्त्व' जाति है, यह सिद्ध होता है[1]।

शङ्का— समवायेन उष्णस्पर्शवत्त्व तेजसो लक्षणम्'—उष्णस्पर्श जिसमे हो वह तेज है—यह तेज का लक्षण पहले कह चुके हैं। चन्द्र-किरण तथा रत्न किरण, ये भी तेज है, किन्तु उनमे उष्णस्पर्श नही है। इसकारण उनमे तेज का लक्षण घटित न हो पाने से अव्याप्ति हो रही है।

१ जलत्व जाति की सिद्धि की तरह यहाँ भी प्रथमत जन्य उष्णस्पर्श का समवायिकारणता के अवच्छेदक रूप से द्व्यणुकादि जन्यतेजोवृत्ति तेजस्त्व जाति की सिद्धि कर लेनी चाहिये तदनन्तर जन्य तेजस्त्वजाति से अवच्छिन्न जन्य तेज की समवायिकारणता के अवच्छेदकरूप से नित्य तथा अनित्य सभी तेज मे 'तेजस्त्व जाति' की सिद्धि करनी चाहिये। यद्यपि सूर्यलोकस्थ तैजसशरीरादि अन्त्यावयवी तेज से तथा चक्षुरिन्द्रियरूप तेज से किसी भी जन्य तेज की उत्पत्ति नही होती, तथापि उसमे स्वरूपयोग्यतारूप-कारणता विद्यमान रहती है। अत सभी तेजो में 'तेजस्त्वजाति' की सिद्धि हो जाती है।

समा —चन्द्रकिरण मे उष्णस्पशवत्त्व (उष्णस्पश) है परन्तु चन्द्र के अन्तगत (भीतर) रहनेवाले जल के स्पश से वह उष्णस्पश) अभिभूत (दबा) रहता है, इसलिये वहाँ उष्णस्पश प्रतीत नही हो पाता। उसी प्रकार रत्नकिरण आदि मे भी पार्थिवस्पर्श से उसका उष्णस्पश अभिभूत रहता है, उसकारण वहा उष्णस्पश की प्रतीति नही हो पाती। तथा चक्षु आदि मे उष्णस्पश के उद्भूत न रहने के कारण (अनुद्भूत रहने से) उसकी प्रतीति नही हो पाती।[1]

रूपमित्यादि। वैश्वानरे मरकतकिरणादौ च पार्थिवरूपेणाभिभवाच्छुक्लरूपाग्रह।

अथ तद्रूपाग्रहे धर्मिणोऽपि चाक्षुषत्व न स्यादिति चेत्? न, अन्यदीयरूपेणापि (रूपेणैव) धर्मिणो ग्रहसम्भवात्, शङ्खस्येव पित्त पीतिम्ना। वह्निस्तु शुक्लरूप नाभिभूत, किन्तु तदीय शुक्लत्वमभिभूतमित्यन्ये।

नैमित्तिकमिति। सुवर्णादिरूपे तेजसि तत्सत्त्वात्। न च नैमित्तिकद्रवत्ववत्त्व दहनादावव्याप्त घृतादावतिव्याप्त चेति वाच्यम्। पृथिव्यवृत्ति नैमित्तकद्रवत्ववद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वस्यविवक्षितत्वात्।

इति तेजोनिरूपणे तेजोलक्षणकथनम्।

पूर्ववदिति। जलस्येवेत्यर्थ। तथाहि, तद्–द्विविध नित्यमनित्य च, नित्य परमाणुरूपम्। तदन्यदनित्यम्, अवयवि च। तच्च त्रिधा-

---

१ शका –जल, वायु, तथा पृथ्वी मे कभी कभी उष्णस्पश प्रतीत होता है। अत तेज के लक्षण उष्ण पशवत्त्व) की उक्त तीनो मे अतिव्याप्ति हो रही है। तथा चन्द्र, रत्न, सुवण और चक्षुरिन्द्रिय ये सब तैजस कहे जाते है, परन्तु इनमें उष्णस्पश प्रतीत नही होता, अत इनमे अव्याप्ति हो रही ह।

समा —तेज का उष्णस्पश ही 'स्वसमवायिसयोग' सम्बन्ध से जल आदि मे प्रतीत होता है। अत अतिव्याप्ति नही है। और चन्द्र आदि तैजस पदार्थो में उष्णस्पश है, परन्तु तदन्तर्वर्ति जल के मिश्रित शीतस्पश से वह अभिभूत हो गया है। तथा रत्न और सुवणरूप तेज मे भी पार्थिवभाग के मिश्रित होने से उष्णस्पश प्रतीत नही हो पाता। चक्षुरिन्द्रिय में उष्णस्पश अनुदभूत है, अत उसकी प्रतीति नही होती, इस कारण अव्याप्ति दोष भी नही है।

शरीरेन्द्रियविषयभेदात् । शरीरमयोनिजमेव, तच्च सूर्यलोकादौ प्रसिद्धम् ॥ ४१ ॥

इति तैजसशरीरनिरूपणम् ।

● **शका**—'भास्वर शुक्लरूप' यह तेज का गुण है, अत 'भास्वरशुक्लरूपवत्त्व' तेज का लक्षण है। क्योकि 'असाधारणधर्मो लक्षणम'—यह 'लक्षण' का लक्षण बताया गया है। अग्नि (वैश्वानर) तथा रत्न (मरकतमणि) आदि भी तेज है, किन्तु इनमे 'शुक्लरूप' नही रहता, इसलिये लक्षण, अव्याप्त हो रहा है।

समा०—वैश्वानर अग्नि तथा मरकतमणि (रत्न) के किरण मे भास्वर शुक्लरूप तो है, किन्तु उसकी उपलब्धि इस कारण नही हो पाती कि उनका (अग्नि मरकतकिरणका) पृथ्वी के भाग (पार्थिवभाग) से सम्बन्ध रहता है। अत अग्नि में पथ्वी के भाग का पीलापन तथा मरकतकिरण मे हरापन दिखलाई पडता है। क्योकि उनका (अग्नि मरकतकिरण का) अपना निजी शुक्लरूप, पार्थिव भाग से अभिभूत (दबा) रहता ह। अर्थात् अग्नि का शुक्लरूप, पृथ्वी के पीले रूप से ढका रहता है और मरकतकिरण का शुक्लरूप भी पथ्वी के हरे रूप से ढका रहता ह। इस कारण उनके शुक्लरूप की उपलब्धि नही होती।

शका—अग्नि मरकतमणि आदि का निजी रूप यदि चक्षुरिन्द्रिय से उपलब्ध नही होता, तो उस रूप के आश्रयभूत (धर्मी) अग्नि तथा मरकत (रत्न) किरण आदि का भी प्रत्यक्ष नही होना चाहिये था, क्योकि रूपवत द्रव्य आदि के चाक्षुष प्रत्यक्ष होने मे द्रव्य का रूप ही तो कारण रहता है। यहा पर उस रूप की तो उपलब्धि ही नही है तो उस रूप के आश्रयभूत अग्नि मरकत किरण आदि का प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ? अर्थात नही होना चाहिये।

समा—ऊपर बता चुके है कि अग्नि-रत्नकिरण आदि से पथिवी के भाग का सम्बन्ध रहने से, उस पृथिवी के ही रूपो की अग्नि रत्नकिरण आदि मे प्रतीति होती है, इस कारण अग्नि तथा रत्नकिरण आदि का प्रत्यक्ष होने मे कोई बाधा नही है। जैसे—पित्तरोग (पीलियारोग) होने पर मनुष्य को शङ्ख वस्तुत श्वेत रहने पर भी पीला दिखाई देता है। अर्थात पित्तरुपी दोष का जो पीला रङ्ग है, वह शङ्ख मे (मानो शङ्ख का ही गुण है) भासता है, इस कारण शख पीला दीखता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि एक द्रव्य का रुप, दूसरे **द्रव्य के प्रत्यक्ष होने मे कारण हो जाया करता है**। इस सम्बन्ध में कतिपय

विद्वानो का यह भी कहना है कि अग्नि का तथा रत्नकिरण का निजीरूप अर्थात शुक्लरूप पार्थिवभाग के सम्बन्ध से अभिभूत नही होता, किन्तु उस शुक्लरूप में स्थित जो 'शुक्लत्व' (श्वेतपना) है, वह पार्थिव भाग से प्रतिरुद्ध (दब) हो जाता है। तात्पय यह है कि अग्नि तथा रत्नकिरण का प्रत्यक्ष, उनके अपने निजीरूप से ही होता है।

नैमित्तिक (अस्वाभाविक) अर्थात अग्नि के सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाला द्रवत्व, सुवर्णादि तैजस द्रव्यो में रहता है, इसलिये नैमित्तिक द्रवत्ववत्त्व' भी तेज का लक्षण है।

शका—अग्नि आदि तैजस द्रव्यो में 'नमित्तिक द्रवत्व' नही रहता, अत अव्याप्ति है। और घन आदि पार्थिव द्रव्यो मे नमित्तिक द्रवत्व रहता है, अत अतिव्याप्ति है।

समा०— नैमित्तिकद्रवत्ववत्त्व' यह तेज का लक्षण है—इसका तात्पय यह है कि 'नैमित्तिकद्रवत्व जिसमे (सुवणादि तेज मे) रहता है उसमे रहनेवाली तथा पृथ्वी में न रहनेवाली जो जाति, तादशजाति जिसमे हो वही **'तेज'** है—यह तेज का परिष्कृत लक्षण है। एवच उक्त लक्षण लक्षित 'तेजस्त्व' जाति अग्नि-रत्न-किरण आदि में रहने से लक्षण–समन्वय हो जाता है। और घृत आदि पथ्वी (पार्थिवद्रव्य) में तेजस्त्व नही रहने से अतिव्याप्ति भी नही है।

इति तेजोनिरूपणे तेजोलक्षणकथनम।

तेज की नित्यता आदि पूव की (जल की) तरह समझनी चाहिये। तथाहि—तेज, नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार का है। उनमें परमाणुरूप तेज नित्य है और उससे भिन्न जो तेज है (द्वचणुकादि से महातेज तक) वह सब अवयवी रूप होने से अनित्य है। अनित्य तेज, शरीर, इन्द्रिय, विषय इन तीनो भेदो से तीन प्रकार का है। तजस-शरीर[1] अयोनिज ही है। वह सूयलोक, तारा, ग्रह, नक्षत्र आदि मे प्रसिद्ध है ॥४१॥

इति तैजसशरीरनिरूपणम।

---

[1] **तैजस शरीर का लक्षण**—'उष्णस्पशवत शरीर तैजसशरीरम'। जो शरीर 'समवाय सम्बन्ध' से उष्णस्पशवाला हो उसे तैजस शरीर कहते है। वह सूयलोक आदि मे सूयभगवान् आदि का ह। यद्यपि उत्पन्न होते ही विनष्ट होनेवाले तैजस शरीर मे तथा उत्पत्ति क्षणावच्छिन्न तैजस शरीर मे उष्णस्पश का

***इन्द्रियं नयनं, वह्निः स्वर्णादिर्विषयो मतः ।**

नयन (नेत्र) तैजस इन्द्रिय है और वह्नि (अग्नि) सुवर्ण आदि तेज के विषय है ।

● अत्र यो विशेषस्तमाह—इन्द्रियमिति । ननु चक्षुषस्तैजसत्वे किं मानमिति चेत्? चक्षुस्तैजसं परकीयस्पर्शाव्यञ्जकत्वे सति परकीयरूपव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवत्, प्रदीपस्य स्वीयस्पर्शव्यञ्जकत्वादत्र दृष्टान्तेऽव्याप्तिवारणाय प्रथमं परकीयेति । घटादेः स्वीयरूपव्यञ्जकत्वाद्व्यभिचारवारणाय द्वितीयं परकीयेति । अथवा प्रभाया दृष्टान्तत्वसम्भवादाद्यं परकीयेति न देयम् । चक्षुःसन्निकर्षे व्यभिचारवारणाय द्रव्यत्वं देयम् ।

इति तैजसेन्द्रियनिरूपणम् ।

● अत्रेति । तैजस इन्द्रिय और विषय में पार्थिव तथा जलीय इन्द्रिय और विषय की अपेक्षा क्या अन्तर है उसे बताते हैं—**इन्द्रियमिति** । अनित्य तेज का इन्द्रियसंज्ञक जो भेद है, वह 'चक्षु' है ।

शंका—चक्षुरिन्द्रिय के तैजस होने में क्या प्रमाण है ?

समा —चक्षुरिन्द्रिय के तैजस होने में '**अनुमान**' प्रमाण है ।

तथाहि—'चक्षुरिन्द्रियं तैजसं परकीयस्पर्शाव्यञ्जकत्वे सति परकीयरूपव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवत् ।'—चक्षुरिन्द्रिय तैजस होने योग्य है क्योंकि परकीय (दूसरे) द्रव्य के स्पर्श, रस तथा गन्धादि का व्यंजक न होकर परकीय (दूसरे) द्रव्य के रूप का व्यंजक होता है, प्रदीप की तरह । इससे यह नियम स्पष्ट होता है कि 'जो जो द्रव्य, परकीय स्पर्श आदि का व्यंजक न होकर परकीय रूप का व्यंजक होता है, वह वह द्रव्य, तैजस होता है' यह अनुभवसिद्ध नियम है । उक्त अनुमान में प्रदीप का दृष्टान्त दिया गया है । जैसे—**प्रदीप** तेज है । वह परकीय (घटादि अन्य द्रव्य का) स्पर्श, रस, गन्ध आदि गुणों का प्रदर्शक नहीं है, केवल परकीय (उस घट द्रव्य के) रूप का ही (रक्तत्व, शुक्लत्व आदि का ही)

अभाव होने से अव्याप्ति दोष की आशङ्का हो सकती है, क्योंकि 'उत्पन्नं सद् द्रव्यं निर्गुणं निष्क्रियञ्च तिष्ठति' ऐसा नियम है । तथापि जातिघटित लक्षण (उष्णस्पर्शसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत् शरीरं तैजसशरीरम्) कर देने से अव्याप्ति नहीं हो सकेगी ।

प्रदशक होता है। उस अनुमानप्रमाण से चक्षुरिन्द्रियरूप द्रव्य, परकीय द्रव्य के स्पश आदि का प्रदशक न होकर केवल उस परकीय रूप का प्रदशक होता है, अत वह (चक्षुरिन्द्रिय) तेज स्वरूप है—यह सिद्ध होता है। उपयुक्त अनुमान मे 'चक्षु' पक्ष ह, **'तेजस्त्व'**— साध्य है, **परकीयस्पर्शाद्यव्यञ्जकत्वे सति परकीयरूपव्यञ्जकत्वात्'**—यह हेतु है, प्रदीपवत्—यह दृष्टान्त है। निर्दिष्ट हेतु मे यदि **प्रथम 'परकीय' पद न दे** तो दिये गये 'दृष्टान्त' की असिद्धि होगी। क्योकि **'दृष्टान्त'** में साध्य और हेतु दोनो का सत्त्व आवश्यक होता है। दोनो मे से एक भी यदि दृष्टान्त मे न रहे तो उसे "दृष्टान्तासिद्धि" कहते है। उपयुक्त हेतु में प्रथम 'परकीय' पद न दें तो 'स्पर्शाद्यव्यजकत्वे परकीयरूप-व्यजकत्वात्' इतना ही हेतु का आकार रहेगा, तब वह हेतु, 'प्रदीप' दृष्टान्त मे उपलब्ध नही हो रहा है। क्योकि 'प्रदीप' स्वय भी उष्णता (स्पश) का प्रदशक होता है, इस कारण प्रदीपरूप दृष्टान्त मे 'स्पर्शाद्यव्यजकत्व —स्पश के अप्रदशकत्वरूप हेतु के न रहने से दृष्टान्त मे हेतु की असिद्धि (दोष) हो जायगी, वह न हो सके, इसलिये प्रथम 'परकीय' पद दिया गया है। उसके देने से 'प्रदीप' स्वतन्त्रता से (अपने आप स्वय) स्पश (उष्णस्पश) का प्रदशक होने पर भी, वह परकीय स्पश का प्रदशक नही होता। इस कारण दृष्टान्तासिद्धि दोष का प्रसग नही ह। **द्वितीय परकीय पद न दे** तो 'घट' अपने रूप का व्यजक होता है। इस कारण 'घट' मे व्यभिचार होगा। क्योकि 'घट' आदि पृथ्वीरूप है, वे स्वय अपने आप स्वतन्त्रता से शुक्ल, रक्त आदि रूपके प्रदशक है। अत घट आदि मे स्वकीयरूप का प्रदशकत्व अर्थात 'परकीयस्पर्शाद्यव्यजकत्वविशिष्ट —रूप व्यजकत्व' हेतु तो है, किन्तु **'तेजस्त्व'** रूपी साध्य नही है। इसलिये व्यभिचार दोष हो जाता है, क्योकि 'जहाँ हेतु तो रहे किन्तु साध्य न रहे' वहाँ व्यभिचार दोष माना जाता है। उस दोष का वारण करने के लिये यह 'परकीय' दूसरा पद दिया गया ह। उसके देने से 'घट' आदि परकीय रूप के प्रदशक (व्यजक) नही होते, अर्थात घट' मे 'हेतु' भी नही रहा। अब शरीरकृतलाघव की दृष्टि से पक्षान्तर कहते है—**'अथवा'** इति। प्रदीप को दृष्टान्त मे न देकर यदि प्रभा' को दृष्टात में रखा जाय तो प्रथम 'परकीय' पद न देने की आवश्यकता नही रहती। तब हेतु का आकार इतना ही रहेगा—'स्पर्शाद्यव्यजकत्वे सति परकीयरूपव्यज-कत्वात'। प्रभा, स्वस्पश को तथा परकीय स्पश को व्यक्त करने मे समथ नही है, अत हेतु का विशेषण उचित ही है। एवञ्च 'विशेषणासिद्धि' के निवारण

का क्लेश भी नही है। तथापि 'चक्षु सन्निकर्ष' मे व्यभिचार को हटाने के लिये हेतु' मे 'द्रव्यत्व' विशेषण देना आवश्यक है। यदि 'द्रव्य' पद न दें तो 'चक्षु रिन्द्रिय'[1] का घट के साथ जो सयोग सन्निकर्ष है, उस सयोगसन्निकर्ष मे 'तेजस्त्व' रूप साध्य नही ह किन्तु 'हेतु' है, क्योंकि सयोगसन्निकर्ष परकीय घट आदि के स्पर्श आदि का व्यजक (प्रदर्शक) नही है और वह 'तेज' न होने पर भी परकीय घट पटादि के रूप का व्यजक है, इसलिये व्यभिचार हो रहा है। 'द्रव्य' पद के देने पर सयोगसन्निकर्ष' मे 'द्रव्यत्व' नही है अर्थात सयोगसन्निकर्ष द्रव्यरूप नही है, किन्तु 'गुण' ह। अत नियमभगरूप व्यभिचार नही है।

इति तैजसेन्द्रियनिरूपणम ।

---

१ **तैजस इन्द्रिय का लक्षण**—'उष्णस्पर्शासमानाधिकरणद्रव्यैत्वव्याप्यजाति मदिन्द्रिय तैजसेन्द्रियम्।' इस तेजस्त्वजातिघटित लक्षण से चक्षुरिन्द्रिय की सिद्धि होती ह। यह चक्षुरिन्द्रिय, कृष्णतारा के अग्रभाग मे रहता ह, तथा रूपादिको को ग्रहण करता है।

चक्षुरिन्द्रिय मे तैजसत्व सिद्ध करने का अनुमान—'चक्षुरिन्द्रिय तजस परकीय स्पर्शाद्यव्यजकत्वे सति परकीयरूपव्यजकत्वात, प्रदीपवत।' चक्षु रिन्द्रिय तैजस है, क्योंकि परकीय (घट आदि के) स्पर्शादिका व्यजक न होकर परकीय रुप का व्यजक होने से। 'जो **द्रव्य परकीय स्पर्श आदि का व्यञ्जक न होकर परकीय रूप का व्यञ्जक होता है वह तैजस होता है**।' जैसे—प्रदीप, घटादि द्रव्यो कै स्पर्शादिको का व्यजक न होकर घटादिको के रूप का व्यजक होता है, उसी प्रकार चक्षुरिन्द्रिय भी घटादिको के स्पर्श आदि का व्यजक न होकर घटादि के रूप का व्यजक होता है अत **चक्षुरिन्द्रिय तैजस** है। अब हेतु में 'परकीयस्पर्शाद्यव्यजकत्वे सति' यह पद यदि न दें तो **'मन'** के बिना कोई भी ज्ञान उत्पन्न नही होता, इस कारण **'मन'** मे 'परकीय रूप-व्यजकत्व' **'हेतु'** तो है, किन्तु उसमें तैजसत्व रूप **'साध्य'** नही है। अत व्यभिचार है। उस व्यभिचार को दूर करने के हेतु **परकीयस्पर्शाद्यव्यञ्जकत्वे सति'** पद दिया गया है। तब **'मन'** मे परकीय स्पर्श आदि का व्यजकत्व ही है, **'अव्यजकत्व'** नही है, इस कारण व्यभिचार दोष नही है। अब 'हेतु' में 'परकीय रूपव्यजकत्व' यह पद न दें, तो **'आकाशादि'** भी परकीय स्पर्श आदि के व्यजक नही हैं। इस कारण अतिव्याप्ति हो जायगी। किन्तु 'परकीयरूप व्यजकत्व' पद देने से अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है, क्योंकि 'आकाशादि'

परकीयरूप के व्यञ्जक नहीं है। अब अनुमान में 'प्रदीप' के स्थान में 'प्रभा' को दृष्टात मे रखें तो हेतु में दिये गये 'प्रथम परकीय' पद की आवश्यकता न होगी। क्योंकि प्रभा के स्पश का प्रत्यक्ष नही होता और न ही वह अपने स्पश आदि की व्यञ्जिका हैं। उच्छृङ्खल (बौद्ध) क मत में चक्षुरिंद्रिय को अप्राप्य प्रकाशकारी माना जाता है। किन्तु नैयायिक उसे प्राप्य प्रकाश कारी मानते हैं। जो इन्द्रिय सयोगादि सम्बन्ध से विषय के देश में जाकर (प्राप्त होकर) विषय को प्रकाशित करती है—उसे प्राप्य-प्रकाशकारी कहते हैं। और जो इन्द्रिय, सयोगादिसम्बन्ध से विषय देश को प्राप्त किये बिना ही (अपने स्थान मे ही स्थित रह कर) विषय को प्रकाशित करती है, वह अप्राप्य-प्रकाशकारी है। उच्छृङ्खल का अपना मत है—चक्षुरिन्द्रिय (गोलक) से अत्यन्त दूर स्थित सूय—चन्द्र आदि पदार्थों को भी ग्रहण करती है इसकारण वह अप्राप्य प्रकाशकारी है। चक्षुरिन्द्रिय यदि प्राप्य प्रकाशकारी होती, तो 'रसनेन्द्रिय' के समान अधिष्ठान सम्बद्ध वस्तु का ही ग्रहण करती, किन्तु ऐसी बात तो है नही, वह तो (गोलक से) असम्बद्ध अत्यन्त दूर स्थित सूय—चन्द्र पदार्थों को ग्रहण करती है। इस कारण वह अप्राप्य प्रकाशकारी है। किञ्च चक्षुरिन्द्रिय अपने तुल्य परिमाणवाली वस्तुओ को ग्रहण करती है, उसी तरह वह महान् पर्वत आदि को भी ग्रहण करती है, इस कारण भी वह (चक्षुरिन्द्रिय) अप्राप्य-प्रकाशकारी है। किञ्च यदि चक्षुरिन्द्रिय प्राप्य प्रकाशकारी होती तो वह वृक्ष शाखा को या चन्द्रमा को प्राप्त कर उन्हे (चन्द्रमा को या शाखा को) ग्रहण करती, अर्थात एक काल में दोनो को ग्रहण नही करती, परन्तु नेत्रों को खोलते ही शाखा तथा चन्द्र को एक ही काल में देखता है। अत चक्षुरिन्द्रिय, अप्राप्य प्रकाशकारी है।

नैयायिक—निर्दिष्ट उच्छृङ्खल मत असगत है, क्योकि चक्षुरिंद्रिय वस्तु देश में जाकर ही वस्तु को प्रकाशित करती ह। पार्थिवगोलक से भिन्न ही तैजस चक्षु है। प्रदीप की प्रभा अपने अधिष्ठानरूप प्रदीप के सम्बन्ध के साथ ही घटादि पदार्थों के पास पहुँचकर उसे प्रकाशित करती है, उसी प्रकार तैजस चक्षु भी अपने गोलकरूप अधिष्ठान के सम्बन्ध के साथ ही छोटे-बडे पदार्थो तक पहुँचकर उन्हें ग्रहण करती है। किंवा प्राप्य प्रकाशकारी प्रदीप-प्रभा जैसे अपने से अधिक परिमाणवाले पवतादिको को भी प्रकाशित करती है, उसी प्रकार गोलक से निकला हुआ, महत्व—परिमाणवाला

१विषय दर्शयति–वह्निरिति। ननु सुवर्णस्य तैजसत्वे किं मानमिति

तैजस चक्षु भी अपने से अधिक परिमाणवाले पर्वतादिको को ग्रहण करती हैं। किञ्च–शाखा तथा चन्द्रमा का एक काल मे ग्रहण नही होता, किन्तु प्रथम क्षण मे शाखा को प्राप्त होकर शाखा का ग्रहण होता है और द्वितीय क्षण मे चन्द्रमा को प्राप्त होकर चन्द्रमा का ग्रहण किया जाता है। किन्तु वह क्षणरूपकाल अत्यन्त सूक्ष्म है, इस कारण लोगो को यह भ्रम होता है कि हम एक ही काल मे शाखा तथा चन्द्रमा को देख रहे हैं। चक्षुरिन्द्रियरूप तेज मे सुई (सूची) से छिदे हुए कमल के पत्रो के तुल्य इतनी अधिक तीव्र वेगशीलता रहती है जिससे यह भ्रम होता है। परन्तु ग्रहण तो यथाक्रम ही होता है। अत चक्षुरिन्द्रिय के प्राप्य प्रकाशकारिता मे कोई सन्देह नही है।

किन्तु **शालिकाचार्य** कहते है–चक्षुरिन्द्रिय तथा सूर्य की प्रभा (बाह्य आलोक) ये दोनो मिलकर 'नवीन चक्षुरिन्द्रिय' के आरम्भक होते है। इस कारण चक्षुरिन्द्रिय का एक ही काल मे शाखा तथा चन्द्रादि पदार्थो के साथ सम्बन्ध होकर ग्रहण करना असम्भव नही है। किन्तु यह उचित प्रतीत नही होता, क्योकि चक्षु तथा बाह्य आलोक (प्रभा) से निर्मित (रचित) वह चक्षुरिन्द्रिय जैसे अग्रभाग में होती है, वैसे ही पृष्ठभाग में भी अवश्य होगी। इस कारण पृष्ठभागस्थ पदार्थों का भी चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होना चाहिये, परन्तु होता नही है। अत शालिकाचार्य का मत असगत है।

१ विषय का लक्षण—'उष्णस्पर्शसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमद्विषय तैजसो विषय।' यह तैजस विषय—(१) भौम, (२) दिव्य, (३) औदर्य, (४) आकरज, इन भेदो से चार प्रकार का है। 'पार्थिव निमित्तक तेज'—**भौमम्**। काष्ठादि पार्थिवपदार्थ जिसका इन्धन है, वह **भौम**, अर्थात् भूमिगत तेज है तथा खद्योत (पटबीजना) गत तेज भी 'भौम' है।

'अबिन्धन तेज'—**दिव्यम्**। जलमात्र ह इन्धन जिसका वह दिव्य तेज है। जैसे—बिजली, आदि।

'अन्न जलोभयेन्धन तेज'—**औदर्यम्**।' अन्न तथा जल ये दोनो है इन्धन जिसके ऐसा जो तेज है, वह औदर्य है। जैसे—उदरस्थ जठराग्नि। 'अनुभयेन्धन तेज'—**अकारजम्**। पृथ्वी, जल, ये दोनो इन्धन जिसके नही है, वह 'आकरज' तेज है। जैसे—खान से उत्पन्न होनेवाले सुवर्ण, रजत, ताम्र, मणि आदि।

शका—सुवर्णादि द्रव्य तो इम अनुमान से पार्थिव सिद्ध होते है। जैसे—'सुवण पार्थिव पीतत्वादगुरुत्वाद्वा हरिद्रावत्'– सुवण पार्थिव है, पीत तथा गुरु होने मे, पार्थिव हरिद्रा के समान।

समा०—इस अनुमान से सुवण मे तैजमत्व' सिद्ध करते है। 'सुवण तैजस असति प्रतिब धके अत्य ताग्निसयोगेऽप्यनुच्छिद्यमानजन्यद्रवत्वाधिकरणत्वात, य नैवम, तन्नैवम् यथा घतादिकम।' सुवणतैजस द्रव्य होने योग्य है, प्रतिबन्धक (रोकनेवाले) के न होने पर तथा अत्यन्त अग्निसयोग होने से भी अनुच्छिद्य मान (अनश्वर) द्रवत्व का अधिकरण होता है, जो द्रव्य तैजस नही होता, वह प्रतिब धक के अविद्यमान होने से तथा अग्नि के अत्यधिक सयोग होने से अनुच्छिद्यमान (नष्ट न होने वाले) जन्य द्रवत्व का अधिकरण नही होता। जैसे—घत, जतु (लाख) आदि—तैजसद्रव्य नही कहलाते। इस कारण जलरूप प्रतिबन्धक के अविद्यमान रहने पर तथा अत्य त अग्निसयोग होने पर उसका द्रवत्व नष्ट हो जाता है। यहाँ पर सुवण तैजसम'—यह प्रतिज्ञावाक्य ह। 'असति प्रतिबन्धके' इत्यादि हेतु वाक्य है 'य नैव त नैव' इत्यादि व्यत्तिरेकि-दृष्टान्त-वाक्य है। प्रस्तुत प्रसग मे अर्थात सुवण, चाँदी आदि में प्रतिबन्धक जलादि के अविद्यमान रहने पर और अत्यन्ताग्निसयोग होने पर उमके (सुवण, चादी के) द्रवत्व का उच्छेद (विनाश) नही होता। अत सुवण, चादी आदि तैजस द्रव्य है।

उपयुक्त हेतु मे असति प्रतिबन्धके' यह पद न दें तो अत्यन्ताग्निसयोग के रहने पर जलमध्यस्थघत के द्रवत्व का विनाश नही होता। अत घृत मे तैजसत्व' रूप साध्य का अभाव रहने से व्यभिचार होगा। उसके निवारणाथ हेतु मे 'असति प्रतिबन्धके' यह पद दिया गया है। अब यदि 'अत्यन्ताग्निसयोगे सति' यह पद न दिया जाए तो जिस घृत में 'अग्निसयोग' न हुआ हो, अर्थात स्वल्पतर अग्नि का सयोग हुआ हो वह घृत अत्यन्ताग्निसयोग के न रहने पर भी तथा जलरूप प्रतिबन्धक के अविद्यमान रहने पर भी अनुच्छिद्यमान द्रवत्व का अधिकरण होता हैं अर्थात उसमें 'द्रवत्व' रहता ह। किन्तु वह घृत तो तैजसत्व' रूप साध्य के अभाव का अधिकरण है उसमे (घृत मे) अनुच्छिद्यमान द्रवत्व रूप हेतु के रहने से व्यभिचार हो जायगा क्योकि साध्याभावाधिकरण में हेतु विद्यमान है। हेतु को साध्याभावाधिकरण मे कभी नही रहना चाहिये, उसे

(हेतु को) तो हमेशा साध्य के साथ एक अधिकरण में ही रहना चाहिये। अत उस व्यभिचार के निवारणाथ, 'अत्यन्ताग्निसयोगे सति' पद दिया गया है। अब यदि 'अत्यन्त' पद को हेतु मे न रखें तो परमाणु द्वयणुकरूप अग्नि के रहने पर या अत्यन्ताग्निसयोग कुछ क्षणो तक रहने पर भी उस घृत का नाश नही होगा। अर्थात अनुच्छिद्यमान द्रवत्व उसमे रहेगा तब अतिव्याप्ति हो जायगी। उसके निवारणाथ 'अत्यन्त' (प्रदीप्त) पद दिया गया है। उक्त हेतु-वाक्य मे यदि जन्यपद न दिया जाय तो जलीय परमाणु में व्यभिचार होगा, क्योकि वहा भी किसी प्रकार के प्रतिबन्धक के न रहते हुए अत्यन्त अग्नि का सयोग होने पर भी नित्य द्रवत्व का अधिकरणत्व ही है। इस व्यभिचार के निवारणाथ जन्यपद दिया गया है। अत उक्त हेतु का उन जलपरमाणुओ में व्यभिचार नही होने पाता। जैसे—जल मे मिलाया हुआ स्याही का चूण (चूरा) द्रवीभूत नही होता, अपितु जल ही स्वाभाविकरूप से द्रवित (पिघला) रहता है, किन्तु द्रवितजल के सयोग से उस में मिलाये गये स्याही के चूरे में द्रवित (पिघला हुआ) होन की भ्रान्ति होती है। वैसे ही तैजस सुवण में स्थित जो पीतवण का तथा गुरुत्व का आश्रयभूत पार्थिवभाग है, वह अत्यन्ताग्निसयोग रहने पर भी (प्रबल आच रहने पर भी) द्रवीभूत नही होता, अपितु वह तैजस सुवण ही द्रवीभूत होता है, किन्तु उस द्रवीभूत तैजस सुवण के सयोग से उसमें मिश्रित पार्थिव भाग के द्रवीभूत (पिघलेपन) होने की भ्रान्ति होती है। अत उस पार्थिव भाग मे तैजसत्व' रूप साध्य के अभाव को तरह हेत्वभाव भी है। तात्पय यह है कि उस पार्थिव भाग में उक्त हेतु का व्यभिचार नही होने पाता। अत सुवण मे तैजसत्व सिद्ध हो जाता है।

कतिपय ग्रथकार सुवण मे तैजसत्व इस अनुमान से सिद्ध करते है। जैसे—'अत्यन्ताग्निसयोगी पीतिमगुरुत्वाश्रय (पार्थिव भाग) विजातीयरूपप्रतिबन्धकद्रवद्रव्य सयुक्तः अत्यन्ताग्निसयोगे सत्यपि पूवरूपविजातीयरूपानधिकरणत्वे सति पथ्वीत्वात, जलमध्यस्थ-पीतपटवत।' जिस पार्थिव द्रव्य के साथ जो अत्यत अग्निसयोग है, वह उस पार्थिव द्रव्य में विजातीयरूप की उत्पत्ति के प्रतिबन्धक द्रवत्वगुणवाले द्रव्य के सयोग के न रहने पर उसके अपने पूवरूप से भिन्न एक विजातीयरूप को अवश्य उत्पन्न करता है। जैसे—तण्डुल आदि पार्थिव द्रव्यो के साथ जो अत्यन्त अग्निसयोग है, वह जलरूप प्रतिबन्धक के न रहने पर उन तण्डुलादि पार्थिव-

चेत् ! न, सुवर्णं तैजसम्, असतिप्रतिबन्धके अत्यन्तानलसयोगेऽप्यनुच्छिद्यमानजन्यद्रवत्वात्, यन्नैव-तन्नैवम्, यथा पृथिवीति । न चाप्रयोजक, पृथिवीद्रवत्वस्य जन्यजलद्रवत्वस्य चात्यन्ताग्निसयोगनाश्यत्वात् ।

द्रव्यो मे उसके अपने शुक्लरूपसे भिन्न एक विजातीय कृष्ण, पीतादिरूप की उत्पत्ति अवश्य ही कर देता है । और सुवर्ण में स्थित जो पीतरूप तथा गुरुत्ववाला जो पार्थिव भाग है, उस पार्थिव भाग के साथ अनेक बार अत्यन्त अग्निसयोग के होने पर भी उसके पूवरूप से भिन्न किसी विजातीय नीलादिरूप की उत्पत्ति कभी नही होती । इस कारण यह अवश्य मानना होगा कि उस पार्थिव भाग के साथ किसी प्रतिबन्धक द्रवत्वगुणवाले द्रव्य का सम्बन्ध अवश्य है, जो उस पार्थिव भाग मे विजातीयरुप की उत्पत्ति नही होने देता । वह प्रतिबन्धकद्रव-द्रव्य पृथ्वी या जल मे से तो कोई हो नही सकता, तब परिशेषात् तेजोद्रव्य को ही विजातीयरूप की उत्पत्ति मे प्रतिबन्धक मानना होगा । अत॰ वह प्रतिबन्धक तेजोद्रव्य ही सुवण है । किञ्च—"अग्नेरपत्य प्रथम सुवणम" इस श्रुतिप्रमाण से भी सुवण में तैजसत्व सिद्ध होता है । कुछ ग्रथो मे (१) उदभूतरूपस्पर्श, (२) अनुदभूतरूपस्पश, (३) उदभूतस्पश अनुदभूतरूप, (४) उद्भूतरूप-अनुद्भूतस्पश—इन भेदो से यह तेजोद्रव्य चार प्रकार का है । (१) जिस तेज के रूप तथा स्पर्श उद्भूत होते है, वह उद्भूतरूपस्पश कहलाता है । जैसे—सूयकिरण अग्नि आदि । (२) जिस तेजका रूप तथा स्पश दोनो अनुदभूत होते हैं, वह अनुदभूतरूपस्पश कहलाता है । जसे—चक्षुरिन्द्रियरूप तेज । (३) जिस तेज का स्पश तो उद्भूत हो किंतु रूप अनुदभूत हो, वह उदभूतस्पश अनुदभूतरूप कहलाता है । जैसे—तप्तजलगत-तेज (४) जिस तेज का रूप तो उद्भूत हो और स्पश अनुदभूत हो, वह उद्भूत रूप अनुद्भूतस्पश कहलाता है । जैसे—प्रदीप आदि का प्रभारूप तेज । सुवण-रूप तेज का उदभूतरूप स्पशवाले प्रथम तेज के भेद मे ही अन्तर्भाव होता है । यदि सुवण को अनुदभूतरूपवाला मानें तो उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नही होगा । यदि सुवण को अनुद्भूत स्पशवाला मानें तो उसका त्वाच प्रत्यक्ष नही होगा । अत सुवण का तेज के प्रथम भेद मे ही अन्तर्भाव होता है । सुवणरूप तेज मे रूप और स्पर्श के उद्भूत रहने पर भी उसके अपने यथाथ भास्वर शुक्लरूप तथा तप्त स्पश का जो ग्रहण नही होता उसमे हेतु यह है कि बलवान विजातीय पार्थिव द्रव्य के रूप से तथा स्पश से वह अभिभूत रहता है । अत तेज के (सुवण) अपने रूप और स्पश का ग्रहण नही हो पाता ।

ननु पीतिमगुरुत्वाश्रयस्य पार्थिवभागस्यापि तदानी द्रुतत्वान्न व्यभिचार इति चेत ? न, जलमध्यस्थमसीक्षोदवत्तस्याद्रुतत्वात् ।

अपरे तु पीतिमाश्रयस्य अत्यन्ताग्निसयोगेऽपि पूर्वरूपापरावृत्ति-दर्शनात्तत्प्रतिबन्धक विजातीयद्रवद्रव्य कल्प्यते । तथा हि- अत्यन्ताग्निसयोगे पीतिमगुरुत्वाश्रय विजातीयरूपप्रतिबन्धकद्रवद्रव्य सयुक्त अत्यन्ताग्निसयोगे सत्यपि पूर्वरूपविजातीयरूपानधिकरणत्वात् जल-मध्यस्थपीतपटवत् । तस्य च पृथिवीजलभिन्नस्य तेजस्त्वनियमात् ।

इति तैजसविषयनिरूपणम ।

इति तेजोग्रन्थ ।

● अब अनित्य तेज के 'विषय' सज्ञक तीसरे विशेष को प्रदर्शित करते है । भौम, दिव्य, उदय, आकारज भेद से तैजस विषय चार प्रकार का होता है । १ भौमतेज—वह्नि आदि, २ दिव्यतेज—अबिन्धनविद्युदादि, ३ उदर्यतेज—भुक्तवस्तु के परिणाम मे हेतुभूत अर्थात जाठराग्नि, ४ आकारज तेज—सुवर्ण आदि है ।

शका—'सुवर्ण' के तैजस होने मे क्या प्रमाण है ?

समा०—सुवर्ण को तैजस मानने में अनुमान-प्रमाण है । यथा—**सुवर्ण, तैजसम्, असति प्रतिबन्धके अत्यन्तानलसयोगेऽप्यनुच्छिद्यमानजन्य-द्रवत्वात्, यन्नैव तन्नैव, यथा पृथिवीति ।** सुवर्ण तेज है, क्योकि किसी प्रतिबधक के न रहने पर (किसी प्रतिबधक वस्तु के साथ सुवर्ण का सबध न रहने पर) तथा अग्नि का अत्यन्त सयोग रहने पर भी सुवर्ण के द्रवत्व का विनाश नही होता है, जो ऐसा नही, वह तैजस भी नही, जैसे पृथ्वी । अर्थात जिस वस्तु की द्रवता (पतलापन) प्रदीप्त अग्नि का अत्यन्त सयोग होने पर भी नष्ट नही हो पाती, वही वस्तु सुवर्ण' द्रव्य है । पृथ्वी और जल का द्रवत्व तीक्ष्ण आग रहने पर नष्ट हो जाता है, किन्तु सुवर्ण का द्रवत्व ही एकमात्र ऐसा है कि तीक्ष्ण आग के लगने पर भी वह नष्ट नही होता । अत उक्त अनुमान प्रमाण से 'सुवर्ण' तैजस है, यह सिद्ध हो जाता है ।

शका—यह अनुमान अप्रयोजक (अनुकूलतर्करहित) होने से सुवर्ण को तैजस न मानने पर भी निर्दिष्ट हेतु सुवर्ण मे रहता है । अर्थात उक्त अनुमान मे

व्यभिचार की आशका हो सकती है कि 'पक्ष' में 'अनुच्छिद्यमान द्रवत्व' हेतु रहे और 'तेजस्त्व' साध्य न रहे ।

समा०—यह शका उचित नही है ' क्योकि **अनुकूल तर्क है**—जैसे—**'असति प्रतिबन्धके अत्यन्तानलसयोगे सति अनुच्छिद्यमानजन्यद्रवत्व यदि तैजसत्वव्यभिचारि स्यात् तदा असति प्रतिबधके अत्यतानलसयोगे सति नाश्य स्यात् । यतो न तथा नाश्यम् , अतो न व्यभिचारि तत् ।'**

शका—स्वण पिघलकर जब तरल पानी जैसा हो जाता है, तब उसमे (सुवण मे) मिला हुआ पीतिमाका तथा गुरुत्व का आश्रयरूप पथ्वी का भाग भी सुवण के साथ ही पिघल कर पानी जैसा हो जाता है, वह पिघला हुआ पीला पानी' तेज नही है वह पार्थिव है । क्योकि तेज मे पीतिमा (पीलापन) नही हाता और गुरुत्व भी नही होता, वह तो पार्थिव ह । एवच साध्याभाव के अधिकरण मे हेतु के रहने से व्यभिचार स्पष्ट है । **तथाहि**—यहाँ पर साध्य 'तैजसत्व' है, उसका अभाव अर्थात तैजसत्वाभाव, उसका अधिकरण पार्थिवभाग, उसमें 'अत्यन्तानलसयोगा'दि हेतु विद्यमान है, अत व्यभिचार है ।

समा० – **नेति** । जल मे स्थित मसीक्षोद (चूणविशेष) अर्थात 'काजल' के समान । काजल पिघलनेवाली वस्तु नही है, तथापि जल मे घोलने से वह भी जल के साथ द्रवित होता हुआ सा प्रतीत होता है, अर्थात लिखते समय जल जैसा द्रवित (पिघलता=बहता है) होता है, वैसे ही वह काजल भी द्रवित होता (बहता) है । 'स्याही बहती है, फैल रही है' आदि शब्द प्रयोग लोग करते पाये जाते है । किन्तु वह स्याही के द्रवित होने का भ्रम ही समझना चाहिये । उसी प्रकार अत्यन्तानलसयोग से सुवण के द्रवित होने पर उसमें मिले हुए पीतिम तथा गुरुत्व के आश्रयभूत पार्थिव भाग मे होने वाला जो द्रवण प्रत्यय ह, वह वास्तविक नही है, अपितु भ्रम है । अत व्यभिचार नही है ।

अब प्रकारान्तर से सुवण का तैजसत्व सिद्ध करने वालो का मत बताते ह—कुछ विद्वान कहते है कि पार्थिवरूप तो अग्नि के सयोग से परिवर्तित हो जाता है । जैसे—घट का श्यामरूप अग्निसयोग से नष्ट होकर रक्तवण (रक्तरूप) हो जाता है, किन्तु सुवण मे विद्यमान पीतिमाश्रय पार्थिव भाग के पूवरूप (पीतरूप) की परावत्ति (परिवतन) अत्यन्त अग्निसयोग के होने पर भी देखने में नही आती । अत अनुमान करना पडता है कि कोई विजातीय द्रव्य ऐसा है, जो पूवरूप (पीतरूप) की परावृत्ति (परिवतन) का प्रतिबन्धक अवश्य है । उसी को

अनुमान के द्वारा बता रहे है—'अत्यन्ताग्निसयोगी पीतिमगुरुत्वाश्रय विजातीयरूपप्रतिबन्धकद्रवद्रव्यसयुक्त, अत्यन्ताग्निसयोगे सत्यपि पूर्वरूपविजातीयरूपानधिकरणत्वात्, जलमध्यस्थपीतपटवत।' अत्यन्तअग्निसयोगी पीतिमा तथा गुरुत्व का आश्रय पार्थिवभाग, विजातीयरूप के प्रतिबन्धक द्रवद्रव्य से सयुक्त है, क्योकि अत्यन्त अग्निसयोग के होने पर भी पूर्वरूप (पीतरूप) के विजातीय रूप (नीलादिरूप) का अधिकरण न होने से, जल में स्थित पीतपट के समान। अर्थात् पीला तथा जड ऐसा जो पृथ्वी का भाग ह उसके समान। अपनी स्थूल दृष्टि से जो जड तथा पीला भाग सुवर्ण का माना जाता ह, उसमे अत्यन्त अग्निसयोग के होने पर भी पूर्व के पीलेरूप का नाश तथा अन्य किसी रूप की उत्पत्ति नही होती। अत अनुमान करना पडता है कि उस पीले तथा जड भाग मे पीलेरूप का नाश तथा अन्यरूप की उत्पत्ति होने मे प्रतिबन्धक कोई भाग उस द्रवद्रव्य म सयुक्त ह, जैसे—पानी मे पीला कपडा डाल दिया जाय और उस पानी को अत्यन्त अग्निसयोग यहाँ तक हो कि पानी ओट जाय, फिर भी उस कपडे के पीलेरूप का नाश तथा दूसरे रूप की उत्पत्ति नही होती। अत यह स्वीकार करना होता है कि—कपडे से सयुक्त जो द्रवद्रव्य जल है वह उस कपडे के पीलेरूप के नाश का तथा उसमे अन्य रूप के होने का प्रतिबन्धक है। उसी प्रकार अर्थात वह कपडा जैसे द्रवद्रव्य से (जल से) सयुक्त ह, वसे ही सुवर्ण मे पीलापन तथा जड भाग (पार्थिवभाग) भी एक प्रकार के द्रवद्रव्य से सयुक्त है—यह सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि जलमध्यस्थ पीतपट का पीलारूप, अग्नि की अत्यधिक आँच रहने पर भी जैसे परिवर्तित नही होता, क्योकि वहा उस पीलेरूप से विजातीयरूप के पैदा होने में प्रतिबन्धक जैसे जल होता है, वैसे ही सुवर्णमिश्रित पार्थिवभाग का पीलारूप, अत्यन्त अग्निसयोग होने पर भी बदलता नही। न बदलने मे प्रतिबन्धक कोई द्रवद्रव्य वहा अवश्य है। उस द्रवद्रव्य को पृथ्वी नही कह सकते और न जल ही कह सकते है, क्योकि पृथ्वी या जल का द्रवत्व, अत्यन्त अग्निसयोग होने पर नष्ट हो जाता है। अत उस द्रव्य को पृथ्वी और जल से भिन्न तेज ही कहना चाहिये।

इति तेजोनिरूपणम।

❀ अपाकजोऽनुष्णाशीतः स्पर्शस्तु पवने मतः ॥४२॥
तिर्यग्गमनवानेष ज्ञेयः स्पर्शादिलिङ्गकः।
पूर्ववन्नित्यतायुक्तं देहव्यापि त्वगिन्द्रियम् ॥४३॥

● (कठिनपदव्याख्या)–१—अपाकज —पाकाज्जायते इति पाकज , न पाकज इति अपाकज =पाकाजभिन्न । २—अनुष्णाशीत =उष्ण भी नही और शीतल भी नही। ३—तिर्यग्गमनवान् =वक्रगतिवाला। ४—स्पर्शादिलिङ्गक यहा 'लिङ्ग' शब्द का अथ हेतु ह और आदि' शब्द से शब्द, धृति, कम्प आदि का ग्रहण किया है। ५—पूर्ववत् = जल के समान। ६—देहव्यापि = शरीर-व्यापक। ७ नित्यतादि = नित्यता तथा अनित्यता।

वायु मे स्पश गुण ह, और वह पाकज नही है तथा वह अति उष्ण और अतिशीतल भी नही ह — यही नैयायिको को अभिमत है। वायु की गति वक्र है। स्पशादि हेतुओ से वायु का अनुमान होता है। जलके समान वायु की भी नित्यता, अनित्यता समझनी चाहिये। वायु के स्पश की ग्राहक त्वगिन्द्रिय है, जो सम्पूण शरीर मे व्याप्त है।

●वायु निरूपयति-अ पाकज इति। अनुष्णाशीतस्पर्शस्य पृथिव्यामपि सत्त्वादुक्तमपाकज इति। अपाकजस्पर्शस्य जलादावपि सत्त्वादुक्त मनुष्णाशीत इति। तेन वायवीयो विजातीय स्पर्शो दर्शित। तज्जनकतावच्छेदक वायुत्वमिति भाव ॥ ४२ ॥

इति वायुनिरूपणे वायुत्वजातौ प्रमाणकथनम।

● वायु निरूपयति इति। निरूपयति (नि + रूप) का अथ है—लक्षण-स्वरूप प्रामाण्यादिप्रकारक ज्ञानानुकूलो व्यापार। तथाच–वायुनिष्ठविषयतानिरूपक यल्लक्षण स्वरूप प्रामाण्यादिप्रकारक ज्ञान, तदनुकूल व्यापारानुकूल कृतिमान ग्रन्थ-कार। क्योकि न्याय के सिद्धान्त मे प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध माना जाता है। अपाकज अनुष्णाशीत (विलक्षण) स्पश, वायु मे रहता है। वह (वायु) वक्रगतिमान है, स्पर्शादि हेतुओ से उसका (वायु का) अनुमान किया जाता है। एवच 'अपाकज–अनुष्णाशीतस्पशवान वायु'— यह वायु का लक्षण है। उक्त लक्षण मे 'अपाकज' पद यदि न दे तो 'अनुष्णाशीतस्पश' पृथ्वी में भी है, अत लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। उसके निवारणाथ 'अपाकज' पद का देना आवश्यक है। तब अतिव्याप्ति नही होगी, क्योकि 'पृथ्वी' का स्पश तो 'पाकज' है, 'अपाकज' नही है। अब यदि 'अनुष्णाशीत' यह विशेषण स्पश मे न दें तो 'अपाकजस्पश (शीत तथा उष्णस्पश) जल और तेज में भी रहता है अत लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। उसके निवारणाथ 'अनुष्णाशीत' यह विशेषण 'स्पश' में दिया गया है। तब अतिव्याप्ति नही होगी, क्योकि 'जल' मे अनुष्णाशीतस्पर्श

नही ह अपितु 'शीतस्पर्श' रहता है। ओर 'तेज' में उष्णस्पश रहता है। एवच 'वायु' का स्पश सबसे विलक्षण (विजातीय) है। तात्पय यह है कि पथ्वी, जल का तेजस्स्पशव्यावृत्तजात्यवच्छिन्न स्पश है। अर्थात इस प्रकार की विलक्षण स्पशनिष्ठ-जन्यतानिरुपिता जनकता 'वायु' मे है—यह प्रदर्शित किया गया है। ऐसे विलक्षण-स्पश की उत्पत्ति के प्रति 'वायु' समवायिकारण है। अर्थात विजातीय स्पश का समवायिकारण 'वायु' है। इस प्रकार दोनो (स्पश वायु) का काय कारणभाव समझना चाहिये।

समवायिकारणरूप 'वायु' मे समवायिकारणता रही, उसका (समवायि-कारणता का) अवच्छेदक 'वायुत्व' होगा, यही 'वायुत्व' जाति है ॥४२॥

एष वायु स्पर्शादिलिङ्गक । वायुर्हि स्पर्शशब्दधृतिकम्पैरनुमीयते विजातीयस्पर्शेन, विलक्षणशब्देन, तृणादीना धृत्या, शाखादीना कम्पनेन च वायोरनुमानात् । यथा च वायुर्न प्रत्यक्षस्तथाऽग्रे वक्ष्यते ।

● इस वक्रगतिमान् वायु का स्पश आदि हेतुओ से अनुमान किया जाता है, अर्थात् वह **अनुमेय** है, प्रत्यक्ष नही। 'आदि' शब्द से शब्द, धृति, कम्प को भी हेतु समझना चाहिय। वायु के ज्ञान मे प्राचीन तथा **नवीन** नैयायिको में **मतभेद** है। **नवीन नैयायिक**—वायु के स्पाशन प्रत्यक्ष मे स्पश को कारण मानते ह, इसलिये वे वायु का प्रत्यक्ष मानते है, परन्तु **प्राचीन नैयायिक**—बहिरिन्द्रिय से होनेवाले द्रव्य क प्रत्यक्ष मे '**उद्भूतरूप**' को कारण मानते है, इसलिये वे वायु को अनुमेय कहते हैं। वायु का स्पश, शब्द, धति, कम्प इन चार हेतुओ से अनुमान किया जाता ह। **जैसे—प्रथम हेतु-स्पर्श है**। एक प्रकार का विजातीय (विलक्षण) स्पश अपने शरीर से ज्ञात होता है। अत रूपरहित द्रव्य के स्पश का प्रत्यक्ष त्वगिन्द्रिय से होने के कारण वह स्पश जिस रूपरहित द्रव्य के आश्रित है, वही रूपरहितद्रव्य—**वायु** है। उसी प्रकार **द्वितीय हेतु—शब्द है**। वायु के बहने पर पेड के पत्तो से जो विलक्षण 'ममर' शब्द सुनाई पडता है, वह शब्द, यदि किसी रूपवाले द्रव्य के अभिघात से होता, ता उस रूपी (रूपवाले) द्रव्य का प्रत्यक्ष होता, किन्तु नही हो रहा है। अत उस अभिघात का कारण कोई रूपरहित द्रव्य ही होगा, वही रूपरहितद्रव्य **वायु** है। उसी तरह **तृतीय हेतु—धृति है**। आकाश मे तृण, मेघ, रुई, धूलि कण उडते रहते है, तो उन्हे धारण करनेवाला जो रूपरहित द्रव्य है, वही **वायु** है। उसी प्रकार **चतुर्थ हेतु—कम्प है**। जिस रूपरहित द्रव्य के अभिघात से

शाखा, पत्ते, आदि में जो कम्पन होता है वही रूपरहित द्रव्य वायु है। उसका त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष नही होता, यह आगे आत्मनिरूपण के प्रसग मे सविस्तर कहा जायगा।

इति वायुनिरूपणे वायौ प्रमाणकथनम।

● पूर्ववदिति। वायुर्द्विविधो नित्योऽनित्यश्च, परमाणुरूपो नित्यस्तदन्योऽनित्योऽवयवसमवेतश्च। सोऽपि त्रिविध, शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। तत्र शरीरमयोनिज पिशाचादीनाम्। परन्तु जलीयतैजसवायवीयशरीराणा पार्थिवभागोपष्टम्भादुपभोगक्षमत्व, जलादीना प्राधान्याज्जलीयत्वादिकमिति।

इति वायवीयशरीरनिरूपणम्।

● जल के भेद आदि के समान ही वायु के भेद आदि भी समझने चाहिये। अर्थात वायु नित्य और अनित्य दो प्रकार का है। परमाणुरूप वायु नित्य ह और उससे भिन्न द्वचणुक से लेकर महावायु तक जो वायु है, वह अनित्य (अवयवीरूप) है, अर्थात् उसके अवयव भी है। यह अनित्य वायु शरीर, इन्द्रिय, तथा विषय भेद से तीन प्रकार का ह। इन तीन प्रकार के वायुओ मे से 'शरीर' सज्ञक जो वायु है, वह अयोनिज है। अर्थात 'वायवीय शरीर' अयोनिज ही होता है, वह पिशाच, भूत आदिको का मरुतलोक में (भुवर्लोक में) हुआ करता है।

शका—इन जलीयशरीर, तैजसशरीर तथा वायवीयशरीरो से यह जीव कैसे उपभोग ले सकेगा? क्योकि जल, तेज, वायु आदि मे कर चरणादि अवयव नही हुआ करते। और शरीर तो उसी को कहा जाता है, जो उपभोग (सुख-दु खादि के अनुभव) का साधन हो —यह 'शरीरलक्षण' वायवीय पिशाचादिके शरीर मे घटित नही हो पा रहा है। क्योकि वायुरूप पिशाचादिको के मुख, तालु आदि न होने से वे बोल नही सकते तथा हाथ, पैर आदि न होने से आहरण (ग्रहण), विहरण (चलना, फिरना) क्रिया भी नही कर सकते। इस कारण उन वायुरूप पिशाचादिको के 'शरीर' मे 'उपभोग-साधनत्व' रूप शरीरलक्षण नही घट सकता। तात्पय यह है कि इस प्रकार के शरीर के होने में कोई प्रमाण नही है।

समा—'परन्तु इति। जलीय, तैजस, तथा पिशाचादिको के वायवीय शरीर, पथ्वी के भाग (पार्थिवभाग) से उपष्टब्ध (सयुक्त) है। पार्थिवभाग का

सयोग होने से उन जलीय, तजस, वायवीय शरीरो मे सुख-दु खान्यतर-साक्षात्काररूपभोगावच्छेदकता (उपभोगक्षमता) रहती है। अत उन शरीरो को उपभोग के योग्य अर्थात उपभोग का साधन माना जाता ह। जलीयशरीर वरुणलोक मे, तथा तजसशरीर, सूयलोक मे उपभोग करने के योग्य ह।

शका—उन शरीरो में यदि पार्थिवभाग भी सम्मिलित है, तो उन्हे 'पार्थिव-शरीर' न कहकर केवल 'जलीय' 'तजस' और 'वायवीय' शरीर क्यो कहा जाता है ?

समा०—उन शरीरो को 'पार्थिवशरीर' इसलिये नही कहा जाता कि उनमें 'पार्थिव' (पृथ्वी का) भाग की अप्रधानता (निमित्तकारणता) रहती ह, और स्व स्व (अपने अपने) अश की प्रधानता (समवायिकारणता) रहती है। अर्थात 'जलीयशरीर' मे **जल की**, 'तैजसशरीर' मे **तेजकी** और 'वायवीयशरीर' में **वायु की** प्रधानता (समवायिकारणता) रहने से उन उन शरीरो को जलीय, तैजस, वायवीय शरीर कहा जाता ह।

इति वायवीयशरीरनिरूपणम।

● अत्र यो विशेषस्तमाह—देहव्यापीति। शरीरव्यापक स्पर्शग्राहकमिन्द्रिय त्वक्। तच्च वायवीय रूपादिषु मध्ये स्पर्शस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात्, अङ्गसङ्गिसलिलशैत्याभिव्यञ्जकव्यजनपवनवत् ॥४२ ४३॥

इति वायवीयेन्द्रियनिरूपणम।

● **अत्रेति**। अनित्यवायु का जो '**इन्द्रियसज्ञक**' भेद है उसकी अधिष्ठानभूत (आश्रयभत) त्वक है। इसलिये त्वचि स्थितम इन्द्रिय'—त्वगिन्द्रिय कहा गया है। यद्यपि त्वगिन्द्रिय का आधारभूत यह शरीर है तथापि नख, केश, लोम आदि सयोगिद्रव्य होने के कारण उसके आधार नही है। उसमे 'सर्वशरीरवृत्तित्वादि' रूप जो विशेषता है, उसका निरूपण अब किया जा रहा है—**देहव्यापीति**। यह त्वगिन्द्रिय, शरीर के समस्त अवयवो पर रहती हुई स्पर्श का ज्ञान कराती है। शरीर के समस्त अवयव इस त्वक् से ढके रहते है। एवच त्वगिन्द्रिय का लक्षण यह होगा—'**शरीरत्वव्यापकत्वेसति इन्द्रियत्व—त्वगिन्द्रियत्वम**। यह 'इन्द्रिय' वायवीय है। इस त्वगिन्द्रिय के वायवीय होने में अनुमान प्रमाण उपस्थित किया गया है—'**तच्चेति**।' यह त्वगिन्द्रिय 'वायु का काय (वायुकाय) होने से उसे **वायवीय** कहा गया है। उसके वायवीय होने मे ग्रन्थकार ने मुक्तावली मे ही अनुमान का आकार बता दिया है। उस अनुमानप्रयोग

में 'त्वच' (त्वगिन्द्रिय)—यह पक्ष है, वायवीय'—यह साध्य है, 'रूपादिषु मध्ये स्पर्शस्यैव अभिव्यजकत्वात यह 'हेतु' ह, और अङ्गसङ्गिसलिलशैत्याभिव्यजक व्यजनपवनवत' यह दृष्टान्त है। जैसे पखे (व्यजन) का वायु (हवा) अग के स्वेद—(पसीना) रूप जल मे रहनेवाले शैत्य का ही ज्ञापक (अभिव्यजक) होता ह। अर्थात पखे की हवा, उस पसीने की गर्मी के रूप आदि गुणो का ज्ञापक (अभिव्यजक) नही होती, अपितु उस गर्मी के केवल 'शीतस्पर्श रूपी गुण की ही ज्ञापक होती है। इस दृष्टान्त से यह नियम स्पष्ट होता है कि 'जो द्रव्य, रूपादिगुणो मे से कवल 'स्पर्श' का ही ज्ञापक (अभिव्यजक) हो उसे 'वायवीय ही समझना चाहिये। एवञ्च व्यजन पवन (पखे की हवा) जैसे वायुपरमाणुसमवेत है, वसे ही त्वगिन्द्रिय भी वायुपरमाणुओ से आरब्ध ह। वह त्वगिन्द्रिय, गरमी के रूपादिगुणा का ज्ञापक न होकर उसके (गरमी के) स्पर्शमात्र का ही ज्ञापक होता ह, इस कारण वह (त्वगिन्द्रिय) वायवीय है, यह सिद्ध होता है॥ ४३॥

॥ इति वायवीयेन्द्रियनिरूपणम ॥

प्राणादिस्तु महावायुपर्यन्तो विषयो मतः।
आकाशस्य तु विज्ञेयः शब्दो वैशेषिको गुणः ॥४४॥

● शरीर के भीतर सचार करनेवाले प्राण अपान, समान, उदान, व्यान तथा नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय—ये दस वायु है। और बाहर के साधारणवायु से लेकर महावायु तक जो प्रलयकालतक रहते है—वे सब वायवीय विषय है।

विषय दर्शयति—प्राणादिरिति। यद्यप्यनित्यो वायुश्चतुर्विध, तस्य चतुर्थी विधा प्राणादिरित्युक्तमाकरे, तथापि सङ्क्षेपादत्र त्रैविध्यमुक्तम्। प्राणस्त्वेक एव हृदादिनानास्थानवशान्मुखनिर्गमनादिनाना क्रियावशाच्च नानासञ्ज्ञा लभत इति॥

॥ इति पर्यवसितो वायु ॥

● प्राणवायु से महावायु तक सब वायु, विषय स्वरूप है। **प्रशस्तपाद भाष्यकार** ने अपने भाष्य मे तथा अन्य ग्रन्थो मे भी यह कहा ह कि अनित्य वायु शरीर, इन्द्रिय, विषय तथा प्राण इन भेदो से चार प्रकार का है। इस **कारिकावली** ग्रन्थ मे यद्यपि उस अनित्य वायु का चौथा प्रकार प्राणवायु है,

यह नही कहा तथापि उम प्राणवायु का अन्तर्भाव विषयमे ही कर दिया गया है, क्योकि यह कारिकावली ग्रन्थ अतिसक्षिप्त है, इस कारण इसमे अनित्यवायु के तीन ही प्रकार (शरीर, इन्द्रिय और विषय) बताये है। वस्तुत यह प्राणवायु एक ही प्रकार का ह तथापि हृदयादिस्थानो के भेद से और मुख से निगमन और पुन उसमे प्रवेशन आदि क्रिया भेद से वह पाच सज्ञाओ को प्राप्त करता है। सज्ञाभेद से सज्ञी का भेद नही समझना चाहिये। सज्ञी वायु एक ही ह, किन्तु उसकी सज्ञायें पाच है। वे पाच नाम (सज्ञायें) इस प्रकार है—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। कहा भी है—'हृदि **प्राणो**, गुदे **ऽपान**, **समानो** नाभिमण्डले। **उदान** कण्ठदेशे स्याद, **व्यान** सवशरीरग ॥' इस प्रकार **स्थानभेद** बताया गया है। तथा मुखनासिकाभ्या निष्क्रमण प्रवेशनात–प्राण।' मुख और नासिका के द्वारा निष्क्रमण और प्रवेशन क्रिया के कारण—उसे 'प्राण' कहते ह। 'मलादीनामधोनयनात—'अपान' मल आदि की अधोनयन क्रिया के कारण—उसे 'अपान' कहते है। 'भुक्तस्य पाकाथ जाठराग्ने समुन्नयनात—समान। भक्षित वस्तु का परिपाक करने के लिये जाठराग्नि की समुन्नयन क्रिया करने के कारण—उसे 'समान' कहते है। 'रसादे उध्वनयनात—उदान।' रसादि की उध्वनयनक्रिया करने के कारण—उसे 'उदान' कहते ह। नाडीमुखेषु वितननात—व्यान।' नाडियो के मुखभागो मे वायु की वितनन (फैलने की) क्रिया के कारण—उसे 'व्यान कहते है। इस प्रकार **क्रियाभेद** बताया गया ह। अनित्यकार्यो की उत्पत्ति और विकाश का क्रम सक्षेप मे इस प्रकार समझना चाहिये—ईश्वर की चिकीर्षा से 'परमाणुओ में क्रिया उत्पन्न होती ह, तब परमाणुद्वयसयोग होने पर 'द्वयणुक' उत्पन्न होता है,। द्वयणुकोत्पत्ति में 'परमाणु समवायिकारण है परमाणुद्वयसयोग' असमवायिकारण ह और परमेश्वर, उसका ज्ञान, इच्छा, उसकी कृति, काल, दिक्, प्रागभाव, अदृष्ट (धर्माधम), प्रतिबन्धकाभाव ये सब निमित्तकारण ह। कार्यमात्र के प्रति ये सब साधारणरूप से निमित्तकारण हुआ करते है। तब तीन द्वयणुको से 'त्र्यणुक' उत्पन्न होता ह, यहा भी पूर्ववत् द्वयणुको को समवायिकारण, उनके सयोग को असमवायिकारण, ईश्वरेच्छादि को निमित्तकारण समझना चाहिये। इसी प्रकार सजातीय त्र्यणुको में क्रिया, चार त्र्यणुको से एक चतुरणुक, वे चतुरणुक भी असख्य उत्पन्न होते ह। तब पाच चतुरणुक मिलकर एक स्थूलतर कार्य का आरम्भ होता है, तब स्थूलतर पाच पचाणु मिलकर एक स्थूलतम पञ्चाणुक

सज्ञक काय का आरम्भ करते है। इसी प्रकार पूर्वकाय की अपेक्षया उत्तरोत्तर स्थूल की उत्पत्ति के क्रम से महती पथ्वी, महान जल, महान् तेज, महान वायु उत्पन्न होता है। इस प्रकार उत्पन्न किये काय द्रव्यो की सजिहीर्षा (सहार करने की इच्छा) जब ईश्वर को होती है, तब उसकी इच्छा से ही परमाणुओ मे क्रिया, क्रिया से परमाणुद्वयविभाग, तब दो परमाणुओ के सयोग का नाश, तब द्वचणुक का नाश, तब त्र्यणुक का, तब चतुरणुक का नाश, इस प्रकार महती पृथ्वी आदि का विनाश होता ह। इसी को अवान्तर प्रलय कहते है। क्योकि 'सवकायद्रव्यध्वसोऽवान्तरप्रलय'—यह अवान्तर प्रलय का लक्षण है। और 'सवभावकायध्वसो महाप्रलय'—यह महाप्रलय का लक्षण है। अनित्य द्रव्य, अनित्यगुण, अनित्यकम को भावकाय कहते है। प्राचीन नैयायिकों का कहना है कि असमवायिकारण के नाश से द्वचणुक का नाश और समवायिकारण के नाश मे त्र्यणुक का नाश होता है। किन्तु नवीन नैयायिक सवत्र असमवायिकारण के नाश से ही द्रव्य का नाश मानते है। पुन सृष्टि के होने में 'धाता यथापूवमकल्पयत'-(ऋ १०।१९०।१-२ ३) यह श्रुति प्रमाण ह। मीमासक तो ससार प्रवाह को अनादि और अनन्त मानते है। उनका कहना है कि प्रलय के होने मे कोई प्रमाण नही ह। इस प्रकार वायवीय विषय का निरूपण समाप्त हुआ।

॥ इति वायुग्रन्थ ॥

आकाशस्येति। शब्द ही आकाश का विशेषगुण है। 'विशेष एव वैशेषिक'-यहा 'विशेष' शब्द से स्वाथ मे 'ठक' प्रत्यय किया गया है। एवच 'समवायेन शब्दाधिकरणत्वम्'—आकाशस्य लक्षणम। समवायसम्बन्ध से शब्द के अधिकरण को आकाश कहते है।

आकाश निरूपयति—आकाशस्येति। आकाशकालदिशामेकैकव्यक्तित्वादाकाशत्वादिक न जाति। किन्तु आकशत्व शब्दाश्रयत्वम्। वैशेषिक इति कथन तु विशेषगुणान्तरव्यवच्छेदाय। एतेन प्रमाणमपि दर्शितम। तथाहि, शब्दो विशेषगुण चक्षुर्ग्रहणायोग्यबहिरिन्द्रियग्राह्यजातिमत्त्वात् स्पर्शवत्। शब्दो द्रव्यसमवेतो गुणत्वात् सयोगवत् इत्यनुमानेन शब्दस्य द्रव्यसमवेतत्त्वे सिद्धे, शब्दो न स्पर्शवद्विशेषगुण अग्निसयोगासमवायिकारणकत्वाभावे सत्य कारणगुणपूर्वकप्रत्यक्षत्वात् सुखवत्। पाकजरूपादौ व्यभिचारवार-

णाय सत्यन्तम्। पटरूपादौ व्यभिचारवारणायाकारणगुणपूर्वकेति। जलपरमाणुरूपादौ व्यभिचारवारणाय प्रत्यक्षेति। शब्दो न दिक्कालमनसा गुणो विशेषगुणत्वात्। नात्मविशेषगुणो बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वाद्रूपवत्। इत्थ च शब्दाधिकरण नवम द्रव्य गगननामक सिध्यति।

न च वाय्ववयवेषु सूक्ष्मशब्दक्रमेण वायौ कारणगुणपूर्वक शब्द उत्पद्यतामिति वाच्यम् (१) अयावद्द्रव्यभावित्वेन वायुविशेषगुणत्वाभावात् ॥४४॥ इत्याकाशे प्रमाणकथनम।

● आकाश निरूपयति—आकाशनिष्ठविषयतानिरूपक यल्लक्षणस्वरूपप्रामाण्यादिप्रकारक ज्ञान तदनुकूलव्यापारानुकूलकृतिमान ग्रन्थकार इति शब्दबोध। आकाश, काल, दिक ये एक एक व्यक्ति है इस कारण इनमे रहनेवाले आकाशत्व, कालत्व, दिकत्व धम जातिरूप नही हो सकते। क्योकि 'आकाशत्व' आदि धम एकव्यक्तिवृत्ति होने के कारण 'जाति' शब्द से नही कहे जाते, किन्तु उन्हे 'अखण्डोपाधि' कहते है।

शका — आकाशत्व' को जातिरूप न मानने पर उसका स्वरूप क्या होगा ?

समा०—'शब्दाश्रयत्वम् आकाशस्य लक्षणम्।' यहाँ पर 'आश्रयता' को 'समवायसम्बन्ध से कहा गया ह। अत जगदाधारत्वेन रूपेण काल मे शब्दाश्रयता रहने पर भी अतिव्याप्ति नही है।

शब्दाश्रयत्व (शब्द का आधार होना) ही 'आकाशत्व' है, अर्थात आकाश, शब्द का आश्रय है। कारिकाकार ने ''शब्दो वैशेषिको गुण'' कहा है। शब्द मे 'वैशेषिक' विशेषण देने का प्रयोजन यह है कि आकाश मे शब्द से अतिरिक्त अन्य कोई विशेषगुण नही रहता, अर्थात शब्द ही एक मात्र विशेष गुण रहता है। तथाच—समवायेन शब्दाधिकरणत्वम अर्थात शब्दगुणकत्वमाकाशत्वम" इति आकाशलक्षणम। 'शब्दवत्त्वम आकाशत्वम'—यह लक्षण नही कहना चाहिये। क्योकि आकाश मे शब्द की सदा सवदा उपलब्धि नही होती। यदि आकाश का 'शब्दवत्त्व' लक्षण कहे तो उसका अथ होगा 'सदासवदा शब्द वाला अर्थात सदैव शब्दवत्त्व'। क्योकि 'नित्ययोग' अथ मे 'मतुप प्रत्यय का विधान है। तथाहि—भूमनिन्दाप्रशसासु 'नित्ययोगेऽतिशायने। सब धेऽस्ति विवक्षायाम्भवन्ति मतुबादय।' ऐसा होने से आकाश का 'शब्दवत्त्वम् लक्षण असम्भवदोष से ग्रस्त हो जायगा। अत 'समवायेन शब्दाधिकरणत्वमाकाशत्वम्' यही लक्षण करना उचित है। आकाश का विशेषगुण शब्द है'—यह कहने से 'आकाश' सज्ञक एक निराले द्रव्य

के अस्तित्व मे अनुमान प्रमाण के होने की सूचना दी गई है। 'तथाहीति।' अनुमान प्रयोग कर रहे है—शब्दो, गुण, चक्षुग्रहणायोग्यबहिरिन्द्रियग्राह्यजातिमत्त्वात, स्पशवत।'—शब्द, विशेषगुण है, स्पश की तरह क्योकि चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा ग्रहण के अयोग्य किन्तु बहिरिन्द्रिय (श्रोत्रेन्द्रिय, त्वगिन्द्रिय आदि) से ग्रहण करने योग्य शब्दत्वजातिविशिष्ट होने से। इस अनुमान मे स्वरूपाऽसिद्धि दोष न आ सके इसलिये अवान्तर अनुमानो को भी प्रदर्शित करना आवश्यक है। उपयुक्त अनुमान में 'स्पशवत' दष्टात दिया है। स्पश मे चक्षुरिन्द्रिय की अगोचर तथा बहिरिन्द्रिय त्वगिन्द्रिय की गोचर जाति 'स्पशवत जाति रहती ह, और वह 'स्पश' गुण ह। इस दष्टात से यह सिद्ध होता है कि जो चक्षुरिन्द्रिय की अगोचर तथा बाह्येन्द्रिय श्रोत्रेन्द्रिय की गोचर जाति 'शब्दत्व' शब्द मे रहने से 'शब्द' गुण है, यह प्रथम अनुमान किया गया गया है। इस प्रकार शब्द मे गुणत्व सिद्ध किया ह।

अब शब्द को आकाश का गुण न माननेवाले वैयाकरण तथा मीमासको के मत का खण्डन करने के लिये नैयायिक एक दूसरा अनुमान प्रदर्शित कर रहा है—इस अनुमान के द्वारा 'शब्द' में द्रव्याश्रितत्व सिद्ध किया जायगा 'शब्दो द्रव्यसमवेत' इति। अनुमान प्रयोग इस प्रकार है—'शब्द द्रव्यसमवेत गुणत्वात् सयोगवत'। इसमे शब्द' पक्ष ह, 'द्रव्यसमवेतत्व' साध्य है, 'गुणत्वात' हेतु है, 'सयोगवत' दष्टात है।

अथवा रूपवत' को भी दष्टात किया जा सकता है। जैसे 'सयोग' अथवा 'रूप' गुण होने के कारण 'समवायसम्बन्ध' से घटादि द्रव्य मे समवेत (सम्बद्ध) रहता है, वैसे ही शब्द भी 'गुण' होने से द्रव्यसमवेत होता है। इस अनुमान से यह सिद्ध हो जाता है कि जो गुण हो वह किसी द्रव्य मे 'समवायसम्बन्ध' से रहता ही ह। इस नियम के अनुसार शब्द भी गुण होने के कारण किसी द्रव्य में अवश्य ही समवाय सम्बन्ध से रहेगा, यह सिद्ध होता है।

अब 'शब्द' किस द्रव्य मे समवेत है? यह भी अनुमान से सिद्ध करेंगे, अर्थात् अनुमान के द्वारा जिस द्रव्य की सिद्धि की जा रही है उस आकाशद्रव्य के बिना अन्य किसी द्रव्य मे 'शब्द' सज्ञक गुण नही रहता, यह सिद्ध करेंगे। 'शब्दो न स्पशवद्विशेषगुण अग्निसयोगासमवायिकारणकत्वाभावे सति अकारणगुणपूवकप्रत्यक्षत्वात सुखवन।' इसमे 'शब्द' पक्ष है, 'स्पशवद्विशेषगुणत्वाभाव' साध्य है,

'अग्निसयोगा प्रत्यक्षत्वात' हेतु है। इस अनुमान के द्वारा यह बताया है कि जैसे 'सुख' (आत्मा का एक विशेष गुण) पाकजन्य (अग्निसयोग रूप असमवायिकारण से उत्पन्न होनेवाला) नही है, और अपने समवायिकारण (आकाश मे) गुण (असमवायिकारण) के योग से भी उत्पन्न नही है, किन्तु प्रत्यक्ष (मानस प्रत्यक्ष) का विषय ह तथापि वह (सुख) स्पशवान किसी द्रव्य का विशेष गुण नही है। इस दष्टात से यह नियम सिद्ध होता है कि 'जो 'गुण' पाकजन्य न होकर अपने समवायिकारण मे अथवा अपने समवायिकारण के अव यव मे गुण' (असमवायिकारण) के योग से उत्पन्न नही होता तथापि प्रत्यक्ष (इन्द्रिय गोचर) होनेवाला वह (गुण) स्पशवद द्रव्य का विशेषगुण भी नही होता। इस नियम के अनुसार यह सिद्ध होता है कि 'शब्द' पाकजन्य नही है, तथा अपने समवायिकारण (आकाश) मे गुण के योग से (असमवायिकारण के योग स) उत्प न नही होता और प्रत्यक्ष (श्रोत्रेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष विषय) होने के कारण वह (शब्द) स्पशवाले दव्य का विशेषगुण नही है।

तात्पय यह है कि 'शब्द' स्पशवदद्रव्य (पथ्वी, जल, तेज, वायु) का विशेष गुण नही है क्योकि 'अग्निसयोगासमवायिकारणकत्वाभावे सति' यह कहा है। अर्थात पृथ्वी आदि चार द्रव्यो के जो रूप, रसादि विशेषगुण है उनमे से कुछ तो पाकजन्य है अर्थात् उनकी उत्पत्ति अग्निसयोगरूप असमवायिकारण से होती है। इस कारण उन्हे अग्निसयोगाऽसमवायिकारणक कहा जाता ह। पथिवी आदि के रूप रसादि गुण, पाक (अग्निसयोग या तेज सयोग) से उत्पन्न होने के कारण परिवतनशील है। जैसे 'घट' मे अग्नि सयोग होने से उसका पूवरूप (श्यामरूप) नष्ट होता है, और अन्यरूप (रक्तरूप) उत्पन्न होता ह, इसलिये घट के रक्तरूप के प्रति 'अग्निसयोग' असमवायिकारण है। किन्तु यह स्थिति 'शब्दगुण' मे नही ह कि पूवशब्द का अग्नि सयोग से नाश होकर शब्दान्तर उत्पन्न होता हो। अत स्पशवाले पृथ्वी आदि चारो द्रव्यो मे से किसी का भी विशेषगुण वह (शब्द) नही है। दूसरी बात यह है कि पृथ्वी आदि चारो द्रव्यो के 'विशेषगुण' कारणगुणपूवक होते है, क्यो कि उन्ही कायगुणो को 'कारणगुणपूवक' कहते है जो कारणगुणो के द्वारा उत्पन्न होते है। जैसे—'पट का रूप , अर्थात 'पट' का कारण जो 'त तु' उसमें जो रूप होगा उसी के अनुरूप 'पट का रूप' होगा। शब्द में ऐसी बात नही ह क्योकि 'शब्द' की उत्पत्ति में न तो 'अग्नि सयोग असमवायिकारण है और न उसकी (शब्द की) उत्पत्ति कारणगुणपूवक' ही है। इसलिये शब्द मे 'अग्निसयोगाऽसमवायिकारण-

कत्वाभावविशिष्ट अकारणगुणपूवकत्वविशिष्ट प्रत्यक्षत्व' हेतु विद्यमान ह, क्योकि शब्द का श्रोनेन्द्रिय स प्रत्यक्ष होता ह।

सम्मयन्त विशेषणम' इस नियम के अनुसार 'अग्निसयोगा ऽसमवायिकारण-कत्वाभावे सति'— यह हेतु' का विशेषण है। इसका विग्रह इस प्रकार करना चाहिये–'अग्निसयोगाऽसमवायिकारण यस्य स = अग्निसयोगाऽसमवायिकारणक, तस्य भाव तत्त्वम, तदभावे सति। उसी तरह 'अकारणगुणपूवकप्रत्यक्षत्वात'— कारणगुणपूवकम्प्रत्यक्ष यस्य तत्कारणगुणपूवकप्रत्यक्षम, न कारणगुणपूवकप्रत्यक्ष, तत्कारणगुणपूवकप्रत्यक्षम तस्य भाव, तस्मात अकारणगुणपूवकत्वे सति प्रत्यक्षत्वात इत्यथ।

तब व्याप्तिका आकार यह होगा—यत अग्निसयोगरूपाऽसमवायिकारणकत्वाऽभावविशिष्टाऽकारणगुणपूवकप्रत्यक्ष तन्न स्पशवद्विशेषगुण। यदि हम केवल 'विशेष्यभाग' को ही कहे आर विशेषणभाग को न कहे तो पाकजरूपादिमे हेतु का व्यभिचार (अतिव्याप्ति) होगा। क्योकि पथ्वीनिष्ठपाकजरूपादिचतुष्टय मे 'अकारणगुणपूवकप्रत्यक्षत्व' तो है किन्तु 'अग्निसयोगाऽसमवायिकारणकत्व' नही है। यदि केवल विशेषणभाग का ही रखे तो 'पटरूप आदि मे हेतु का व्यभिचार (अतिव्याप्ति) होगा। क्योकि 'पटरूप' आदि मे कारणगुणपूवकप्रत्यक्षत्व है। क्योकि 'पथ्वी' मे अपाकजरूप आदि कारणगुणोत्पन्न हुआ करत है। 'कारणगुणोत्पन्नत्व' का अथ ह—'स्वाश्रयसमवायिसमवेतगुणजन्यत्व'। 'स्व पद से 'पट का रूप' उसका आश्रय 'पट उसका 'समवायि तन्तु उसमे 'समवेतगुण तन्तुरूप' ही ह। उस असमवायिकारणभूत तन्तुरूप से 'पटरूप' पैदा होता है। इसलिये पटादिपृथ्वीनिष्ठ अपाकजरूपादि' को 'कारणगुणोत्पन्न' कहते है। इसलिये इन अपाकजरूपादि का प्रत्यक्ष 'कारणगुणपूवक' बताया गया है। एवच 'पटरूप' आदि मे भी अग्निसयोगाऽसमवायिकारणकत्वाभाव' है। पटरूप आदि मे अग्निसयोग' को 'असमवायिकारण' नही माना जाना। यदि उसे 'पटरूप' के प्रति असमवायिकारण कहा जाय तो उस पट का दाह ही हो जायगा। अत पटरूप के प्रति 'तन्तुरूप' को ही असमवायिकारण माना जाता है। अत विशेषण, विशेष्य दोनो दलो की आवश्यकता है।

अभिप्राय यह है कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु—ये चार दव्य 'स्पश' गुणवाले है, "चत्वारिस्पशवन्ति हि" यह साधर्म्य-वैधर्म्य प्रकरण मे कह चुके है। 'स्पशगुण' वाले द्रव्यो का जो 'विशेषगुण'—जैसे, पृथ्वी का 'गन्ध', जल का शीत 'स्पश',

तेज का 'उष्णस्पर्श', वायु का 'अनुष्णाशीतस्पर्श'। उक्त चारो द्रव्यो के जिस जिस विशेषगुण का प्रत्यक्ष होता है, वह कारणगुणपूर्वक ही हुआ करता है। 'शब्द' का वैसा प्रत्यक्ष नही है, यदि वैसा होता तो गन्धादि के समान ही होता। तब उसे (शब्द को) भी पृथ्वी आदि चार द्रव्यो मे से ही किसी द्रव्य का गुण कहा जाता। किन्तु 'शब्द' तो अग्निसयोगाऽसमवायिकारणकत्वाभावविशिष्टाऽकारणपूर्वकप्रत्यक्षत्वधर्मवान है, अत वह (शब्द) स्पर्शगुणवाले द्रव्यो मे से किसी का भी विशेष गुण नही हैं, यह समझ मे आता है। वह (शब्द) तो उक्त चारो द्रव्यो से अतिरिक्त किसी विलक्षण द्रव्य का ही विशेषगुण है। वैशेषिक सूत्रकार ने भी कहा है—'कार्यान्तराप्रादुर्भावाच्छब्द स्पर्शवतामगुण'—(वै सू २।१।२५)। दण्डे से बजाये जाने पर (अभिघात करने पर) भेरी आदि (कार्य) मे शब्द का प्रादुर्भाव होता है, तथापि तद्भिन्न घट, पटादि अन्य कार्यो मे उसका (शब्दका) प्रादुर्भाव न होने से उसे (शब्दको) स्पर्शवाले पृथ्वी, जल, तेज, वायुसज्ञक द्रव्यो में से किसी का भी विशेषगुण नही कहा जा सकता।

दूसरी बात यह भी है कि 'शब्द' अयावद्द्रव्यभावी है अर्थात जब तक द्रव्य की स्थिति है, तब तक उसकी (शब्द की) स्थिति नही रहती। जैसे—पृथ्वी के गन्धादिगुण, जबतक पृथ्वी है तबतक रहते है। इसी कारण उन्हे (गन्धादिगुणोको) यावदद्रव्यभावी कहा जाता है। 'शब्द' मे वह बात नही है, 'शब्द' तो मन्द, मन्दतर, मन्दतम होता हुआ धीरे धीरे नष्ट हो जाता है, किन्तु उसका आश्रयभूत 'आकाशद्रव्य तो बराबर बना रहता है, वह नष्ट नही होता। अत पृथ्वी आदि द्रव्यगत गन्धादि गुणो के विपरीत धर्मवान यह (शब्द) है, इसलिये पृथ्वी आदि चार द्रव्यो में से किसी का भी उसे (शब्द को) विशेष गुण नही कहा जा सकता।

उक्त अनुमान में हेतुगत पदो का प्रयोजन बताते है पाकजेति। घट के पाकजरूप मे व्यभिचार न हो इसलिये 'अकारणगुणपूर्वकत्वे सति यह सत्यन्त पद दिया है। अन्यथा 'घट' का जो पाकजरूप है, वह 'कारणगुणपूर्वक' नही है, क्योकि 'कारण के गुणो के द्वारा जहा कार्य में गुण उत्पन्न होते है' उन्हें ही कारणगुणपूर्वक कहते हैं।

घट कार्य के रक्तरूपादि गुणो की उत्पत्ति में, घट का कारण जो 'कपाल' है, उसके गुण कारण नही है, बल्कि 'पाक' कारण है। इसलिये पाकजरूपादि मे 'अकारणगुणपूर्वकत्व' और 'प्रत्यक्षत्व' दोनो है। अत 'हेतु' तो है, किन्तु 'साध्य'

नही है। एवच विलक्षण तेज सयोगरूप पाक से जन्य पार्थिवरूपरसादि मे 'स्पश वद्विशेषगुणत्वाभाव' रूप साध्य के न होने से वे पार्थिवरूपरसादि 'साध्यभावाधिकरण हुए, उस साध्याभावाधिकरण मे 'अकारणगुणपूवकप्रत्यक्षत्व' हेतु के विद्य मान होने से व्यभिचार हो गया। उसके निवारणाथ 'अग्निसयोगाऽसमवायिकारणकत्वाऽभावव वे सति यह सत्यन्त पद दिया गया है। तब पाकजरूपादि में सत्यन्त दल नही है। वे 'अग्निसयोगासमवायिकारणक ही है। पटरूपादि मे व्यभिचार का वारण करने के लिये 'अकारणगुणपूवक' कहा गया है। क्योकि पटरूप' मे असमवायिकारण 'अग्निसयोग' नही है। उसे असमवायिकारण कहें तो 'पट' ही जल जायगा। अत पटरूप' मे असमवायिकारण तन्तुरूप' को ही कहा जाता है। एवच साध्याभावाधिकरण जो 'पटरूप' है, उसमें 'हेतु' के रहने से व्यभिचार होता है। उसके दूर करने के लिये 'अकारणगुणपूवक जोड दिया है। उसके जुडने से 'पटरूप' तो तन्तुरूपपूवक है, अर्थात तन्त्वात्मक कारण का जो गुण (रूप) तत्पूवक ही पट का रुप है अत 'पटरुप' को 'अकारणगुणपूवक नही कह सकते। इसलिये व्यभिचार नही है।

जलपरमाणुरुप आदि मे व्यभिचार निवारणाथ 'प्रत्यक्ष' पद दिया गया है। क्योकि जल और तेज के परमाणुरुप म 'अग्निसयोगाऽसमवायिकारणकत्वाऽभावविशिष्टाऽकारणगुणपूवकत्व' धम रहता है। तब 'हेतु' तो रह गया किन्तु 'साध्य' नही रहा अर्थात 'हेतु का सत्त्व' और 'साध्य' का असत्त्व' होने से व्यभिचार हो गया। हेतु मे 'प्रत्यक्ष' पद के देने से व्यभिचार दूर हो गया, क्योकि जल या तेज के परमाणुरुप का प्रत्यक्ष नही हुआ करता, अर्थात जल या तेज परमाणुरुप में प्रत्यक्ष विषयता नही है, इसलिये व्यभिचार नही है।

शका—शब्द को पृथिव्यादिचतुष्टय का विशेषगुण यदि नही कह सकते तो न कहे, किन्तु दिक, काल, मनस (मन) का उसे (शब्दको) विशेष गुण कहा जाय तो क्या हानि ह ?

समा०—'**शब्दो न दिक्कालमनसामिति**। एक नियम है कि 'यो लौकिकसयुक्तसमवायादिसम्बन्धेन इन्द्रियग्राह्य, अस्ति च तेनैव सम्बन्धेन द्वीन्द्रियग्रहणाऽयाग्यत्वधमवान गुणत्वव्याप्यजातिमाँश्च स **विशेषगुण** इत्युच्यते'।

जो लौकिक सयुक्त-समवायादिसम्बन्ध से इन्द्रिय ग्राह्य होता है, और उसी सम्बन्ध से द्वीन्द्रियग्रहणाऽयोग्यत्वधमवान् तथा गुणत्वव्याप्यजातिमान होता है उसे 'विशेषगुण' कहते है। इस नियम के अनुसार शब्द को विशेष गुण सिद्ध करने

मे अनुमान इस प्रकार होगा—'शब्द विशेषगुण लौकिकप्रत्यासत्त्या इन्द्रिय-ग्राह्यत्वेसति लौकिकप्रत्यासत्त्या द्वीन्द्रियग्रहणयोग्यताराहित्ये च सति गुणत्वव्याप्य-जातिमत्त्वात' । एवच दिक्, काल, मन मे कोई भी विशेषगुण नही रहता । दिक, काल, मन तीनो का विशेषगुण 'शब्द' नही है, इसे अनुमान के द्वारा बता रहे है—'शब्द दिक्कालमनोगुणत्वाभाववान विशेषगुणत्वात रूपवत ।' 'शब्द' पक्ष ह, 'दिक्कालमनोगुणत्वाभाव' साध्य है, 'विशेषगुणत्वात' हेतु है, 'रूपवत' दृष्टान्त है । जैसे 'रूप' एक विशेषगुण' है, और वह उक्त तीनो द्रव्यो का गुण नही ह । उसी तरह 'शब्द' भी एक विशेषगुण है, अत वह भी उक्त तीनो द्रव्यो का गुण नही हो सकता ।

शका—शब्द को दिक, काल मन तीनो का विशेषगुण यदि नही मान सकते तो मत मानिये, किन्तु उसे आत्मा का विशेष गुण क्यो नही मानते ?

समा०—नात्मविशेषगुण इति ।' 'शब्द आत्मविशेषगुणत्वाभाववान बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वात रूपवत ।' 'शब्द' पक्ष है, आत्मविशेषगुणत्वाभाव' साध्य है, 'बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वात' हेतु है । रूपवत' दृष्टान्त है । जैसे—रूप बहिरिन्द्रिय जन्यप्रत्यक्षत्व धमवाला होने से 'आत्मा' का गुण नही कहलाता, उसी तरह शब्द को भी बहिरिन्द्रिय (श्रोत्र) से ग्राह्य (प्रत्यक्ष) होने के कारण 'आत्मा' का गुण नहीं कह सकते । आत्मा के जो इच्छा आदि विशेषगुण कहे जाते हैं उनका बहिरिन्द्रिय से कभी भी प्रत्यक्ष नही हुआ करता । इस रीति से परिशेषानुमान के द्वारा शब्द के अधिकरणस्वरूप नवमद्रव्य 'आकाश' की सिद्धि हो जाती ह । परिशेष का अथ है—'प्रसक्तप्रतिषेधे अन्यत्र अप्रसगात शिष्यमाणे सम्प्रत्यय ।' अत **परिशेषानुमान** उसे कहते है कि जहाँ प्राप्ति की सम्भावना रहने पर निषेध किया जाय और उससे भिन्न स्थल मे अप्राप्ति हो, तब बचे हुए शेष विषय का जो अनुमान किया जाता है, उसे परिशेषानुमान कहते हैं । एवच अनुमान प्रयोग यह होगा—'शब्द पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रित अष्टद्रव्यानाश्रितत्व सति द्रव्याश्रितत्वात् ।' 'शब्द' गुण है यह पहले सिद्ध कर ही चुके है, अत उसे किसी द्रव्य के आश्रित रहना ही होगा । क्योकि द्रव्य के विना गुण की स्थिति हो ही नही सकती । किन्तु 'रूप' के तुल्य यह 'शब्द' नही है, जिससे पृथ्वी आदि द्रव्य के आश्रित हो सके, यह पहिले कह चुके है । गुण, कर्म आदि को 'शब्द का आश्रय कहना तो सम्भव ही नही हो सकता । क्योकि गुण, कम, कभी गुण, कर्म के आश्रय नही हुआ करते, अपितु गुण, कम का आश्रय तो ,द्रव्य' ही होता

है। एवच पथिव्यादि आठ द्रव्यो के अतिरिक्त बचा हुआ जो द्रव्य हो, वही सम वायसबध से 'शब्द' का आश्रय हो सकता है। वही 'आकाश' सज्ञक नवमद्रव्य है।

शका—'शब्द न स्पशवदविशेषगुण' इस पूर्वोक्त अनुमान मे बाध तथा स्वरूपासिद्धि क्यो नही हो पाती ? 'शब्द' को हम वायु का गुण कहगे। एवच—वायु के अवयवभूत परमाणु, द्वचणुकादिको मे जो सूक्ष्म शब्द रहता ह, वही क्रमश कार्यरूप त्रसरेणु आदि महावायु मे शब्द को उत्पन्न करेगा। तब उस कार्यात्मक शब्द को 'कारणगुण-पूवक' कहना ही होगा। अत हेतु में अकारणगुणपूवकत्व न होने से वह (हेतु) स्वरूपाऽसिद्धि दोष से दूषित हो जाता ह। और वह शब्द स्पशवान वायु का विशेषगुण होने से विशेषगुणत्वाभाव' रूप साध्य का शब्द मे 'बाध' भी है।

समा०—अयावदिति। पथ्वी से उत्पन्न होनेवाले गन्धादिगुण यावदद्रव्य-भावी[1] रहते ह, किन्तु शब्द' यावद द्रव्यभावी नही रहता। वह तो धीरे धीरे नष्ट हो जाता है, किन्तु उसका आश्रयभूत आकाश का नाश नही होता। इसलिये पृथिव्यादि के गन्धादिगुणो से विपरीत धमवाला शब्द, यावद द्रव्यभावी नही है, किन्तु अयावद द्रव्यभावी होने से (आश्रयनाशाऽजन्य नाशप्रतियोगी होने से अर्थात त्रिक्षणवत्तिध्वसप्रतियोगी होने से) वह (शब्द) वायु का गुण नही है। तात्पय यह है कि जो गुण जिस अनित्य द्रव्य का होता ह, उस द्रव्य का विनाश होने पर उस गुण का भी नाश हो जाता है'—यह नियम ह। यदि हम शब्द को वायु का गुण मान लें तो वायु का विनाश होने पर शब्द का भी विनाश मानना पडेगा। इसलिये शब्द को वायु का गुण मानना ठीक नही ह। अनुमान इस प्रकार होगा—'शब्द, वायुविशेषगुणत्वाऽभाववान, आश्रयनाशाऽजन्यनाशप्रति-योगित्वात ज्ञानवत'। अत शब्द को आकाश का ही गुण मानना चाहिये। तब आकाश[2] के नित्य और निरवयव होने से उसमें रहनेवाला शब्द 'असमवायि कारण' से उत्पन्न नही होता यह स्पष्ट हो जाता है ॥ ४४ ॥

इत्याकाशे प्रमाणकथनम।

---

१ यावदद्रव्यभावित्व नाम यावदद्रव्यस्थितिकालस्थितिकत्वम। द्रव्यस्थिति-कालपयन्त यस्य स्थिति, असौ यावदद्रव्यभावी। यथा पथिव्या गन्धादिगुणा उत्पद्यमाना यावत कायस्थायिनो यावदद्रव्यभाविन इत्युच्यन्ते। शब्दस्तु न तथा, किन्तु मन्दमन्दतरमन्दतमादितारतम्य विशिष्ट शनै शनै विनष्टो भवति, अस्याश्रयो द्रव्यमाकाशस्तु न नश्यति।

२ 'शब्दसमवायिकारणम्'—आकाश। 'पुस्याकाशविहायसी' इस अमरवचन-

से 'आकाश' शब्द पुँल्लिङ्ग है। जो द्रव्य, शब्द का समवायिकारण हो, उसे 'आकाश' कहते है। 'पृथ्वी' आदि के समान 'आकाश' अनित्य नहीं है, किन्तु वह नित्य, एक तथा **विभु** है। यद्यपि 'घटाकाश' 'मठाकाश' ये आकाश के भेद प्रतीत होते है, किन्तु वे वास्तविक न होकर उपाधिकृत है। 'आकाशवत्सवगतश्च नित्य'—यह आत्मा आकाश के समान सर्वगत (विभु) और नित्य है, इस श्रुति से भी आकाश का विभुत्व तथा नित्यत्व सिद्ध होता है। 'सवमूतद्रव्यसयोगी **विभु**'—जो द्रव्य सब मूत द्रव्यों के साथ सयोग सम्बन्ध से रहता हो उसे विभु कहते है। 'परिच्छिन्नपरिमाणवत्त्वमूतत्वम' अथवा 'क्रियाश्रयत्व मूतत्वम' पृथ्वी, जल, तेज, वायु, मन—इन पाच द्रव्यो का नाम मूत है। परममहत परिमाणवाले आकाश, काल, दिक, आत्मा हैं, उनमें न रहनेवाले परिमाण का नाम **'परिच्छिन्नपरिमाण'** हैं। 'परिमाण' पृथ्वी आदि पाच द्रव्यो में रहता है, तद्वत्त्व का इन्ही पाचो में होना ही इनमे **'मूर्तत्व'** है। अथवा कमरूपक्रिया समवायसम्बन्ध से पृथ्वी आदि इन्ही पाचो मे रहती है, अत क्रियावत्त्वरूप मूतत्व भी इनमें है।

शका—'आत्मन आकाश सभूत' इस श्रुति मे आकाश की आत्मा से उत्पत्ति कही गई है, किन्तु अनित्य (जन्य) पदाथ की ही उत्पत्ति होती है, अत आकाश भी अनित्य है, यह प्रतीत होता है।

समा०—उपयुक्त श्रुति में 'सभूत' पद का अथ **अभिव्यक्ति** है। जैसे—**मीमासको** के मत में वर्णात्मक नित्य शब्द की कण्ठादि स्थानो से अभिव्यक्ति मानी गई है, वैसे ही हम भी अभिव्यक्ति मानते है।

उदभूतरूप तथा स्पर्श के अभाव मे 'आकाश' की प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्धि नही हो सकती। अत, उसके (आकाश के) अस्तित्व में अनुमान प्रमाण दिखाते है—'शब्द पथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रित अष्टद्रव्यानाश्रितत्वेसति द्रव्याश्रितत्वात, यन्नैव तन्नैव, यथा रूपम। शब्दगुण, पृथ्वी आदि अष्ट (आठ) द्रव्यो से भिन्न किसी द्रव्य के आश्रित होने योग्य है। जैसे—रूपगुण, पृथ्वी आदि अष्टद्रव्यो से भिन्न किसी द्रव्य के आश्रित नही है, किन्तु अष्टद्रव्यान्तगत पृथ्वी, जल, तेज के ही आश्रित है। अब उपयुक्त अनुमानगत प्रयुक्त हेतु मे यदि 'अष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति' न कहे तो रूपादि' भी द्रव्य के आश्रित हैं तो उनमें व्यभिचार हो जायगा। यदि 'द्रव्याश्रितत्वात' न कहें तो रूपत्वादि जातियो में व्यभिचार हो जायगा। अब अनुमान प्रमाण के द्वारा शब्द में द्रव्याश्रितत्व सिद्ध करते है—'शब्द द्रव्यसमवेत

गुणत्वात् सयोगवत'। अब पूर्वोक्त अनुमान मे अष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति द्रव्याश्रितत्वात' यह हेतु 'विशेष्याऽसिद्धि' दोष से दूषित नही है, तथापि 'विशेषणाऽसिद्धि' दाष हो सकता है। इस शका को दूर करने के लिये अनुमान के द्वारा 'शब्द' मे अष्टद्रव्यानाश्रितत्व' सिद्ध करते है। 'शब्द अष्टद्रव्यानाश्रित श्रोत्रग्राह्यत्वात शब्दत्ववत' जैसे—'शब्दत्वजाति' श्रोत्रेन्द्रियजन्यज्ञान का विषय है, इस कारण पथ्वी आदि अष्टद्रव्यो के आश्रित भी नही ह, वैसे ही 'शब्द' को भी समझना चाहिये। अब पूर्वोक्त अनुमान मे कोई दोष नही ह।

शका—'शब्द' को गुण मानने मे क्या प्रमाण है ?

समा॰—अनुमान प्रमाण है। अनुमान—'शब्दो, गुण, चक्षुग्रहणाऽयोग्य-बहिरिन्द्रियग्राह्यजातिमत्त्वात, स्पशवत।' 'चक्षुर्ग्रहाणायोग्य' यह पद न दें तो 'घट आदि' मे व्यभिचार होगा। यदि 'बहिरिन्द्रियग्राह्य' न कहे ता 'आत्मा' मे व्यभिचार होगा। यदि जातिमत्त्वात' न दें तो 'रसत्वादि' जातियो मे व्यभिचार होगा।

शका—'आकाश' में सख्यादि छह गुण माने गये ह, किंतु 'दधिधवलमाकाशम' इस प्रतीति से 'रूप' को भी सातवा (सप्तम) गुण यदि मान लें तो क्या हानि है ?

समा॰—'जपाकुसुम' के सम्बन्ध से स्वच्छ स्फटिक मे 'लोहित स्फटिक' प्रतीति जिस प्रकार होती है, उसी प्रकार रूपरहित आकाश मे सूय चन्द्रनक्षत्रादि की प्रभा के सम्बन्ध से उसमे धवलता (श्वेतत्व) की भ्रम से प्रतीति होती है। एवच 'दधिधवलमाकाशम' यह प्रतीति जैसे औपाधिक है, वैसे ही 'नील नभ' यह प्रतीति भी औपाधिक ह। भूगोलमध्यवर्ती सुमेरु' पवत के चार शिखर पूर्वादि चार दिशाओ मे है। पूव दिशा में पद्मरागमयशृङ्ग (शिखर) है, दक्षिणदिशा मे इन्द्रनीलमय शृग है। पश्चिम दिशा में रजतमय शृग और उत्तर दिशा में सुवणमय शृग है। सुमेरु के दक्षिणदिशागत श्यामवणवाले 'इन्द्रनीलमय शृग का इस भरतखण्ड के साथ सम्बन्ध है। अत उस श्यामप्रभा का 'स्व-समवायिसयोग' सम्बन्ध से सम्बन्ध होने के कारण श्यामरूप की आकाश मे प्रतीति होती है। अन्य खण्डो मे उन उन शृगो के सम्बन्ध से रक्त, पीत, श्वेत रूप की प्रतीति होती है यह पतञ्जलि कहते है। कुछ लोग कहते है कि पीलिया (कामला) दोष से युक्त नेत्रवाले को श्वेत शख पीतवण का दीखता है, वैसे ही नेत्रो में श्यामता होने के कारण आकाश में श्याम (नील) रूप की प्रतीति होती ह। यह श्यामता कपिलाक्षो को नही दीखती। अथवा आकाश पोल (खाली) ह, उसमे नेत्रो की गति न जाने से कालापन दीखता है।

तत्र शरीरस्य विषयस्य चाभावादिन्द्रियं दर्शयति—

● शंका—आकाशनिरूपण के प्रसङ्ग में आकाशीय शरीर तथा विषय का निरूपण करना छोडकर इन्द्रिय निरूपण क्यो किया जा रहा है ? क्योंकि सवत्र पहले शरीर तथा विषय निरूपण करने के बाद ही इन्द्रिय निरूपण करते आ रहे है । अत यहाँ उस क्रम को क्य। त्यागा जा रहा है ?

समा०—मुक्तावलीकार उत्तर देते है कि आकाशीय चेष्टाश्रय शरीर और उपभोगसाधन विषय के न होने से उनका निरूपण करना असम्भव है, इसलिये उन्हे छोडकर 'इन्द्रिय' का निरूपण प्रस्तुत किया जा रहा है । अर्थात पूववर्णित पथ्वी आदि के समान आकाश के 'शरीर तथा विषय' ये दोनो भाग नही ह । केवल 'इन्द्रिय'-सज्ञक एक ही भाग है ।

इन्द्रियं तु भवेच्छ्रोत्रमेकः सन्नप्युपाधितः ।

● आकाश के इन्द्रियसज्ञक भाग का नाम 'श्रोत्र' है । 'श्रोत्र' का अथ कण (कान) है । वह आकाशात्मक इन्द्रिय नित्य है, अनित्य नही है । 'श्रूयते अनेन' इति श्रोत्रम'=जिससे सुना जाता है उसे 'श्रोत्र' कहते हें । श्रवणाथक 'श्रु' धातु से 'सवधातुभ्य ष्ट्रन्' इस उणादिसूत्र के द्वारा 'करण' अथ मे 'ष्ट्रन' प्रत्यय लगा कर 'श्रोत्र' शब्द की निष्पत्ति की जाती है ।

शका—लाघवात आकाश को 'एक' सिद्धकिया जा चुका है और श्रोत्रेन्द्रियाँ तो प्रत्येक जीव की भिन्न भिन्न है, अत वे अनेक हैं । तब उस श्रोत्रेन्द्रिय को आकाशात्मक (आकाशरूप) कैसे कहा जाय ?

समा०—'एक सन्नप्युपाधित ' कहते हुए कारिकाकार उत्तर दे रहें है—'आकाश' तो एक अर्थात सजातीय-प्रतियोगिक भेदरहित ही है, किन्तु कण (श्रोत्र) पुरुष भेद से भिन्न हे अर्थात् कर्णशष्कुली रुप उपाधिके भिन्न होने से वह (आकाश) भिन्न भिन्न (अनेक) समझा जाता है अर्थात आकाश की भिन्नता औपाधिक है । वैसे आकाश तो एक ही है । तत तत कणचमपुट के सम्बन्ध से एक ही आकाशमें अनेक श्रोत्रेन्द्रियो का व्यवहार किया जाता है । अर्थात देवदत्त के चमपुट के छिद्र में स्थित आकाश देवदत्त की श्रोत्रेन्द्रिय है और चैत्र के चर्मपुट में स्थित आकाश चैत्र की श्रोत्रेन्द्रिय है, इस प्रकार अनेक श्रोत्रेन्द्रियो का व्यवहार किया जाता ह । 'शष्कुलीव कर्णं ' इति कर्णशष्कुली । 'शष्कुली पूरिका प्रोक्ता' इति निघण्टु । कर्णशष्कुलीविवरावच्छिन्नमाकाश श्रोत्रमित्यथ ।

नन्वाकाश लाघवादेक सिद्ध श्रोत्र तु पुरुषभेदेन भिन्न कथमाकाश स्यादिति चेत्तत्राह—एक सन्नपीत्यादि। आकाश एक एव सन्नपि उपाधे कर्णशष्कुल्यादेर्भेदाद् भिन्न श्रोत्रात्मक भवतीत्यर्थ ।

इत्याकाशेन्द्रियनिरूपणम् ।

इत्याकाश-ग्रन्थ ।

● शङ्का—आकाश को इन्द्रियरूप (इन्दियात्मक) स्वीकार करने पर उसे अनित्य कहना पडेगा। किन्तु 'आकाश' को तो विभु और नित्य कहा जाता है। आकाश की विभुता इसलिये है कि उसमे शब्द की सवत्र उपलब्धि कराने की योग्यता है, 'विभुत्वञ्च शब्दस्य सवत्रोपलम्भयोग्यतावत्त्वात्' । दूसरा कारण यह भी है कि 'मूतद्रव्यवृत्तिसयोगवत्त्व' उसमे है। इसी कारण उसे नित्य भी माना जाता है। किन्तु अब उसे इन्दियरूप माननेपर अनित्य कहना होगा। और आकाश को लाघवात एक ही सिद्ध किया जाता है। क्योकि घटाकाश, मठाकाश आदि अनेक मानने पर अनेक कल्पनारूप गौरव स्वीकार करना होगा, और उसे एक मान लेने पर (एक कल्पना करनेपर) लाघव होगा। अत आकाश एक ही है। ऐसी परस्थिति में उस एक आकाश को पुरुषभेद से भिन्न श्रोत्रेन्दियरूप कैसे कह सकते हैं ?

समा०—मुक्तावलीकार 'एक सन्नपि' ग्रन्थसे समाधान कर रहे है—यद्यपि आकाश एक है तथापि कर्णशष्कुली की भिन्नता के कारण आकाश भिन्न भिन्न (अनेक) होता हुआ श्रोत्ररूप समझा जाता है। तथा च 'श्रोत्र, स्वानुयोगिवृत्तित्व—स्वप्रतियोगिवृत्तित्व उभयसम्बन्धावच्छिन्नभेदवद्धर्मावच्छिन्नम, स्वप्रतियोग्याश्रितत्वसम्बन्धेनपुरुषभेदवत्त्वात' इस अनुमान से 'श्रोत्र' की भिन्नता (अनेकता) सिद्ध होती है यहाँ 'स्व' पद से 'चत्रीयश्रोत्रभेद' लिया, उसका अनुयोगी 'मैत्रीयश्रोत्र' हुआ उसमें वृत्ति श्रोत्रत्व है, अत तद्वृत्तित्व श्रोत्रत्व में गया, इस प्रकार उभयसम्बन्धावच्छिन्न (उभयसम्बन्ध से युक्त) भेदवद्धर्म 'श्रोत्रत्व', उससे अवच्छिन्न (युक्त) श्रोत्र ही होगा। क्योंकि वह स्व = पुरुषभेद उसके प्रतियोगी पुरुष मे आश्रित है। अत स्व प्रतियोग्याश्रितत्व सम्बन्ध से पुरुषभेदवान् 'श्रोत्र' हुआ है। एवच 'स्वप्रतियोगिकणशष्कुलीरूप-

विशेषणभेदप्रयोज्यविशिष्टभेदप्रतियोगि श्रोत्रम'। 'स्व'=कण शष्कुलीभेद तत्प्रतियोगी कर्णशष्कुलीरूपविशेषण का भेद, उससे प्रयुक्त (उसके कारण होनेवाला) श्रोत्रका विशिष्टभेद, उसका प्रतियोगी श्रोत्र हुआ। विभु का अथ व्यापक है अर्थात 'अत्यन्ताऽभावाऽप्रतियोगित्व'। 'आत्मन आकाश सभूत'—(तै उ २।१।१) यह आकाशोत्पत्तिप्रतिपादकश्रुति, ब्रह्माण्डरूप उपाधिवशात आकाशाभिव्यक्तिपरक समझनी चाहिये। अन्यथा परमाणुओ मे भी अनित्यता प्राप्त होगी। वस्तुत 'आत्मा और आकाश' मे ज य जनकभाव मानना अनुमान विरुद्ध है। अत उक्त श्रुति को अथवादरूप मानना चाहिये। आकाश का अपना कोई शरीर न रहने पर भी जीवा के अदृष्ट के अलौकिक माहात्म्य से उसकी इन्द्रिय है, और वह 'श्रोत्र' है। श्रोत्र का सरल लक्षण—'शब्दधीजनकमिन्द्रिय श्रोत्रम'[1] समझना चाहिये। 'यदि द्रिय रूपादिषु मध्ये यदगुणग्राहक तदिन्द्रिय तद्गुणयुक्तम' इस व्याप्तिके अनुसार शब्द को श्रोत्र का गुण मानने से 'शब्दगुणकत्वम आकाशत्वम' अर्थात समवायसम्बन्ध से शब्दसमवायिकारणत्वम आकाशत्वम्' इस आकाशलक्षण का लक्ष्य आकाश सिद्ध होता है।

नवीन नैयायिक शब्द का निमित्तकारण ईश्वर मानते है। अत उसीको शब्द का समवायिकारण भी मान लेते है। एवञ्च उनके मत से ईश्वर ही श्रोत्र है। कुछ लोगो का कहना है कि मृदङ्गादि वाद्यो का ही वह (शब्द) गुण है, आकाश का नही। किन्तु मुक्तावलीकार ने शब्द को आकाश का ही गुण माना है।

इत्याकाशनिरूपणम।

१—'शब्दधीजनकमिन्द्रियश्रोत्रम'—शब्दविषयकज्ञान का जनक जो इन्द्रिय है, उसे 'श्रोत्र' कहते है। 'शब्दधीजनक' न कहे तो चक्षुरादि इन्द्रियो मे अतिव्याप्ति हो जायगी। यदि 'इन्द्रियम' न कहे तो काल आदि में अतिव्याप्ति होगी।

शका—'मन' तो समस्त ज्ञानो का जनक है, अत वह शब्द ज्ञान का भी जनक होगा, किन्तु वेदान्तियो ने 'मन' को तो इन्द्रिय नही माना है।

उत्तर—'मन' मनस्त्वरूप से सब ज्ञानो का जनक है 'इन्द्रियत्व' रूपसे नही। अथवा—शब्दसमवायिकारणमिन्द्रियश्रोत्रम'—जो इन्द्रिय शब्द गुण का समवायि कारण हो उसे 'श्रोत्र' इन्द्रिय कहते है। शका—श्रोत्रेन्द्रिय मे किस प्रकार से

जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः ॥४५॥

जन्यानाम्=उत्पन्न पदार्थों का, जनक=उन्पादक (निमित्त कारण), (य, स) काल 'कलनात सवभूताना स काल परिकीर्तित'। समस्त जन्य पदार्थों के आयु की सख्या करने से उसे काल कहते हैं। यह काल समस्त जन्य पदार्थों की उत्पत्ति के प्रति निमित्त कारण है इस कारण यह काल 'कालिक' सज्ञक सम्बन्ध से उस उत्पत्ति का अधिकरण है अर्थात् सम्पूण जगत का आधार है। 'काल' का कायमात्र के प्रति समवायिकारण नही कह सकते। द्रव्य होने के कारण उसे असमवायिकारण भी नही कह सकते। इस कारण यहा 'जनक' पद का अथ 'निमित्त कारण' समझना चाहिये। न्याय की भाषा में काल का लक्षण इस प्रकार कहा जायगा—'कायत्वावच्छिन्नम्प्रति कालिकसम्बन्धावच्छेदेन निमित्तकारणत्व—

'आकाशात्मकता' है ? **उत्तर**—अनुमान प्रमाणके द्वारा उसे बताया जा सकता है। 'जो जो इन्द्रिय, रूप रस-गन्ध-स्पश शब्द इन पाँचो मे से जिस-जिस गुणका ग्रहण करे, वह वह इन्द्रिय उस उस गुणवाली अवश्य होती है।' जैसे चक्षु, रसन, घ्राण त्वक ये चारो इन्द्रिया यथा क्रम रूप, रस, गन्ध और स्पश इन चारो गुणो का ग्रहण करती है। इस कारण चक्षुरादि चार इन्द्रियाँ क्रमश उन रूपादिगुणोवाली समझी जाती है। वैसे ही 'श्रोत्रेन्द्रिय' भी 'शब्द' गुण का ग्रहण करती ह, इस कारण 'श्रोत्रेद्रिय' भी 'शब्द' गुणवाली अवश्य होगी। 'वह शब्द' एक 'आकाश' मे ही है। अत यह श्रोत्रेन्द्रिय, आकाशरूप है।

नवीन नयायिक (रघुनाथ शिरोमणि) तो आकाश, काल, दिक तीनो का 'ईश्वर' मे ही अन्तर्भाव करते हैं। कुछ विद्वानो का कहना है कि यदि शब्द केवल आकाश का ही गुण होता तो शब्दसमवायिकारण' रूपसे आकाश की सिद्धि होती, किन्तु 'यह शब्द' मृदग, भेरी आदि वाद्यात्मक पृथ्वी का ही गुण है। वे पृथ्वीरूप वाद्यादि ही शब्द के 'समवायिकारण' है। किन्तु प्राचीन नैयायिक तो मृदङ्गादिवाद्यो को 'शब्द' का निमित्तकारण मानते है। लोक व्यवहार मे भी 'यह शब्द मृदङ्ग का है तथा यह शब्द भेरी का है' ऐसी प्रतीति होती है। 'यह शब्द आकाश का है'—यह प्रतीति नही होती। अत मृदगादिवाद्यो को ही शब्द का समवायिकारण मानना चाहिये। परन्तु यह मत, मुक्तावलीकार को अभिमत नही है, क्योकि उक्त मत 'आत्मन आकाश सम्भूत', श्रुति के विरुद्ध है। वेद भी शब्द को आकाश का ही गुण बता रहा है।

कालत्वम् ।' अर्थात 'कालिकसम्बन्धावच्छिन्नकार्यत्वावच्छिन्ना या कार्यता, तन्निरूपिता या तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नाधिकरणता, तादृशाधिकरणतया निमित्तकारणत्व कालत्व' मिति **काललक्षणम् ।** लक्षण मे 'कालिकसम्बन्धावच्छिन्न' पद का निवेश करने से 'दिक' म और 'अधिकरणत्वावच्छिन्न' कहने से अदृष्ट आदि मे लक्षण की अतिव्याप्ति नही हो पाती । वैशेषिक सूत्रकार ने भी कहा है—'नित्येष्वभावादनित्येषु भावात कारणे कालस्येति'—(वै सू २।२।९) आकाशादि नित्य पदार्थों मे 'युगपज्जात , चिर जात , क्षिप्र जात , इदानीं जात , दिवा जात , रात्रौ जात ' इत्यादि प्रत्यय के न होने से और घट पटादि अनित्य (कार्य) पदार्थों में उक्त प्रत्यय के होने से अर्थात कार्यमात्र के प्रति अन्वय व्यतिरेकद्वारा जो कारण होता है उसे काल कहते है । एवञ्च 'काल कालिकेन सर्ववान' इस प्रतीति से सर्वाधिकरणत्वेनरूपेण 'कालनामक द्रव्य' की सिद्धि हो जाती है ।

● काल निरूपयति जन्यानामिति । तत्र प्रमाण दर्शयितुमाह—जगतामिति । तथाहि 'इदानीं घट' इत्यादिप्रतीति सूर्यपरिस्पन्दादिक यदा विषयीकरोति, यदा सूर्यपरिस्पन्दादिना घटादे सम्बन्धो वाच्य । स च सम्बन्ध सयोगादिर्न सम्भवतीति काल एव तत्सम्बन्धघटक कल्प्यते । इत्थ च तस्याश्रयत्वमपि सम्यक् ॥ ४५ ॥

● 'काल निरूपयति' का शाब्दबोध इस प्रकार होगा—'कालनिष्ठविषयतानिरूपक यत लक्षण स्वरूप प्रामाण्यादिप्रकारक ज्ञान, तदनुकूलव्यापारानुकूलकृतिमान ग्रन्थकार । 'काल' के अस्तित्व में 'जगताम' इत्यादि ग्रन्थ से अनुमान प्रमाण बताया गया है उससे सिद्ध हुआ कि 'वह काल' जगत का आधार है । उसी अनुमान प्रमाण को 'तथाहि' ग्रन्थ से बता रहे है—'इदानी घट =इस समय में घट है, यह प्रतीति (ज्ञान) सूर्य परिस्पन्द (सूर्यगति) रूप गतिक्रिया को विषय करती ह, क्योंकि लोकव्यवहार में ऐसा ही देखा जाता ह । उक्त प्रतीति के बल पर यह स्वीकार करना होगा कि वर्तमान काल में सूर्य की परिस्पन्दरूप गत्यात्मक क्रिया के साथ घट पटादि कार्यरूप पदार्थो का (जन्य पदार्थ मात्र का) कोई सम्बन्ध अवश्य होगा । क्योंकि बिना सम्बन्ध के उक्त प्रतीति हो नही सकती । 'इदानीम्' का अर्थ सूर्य की चलनात्मक क्रिया (गति) है । उस क्रिया से उस प्रतीति के विषय (घट आदि) का कोई सम्बन्ध तो कहना ही होगा । वह सम्बन्ध 'सयोग' तो हो नही सकता, क्योंकि सूर्यक्रिया के साथ 'घट' का 'सयोगसम्बन्ध' होना सम्भव नही । उसी तरह उसके साथ 'समवायसम्बन्ध' भी नही

हो सकता, क्योंकि घट में सूयक्रिया का समवाय नही है। दोनो मे 'स्वरूप-सम्बन्ध' भी हो नही सकता। क्योंकि दोनो मे से कोई किसी का स्वरूप नही है। अत 'सूयक्रिया' और 'घट' दोनो मे 'परम्परासम्बन्ध' कहना होगा। वह परम्परासम्बन्ध 'स्वाश्रयतपनसयोगिसयोग' है। यहाँ पर 'स्व' शब्द से सूयक्रिया को लेंगे, उसका 'आश्रय' तपन (सूय), उसका 'सयोगी' काल, उसका सयोग' घट में है। इस प्रकार परम्परा सम्बन्ध घटक जो पदार्थ है वह 'काल' पदार्थ ही है, यह अनुमान किया जाता है। उक्त परम्परासम्बन्ध को 'स्व-समवायि सयुक्तसयोग' शब्द से भी कह सकते है। 'स्व' से सूयक्रिया, उसका 'समवायि' सूय, उससे 'सयुक्त' काल, उसके साथ घटादि जन्यपदार्थों का सयोग-सम्बन्ध रहता है, क्योंकि 'द्रव्यद्रव्ययोरेव सयोग '—दो द्रव्यो का ही सयोगसम्बन्ध हुआ करता ह, यह नियम है। इदानी घटरूपमुत्पन्नम् यहाँ पर रूपादिगुण के साथ काल का सम्बन्ध 'स्व समवायिसयुक्तसयोगिसमवेतत्व' होगा। स्व'—सूय क्रिया, तत्समवायी सूय, तत्सयुक्त काल, तत्सयोगी घट, तत्समवेतत्व रूप मे है।

इस अनुमान प्रमाण के बल पर काल का अस्तित्व सिद्ध होने पर जगत का आधार काल है यह बात समझ में आ जाती है। सूय की क्रिया के साथ घट पटादि जन्यपदार्थों का सम्बन्ध काल के द्वारा ही होता है। अत कालपदाथ को अवश्य स्वीकार करना होगा[१] ॥४५॥

---

१ 'विभुत्वे सति दिगसमवेत-परत्वाऽसमवायिकारणाधिकरण काल '—जो 'दव्य विभु होकर 'दिशा' मे असमवेत जो 'परत्वादि', उसके असमवायिकारण घटादि के साथकाल का सयोगी का अधिकरण हो, वही 'काल' है–यह काल का लक्षण है। कनिष्ठ (छोटे) भाई की अपेक्षा ज्येष्ठ भाई मे 'कालिक परत्व' है उस 'परत्व' का समवायिकारण 'ज्येष्ठभाई' है और ज्येष्ठ के साथ 'काल' का जो 'सयोगसम्बन्ध' है, वह उस 'परत्व' का असमवायिकारण है। वह 'दिशा' मे नही रहता है। इस कारण पूर्वोक्त सयोग का 'वह काल' आधार है और विभु है। ज्येष्ठ भ्राता में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति न हो, इसलिये 'विभुत्वे सति' यह पद दिया गया है। यदि 'दिगसमवेत' न कहे तो दिशा मे दोष होगा। यदि 'परत्व' न कहे तो आत्मा मे अतिव्याप्ति होगी।

अथवा—'अतीतादिव्यवहारहेतु काल '—भत भविष्यत्-वतमान आदि जो व्यवहार, उसका हेतुभूत जो हो, उसे काल कहते है। यहा 'हेतु' शब्द से 'असा धारणनिमित्तकारण' ही विवक्षित ह, जो 'काल' मे ही उपलब्ध होता है। 'अय ज्येष्ठ पर, अय कनिष्ठ अपर ' इस प्रत्यक्ष प्रतीति के बल से उस कालिक परत्व

अपरत्व को अवश्य स्वीकार करना होगा। अत यह अनुमान होता है कि 'ज्येष्ठ कनिष्ठशरीरनिष्ठे परत्वाऽपरत्वे, असमवायिकारणजन्ये, जन्यगुणत्वात रूपवत'– ज्येष्ठ शरीर में स्थित परत्वगुण तथा कनिष्ठ शरीर मे स्थित अपरत्वगुण ये दोनो असमवायिकारणसे उत्पन्न होने योग्य (जन्य) है, जन्यगुण होने से, जैसे—घट निष्ठ'रूपगुण' जन्य होने से असमवायिकारण से जन्य होता है। उसी प्रकार ज्येष्ठ शरीर तथा कनिष्ठ शरीर के साथ जो काल का सयोग सम्बन्ध है, वह परत्व अपरत्व का असमवायिकारण है, और उसका आश्रय 'काल' ही है। इस अनुमान में 'जन्य' पद यदि न दे तो परमाणुनिष्ठ रूपादि नित्यगुणो मे व्यभिचार होगा। यदि 'गुण' पद न दें तो 'प्रध्वसाभाव' मे हेतु का व्यभिचार होगा।

कतिपय विद्वान काल की सिद्धि मे अनुमान इस प्रकार करते है— तद्विशिष्टज्ञान विशेषण-**विशेष्योभयसम्बन्धघटकसापेक्ष,** साक्षातसम्बन्धाऽभावे सति विशिष्टज्ञानत्वात्, लोहितस्फटिक इति ज्ञानवत'। जैसे—यह व्यक्ति अमुकव्यक्ति की अपेक्षा बहुतर रविक्रियावाला है'—इस विशिष्टज्ञान से उस व्यक्ति मे 'कालिकपरत्व' की उत्पत्ति होती है और 'यह अमुकव्यक्ति उस व्यक्ति की अपेक्षा अल्पतर रविक्रियावाला ह'—इस विशिष्टज्ञान से उस व्यक्ति मे कालिक अपरत्व की उत्पत्ति होती है। यह नैयायिको का सिद्धान्त है। इस सिद्धात के बल पर उपयुक्त अनुमान निष्पन्न किया गया है। यहा पर 'अय शरीरादिरूपपिण्डो बहुतररविपरिस्पन्दवान' इत्याकारककालिकपरत्वनिमित्त-विशिष्टज्ञानम "तद्विशिष्टज्ञानम्" इति पक्ष पदाथ। क्रियारूप विशेषण, पिण्डरूप विशेष्य, तदुभय सबन्ध-घटको य कश्चन पदाथ, तत्सापेक्षमिति साध्यपदानामथ। अत्र व्याप्तेराकार एवमवधेय –यत **साक्षात्सम्बन्धाभावविशिष्ट विशिष्टज्ञान, तत् 'विशेषणविशेष्योभय सम्बन्धघटकसापेक्षम्' इति व्याप्तेराकार** ।

यथा लोहित स्फटिक इति ज्ञानम्। अत्र स्वभावत शुक्लस्फटिको विशेष्यम, लोहितरूप विशेषणम् परन्तु लोहितरूपस्य साक्षात सम्बन्धो नैवास्ति स्फटिके। **सयोग समवायश्चेति** द्वावेव सम्बन्धौ साक्षात् सम्बन्धपदेनोच्येते। तत्र स्फटिके लौहित्यस्य न सयोगो नापि समवाय, तस्य जपापुष्पादिद्रव्यसमवेतत्वात। जपा-पुष्पस्य च स्फटिकेन सह सयोग साक्षात्सम्बन्धी न तु लोहितस्य परन्तु **स्व-सम वायिसयोगरूपेण** परम्परासम्बन्धेन लौहित्य स्फटिके भासते। 'लोहित स्फटिक' इत्याकारक विशिष्टज्ञान साक्षातसम्बन्धाभावे सति विशिष्टज्ञानत्वात विशेषण विशेष्योभयसम्बन्धघटक यद जपापुष्पादिद्व्य तत्सापेक्षमेव। इत्थम-'अय ज्येष्ठ पिण्ड

ⓐ परापरत्वधीहेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः ।

'यह घट पर है' और 'यह घट अपर है' इस प्रकार की बुद्धि का 'हेतु' = असाधारण निमित्त 'काल' ही है । 'पर' का अर्थ है बडा, और 'अपर' का अर्थ है छोटा अर्थात 'यह बड', यह छोटा है'---इस व्यवहार मे 'काल' ही असाधारण निमित्त कारण है ।

ⓑ प्रमाणान्तर दर्शयति—परापरत्वेति ।

परत्वापरत्वबुद्धेरसाधारण निमित्त काल एव । परत्वापरत्वयोरसमवायिकारणसयोगाश्रयो लाघवादतिरिक्त काल एक कल्प्यत इति भाव ।

नन्वेकस्य कालस्य सिद्धौ क्षणदिनमासवर्षादिसमयभेदो न स्यादत आह—

क्षणादिरिति । कालस्त्वेकोऽप्युपाधिभेदात्क्षणादिव्यवहारविषय । उपाधिस्तु स्वजन्यविभागप्रागभावावच्छिन्न कर्म, पूर्वसयोगावच्छिन्नविभागो वा, पूर्वसयोगनाशावच्छिन्नोत्तरसयोगप्रागभावो वा, उत्तरसयोगावच्छिन्न कर्म वा ।

नचोत्तरसयोगानन्तर क्षणव्यवहारो न स्यादिति वाच्य, कर्मान्तरस्यापि सत्त्वादिति । महाप्रलये क्षणादिव्यवहारो यद्यस्ति तदानायत्या ध्वसेनोपपादनीय इति दिनादिव्यवहारस्तु तत्तत्क्षणकूटैरेवेति ।

इति कालस्यैकत्वव्यवस्थापनम् ।

इति कालग्रन्थ ।

● अन्य रीति से 'काल' की सिद्धि कर रहे है । अमुक व्यक्ति, 'अमुक व्यक्ति की अपेक्षा ज्येष्ठ किंवा कनिष्ठ है'---ऐसी प्रतीति जिससे होती है, वही 'काल' है । अर्थात किसी एक शरीर से बडापन या किसी से छोटापन जिस असमवायिकारण-

---

बहुतररविपरिस्पदवान इति विशिष्टज्ञानमपि तत्त्वात विशेषण विशेष्योभयसम्बन्धघटकसापेक्षम । बहुतररविपरिस्पन्दो विशेषणम् । शरीरादिपिण्डस्तु विशेष्यम, परमुभयो न साक्षात सम्बन्ध , किन्तु स्वसमवायिसयुक्तसयोगरूपपरम्परासम्बन्ध एव उभयसम्बन्ध । अत्र स्व' पदेन रविक्रियारूपविशेषणग्रह तस्य समवायी सूर्य , तत्सयुक्त काल , तस्य कालस्य सयोग पिण्डेन सह वर्तत एवेतिरीत्या रविक्रियापिण्डसम्बन्धघटक पदाथ काल इति सिद्धम् ।

सम्बन्ध से प्राप्त होता है, उस सम्बन्ध के आश्रय को ही 'काल' कहते हैं। 'कालिक परत्व ज्येष्ठत्व, कालिकाऽपरत्व कनिष्ठत्वम। ज्येष्ठ में 'अय पर' यह प्रत्यय होता है और कनिष्ठ मे 'अयमपर' यह प्रत्यय होता है। उस प्रत्यय का असाधारण निमित्तकारण काल ही है। अर्थात 'कायत्वव्याप्यज्येष्ठत्वादिधर्मावच्छिन्नकायतानिरूपितकारणतावान् काल। ज्येष्ठभाई में 'परत्व' प्रत्यय और कनिष्ठभाई में 'अपरत्व' प्रत्यय जो होता है वह 'परत्वापरत्वगुणधीनिबन्धन' ह। मूलकार ने 'परापरत्वधी' कहा और उसकी व्याख्या करते हुए 'परत्वापरत्वबुद्धे' कहा है। यदि 'परत्वापरत्वयो' इतना ही कहते तो भी कोई हानि नही थी। तब मूलकार ने 'परापरत्वधी' क्यो कहा? इसके समाधान मे यह बताया जायगा कि 'कालिक परत्वापरत्व' मे प्रमाण बताने के लिये 'परत्वापरत्वयोरसमवायी' यह ग्रन्थ दिया जा रहा है। 'अय घट पर' यहाँ पर 'घट' मे 'परत्व' पैदा हुआ, उसका (परत्व का) समवायिकारण 'घट' हुआ, और असमवायिकारण 'घट—कालसयोग' हुआ, उसका (सयोग का) आश्रय एक 'घट' होगा और दूसरा 'काल' होगा। उसी तरह 'अपरत्व' के असमवायिकारण सयोग का आश्रय भी 'काल' होगा। तब अनुमान इस प्रकार करेंगे—'कालिकपरत्वापरत्वे असमवायिकारण-सयोगजन्ये, भावत्वे सति कायत्वात घटवत' इति।

इम अनुमान से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'परत्व अपरत्व' असमवायिकारण जन्य है। इन दोनो (परत्व-अपरत्व) का असमवायिकारण काल और व्यक्ति (पिण्ड) का सयोग ही ह। उस सयोग का आश्रय 'काल' होने से यह कहा जाता है कि परत्व अपरत्व के असमवायिकारणसयोगाश्रयतया भी 'काल' की सिद्धि हो सकती है।

शका - तादशसयोग के प्रति काल समवायिकारण भी ह, तब सवत्र निमित्त—कारणतया (निमित्तकारण के रूप मे) काल का प्रथम लक्षण क्यो किया ?

समा॰—यद्यपि कायमात्रके प्रति 'काल' निमित्तकारण है, पर वह 'कालिक सम्बन्ध' से ह। और स्ववत्तिद्वित्व-सयोग आदि गुणो के प्रति द्रव्य होने के कारण वह 'समवायिकारण' समवायसम्बन्ध से है, अत कोई विरोध नही है। काल का अस्तित्व जैसे अनुमान प्रमाण से सिद्ध है वैसे ही वह आगम (श्रुति) प्रमाण से भी सिद्ध है—"कालोऽमु दिवमजनयत, काल इमा पृथिवीरुत" (अथव॰ का॰ १९।सू॰ ५३। म॰ ५)।

शका—अनुमान आगम प्रमाणादि से यदि 'काल' एक सिद्ध होता है तो क्षण दिन, मास, वष आदि समय का भेद कैसे हो सकेगा ?

समा०—यद्यपि 'काल' एक है तथापि उपाधिभेद से क्षण आदि व्यवहार 'काल मे किया जाता ह। 'समयभेद' का अथ 'समयव्यवहारभेद' है। समयव्य वहारभेद का स्वरूप 'अद्य ग ता, श्व आगन्ता, परश्व पठिता' इस प्रकार है। अब मूतद्रव्य क्रियारूप उपाधि को बताते है—'उपाधिस्तु' इति। क्षण की उपाधियाँ चार प्रकार से बताई गई है। जैसे–अवयवनाश के अधीन अवयवी का नाश करते चलिये—अर्थात त्रसरेणुनाश के लिये द्वयणुकनाश अपेक्षित है। अब द्वयणुक नाश कैसे होता है ? यह जब विचारते है तो समझ मे आता है कि परमाणु का तो नाश होगा नही, क्योकि वह नित्य है। अत द्वयणुकनाश के लिये १—प्रथम क्षण मे क्रिया, २—द्वितीय क्षण मे उन दोनो परमाणुओ मे उस क्रिया के द्वारा विभाग (दोना परमाणुओ का पथक पथक् होना), ३—ततीय क्षण में विभाग से उस पूवसयोग का नाश होगा (जिन दो परमाणुओ के सयोग से द्वयणुक बना है), ४—चतुथक्षण में उन दोनो परमाणुओ का किसी उत्तर देश के साथ सयोग होगा और द्वयणुक का नाश भी हो जायगा। ५—तब पञ्चमक्षण मे क्रियानाश होगा। इस क्रम को ध्यान मे रखते हुए ही ग्रन्थकार ने प्रथमक्षणोपाधि को बताने के लिये 'स्वजन्यविभागप्रागभावावच्छिन्न कम यह कहा ह। अर्थात 'स्वजन्यविभागप्राग भावावच्छिन्न कम प्रथमक्षणोपाधि'। यहा पर 'स्व' शब्द स मूतद्रव्यनिष्ठ क्रियाको लेना है। क्रिया और कम दोनो शब्द पर्याय है। १—क्रिया, २—क्रियातोविभाग, ३—विभागात पूवदेशसयोगनाश, ४—तत उत्तरदेशसयोग' यह नियम है। इस नियम के अनुसार मूतद्रव्यनिष्ठ जिस क्रिया से द्वितीयक्षण मे 'विभाग' उत्पन्न कराना है, उस विभाग का प्रथमक्षण मे प्रागभाव है। इस प्रकार यह क्रिया 'स्वजन्यविभागप्रागभावविशिष्ट' हुई, इस कारण वह क्रिया 'स्वजन्यविभागप्रागभावावच्छिन्ना' कही गई ह। यही प्रथमक्षण की उपाधि है। अर्थात् क्रिया से होनेवाले विभाग के प्रागभाव से विशिष्ट क्रियाके द्वारा ही काल में 'अय प्रथम क्षण'—यह प्रथमक्षण है, ऐसा व्यवहार होता है। तात्पय यह है—**क्रियाविभाग और उसका प्रागभाव** ये दो ही जिस काल में रहते है, उस काल को प्रथमक्षण' कहते है। 'क्रिया' तो काल की उपाधि है, इसलिये 'विभागप्रागभावविशिष्ट-क्रियोपलक्षित जो काल हो, उसे आद्य (प्रथम) क्षण समझना चाहिये।

द्वितीयक्षणोपाधि को बताने के लिये 'पूवसयोगावच्छिन्नविभागो वा' कहा

गया है। मूतद्रव्य का पूवदेश के साथ जो सयोग है, उस सयोग से अवच्छिन्न जो क्रियाजन्य विभाग (सयोगपूवकविभाग), उसे द्वितीयक्षणोपाधि कहते है। अर्थात 'पूवसयोगावच्छिन्नविभागोपलक्षित काल' को द्वितीयक्षण समझनाचाहिये। **निष्कर्ष** यह है कि 'स्वजन्यविभागनाश्यपूवसयोगविशिष्टस्वजन्यविभाग' ही द्वितीयक्षण है। 'स्व' शब्द से क्रिया, तज्जन्य विभाग अर्थात घटआदि मूतद्रव्य के विभक्त-प्रत्यय मे हेतुभूतगुण, उस (विभाग) से नाश्य जो पूवसयोग, तद्विशिष्ट जो 'स्वजन्य' क्रियाजन्य विभाग।

तृतीयक्षणोपाधि को बताने के लिये 'पूवसयोगनाशावच्छिन्नउत्तरसयोग-प्रागभाव' कहागया है। पूवदेशवर्ती जो मूतद्रव्यका सयोग, तादससयोगनाश(ध्वस) सहित जो उत्तरदेशसयोगप्रागभाव है, उसी को ततीयक्षणोपाधि कहते है। अर्थात् प्रथमक्षण मे होनेवाली क्रिया के द्वारा द्वितीयक्षण मे विभाग उत्पन्न होता ह, उससे ततीयक्षण में पूवदेशवृत्तिसयोग का नाश होता है। उस ततीय क्षण मे ही चतुथक्षण मे होनेवाले उत्तरदेशवर्ती सयोग का प्रागभाव भी रहता है। इस प्रकार 'पूवसयोगनाशावच्छिन्नउत्तरसयोगप्रागभाव ही तृतीयक्षण का कल्पक होने से उसे ततीयक्षणोपाधि कहा जाता है। अर्थात 'पूवसयोगनाशावच्छि न उत्तरसयोगप्राग भावोपलक्षित जो काल है, उसे तृतीयक्षण कहते है। यहा यह ध्यान देने की बात है—प्रागभाव के प्रतियोगी का **उत्पादक** कारण कलाप (कारणसामग्री) ही प्रागभाव का **नाशक** होता है। अत चतुर्थक्षणमें उत्पद्यमान उत्तरदेशसयोग ही अपनी उत्पत्ति के क्षणमें प्रागभाव को नष्ट करता है। उत्तरदेशसयोगप्रागभाव तृतीयक्षण तक रहता है उससे अधिक उसकी स्थिरता नही है।

चतुर्थक्षणोपाधि को कहते है—'उत्तरदेशसयोगावच्छि न कम वा'। उत्तर-देशवर्ती सयोगविशिष्ट जो क्रिया, वही चतुथक्षणोपाधि है। **निष्कर्ष** यह है कि **प्रथमक्षण** में 'घट मे क्रिया', **द्वितीयक्षण** मे 'घटका पूवदेश से क्रियाजन्यविभाग, **तृतीयक्षण** मे 'क्रियाजन्यविभाग से घट के पूवदेशवृत्तिसयोग का नाश', तब **चतुर्थक्षण** मे क्रिया के द्वारा घट का उत्तरदेशसयोग। इस प्रकार उत्तरदेश-सयोग ही अपनी हेतुभूत क्रिया का नाशक है, अर्थात् पञ्चमक्षण में वह क्रिया नही रहती। चतुथक्षणमे रहनेवाली, वही उत्तरदेशसयोगात्मक विशेषणविशिष्टा क्रिया, चतुथक्षणोपाधि कही जाती है। निष्कष यह है कि उत्तरदेशसयोगावच्छिन्नक्रियोप लक्षित काल को चतुथक्षण कहते है।

उदयनाचार्य कहते है—उत्पन्न द्रव्य जब तक अगुण (गुण रहित) रहता

है, अथवा अन्त्यतन्तुसयोग होने पर जबतक पट तयार नही होता, अथवा कम (क्रिया) के उत्पन्न होने पर जबतक विभाग उत्पन्न नही होता, उतना काल क्षण है। अथवा कायरहित सामग्री ही क्षण है। **किरणावलि** में कहा है—

क्षणद्वय लव प्रोक्तो निमेषस्तु लवद्वयम ।
निमेषा पञ्चदश च काष्ठास्त्रिशत्तु ता कला इति।

श्रीधराचार्य कहते हैं कि 'निमेष' का चतुथभाग क्षण है, 'दो क्षण' का **लव** होता है। अक्षिपक्ष्मोपलक्षित काल (पलक के पतनोत्थान काल) को **निमेष** कहते है। तात्पर्य यह है—**प्रथमक्षण** में परमाणु में क्रिया, **द्वितीयक्षण** मे परमाणुद्वय मे विभाग होता है, पश्चात 'पूवसयोगनाश' होता है। अत **'विभाग, भी एक क्षण की उपाधि है।** उसके अनन्तर **तृतीयक्षण** मे पूवसयोगनाश होता है, और **चतुर्थक्षण** मे उन परमाणुद्वय का उत्तरदेश के साथ सयोग होता है, किन्तु **तृतीयक्षण** मे (पूवसयोगनाशक्षणमे) उत्तरसयोग का प्रागभाव, पूवसयोगनाश से अवच्छिन्न (समानाधिकरण) होकर बैठा है। अत पूवसयोगनाशावच्छिन्नोत्तरसयोगप्रागभाव भी एक ही क्षण हुआ। अर्थात उसेभी क्षणकी उपाधि कही जा सकती है। चतुथक्षण में परमाणुद्वय का 'उत्तरदेश के साथ सयोग' होता है और 'कम' भी चतुथक्षणमे ह, क्योंकि कम (क्रिया) का नाश तो **पञ्चमक्षण** मे होगा, इसलिये चतुथक्षणमे कम, उत्तरसयोग से अवच्छिन्न है। अत उत्तरसयोगावच्छिन्नकम भी एक क्षणकी उपाधि बन गयी।

शका—नचेति। 'पञ्चमक्षण' मे 'क्षण' शब्द का व्यवहार नही किया जा सकता, अर्थात उत्तरसयोगके बाद 'क्षण व्यवहार' कैसे बन सकेगा? क्योकि चतुथ क्षण में ही क्रिया भी नष्ट हो जाती है। अर्थात उत्तरसयोग होनेपर क्रिया नष्ट हो जाती है, तब परिचायक उपाधि कोई नही रहती।

समा०—'कर्मान्तरस्यापी'ति। चतुथक्षण मे क्रिया के नष्ट हो जाने पर भी पञ्चमक्षण मे अन्य क्रिया होने लगती है, अत पहले की तरह क्षणादि व्यवहार किया जा सकता है। अर्थात पञ्चमक्षणमे पुन दूसरी क्रिया उत्पन्न होती है, वही क्रिया, प्रथमक्षण की उपाधि बन जायेगी। पहले की तरह चार क्षणो की कल्पना कर लेनी चाहिये। चतुथ- क्षण में क्रिया विनाश के अनन्तर मूतद्रव्यमे पुन पञ्चमक्षण में क्षणव्यवहार की नियामिका दूसरी क्रिया होगी।

शका— पूर्वोक्त 'क्षण-लक्षण' महाप्रलयात्मक क्षण में अव्याप्त होगा, क्योकि महाप्रलय के समय समस्त भावकार्यों का नाश होनेसे क्रिया भी नष्ट हो जाती

अत महाप्रलय के समय उन क्षणादिको की उत्पत्ति कैसे हो सकेगी ? अच्छा, महाप्रलय के समय 'क्षण' कल्पना यदि न की जाय तो क्या हानि है ? **उत्तर** यह होगा कि महाप्रलय के समय यदि 'क्षणकल्पना' नही की जायेगी तो 'अध्वस्तक्षण योगस्य क्षणयोगो जनिमता' इस उत्पत्तिलक्षणप्रतिपादक आचाय कारिका का मणिकारने जो अथ— तदधिकरणक्षणाऽवृत्तित्वव्याप्यस्ववृत्तिध्वसप्रतियोगिताकसमयवृत्तित्वात्मक उत्पत्तिलक्षण अथ'—किया है, उसकी अव्याप्ति होगी, क्योकि उस समय 'महाप्रलयाधिकरण-क्षण' अप्रसिद्ध है । इसी अभिप्रायसे ग्र थकार 'महाप्रलय' का विचार कर रहे है। अर्थात महाप्रलय के समय 'क्षणव्यवहार' की उपपत्ति ध्वस' के द्वारा कर देनी चाहिये । अर्थात 'स्ववृत्तिध्वसप्रतियोगि प्रतियोगिक-यावद ध्वस एव उपाधि , तद्विशिष्टसमयात्मकमहाप्रलयएव क्षणव्यवहारविषय ।' यहाँ पर 'स्व' शब्द से महा प्रलय का काल, उसमे रहनेवाले (वृत्ति) जो द्रव्यादि के यावत ध्वस उनके प्रतियोगी तत्तत (प्रत्येक) भाव पदाथ वे है प्रतियोगी जिन ध्वसो के अर्थात जितने भी भावपदाथ है, उन सबका ध्वस होता है । यह ध्वस ही 'उपाधि' है, उस उपाधि से विशिष्ट जो समय, उस समय के लिये ही 'महा प्रलयात्मकक्षण' शब्द का व्यवहार किया जायेगा । यह मणिकार का मत है ।

महाप्रलय का क्रम इस प्रकार है—

जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते
तेजस्याप प्रलीय ते तेजो वायौ प्रलीयते ।
वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाऽव्यक्ते प्रलीयते
अव्यक्त पुरुषे ब्रह्मन ! निष्कले सम्प्रलीयते ॥

वास्तव मे क्षणादि व्यवहार महाप्रलय में होता ही नही । क्योकि महाप्रलय के समय समस्त भाव कार्यो का नाश हो जाता ह, अत क्रिया भी नष्ट हो जाती है । तब क्षणादिको की उत्पत्ति कैसे होगी ? इस आशङ्का का समाधान इस प्रकार होगा—महाप्रलयकालीन क्षणादि का व्यवहार पूर्वोक्त क्रियास्थानापन्न तत्तद वस्तु का ध्वस होता है और उस ध्वस को निमित्त मानकर ही क्षणादि व्यवहार की उपपत्ति की जा सकती है । क्योकि उस समय ध्वस के सिवाय दूसरा कोई उपाय नही है । इसी अभिप्राय को नैयायिक इस प्रकार कहेंगे—उत्पत्तिलक्षणस्य क्षणाघटितस्यैव स्ववृत्तिध्वसप्रतियोगिकालाऽवृत्तित्वविशिष्टस्ववृत्तित्वात्मकस्य तदुत्पत्तौ सभव — इसी अभिप्रायसे ग्रन्थकारने 'यद्यस्ति तदा०' कहा है । तथाच—यत्समयवृत्तिध्वसप्रतियोगित्वव्यापकतावच्छेदक यदधिकरणक्षणवृत्तित्वसामान्या ऽभावत्व तस्य तत्सम-

यसम्बन्ध उत्पत्ति । अर्थात—स्ववत्तिध्वसप्रतियोगित्वव्यापकतावच्छेदकाऽभावत्वावच्छिन्न-निरूपित प्रतियोगितावच्छेदकवृत्तित्वावच्छिन्ननिरूपकक्षणसामान्यवृत्तित्वसम्बन्धेन क्षणवत्त्वमुत्पत्ति ।

ग्रन्थकारने 'क्षणादिव्यवहारो यद्यस्ति' यहाँ 'यदि' पद के प्रयोगसे यह अभिव्यक्त किया है कि नैयायिको को भी मीमासको की तरह महाप्रलय का होना मान्य नही है। अत सवकाय ध्वसात्मक महाप्रलय मे क्षणादि व्यवहार का प्रश्न ही नही रह जाता है। यदि उस समय भी क्षणादि व्यवहार करना अभीष्ट ही हो तो अगत्या पदाथ-ध्वस को ही क्षणात्मककाल की उपाधि समझनी चाहिये। अर्थात् महाप्रलय कालीन ध्वस प्रतियोगी घटपटादि पदार्थो के ध्वस से विशिष्ट समय को 'क्षण' समझना चाहिये।

शका—उपयुक्त रीति से क्षणादि व्यवहार के सिद्ध हो जाने पर भी दिन, मास आदि का व्यवहार कैसे हो सकेगा ?

समा०—क्षणकूट=तत्तत्क्षणसमूह के द्वारा लव, निमेष, काष्ठा, कला, मुहूत, दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, सवत्सर, युग आदि का व्यवहार होता है।[1]

१ निमेष —नेत्रपुटयोर्द्रागेव सयोजनवियोजनम , 'त्रिलव' इति यावत् ।
कक्ष —त्रिनिमेषा कक्ष ।
काष्ठा - त्रिकक्षा काष्ठा ।
कला —त्रिशत्काष्ठा कला ।
मुहूर्त —त्रिशत्कला मुहूत ।
दिवस —त्रिशन्मुहूर्ता दिवस ।
पक्ष —पञ्चदश दिवसा पक्ष ।
मास —द्वौ पक्षौ मास ।
ऋतु —द्वौ मासौ ऋतु ।
अयनम्—ऋतुवस्त्रय अयनम ।
सवत्सर —अयने द्वे सवत्सर । (अयनद्वितय वर्षो मानुषोऽयमुदाहृत)
सत्ययुगस्य वर्षाणि - अष्टाविशति सहस्त्राधिक सप्तदशलक्षाणि ।
त्रेतायुगस्य वर्षाणि - षण्णवतिसहस्राधिक द्वादशलक्षाणि ।
द्वापरयुगस्य वर्षाणि—चतु षष्टिसहस्राधिक अष्टलक्षाणि ।
कलियुगस्य वर्षाणि—द्वात्रिशत्सहस्राधिक चतुलक्षाणि ।
मिलित्वा चतुर्युगाना वर्षाणि - विशतिसहस्राधिक त्रिचत्वारिंशल्लक्षाणि ।

साख्यदर्शन ने अपने अभिमत पञ्चविंशति (२५) तत्त्वोके अतिरिक्त 'काल' पदार्थ को नही माना है। अन्यथा पञ्चविंशति तत्त्व प्रतिज्ञा का भग हो जायगा। जिन उपाधियो के द्वारा क्षण दिन आदि भेद का स्वीकार इन्होने किया है, उन उपाधियो को ही साख्य ने 'काल' की सज्ञा दी है। क्योकि वे उपाधियाँ ही अतीतादिव्यवहार में हेतुभूत हैं अतीतादि व्यवहार की हेतुभूत उपाधियो से विलक्षण 'काल' सज्ञक कोई अतिरिक्त तत्त्व नही है। योगभाष्यकार भी कहते ह—"स खल्वय कालो वस्तुशून्यो बुद्धिनिर्माण शब्दज्ञानानुपाती लौकिकाना व्युत्थितदशनाना वस्तुस्वरूप इवावभासते ॥" इसरीति से 'जाति देश काल समयानवच्छिन्ना सावभौमा महाव्रतम'—(यो सू ३१सा॰पा) तथा 'देशकालाकार-निमित्तापबन्धान्न खलु समानकालमात्मनामभिव्यक्तिरिति' आदि स्थलो पर जो 'काल' शब्द का प्रयोग किया गया है, उसे उपाधिनिबन्धन ही समझना चाहिये।

किन्तु योगवार्तिककार का कहना है कि "क्षणस्तु वस्तुपतित, इस उत्तर भाष्य के अनुरोध से क्षणात्मक काल का स्वीकार करना ही चाहिये। अ यथा

मन्वन्तरम्—तादृशचतुयुगानामेकसप्तति ।

एकमन्वन्तरस्य वर्षाणि—विंशतिसहस्राधिक सप्तषष्टिलक्षोत्तर-त्रिंशत्कोटय ।

ब्रह्मण एकदिवस—तादशचतुदशमन्वन्तरकाल एक-कल्प ।

खण्डप्रलय (नैमित्तिकप्रलय)—ब्रह्मणो दिवसान्ते महजनतप मत्य लोकान विहाय स्वर्गादि-पातालान्ताना दशलोकाना खण्डप्रलयो भवति ।

नित्यप्रलय—ब्रह्मणो लवनिमेषादिषु प्रलीयते अकस्मात् वस्तुजातमिति स उक्त ।

खडप्रलय (प्राकृतिकप्रलय)—ब्रह्मण शतवर्षाणा समाप्तौ अष्टावरण-सहित ब्रह्माड-प्रलयो भवति, स खण्डप्रलय ।

सोऽय महाविष्णोरेकदिवसात्मक काल । महाविष्णो शतवषसमाप्तौ सव भाव काय सृष्टिमय प्रलीयते, सोऽयमात्यन्तिकप्रलय महाप्रलय उच्यते ।

देवताओ की कालगणना इस प्रकार होगी—

एष दैवस्त्वहोरात्र तैं पक्षादि च पूववत् ।
दैववषसहस्राणि द्वादशैव चतुयुगम ।
चतुर्युगसहस्रन्तु ब्रह्मणो दिन मुच्यते ।
रात्रिश्चैतावती तस्य ताभ्या पक्षादिकल्पना ॥

क्रमिक परिणाम की उपपत्ति नही होगी। एवच क्षण आदि सभी काल, समस्त वस्तु परिणाम में हेतुभूत होते है।

॥ इति कालग्रन्थ ॥

⊛ दूरान्तिकादिधीहेतुरेका नित्या दिगुच्यते ॥४६॥

इद दूरम, इदमन्तिकम, इस बुद्धि का असाधारण निमित्त 'दिक, ही है। वह दिक 'एक' अर्थात सजातीय प्रतियोगिकभेद शून्य है। और नित्य, अर्थात ध्वसाऽ प्रतियोगिनी तथा प्रागभावाऽप्रतियोगिनी है। 'दिक्पदजन्यबोधविषयत्व दिशो-लक्षणम। यह 'दिक्का लक्षण है।

◆ दिश निरूपयति—दूरान्तिकेति।

दूरत्वमन्तिकत्व च दैशिक परत्वमपरत्व बोध्यम्। तद्बुद्धेरसा-धारण बीज दिगेव। दैशिकपरत्वापरत्वयोरसमवायिकारणसयोगाश्रयतया लाघवादेका दिक् सिध्यतीति भाव ॥४६॥

॥ इति दिशि प्रमाणकथनम ॥

● 'दूर' अर्थात् देशमूलकपरत्व (दैशिक परत्व), और 'अतिक' अर्थात देश मूलक अपरत्व (दैशिक अपरत्व)। ये 'परत्व', और 'अपरत्व, दोनो 'गुण' पदाथ है। 'सयुक्तसयोगभूयस्त्वाश्रयत्वम्परत्वम्' और सयुक्तसयोगाल्पीयस्त्वाश्रयत्वमपर-त्वम,। इस परत्वाऽपरत्व का ज्ञान जिस असाधारण कारण से होता है, उसे दिक् कहते है। समीपदेशस्थित घटादि मूतद्रव्य की अपेक्षा दूर देश स्थित घटादि-मूतद्रव्य मे 'दैशिक परत्व' रहता है। उसी प्रकार दूरदेशस्थित-घटादिमूर्तद्रव्य की अपेक्षा समीपदेशस्थित-घटादिमूतद्रव्य मे 'दैशिक अपरत्व' रहता है। ये दैशिक परत्वाऽपरत्व, असमवायिकारणजन्य है। क्योकि ये जन्यगुण है, घटनिष्ठरूप की तरह—'दैशिके परत्वाऽपरत्वे असमवायिकारणजन्ये जन्यगुणत्वात् घटनिष्ठरूपवत।' यो यो जन्यगुण स सर्वोऽपि असमवायिकारणजन्य, यथा घटनिष्ठ रूप जन्यगुण-त्वात कपालगतरूपा ऽसमवायिकारणजन्य भवति। उसी तरह दूरत्व=परत्व, अतिक-त्व=अपरत्वसज्ञक गुण भी जन्यगुण होने से असमवायिकारणजय होगे। इस प्रकार जिस घटादिमूतपिण्ड मे परत्वा ऽपरत्व उत्पन्न होते है, उसके साथ जिस द्रव्य का असमवायिकारणरूप सयोग होता है, उसी द्रव्य को दिक् कहते है। अर्थात्' दिशा-वस्तुनो सयोग एव मूतपिण्डगत-परत्वाऽपरत्वयो असमवायिकारणम्। यहाँ पर

कारिकास्थ 'हेतु' शब्द का अथ 'बीज' किया है, अत प्रकृत प्रसग में 'बीज' का अथ प्रयोजक समझना चाहिये। एवच 'दिक' का लक्षण यह निष्पन्न हुआ—**'दैशिक विशेषणता-सम्बन्धावच्छिन्न - कार्यत्वावच्छिन्न कार्यतानिरूपित तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपित तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्नत - या यत् निमित्तकारण सा दिक्।**

शका—कारिकाकारने 'दूरान्तिकादिधीहतु' कहा है, किन्तु यदि वे 'दूरान्तिकादिहेतु' इतना ही कहते तब भी कोई हानि नही थी। तो 'धी' पद क्यो दिया ?

समा०—'धी' पद देने का अभिप्राय उनका यह है कि परत्वाऽपरत्व मे प्रमाण प्रदर्शित किया जा सके। इसी अभिप्राय से 'दैशिकपरत्वाऽपरत्वयो' ग्रन्थ दियागया है। जैसे—आगरे (स्रुघ्नपुर) से कर्णपुर (कानपुर) की अपेक्षा वाराणसी में परत्व है, और वाराणसी की अपेक्षा कणपुर (कानपुर) मे अपरत्व है। उसका समवायिकारण वाराणसी और कानपुर ह और असमवायिकारण दिक् कानपुर सयोग है तथा दिक् वाराणसी-सयोग है। उसका आश्रय एक कानपुर होगा या वाराणसी होगा और दूसरा आश्रय दिक् ही होगी।

शका—दिक् पिण्डसयोगके बजाय 'पृथ्वी पिण्डसयोग' को उसका असमवायिकारण क्यो न माना जाय ? उसे असमवायिकारण मानलेने पर 'दिक्' की कल्पना नही करनी पडेगी।

समा०—पथिवी से असयुक्त पदाथमे भी दैशिक परत्वादि की उत्पत्ति होती है। अत व्यभिचार होगा।

शका—आकाश, काल, आत्मा, मन इनमे से किसी एक के साथ कानपुर के सयोग को ही उसका असमवायिकारण मान लें, दिक्सयोग की कल्पना करने की क्या आवश्यकता ?

समा०—आकाश, काल के साथ कानपुरसयोग को असमवायिकारण मान लेने पर भी प्रत्येक जीवात्मा के साथ वैसा मानने में कोई विनिगमक नही है, और आत्मा तथा मन तो अनन्त है। अत उनके साथ अनन्त सयोग मानने होगे, तब गौरव होगा। इसलिये लाघवात एक अतिरिक्त दिक्सयोग की कल्पना करना उचित है। एवच इस प्रकार भी अनुमान कर सकते है—'इद दूरम्' 'इदमन्तिकम' इति प्रत्यय, पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्यसम्बन्धप्रयुक्त, **परत्वापरत्वहेतुकत्वात् कालिकपरत्ववत्।** यहाँ पर सम्बन्ध के कारण जिस द्रव्य का प्रत्यय हो रहा है।

वही दिक है। दूरान्तिक और द्रव्य दोनो का सम्बन्ध 'स्वसमवायिसयुक्तसयोग' है। स्व' शब्द से बहुतर और अल्पतर सयोग, तत्समवायि मूतद्रव्य कानपुर आदि, तत्सयुक्त दिक , तत्सयोग वाराणसी आदिमे है ॥४६॥

॥ इति दिशि प्रमाणकथनम ॥

❀ उपाधिभेदादेकाऽपि प्राच्यादिव्यपदेशभाक् ।

वह 'दिक्' एक (सजातीयप्रतियोगिकभेदरहित) रहने पर भी उपाधि (परिचायक) भेद के कारण उसका प्राची, प्रतीची, अवाची, उदीची इत्यादि प्रकारसे व्यवहार किया जाता है।

ननु यद्येकैव दिक् तदा प्राचीप्रतीच्यादिव्यवहार कथमुपपद्यता मित्यत आह—

यत्पुरुषस्य उदयगिरिसन्निहिता या दिक् सा तस्य प्राची। एवमुदय गिरिव्यवहिता या दिक् सा प्रतीची। एव यत्पुरुषस्य सुमेरुसन्निहिता या दिक सोदीची। तद्व्यवहिता त्ववाची। 'सर्वेषामेव वर्षाणा मेरुरुत्तरत स्थित' इति नियमात्।

●—**शका**—दिक् (दिशा) एक पदाथ है यह स्पष्ट हो चुका, किन्तु उस एक दिक् पदार्थ मे पूव, पश्चिम, दक्षिण तथा उत्तर इत्यादि व्यवहार कैसे होंगे ?

समा०—दिक् (दिशा) पदाथ एक होने पर भी वह अपनी उपाधि (मूत द्रव्यरूप परिचायक) भेद से पूर्वादि व्यवहार को प्राप्त होता है।

अब दिशा के व्यवहार मे प्रमाण प्रदर्शित कर रहे है—'**यत्पुरुषस्येति**।' यहा 'पुरुष' पद मूतमात्र का उपलक्षक है। अवधिरूप पञ्चम्यथ मे 'षष्ठी' विभक्ति है। 'दिक्' पद भी मूतमात्र का उपलक्षक है। एवच—जिस मूतद्रव्य से उदयगिरि के समीप जो मूतद्रव्य हो, उससे वह प्राची (पूव) समझनी चाहिये। 'प्राक् अस्यामञ्चति सूय इति प्राची' यह 'प्राची' शब्द की व्युत्पत्ति है। जैसे—**काशी से गया अथवा प्रयाग से काशी**। एवच 'यदपेक्षया उदयगिरिसन्निहित यन्मूत सा तत प्राची'। उसी तरह 'यस्मात उदयाचलविप्रकृष्ट यन्मूत तत्तस्य प्रतीची'। प्रातिकूल्येन अस्यामञ्चति सूय इति 'प्रतीची'। जैसे—**गया से अथवा पाटलीपुत्र (पटना) से 'काशी,**। यस्मात् सुमेरुसन्निकृष्ट यन्मूत तत्तस्य 'उदीची'। उदग अस्या

मञ्चति सूय इति 'उदीची'। जैसे रामेश्वर से काशी। यस्मात सुमेरुविप्रकृष्ट यन्मूत तत्तस्य 'अवाची'। अवाग् अस्यामञ्चति सूय इति अवाची। जैसे-काशी से रामेश्वर। यदपेक्षया उदयगिरिसन्निहितत्व च—यन्निष्ठोदयगिरि सयुक्त-सयोगापेक्षया अल्पतरोदयगिरिसयुक्तसयोगवत्त्वम्। काशी से प्राच्या गया, यहाँ पर 'काशीनिष्ठ—उदयगिरिसयुक्तसयोगपर्याप्तसख्याव्याप्यसख्यापर्याप्त्यधिकरणोदय गिरिसयुक्तसयोगवन्मूतवत्ति गया, इत्यन्वयबोध अर्थात् जिस पुरुष के लिये जो दिक् उदयाचल के समीप है वह उसके लिये पूवदिक् है। औग जो दिक उदयाचल से दूर है, वह पश्चिम दिक है। और जा दिक् सुमेरुके पास है, वह उस पुरुष के लिये उत्तर दिक् है, और जो सुमेरु से दूर है वह उस पुरुषके लिये दक्षिण है। उसी तरह 'यत पतति सा दिक ऊर्ध्वा'। और 'यत्र पतति सा अध'। इसी प्रकार विदिशाओ को भी जान लेना चाहिये। एवच—'जन्यमात्र क्रियामात्र वा कालो पाधि' और 'मूर्तमात्रन्तु दिगुपाधि'। दीधितिकार का कहना है कि 'दिक और काल' ईश्वर से पृथक् नही है, किंतु ईश्वर ही तत्तदुपाधि विशिष्ट होकर क्षण, दिन, प्राची, प्रतीची आदि व्यवहारो में निमित्त है। किन्तु इसमे कोई प्रमाण उपलब्ध नही है। कुछ लोगो का कहना है कि 'जीव' को ही उसमे निमित्त मान लिया जाय, किन्तु उसमे भी कोई विनिगमक नही है। 'एकपक्षपातिनी युक्ति' को विनिगमना कहते है।

उत्तर, दक्षिण के निणयाथ सुमेरु' पवत को उपाधि के रूप मे माना गया ह, क्योंकि जम्बूद्वीप के भारत आदि जो नौ खण्ड (वष) है, वे सब हमेशा सुमेरु पवत के उत्तर भाग में ही रहते है। सिद्धान्त शिरोमणि के गोलाध्याय में कहा है कि 'भारतवर्षमिद ह्युदगस्मात, किन्नरवषमतो हरिवषम्। सिद्धपुराच्च तथा कुरु तस्मात्, विद्धि हिरण्मय रम्यक वर्षे ॥—भारतवष, किन्नरवष, हरिवष, कुरुवष, हिरण्मयवष, रम्यवष, भद्राश्ववष, केतुमालवर्ष, इलावृत्तवर्ष— ये नौ वष है। वष शब्द 'खण्ड, का बोधक है।

॥ इति दिश एकत्वव्यवस्थापनम् ॥

॥ इति दिग् ग्रन्थ ॥

आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता करणं हि सकर्तृकम् ॥४७॥

आत्मा—अतति गच्छति इति आत्मा—सर्वदेहव्यापी अर्थात जीवात्मा। इन्द्रियाद्यधिष्ठाता—'आदि' पद से शरीर को लेना है। अधिष्ठाता—ज्ञान का सम्पादक। एवच—आत्मा (जीवात्मा) ही चक्षुरादि इन्द्रियो मे तथा शरीर में ज्ञानका अर्थात चैतन्य का सम्पादक है।

आत्मान निरूपयति—आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठातेति।

आत्मत्वजातिस्तु सुखदुःखादिसमवायिकारणतावच्छेदकतया सिद्ध्यति। ईश्वरेऽपि सा जातिरस्त्येव। अदृष्टादिरूपकारणाभावान्न सुखदुःखाद्युत्पत्ति, नित्यस्य स्वरूपयोग्यत्वे फलावश्यम्भाव इति नियमस्याप्रयोजकत्वात्।

परे त्वीश्वरे सा जातिर्नास्त्येव प्रमाणाभावात्। न च दशमद्रव्यत्वापत्ति, ज्ञानवत्त्वेन विभजनादित्याहु।

इन्द्रियादीति। इन्द्रियाणा शरीरस्य च परम्परया चैतन्य सम्पादक।

यद्यप्यात्मनि 'अह जाने, अह सुखी' इत्यादि प्रत्यक्षविषयत्वमस्त्येव तथापि विप्रतिपन्न प्रति प्रथमत एव शरीरादिभिन्नस्तत्प्रतीतिगोचर इति प्रतिपादयितु न शक्यत इत्यत प्रमाणान्तर दर्शयति करणमिति। कुठारादीना छिदादिकरणाना कर्तारमन्तरेण फलानुपधान दृष्टम्। एव चक्षुरादीना ज्ञानकरणाना फलोपधानमपि कर्तारमन्तरेण नोपपद्यत इत्यतिरिक्त कर्ता कल्प्यते ॥४७॥

॥ इति आत्मनि प्रमाण कथनम् ॥

● अवसर सगति से 'आत्मा' का निरूपण कर रहे है। 'जीवात्मनिष्ठविषयतानिरूपक यल्लक्षणस्वरूपप्रामाण्यादिप्रकारक ज्ञान तदनुकूल व्यापारानुकूल कृतिमान् ग्रन्थकार इति शाब्दबोध।

आत्मा (जीवात्मा) इन्द्रियो का और शरीर का अधिष्ठाता अर्थात 'जनकता' सज्ञक **परम्परासम्बन्ध** से इन्द्रियो मे ज्ञानवत्ता का सम्पादक तथा 'अवच्छेदकता'-सज्ञक **परम्परासम्बन्ध** से शरीर मे ज्ञानवत्ता का सम्पादक है। अत आत्मा का लक्षण यह हो सकता है—'इन्द्रियाद्यधिष्ठातृत्वम्' अथवा 'समवायेन ज्ञानाधिकरणत्वम्' आत्मनो लक्षणम्।

काल आदि भी कालिक आदि सम्बन्ध से ज्ञानाधिकरण होते है । अत अति व्याप्ति होगी अथवा विषयतासम्बन्ध से विषयो में ज्ञानवत्त्व होने से अतिव्याप्ति होगी । उसका वारण करने के लिये लक्षण मे 'समवायेन' कहा गया है । भूतकाल मे अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये 'ज्ञान' पद दिया गया है । लक्षणगत 'ज्ञान' शब्द, इच्छा आदि का भी उपलक्षक है । अनुमान यह होगा—'इन्द्रियाणि शरीर च, ज्ञात्राधिष्ठितम, अचेतनत्वे सति जनकत्व-अवच्छेदकत्व एतदन्यतर सम्बन्धेन ज्ञानवत्त्वात, वास्यादिवत ।' 'शरीर इन्द्रिय आदि अवच्छेदक है, और 'आत्मा' अवच्छेद्य है ।

शका – मुक्ती की अवस्था मे आत्म मन सयोग के न होने से ज्ञान नही है, अर्थात ज्ञानाभाव है । अत आत्मा मे अव्याप्ति होगी ।

समा०—उक्त अव्याप्ति के वारणाथ 'ज्ञानसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजाति-मत्त्वम' ऐसा जातिघटित लक्षण कर देना चाहिये ।

कारिकाकार ने आत्मा मे प्रमाण बताने के लिये 'करणम' कहा है । ज्ञानका करणभूत इन्द्रिय, जिस चेतन कर्ता से अधिष्ठित है, वही 'आत्मा' है । क्योकि यह सामान्य व्याप्ति है –यत् यत् करण तत् तत सकतृक । यथा—वृक्षद्वैधीभावस्य करण कुठार कर्त्रा चेतनेन अधिष्ठितो दश्यते । एवच इन्द्रियाणि कत्रधिष्ठितानि अचेतनत्वे सति करणत्वात कुठारवत'—इस अनुमान से आत्मा सिद्ध हो जाता है ।

यदि 'नित्यज्ञानवत्त्व' आत्मा का लक्षण करें तो जीवात्मा मे अव्याप्ति होती है, और 'अनित्यज्ञानवत्त्व' आत्मा का लक्षण करें तो परमात्मा में अव्याप्ति होती हैं । यदि 'उभयविधज्ञानवत्त्व' लक्षण करें तो, ऐसा ज्ञानवत्त्व ही अप्रसिद्ध है । इसलिये '**स्वावच्छिन्नाधिकरणत्त्व** सम्बन्ध से ज्ञानवत्त्व' लक्षण करनाही उचित है । अब 'आत्म' शब्द से आत्मत्व-विशिष्ट की उपस्थिति होती हैं । एवच 'आत्मत्व-जातिमत्त्वम आत्मनो लक्षणम्' यह अर्थात प्राप्त हो जाता है । तथापि 'आत्मत्व जाति' को भी प्रमाण से सिद्ध करना चाहिये, इसलिये मुक्तावलीकार '**आत्मत्व-जातिस्तु**' ग्रन्थ को उपस्थित कर रहे हैं । ऊपर बता चुके है—आत्मा इन्द्रिय, शरीर आदि का अधिष्ठाता है, क्योकि करण सर्वदा सकतृक होता है । सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धम, अधम, भावना आदि में से अ यतम का समवायिकारण जब कि आत्मा है तो समवायिकारणतावच्छेदकतया आत्मत्व जाति की सिद्धि हो

जाती ह। अनुमान इस प्रकार होगा—समवायसम्बन्धावाच्छिन्न सुखत्वावच्छिन्न-सुखनिष्ठकार्यतानिरूपित तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नात्मनिष्ठकारणता, किञ्चिद्ध-र्मावच्छिन्ना, कारणतात्वात, तन्तुनिष्ठकारणतावत इति-य किञ्चिद्धम स आत्मत्वम्। इसी प्रकार दु ख आदि को लेकर भी अनुमान कर लेना चाहिये। इसी प्रकार 'जीवेश्वरनिष्ठा या आत्मपदशक्यता, सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, शक्यतात्वात, पटनिष्ठपटपदशक्यतावत'—इस प्रकार का शक्यतावच्छेदक 'आत्मत्व' ही सिद्ध होता है। अत 'आत्मपदजन्यप्रतीतिविषयत्वम आत्मत्वम' यह लक्षण भी आत्मा का हो सकता है।

शका—'आत्मत्व' जाति तो 'अह सुखी' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध हो सकती है, उसे सिद्ध करने के लिये अनुमान प्रणाण की क्या आवश्यतता ?

समा०—सकलात्मसाधारणतया प्रत्यक्ष का होना सभव न होने से सकल आत्माओ में 'आत्मत्व' जाति की सिद्धि के लिये 'अनुमान' प्रमाण की आवश्यकता हुई, और अनुमान प्रमाण से उसे सिद्ध किया गया।

शका—'आत्मन' शब्द से आत्मा और परमात्मा (ईश्वर) दोनो समझे जाते हैं। तथापि परमेश्वर में सुख की उत्पत्ति न होने से सुखसमवायिकारणता 'परमेश्वर' मे नही आ सकेगी, तब आत्मा, परमेश्वर-उभयसाधारणी 'आत्मत्वजाति' सिद्ध कैसे होगी ?

समा —'कारणता' दो प्रकार की होती है—एक 'फलोपधायकतारूपकारणता' और दूसरी 'स्वरूपयोग्यतारूपकारणता'। परमेश्वर में फलोपधायकतारूप-कारणता के न रहनेपर भी स्वरूपयोग्यतारूपकारणता तो रहती ही है। उस कारणता के अवच्छेदकरूप मे आत्मत्वजाति की सिद्धि हो सकती है। भगवती श्रुति ने भी इसका समथन किया है—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्य"—(बृहदा० २।४।५) इस श्रुति में परमेश्वर के लिये भी आत्मपद का व्यवहार किया गया है। अत आत्मपदशक्यतावच्छेदकतया आत्मत्वजाति की सिद्धि परमेश्वर मे हो जाती है।

शका—यदि आत्मत्वजाति दोनो (आत्मा और ईश्वर) में साधारण है, तो ईश्वर में सुखादिको की उत्पत्ति क्यो नही होती ? अर्थात जोव की तरह ईश्वर भी सुख दु खादिमान होना चाहिये।

समा०—"अदृष्टादिरूपकारणाभावादिति।" सुख दु खादि के उपभोग

में 'अदष्ट' को ही हेतु (कारण) माना गया है। 'अदृष्ट' पद से धम अधम कहे जाते है। और 'आदि' पद से सुख दु खादि के अवच्छेदक 'शरीर' को समझना चाहिये। ईश्वर में धर्माऽधमरूप अदष्ट नही है, और न उसका शरीर ही है। अत 'आत्मत्वजाति' के रहनेपर भी उसमे (ईश्वर मे) सुख दु खादि की उत्पत्ति नही होती। क्योकि यह नियम है कि प्रधान कारण के रहनेपर भी जब तक सह कारिकारण न हो तब तक कार्य की उत्पत्ति नही हो पाती। 'प्रधाने कारणे सत्यऽपि सहकारिणमन्तरा काय नोत्पद्यते' यह नियम है।

शका—जैसे अरण्य-स्थित दण्ड मे घटस्वरूपयोग्यता रहने मे कभी न कभी 'घट' रूपी फल का होना असम्भव नही है, अर्थात उससे कदाचित् 'घट' हो भी सकता है। उसी तरह ईश्वर में भी सुख दु खादि की स्वरूपयोग्यतारूप कारणता मानी गई है, और वह, ईश्वर की स्थिति नित्य रहने से सदा ही रहेगी। अत उस में (ईश्वर में) कभी तो सुख-दु ख आदि काय की उत्पत्ति अवश्य ही होगी क्योकि 'नित्यस्य स्वरूपयोग्यत्वे फलावश्यभाव'—यह नियम है। एवच ईश्वर भी जीव के समान ही सुख दु खादिमान होगा।

समा॰— नित्यस्येति।' 'नित्य परमातमा मे स्वरूपयोग्यतारूप सुख दु खादि समवायिकारणता के रहनेपर भी उसमे सुख-दु खादिरूप फल की उत्पत्ति अवश्य होनी ही चाहिये —यह नियम व्यभिचरित है। उक्त नियम का जलपरमाणु मे व्यभिचार दिखाई देता है। क्योकि जलीयपरमाणु में स्नेह की स्वरूपयोग्यतारूप कारणता के रहनेपर भी स्नेहरूप फल की उत्पत्ति परमाणु में नही होती अपितु जन्यजल में ही स्नेह की उत्पत्ति होती है। अत उक्त नियम का जलपरमाणु मे व्यभिचार स्पष्ट है। एवच—जलपरमाणु में स्नेह के नित्य होने से 'नित्यस्य स्वरूपयोग्यत्वे, यह नियम अप्रयोजक है। अत वास्तविक नियम यह है—'सकल कारणसमवधाने सति नित्यस्य स्वरूपयोग्यत्वे फलाऽवश्यभाव। एवच सकलकारणान्तगत अदृष्टादि भी आजाते हैं, उन अदृष्टादि सहकारी कारणो के न रहने से परमेश्वर में सुख-दु खादि फल (काय) की उत्पत्ति नही हो पाती। अत जीव की तरह ईश्वर को भी सुख दु खादिमान् नही कह सकते।

शका—ईश्वर में 'अदष्ट' की उत्पत्ति क्यो नही मानी जाती ?

समा॰—अदृष्टरूप काय की उत्पत्ति में मिथ्याज्ञान (आत्म तत्त्वज्ञान भिन्न ज्ञान) कारण है। ईश्वर मे मिथ्याज्ञानरूप कारण के न रहने से अदष्टरूप कार्य की उत्पत्ति नही होती।

शका—परेत्विति । सुख की समवायिकारणता के अवच्छेदकरूप से जो जाति सिद्ध होगी, वह 'जीवत्व' जाति ही होगी, 'आत्मत्व' जाति नही, क्योकि आत्मत्व' धम अतिप्रसक्त है। और 'धम' वही अवच्छेदक माना जाता है जो अन्यून तथा अनतिरिक्त हो—'अन्यूनानतिरिक्तस्यैव धमस्य अवच्छेदकत्वात' यह नियम ह। यदि इस नियम को न माना जाय तो 'आत्मत्व' की तरह 'द्रव्यत्व' धर्म को भी उक्त समवायिकारणता का अवच्छेदक क्यो न माना जाय ? ऐसा कतिपय नवीन नैयायिक कहते है। 'आत्मत्व' धम अतिप्रसक्त है, अत उसे अवच्छेदक मानने में कोई प्रणाण नही हैं। एवच सुख-दु खादि-समवायिकारणतावच्छेदकतया सिद्ध जो आत्मत्वजाति, वह ईश्वर में नही है, क्योकि उसके होने में कोई प्रमाण नही है।

किञ्च—'क्षित्यब्तेजोमरुदव्योमकालदिग्देहिनो मन' इस द्रव्यविभाजकवाक्य मे 'आत्मपद' से केवल जीव का ही ग्रहण करें और ईश्वर का पथक निवेश करें तो (उक्त नौ द्रव्यो में परमेश्वर का समावेश न हो पाने से) उसे दसवाँ द्रव्य कहना होगा तब 'आत्मा' शब्द से ईश्वर का बोध नही हो सकेगा। और दूसरी बात यह भी है कि 'आत्मा वारे' इस श्रुति में आये हुए आत्मत्वजातिपद का कोई वाच्य नही बन पायगा।

समा॰—'ज्ञानवत्त्वेन विभाजनादित्याहुरिति।' 'पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक , आत्मा और मन' इस प्रकार विभाग करते समय हम यहा द्रव्यविभाजक धम आत्मत्व को न मानकर ज्ञानवत्त्व मान लेंगे। वह 'ज्ञानवत्त्व' समवायसम्बन्ध से ईश्वर में भी रहेगा। और हमें "आत्मा" पद से दोनो (जीवात्मा परमात्मा) प्राप्त हो सकेंगे। तात्पय यह है कि सुखादिसमवायिकारणतावच्छेदकरूप जाति तो 'जीवत्व' होगी और विभाजकतावच्छेदक ज्ञानवत्त्व ही होगा। जिससे ईश्वर को दसवाँ द्रव्य मानने का प्रसग भी नही आवेगा। क्योकि नौ द्रव्यो मे ही उसका समावेश हो जायगा। श्रुति में आया हुआ 'आत्म शब्द भी ज्ञानवत्त्वावच्छिन्न ज्ञानवान् को लक्षणा मे बता देगा। ग्रथकार ने 'आहु' पद का प्रयोग किया है। इससे सूचित होता है कि यह समाधान ग्रथकार को सम्मत नही ह। ग्रथकार यह बता रहे है कि पूर्वोक्त अनुमान प्रमाण से परमेश्वर में भी 'आत्मत्वजाति, के मानने में कोई बाधक नही है। अत आत्मत्वावच्छिन्न मे आत्मन शब्द की शक्ति का त्याग कर ज्ञानावच्छिन्न में लक्षणा मानना और 'जीवत्व, रूप यून धम को अवच्छेदक मानना तथा ज्ञानवत्त्व को विभाजकतावच्छेदक मानना यह सब गौरवास्पद ही होगा।

लक्षण बता कर अब उसका (आत्मा का) स्वरूप बता रहे हैं—इन्द्रियादीति। मुक्तावलीकार 'इन्द्रियाणां शरीरस्य च' इत्यादि ग्रन्थ से 'इन्द्रियाद्यधिष्ठाता' इस मूल कारिका का व्याख्यान कर रहे हैं। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण पञ्चज्ञानेन्द्रियां ज्ञान की जनक हैं, अतः जनकताख्यपरम्परासम्बन्ध से इन्द्रियों में ज्ञान का (चैतन्य का) सम्पादन आत्मा करता है। उसी प्रकार अवच्छेदकता-संबंध से ज्ञान के प्रति शरीर साधन होता है। अतः अवच्छेदकताख्यपरम्परासम्बन्ध से शरीर में ज्ञान (चैतन्य) का सम्पादन आत्मा ही करता है।

एवञ्च 'इन्द्रियाणां शरीरस्य च' ग्रन्थ के द्वारा ग्रन्थकार ने अनुमानप्रमाण से आत्मा को प्रदर्शित किया है। अनुमान इस प्रकार होगा—'इन्द्रियाणि ज्ञात्रधिष्ठितानि, अचेतनत्वे सति जनकतासम्बन्धेन ज्ञानवत्त्वात्।' 'शरीरं ज्ञात्रधिष्ठितम्, अचेतनत्वे सति अवच्छेदकतासम्बन्धेन ज्ञानवत्त्वात्।' जैसे जपापुष्प स्वसंयुक्त स्फटिकमणि में स्वच्छत्वविशिष्टसामीप्यादिसम्बन्ध से लौहित्यवत्त्व समर्पण करता है उसी तरह इन्द्रियां तथा शरीर यथाक्रम जनकता और अवच्छेदकता सम्बन्ध से आत्मा में ही ज्ञानवत्त्व का होना बताती हैं। क्योंकि अचेतन हमेशा चेतनाधिष्ठित होकर ही कार्य कर पाता है। इस व्याप्ति के अनुसार अचेतन इन्द्रियों में तथा अचेतन शरीर में जो चैतन्य की प्रतीति होती है वह परम्परया अर्थात् इन्द्रियों में जनकता (करणता) सम्बन्ध से और शरीर में अवच्छेदकता सम्बन्ध से होती है क्योंकि इन्द्रियां और शरीर दोनों जड (अचेतन) हैं, उनमें चैतन्य का सम्पादन आत्मा के द्वारा ही समझना चाहिये।

शङ्का—यद्यपि 'अहं जाने, अहं सुखी' अर्थात् 'सुखवानहम् ज्ञानवानहम्' इस प्रकार से आत्मा का मानसप्रत्यक्ष सभी को होता है। तब आत्मा तो मानसप्रत्यक्ष का विषय है। अतः आत्मा में स्वमानसप्रत्यक्ष ही प्रमाण है। एवञ्च आत्मा तो प्रत्यक्षप्रमाण से ही सिद्ध है। उसकी सिद्धि के लिए अनुमान प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

समा०—'तथापि विप्रतिपन्नम्प्रति' ग्रन्थ से समाधान दे रहे हैं—कुछ दार्शनिक ऐसे भी हैं, जिनके निर्णय न्यायसिद्धान्त के प्रतिकूल (विरुद्ध) हैं। जैसे चार्वाकदर्शनकार 'शरीरमेवात्मा, इन्द्रियाण्येवात्मा, मन एवात्मा'—एक चार्वाक शरीर को ही आत्मा कहते हैं, दूसरे चार्वाक इन्द्रियों को ही आत्मा बताते हैं, तीसरे चार्वाक मन को ही आत्मा समझते हैं। इस प्रकार के भिन्न भिन्न चार्वाकों के प्रति, तथा 'क्षणिकविज्ञान' को ही आत्मा समझनेवाले बौद्ध के प्रति, तथा 'नित्यविज्ञान' को ही

'आत्मा' कहनेवाले अद्वैत वेदान्तियो के प्रति सवप्रथम 'अह जाने इत्यादि प्रतीति का विषय 'शरीगदि से भिन्न आत्मा है' यह आप नही बना सकते, क्योकि उपयुक्त वादी शरीर आदि को ही आत्मा समझ बैठे है। इसलिये 'शरीरादि से भिन्न आत्मा है' यह बतानेवाला प्रमाणान्तर (अनुमान) बताना आवश्यक है। अर्थात् हम नैयायिक पहले ही कह देना चाहते है कि आत्मा, शरीर इन्द्रिय मन-क्षणिक-विज्ञान नित्यविज्ञानरूप नही है, अपितु इन सबसे भिन्न है। वह तो 'सुखवानहम' 'दु खवानहम', 'ज्ञानवानहम' इन प्रतीतियो का विषय है। एवच — 'सुखादिनिष्ठ-प्रकारतानिरूपित अहन्त्वावच्छिन्न विशेष्यतावान चेतनात्मा ही ह यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा नही बताई जा सकती। 'सुखवानहम' इत्यादि प्रतीति यद्यपि सभी को होती ह, तथापि चार्वाक मत के अनुसार 'अहन्त्वावच्छिन्न विशेष्यता' '**शरीर**' मे रहेगी। अन्य नास्तिको के मतानुमार 'इन्द्रिय और मन' मे रहेगी। बौद्धा के मतानुसार 'क्षणिकविज्ञान' मे और अद्वैतवेदान्तियो के अनुसार 'नित्य-विज्ञान' मे रहेगी। किन्तु 'आत्मा उन सबमे भिन्न है—यह बताने के लिये अनु-मान-प्रमाण का आश्रय करना पड रहा ह। इसी अभिप्राय को '**करणमिति**' ग्रथ से बता रहे है। मूलकारिका मे '**करण हि सकर्तृकम्**' कहा गया है। **करणम्**= साधकतम अथात जो क्रिया की सिद्धि मे अत्यन्त उपकारक हो। **हि** = निश्चय। **सकर्तृकम्**=कर्त्रा सह वतमानम, कर्ता से युक्त। तात्पय यह है कि जो-जो करण होता है, वह कभी भी कता के बिना नही होता—यह निश्चित है।

वास्यादीना छिदादिकरणाना कर्तारमन्तरेण फलानुपधान दृष्टम्। एव चक्षुरादीना ज्ञानकरणाना फलोपधानमपि कर्तारमन्तरेण नोपपद्यत इत्यतिरिक्त कर्ता कल्प्यते।

● (जैसे) अचेतन वासी (बसूला) तथा कुठार (कुल्हाडी) ये सब लकडी के काटने (छेदनक्रिया) मे सहायक (करण) होते है, किन्तु उनका सहायक बन पाना किसी चेतनकर्ता के बिना सभव नही है। वैसे ही ज्ञानोत्पत्तिक्रिया मे जड चक्षुरिन्द्रिय आदि भी सहायक (करण) होते है, किन्तु उनका भी सहायक (करण) बन पाना चेतन 'कर्ता' के बिना नही हो सकता। अर्थात अचेतन (जड) करणो से फलोत्पत्ति तभी हो सकती है, जब वे किसी चेतन कर्ता का आश्रय अनु-मान (सहारा) के द्वारा लेते है। अत अचेतना मे भिन्न चेतन आत्मा का कर्ता के रूप मे अनुमान किया जाता ह। **अनुमान इस प्रकार होगा**-'इन्द्रिय, सकतकम, फलो-पधानात्मक कारणत्वघटितकारणत्वात्, छेदनफलोपधायकवास्यादिवत।' 'चक्षुरादीनि

इन्द्रियाणि रूपाद्युपलब्धौ सकर्तकाणि करणत्वात् छिदादिक्रियासाधकतमकुठारादिवत ।' ॥४७॥

॥ इति आत्मनि प्रमाणकथनम ॥

★शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः ।
तथात्वं चेदिन्द्रियाणामुपघाते कथ स्मृतिः ॥४८॥

चार्वाक का अपना मत है कि 'चैतन्य (ज्ञान) समवायसम्बन्ध से शरीर का गुण ह ।' शरीर और ज्ञान दोनो मे काय कारणभाव के प्रति उनका सिद्धान्त है कि 'समवायेन ज्ञानम्प्रति शरीर कारणम' । परन्तु उनका उपयुक्त कथन उचित नही ह क्योकि प्राणहीन शरीरो (शवो) मे व्यभिचार दिखाई देता है । अर्थात् शरीरात्मक कारण के रहते हुए भी ज्ञान रूप काय वहा नही हो पाता । अत शरीर और ज्ञान (चैतन्य) का काय कारणभाव मानने में **'अन्वय व्यभिचार'** दोष होता है ।

◐ ननु शरीरस्यैव कर्तृत्वमस्त्वत आह—शरीरस्येति ।

ननु चैतन्य ज्ञानादिकमेव, मुक्तात्मना त्वन्मत इव मृतशरीराणामपि तदभावे का क्षति , प्राणाभावेन ज्ञानाभावस्य सिद्धेरिति चेन्न, शरीरस्य चैतन्ये बाल्ये विलोकितस्य स्थविरे स्मरणानुपपत्ते , शरीराणामवयवोपचयापचयैरुत्पादविनाशशालित्वात् ।

न च पूर्वशरीरोत्पन्नसस्कारेण द्वितीयशरीरे सस्कार उत्पद्यत इति वाच्यम्, अनन्तसस्कारकल्पने गौरवात् ।

● शका चार्वाक, नैयायिक से कहता है कि आपने चक्षुरादि इन्द्रियरूप करणो के कर्ता को ही 'आत्मा' कहा है । तब स्थूलोऽह' 'कृशोऽहम्' करोमि' आदि प्रतीति के होते रहने से स्थूलता, कृशता और क्रियानुकूलकृति तो शरीर मे ही प्रत्यक्ष दिखाई देती है । अत 'अहपरविषयता' को भी शरीर मे ही मान लेना उचित है एवच—कृति की कारणभूत इच्छा और इच्छा का कारणभूत ज्ञान भी 'शरीर' ही है । इससे चार्वाक का मत स्पष्ट हो जाता है कि **'शरीर ही आत्मा है ।'** इस प्रकार चार्वाक के मत को ग्रन्थकार ने 'ननु शरीरस्यैव' ग्रन्थ से सूचित किया है । चार्वाक की शङ्का का आशय यह है कि 'समवायेन ज्ञान प्रति शरीर कारणम' यहाँ पर आपने (नैयायिक ने) जैसे मृत शरीर में व्यभिचार दिखाया वैसे ही न्यायमत में भी 'समवायेन ज्ञान प्रति आत्मा (चेतन) कारणम' इस काय-कारणभाव का **'मुक्तात्मा'** में ज्ञान के न होने से अन्वयव्यभिचार है ।

उसका निराकरण करने के लिये यदि नैयायिक कहे कि 'समवायेन ज्ञान प्रति शरीरविशिष्ट-मन सयोगावच्छिन्नात्मन कारणत्वम्', तो हम चार्वाक भी 'समवायेन ज्ञान प्रति प्राणविशिष्टशरीर कारणम्' कहकर आपके दिये हुए व्यभिचार का वारण कर सकते हैं। इसलिये यह सिद्ध हो जाता है कि '**शरीर ही आत्मा है**' यह हम चार्वाको का सिद्धान्त है।

अथवा '**चैतन्य**' का अथ चेतनत्व (आत्मत्व) है, तत्र उसमे '**ज्ञानादिकमेव**' अर्थात् ज्ञानेच्छाधिकरणत्व ही है। 'ज्ञानादिकम्' का अथ ज्ञानवत्त्व (ज्ञानविशिष्टत्व) नही है। जिससे मृतशरीर मे व्यभिचार दिखाया जा सके। एवच—नैयायिक के मत के अनुसार मुक्तात्मा में ज्ञान के न रहने पर भी ज्ञानाधिकरणत्व तो रहता ही है। उस कारण आत्मा में 'इतरभेदसाधक ज्ञानाधिकरणत्व' हेतु, जैसे स्वरूपासिद्ध नही हो पाता वैसे ही मुझ चार्वाक के मत में भी मृतशरीरो में ज्ञान का अभाव रहने पर भी ज्ञानाधिकरणत्व के रहने से स्वरूपासिद्धि आदि कोई दोष नही दिया जा सकता।

अथवा—चैतन्य' का अथ ज्ञान, इच्छा कृति है। वह ज्ञान, इच्छा, कृति नैयायिक के सिद्धान्तानुसार मुक्तात्मा में नही रहती, क्योकि नैयायिक के सिद्धान्त में मुक्त आत्मा जड होती है। उसी प्रकार चार्वाक भी कह सकता है कि मृत शरीररूपी आत्मा में चैतन्य नही है। नैयायिक चार्वाक से पूछता है कि तुम बताओ कि अपने उपयुक्त कथन के अनुसार मृतशरीर में ज्ञान क्यो नही होता ? चार्वाक उत्तर देता है—'प्राणाभावेन' इति। ज्ञान होने मे जो अनेक कारण है उनमें से एक कारण 'प्राण' भी है, उस प्राण के न होने से ज्ञान नही होता। अर्थात मृतशरीर में प्राणाभावप्रयुक्त ज्ञानाभाव है। **निष्कर्ष यह है** नैयायिक भी यही कहता है कि जिस आत्मा से प्राण का सम्बन्ध है, उसी से ज्ञान का सम्बन्ध है। अर्थात् जिस आत्मा में प्राण नही, उसमें ज्ञान भी नही है। इसलिये मुक्तात्मा में प्राणाभाव से ज्ञानाभाव की सिद्धि की जाती है। उसी प्रकार हम चार्वाक भी यही उत्तर देंगे कि मृतशरीररूपी आत्मा में प्राण के न होने से ज्ञानाभाव की सिद्धि हो जाती है। इसलिये शरीर को आत्मा' स्वीकार करने में नैयायिक के द्वारा प्रदर्शित किये गये व्यभिचार आवि दोष व्यर्थ है।

चार्वाक के द्वारा इस प्रकार उत्तर पाने पर नैयायिक अन्यान्य दूषणो को दिखाकर चार्वाक सिद्धात का खण्डन करता है—'**शरीरस्येति**'। **नैयायिक**

बताता है कि शरीर को चेतन (आत्मा) स्वीकार करने पर शैशव अवस्था में देखे हुए पदार्थों (वस्तुओ) का बुढापे में स्मरण नही हो सकेगा । क्योकि शरीर तो अवयवो के उपचय (वृद्धि) तथा अपचय (ह्रास) के कारण उत्पाद विनाशशाली है अर्थात बचपन (शैशवावस्था) मे जो शरीर था, वह युवावस्था (तरुण अवस्था मे नहीं रहा और युवावस्था मे जो शरीर था वह वृद्धावस्था (बुढापे) मे नही रहा, अर्थात प्रत्येक अवस्था मे अन्य अन्य शरीर उत्पन्न होता गया । अत शैशव अवस्था में अनुभव किये गये पदार्थो का युवावस्था या वृद्धावस्था में स्मरण नही बनेगा, अर्थात अनुपपन्न होगा । लेकिन स्मरण तो सभी को होता है, चार्वाक को भी होता है । अत शरीर से अतिरिक्त आत्मा, जो अनुभवजन्य सस्कारो का आश्रय है, सिद्ध होता है ।

चार्वाक अपने मत मे स्मरण की उपपत्ति लगाता है—'नचेति' । चार्वाक कहता है—पूवशरीर मे उत्पन्न हुए सस्कार अग्रिम शरीरो मे सस्कारो को उत्पन्न करेंगे, जिससे स्मरणानुपपत्ति दोष नही बनेगा । क्योकि पूर्वानुभवजन्य सस्कार, 'स्वजन्य-सस्कार प्रयोज्य-सस्कारवत्त्व' सम्बन्ध से उत्तरोत्तर शरीरो मे होते रहते है । यहाँ पर 'स्व' शब्द से पूवशरीरस्थ अनुभव लेना है । अत सभी अवस्थाओ में स्मरण हो सकता है । इसलिये शरीर ही आत्मा है ।

नैयायिक कहता है–चार्वाक की युक्ति (उपपत्ति) ठीक नही है । क्योकि अनन्त सस्कारो की कल्पना करने में कल्पना-प्रयुक्त गौरव होगा । तथापि चार्वाक यदि कहे कि आपका दिया हुआ 'अनन्तसस्कार-कल्पना प्रयुक्त गौरव' दोष इसलिये नही मानाजायगा कि वह फलमुख है । 'फलमुख गौरव न दोषाय'यह नियम है–फल=कार्य कारणभावका ज्ञान, तन्मुख=उसके अधीन, गौरव=गौरवज्ञान । काय कारणभावज्ञान के अनन्तर उत्पन्न होनेवाला गौरवज्ञान, कारणता के निश्चय करने में प्रतिबन्धक नही हुआ करता । विशिष्टज्ञानत्वेनरूपेण विशिष्टज्ञानत्व धर्मिकगौरवज्ञान ही कारणता के निश्चय में प्रतिबन्धक (विरोधी) होता है । विशिष्टज्ञानत्वनिष्ठ गौरव का अर्थ होगा—'यत्किञ्चिदनुमित्यव्यवहित-पूवकालावच्छेदेन अवश्यकल्पनीय-स्वाश्रयकत्वम्' । यहाँ 'स्व' शब्द से गौरव को लेना है, तदाश्रय होगा 'परामश', तत्कत्वगौरव 'विशिष्टज्ञानत्व' में आवेगा । एवच विशिष्टज्ञानत्वेन रूपेण विशिष्टज्ञान को कारण मान लेने पर उसकी उपपत्ति के लिये दो ज्ञानो के बाद होनेवाली अनुमिति के पूव विशिष्टज्ञान की कल्पना करनी होगी, तदनन्तर गौरवज्ञान होगा । एवच काय कारणभाव के निर्णय से पूव गौरव का निणय न हो पाने से उत्तर-

कालिक गौरवज्ञान, अपने से पूव उत्पन्न होनेवाले कारणता के निणय का प्रतिबन्धक नही हो सकता। अत इस प्रकार का 'गौरव' दोषावह नही माना जाता।

इसी नियम का उपपादन अन्य प्रकार से भी किया जाता है जैसे—फल मुख प्रधान यस्य तत्र यदगौरव तद्दोषावह न भवति।

यथा वह्निनान् धूमादित्यत्र विश्रृङ्खलतया व्याप्तिपक्षधमताज्ञानस्य सत्वेऽपि विशिष्टज्ञानकल्पने न गौरवम्।

इसलिये दूसरा दूषण दे रहे है। शरीर को यदि आत्मा मानेंगे तो उत्पन्न हुए बालक की प्रथम स्तन्यपान मे प्रवत्ति नही होनी चाहिये। क्योकि 'इद स्तन्यपान मदिष्टस्य (जीवनस्य) साधनम'—यह स्तन्य (दुग्ध) पान मेरे इष्ट (जीवन) का साधन है—यह स्मरणात्मकज्ञान ही इच्छाद्वारा मातृ स्तन्य-पान मे बालक की प्रवृत्ति का कारण है। प्रथम स्तन्यपान से पूव, स्तन्यपान का अनुभव बालक के शरीर ने नही किया था। दुग्धपान प्रवृत्ति के अव्यवहित पूवक्षण मे अपनी इष्टसाधनता का स्मारक 'इद मदिष्टसाधनम्' इत्याकारक अनुभवात्मकसहकारिकारण शरीरात्मक आत्मा में नही है। एवच कौनसा वह अनुभव है, जो सस्कार को उत्पन्न कराकर इष्टसाधनताज्ञानात्मक स्मति को उत्पन्न करायेगा, और प्रवृत्ति करायेगा ? कहना होगा कि कोई अनुभव नही है। इसलिये मानना होगा कि पूवजन्म के शरीर में अनुभव किये हुए दुग्धपान के दृढतर सस्कार से युक्त आत्मा है, जिसे इस जन्म में स्मरण हो रहा है। अत वह (आत्मा) शरीर से भिन्न ही है। इस कारण शरीर को आत्मा नही मान सकते।

हमरे (नैयायिक के) मत मे—नवजात शिशु की प्रथम स्तन्यपान में प्रवृत्ति का होना उपपन्न होता है। नैयायिको के मतानुसार तो 'आत्मा' नित्य है। अत वह शरीर आदि से भिन्न है। जिस आत्मा ने पूवजन्म में माता के स्तनपान का जो अनुभव (स्तन्यपान मदिष्टसाधनम) लिया था, उससे आहित (उत्पन्न) सस्कार से दूसरे जन्म में पैदा होने पर प्रथम स्तन्यपान प्रवत्ति के अव्यवहित पूवक्षण मे 'स्तन्यपान मदिष्टसाधनम्' इस प्रकार स्तन्यपाननिष्ठ अपनी इष्टसाधनताका स्मरण हो आता है, उस स्मरण से इच्छा होती है, तब बालक की प्रवृत्ति होती है। अर्थात स्मति अनुभव-साधारण इष्टसाधनता का ज्ञान होने पर ही प्रवृत्ति होती है। अत आत्मा, शरीर से भिन्न ही है। जो आत्मा पूवजन्म के शरीर में था और जिसने स्तनपान में इष्टसाधनता का अनुभव प्राप्त किया था, वही आत्मा अब पुन इस जन्म के शरीर मे प्राप्त (सयुक्त) होकर, जन्मान्तरीय अनुभव के

सस्कार के कारण स्तन्यपान में इष्टसाधनता का स्मरण करता है और प्रवत्ति उपपन्न हो जाती है। तथापि उस पर चार्वाक की पुन आपत्ति है।

चार्वाक की आपत्ति—'न च जन्मान्तरानुभूतमिति ।' यदि नैयायिकके मतानुसार आत्मा नित्य है तो उसने पूवजन्म में वाद-विवाद, युद्ध कलह, काम-सभोगादि कितनी ही बातो का अनुभव किया होगा, उन सभी का स्मरण उसे (बालक को) इस जन्म मे होना चाहिये, क्योकि उन सभी अनुभवो से उत्पन्न हुए सभी सस्कार उस बालक की आत्मा में विद्यमान है।

नैयायिक उक्त आपत्ति का समाधान करता है—'**उद्बोधकाभावादिति**' सस्कारो के विद्यमान रहने पर भी वे (सस्कार) शैशवावस्था मे अनुदबुद्धरूप मे है। वाद विवाद, युद्ध कलह, काम सभोगादि सस्कारो का उद्‌बोधक यौवन का शरीर है, बाल्यावस्था का शरीर नही। स्मृति के प्रति उदबुद्ध सस्कार ही कारण होते है। अत बचपन मे कामभोगादि-स्मरण की आपत्ति नही दी जा सकती।

प्रश्न—इष्टसाधनता के स्मारक सस्कार का बचपन मे उद्‌बोधक कौन है ?

उत्तर—'**अत्रेति** ।' 'स्तन्यपान मम इष्टसाधनम'—इत्याकारक इष्टसाधनता स्मारक सस्कार के प्रति जीवनादृष्ट अर्थात शरीर में प्राणस्थिति (जीवन) के प्रयोजकरूप धर्माधर्मरूप अदृष्टको ही उदबोधक (इष्टसाधनतास्मारकसस्कारोदबोधक) अनायत्या (अगतिकगति होकर) मानना पडता है। अन्यथा बालक का जीवन ही असभव हो जायगा। अनुमान इस प्रकार किया जायगा—'बालात्मा, स्तन्य-पानेष्टसाधनतास्मारकसस्कारोद्‌बोधकाऽदृष्टवान, स्तन्यपानप्रवृत्तिमत्त्वात, मद्वत ।' एवच नैयायिक ने आत्मा को शरीर से अतिरिक्त सिद्धकर दिखाया। अब वह आत्मा की '**नित्यता**' को सिद्ध करता है—'**इत्थञ्चेति** ।' इस रीति से ससार के अनादि होने के कारण आत्मा का भी अनादित्व सिद्ध है और अनादि भाव पदाथ का नाश नही होता, इस कारण आत्मा की नित्यता भी सिद्ध हो जाती है। 'अनादि' पदाथ का परिष्कार यह करना चाहिये 'स्वाश्रयाऽनधिकरण-कालक-भिन्न धमवत्त्वम ।' यहाँ पर 'स्व' पद से जनम मरणान्यतरत्वरूप ससारत्व का ग्रहण नही होता, क्योकि कालमात्र, जनन मरणान्यतराश्रय होता है। अत 'स्व' पद से घटादिनिष्ठतत्तदव्यक्तित्व को लेना चाहिये। तादृशस्वाश्रयाऽनधिकरणकालक जो-जो 'स्व' अर्थात तत्तत्-व्यक्तित्वादि, तत्तद्व्यक्तिभेदकूटवत्त्व जनन मरणान्य तरत्वरूप ससारत्व में विद्यमान होने से तद्वत्त्व को लेकर ससार को अनादि सम

झना चाहिये। शरीर के जनन-मरण जब अनादि है तब उसके कारणभूत अदृष्ट को भी अनादि कहना होगा। इसके अनादित्व का परिष्कार इस प्रकार होगा—'स्वाश्रयप्रागभावाधिकरणस्वाश्रयानधिकरणकालकभिन्न धमवत्त्वम्।' यहा पर 'स्व' से अदष्टत्व का ग्रहण नही होता, क्योकि काल सवदा ही अदष्ट का अधिकरण होता है। अत 'स्व' पद से घटगततत्तद्व्यक्तित्व को लेना, तदाश्रयतद्घटप्रागभावाधिकरण और तद्व्यक्तित्वाश्रयतद्घटानधिकरण जो काल, तादृशकालक जो जो 'स्व' अर्थात् तद्व्यक्तित्वादि, तद्भिन्न धर्म 'अदष्टत्व', तद्वत्त्व अदृष्ट में रहेगा। इस प्रकार अदष्टका अनादित्व सिद्ध होनेपर 'आत्मा' का भी अनादित्व कहना चाहिये। आत्मा का अनादित्व उपयुक्त परिभाषा के अनुसार नही समझना, क्योकि आत्मनिष्ठ तद्व्यक्तित्व के आश्रय का अनधिकरण काल अप्रसिद्ध है। बल्कि उसे 'प्रागभावाऽप्रतियोगित्व' रूप समझना चाहिये। क्याकि 'आत्मा' अनादि भावपदाथ है। उसका नाश होना सभव नही। अत उसका नित्यत्व (ध्वसाऽप्रतियोगित्व) भी सिद्ध है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'आत्मा नित्य अनादित्वे सति भावत्वात।' उसमें विद्यमान सस्कार की अनादिता का परिष्कार —'स्वाश्रयप्रागभावाधिकरणकालकभिन्न धमवत्त्वम्'—यहाँ पर 'स्व' पद से सस्कारनिष्ठ तदव्यक्तित्व, तदाश्रयतत्सस्कार प्रागभावाधिकरण कालक जो जो 'स्व' अर्थात् सस्कारगत तत्तदव्यक्तित्व, तद्भिन्नधम 'भावनात्व' (सस्कारत्व) होगा, तद्वत्त्व सस्कार मे आने से सस्कार की अनादिता सिद्ध हो जाती है। 'यो यो जन्यो भाव स सर्वोऽपि विनाशी' यह व्याप्ति है। आत्मा मे 'जन्यभावत्व' रूप हेतु के न होने से उसके विनाश की कल्पना नही की जा सकती। भगवती श्रुति भी उसकी अविनाशिता को बता रही है—''अविनाशीवारेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा''—(वृहदा अ ६। ब्रा ५। क १४)

॥ इति शरीरात्मवादि-चार्वाकमतखण्डनम् ॥

चार्वाक के मत का सक्षेप इस प्रकार है—

अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवायनला ऽनिला ।
चतुभ्य खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ॥
किण्वादिभ्य समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत् ।
अह स्थूल कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यत ॥
देह स्थौल्यादियोगाच्च स एवात्मा न चापर ।
मम देहोऽयमित्युक्ति सम्भवेदौपचारिकी ॥

अङ्गनालिङ्गनाजन्य सुखमेव पुमर्थता ।
कण्टकादिव्यथाजन्य दु ख निरय उच्यते ॥
लोकसिद्धो भवेद्राजा परेशो नापर स्मृत ।
देहस्य नाशो मुक्तिस्तु न ज्ञाना मुक्तिरिष्यते ॥
यावज्जीव सुख जीवेत ऋण कृत्वा घृत पिबेत ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत ॥
अग्निहोत्र त्रयो वेदास्त्रिदण्ड भस्मगुण्ठनम ।
बुद्धिपौरुषहीनाना जीविकेति बृहस्पति ॥
अग्निरुष्णो जल शीत शीतस्पशस्तथाऽनिल ।
केनेद चित्रित तस्मात स्वभावात तद्व्यवस्थिति ॥
न स्वर्गो नाऽपवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिक ।
नैव वर्णाश्रमादीना क्रियाश्च फलदायिका ॥
पशुश्चेन्निहत स्वग ज्योतिष्टोमे गमिष्यति ।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिस्यते ॥
मृतानामपि जन्तूना श्राद्ध चेत तृप्तिकारणम ।
गच्छतामिह जन्तूना वृथा पाथेयकल्पनम ॥
स्वगस्थिता यदि तृप्ति गच्छेयुस्तत्र दानत ।
प्रासादस्योपरिस्थानामिह कस्मान्न दीयते ॥
यदि गच्छेत पर लोक देहादेष विनिगत ।
कस्माद् भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुल ॥
त्रयो वेदस्य कर्तारो धूर्त भाण्ड निशाचरा ।
जफरी तुफरीत्यादि पण्डिताना वच स्मृतम ॥

चार भूत ही वास्तविक तत्त्व है, देह ही आत्मा है, चार भूतो के मिलन से मदशक्ति के समान चैतन्य पैदा होता है, और उनके विनष्ट होने पर वह (चैतन्य) स्वय ही नष्ट हो जाता है । न कोई परलोक है, न कोई पुण्य पाप है, जिसका फल भोगना पडे, क्योकि देह से अतिरिक्त कोई आत्मा नही है । प्रत्यक्ष मात्र ही एक प्रमाण है । अङ्गनालिङ्गनादिसे उत्पद्यमान सुख ही पुरुषाथ है और मरण (मरना) ही मोक्ष है । स्वाथलोलुप, लोकसुखवञ्चक लोगो ने ही बहुवित्तव्यय और आयाससाध्य अग्निहोत्रादिकर्मानुष्ठान में जनता को प्रेरित किया है । वेद प्रमाण नही है । इस चार्वाक मत के प्रवतक बृहस्पति है । इस बृहस्पति को ही कुछ लोग देवगुरु

समझते है, परन्तु यह देवगुरु न होकर कोई अन्य ही व्यक्ति है। इस मत के प्रवतक का 'चार्वाक' नाम अन्वथक (साथक) है 'चारु' लोकसम्मत 'वाकः' वाक्य यस्य स 'चार्वाक'—यह चार्वाक शब्द की निरुक्ति है। इसी का दूसरा नाम 'लौकायतिक' भी है। लोके आयत (विस्तीण प्रसिद्धम्) यत प्रत्यक्षम्प्रमाण तल्लोकायतम्, तत्प्रतिपादक शास्त्रमपि लोकायतम। 'तदधीते तद्वेद'—(४।२।५९) इस सूत्र के अधिकार में 'क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्—(४।२।६०) इस सूत्र से उक्थादि गण के अन्तगत लोकायत शब्द से 'ठक्' प्रत्यय किया गया है। लोकायतमधीते वेद वेत्ति **लौकायतिक** ।

॥ इति **चार्वाक-मत** सक्षेप ॥

❀ तथात्व चेदिन्द्रियाणामुपघाते कथं स्मृतिः ॥

पूर्वोक्त अडतालीसवी कारिका के उत्तराध का अथ करते है।

यदि चक्षुरादि बाह्येन्द्रियो को आत्मा मान लिया जाय तो किसी रोगादि के कारण चक्षुरादि इन्द्रिय के नष्ट होनेपर पूर्व दृष्टवस्तु का स्मरण नही होना चाहिये, किन्तु होता है। अत चक्षुरादि इन्द्रियो को आत्मा नही मान सकते। यहाँ पर 'तथात्व'=चैतन्य, 'उपघात'=विनाश और कारिकागत 'चेत्'[1] शब्द से प्राणात्मवादी चार्वाक के मत का खण्डन भी सूचित कर रहे है।

---

१ प्राणात्मवादी चार्वाक का कथन है कि 'प्राण' तीनो अवस्थाओ (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति) में विद्यमान रहता है, अत उसे (प्राण को) ही 'आत्मा' कहना चाहिये। **अथवा** 'जिसके रहने पर देह को जीवित कहते है और जिसके न रहने पर उसे (देह को) मृत कहते है'—यह जीवात्मा का लक्षण 'प्राण' में घटित भी होता है। अत 'प्राण' को ही आत्मा कहना चाहिये। **तथा**—'जीवापेत वाव किलेद म्रियते, न जीवो म्रियते' इस श्रुति मे भी प्राणरूप जीवात्मा से परित्यक्त हुए देह में मरणव्यवहार किया गया है। अत 'प्राण' ही आत्मा है। **अथवा**—'प्रेयोऽन्यस्मात सर्वस्मादन्तरन्तर यदयमात्मा'—इस श्रुति ने पुत्रादि समस्त पदार्थो से भी बढकर जो प्रियतम हो, उसे ही 'आत्मा' कहा है। ऐसी प्रियतमता 'प्राण' में ही पायी जाती है। अत 'प्राण' ही आत्मा है। **अथवा**—'अन्योऽन्तरात्मा प्राणमय' यह श्रुति 'प्राण' को ही आत्मा बता रही है। 'मातेव पुत्र रक्षस्व' इस श्रुति ने भी जैसे माता पुत्रो की रक्षा करती है, वैसे ही इन्द्रियादि सघात का रक्षक 'प्राण' को ही बताया है। अत 'प्राण' ही आत्मा है।

ननु चक्षुरादीनामेव ज्ञानादिकं प्रति करणत्व कर्तृत्व चास्तु, विरोधे साधकाभावादत आह– तथात्वमिति। तथात्व चैतन्यमित्यर्थ। उपघाते—नाशे सति, अर्थाच्चक्षुरादीनामेव। कथमिति। पूर्वं चक्षुषा साक्षात्कृताना चक्षुषोऽभावे स्मरण न स्यात्, अनुभवितुरभावात्। अन्यदृष्टस्यान्येन स्मरणासम्भवात्। अनुभवस्मरणयो सामानाधिकरण्येन कार्यकारणभावादिति भाव ॥४८॥

॥ इति इन्द्रियात्मवादिमत खण्डनम् ॥

नैयायिक उक्त मत का अनुमानप्रमाण से खण्डन करता है तथाहि—'प्राण अनात्मा वायुत्वात बाह्यवायुवत' जैसे बाह्य वायु मे अनात्मता रहती है, वैसे ही आभ्यन्तर प्राणवायु में भी अनात्मता रहती है, इस कारण वह 'प्राण' भी अनात्मा ही है। व्याकरण की दृष्टि से 'जीव' प्राणधारणे धातु से 'क' प्रत्यय लगाकर 'जीव' शब्द की निष्पत्ति होती है। अत जीव' शब्द का अथ हुआ 'प्राणों को धारण करनेवाला। इस कारण भी आधार और आधेय मे भेद रहना आवश्यक है। इससे भी यह सिद्ध होता ह कि आत्मा 'प्राण' से भिन्न ही है। **किञ्च**—'हमारा श्वास चलता है' इस अनुभव से भी श्वासात्मक प्राण से भिन्न ही आत्मा है। **अथवा**—प्राणवायु का स्पश भी प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। इस कारण घट आदि के तुल्य स्पर्शवाले और सावयव एव उत्पत्ति-विनाशशील प्राणरूप आत्मा को अनित्य कहना होगा। **अथवा**—इस शरीर का जीवन भी केवल प्राण के अधीन नही है, बल्कि प्राण के धारक जीवात्मा के ही अधीन है। इसी बात को श्रुति कह रही ह—'न प्राणेन नाऽपानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ। लोगो का जीवन प्राण तथा आपान से नही, किन्तु जीवात्मा से ही है। **अथच**—प्राणात्मवादी ने प्राणो मे सर्वाधिक प्रियतमता को जो बताया है, वह भी उचित नही है, क्योकि अत्यन्त दुखी हुआ व्यक्ति जीवात्मा के सुखाथ विषादिका भक्षण कर प्राणो को भी त्याग देता ह। अह क्षुधापिपासावान' इस अनुभव को 'नील तम ' की तरह भ्रम ही समझना चाहिये। **अथवा**— अन्योऽन्तरात्मा प्राणमय ' इस श्रुति ने प्राणात्मवादी के भ्रमात्मक मत का अनुवाद किया है, अतः यह श्रुति, पूवपक्षरूप है। किञ्च प्राण के सवाद को भी प्राणाभिमानी देवता विषयक समझना चाहिये। एवञ्च प्राणात्मवादी चार्वाक का मत नितान्त अनुचित है।

● किसी एकदेशी चार्वाक की आशका को मुक्तावलीकार 'ननु'—ग्रन्थ से प्रकट कर रहे है।

'करण' का अथ है साधकतम और उसका जो भाव उसे 'करणत्व' कहते हैं। उसी तरह 'क्तत्वम' = क्रियानुकूलकृतिमत्त्वम्। करणत्व और कर्तृत्व ये दोनो ही धम, चक्षुरादि इन्द्रियो के ही है। अतएव 'काणोऽह जानामि' ऐसा अहम् प्रत्यय होता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि 'इंद्रियाँ' ही आत्म पदाथ है। इंद्रियोके अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है।

चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, रसना, घ्राण ये सभी समवाय सम्बन्ध से ज्ञान, इच्छा, कृति, भावना आदिके प्रति करण कहलाते है। व्यापाराविष्ट हुए कारणको 'करण' कहते हैं 'व्यापारवत्त्वे सति कारणत्वम'। इस प्रकार का करणत्व' चक्षुरादि इन्द्रियो मे है। क्योकि चक्षुरादि इन्द्रियाँ चक्षु सयोगादिरूप व्यापार वाली है और उनमें चाक्षुषज्ञानाऽव्यवहितपूवकालवृत्तित्व भी है। अत एव कृत्याश्रयत्वरूप कतृत्व भी उनमे है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'चक्षुरादीनि, कतृ णि, करणत्वात्, यन्नैव तन्नैवम्।

चार्वाक—चक्षुरादि इन्द्रियो को ही ज्ञानादि काय के प्रति करण और कर्ता क्यो न कहें। अर्थात करणत्व एव कतृत्व दोनो धम, चक्षुरादि इन्द्रियो के ही क्यो न मान लिये जाँय ? अत तदतिरिक्त आत्मा को स्वीकार करना व्यथ है।

प्रश्न—(**नैयायिक का**) कर्ता और करण मे जो भेदेन व्यवहार किया जाता है, वह उपपन्न नही हो सकेगा। क्योकि करणत्व और कतृत्व दोनो का स्वभाव परस्पर विरुद्ध है। अत एक ही वस्तु में करणत्व और कर्तृत्व कैसे सभव हो सकेगा ?

उत्तर—(**चार्वाक का**) **'विरोधे साधकाभावात्'** इति। करणत्व और कतृत्व भिन्नाधिकरण ही हो, इसमें कोई प्रमाण नही है। अर्थात् चक्षुरादि इन्द्रिया करण एव कर्ता नही हो सकती-इस कथन में कोई प्रमाण (साधक युक्ति) नही हैं। जहाँ प्रमाणाऽसहिष्णुत्व हो वहाँ (प्रमाण की कसौटी पर न कसा जा सके) विरोध (इद विरुद्धम) की प्रतीति हुआ करती है, किन्तु जहाँ प्रमाण के द्वारा (सप्रमाण) कोई बात जानी जाती है, वहाँ विरोध की प्रतीति नही हुआ करती। जैसे—जैनदार्शनिक एक ही वस्तु को 'सत् और असत' दोनो मानते है।

नैयायिक के द्वारा खण्डन--'तथात्वम्' इति। यदि चैतन्य को इन्द्रियो का धम मान लिया जाय अर्थात इन्द्रियो मे ही क्रियानुकूलकृतिमत्त्व (कर्तत्व) माना जाय तो इन्द्रियो का रोगादि से उपघात (विनाश) होने पर पूर्वानुभूतपदाथ की स्मृति कैसे हो पायगी ? क्योकि 'अनुभवितु अभावात्'। स्मृतिज्ञान का अधिकरण आत्मा (चक्षुरादि इन्द्रिय) तो नष्ट हो चुका। जिस चक्षुरिन्द्रिय ने पहले वस्तु का साक्षात्कार (प्रत्यक्ष) किया था, उस चक्षुरिंद्रिय का तो रोगादि के कारण अब विनाश हो गया हैं। अत अनुभव करनेवाले चक्षु के न होने से उस वस्तु का अब स्मरण नही होना चाहिये। अन्य कोई देखे और अन्य कोई याद करे यह सभव नही। सभी जानते है कि किसी ने अपनी आखो से अपने माता-पिता आदि परिजनो को या अन्य वस्तुओ को देखा है, किन्तु कालान्तरसे रोगादि के कारण अन्धा हो जाने पर भी उसे अपने माता पिता आदि परिजनो की या अन्य वस्तुओ की याद आया करती हैं। तात्पय यह है कि अनुभविता को ही याद (स्मृति) हुआ करती है, क्योकि अनुभव और स्मरण (स्मति) का सामानाधिकरण्य (एक ही आत्मा मे समवायसम्बन्धावच्छिन्न होकर दोनो का रहना) होने से उनका काय कारणभाव रहता है, अर्थात अनुभव सस्कार के द्वारा कारण है और स्मरण (स्मृति) उसका काय ह। अभिप्राय यह है कि 'जहा अनुभव, वही स्मरण' यह नियम है।

किञ्च--इन्द्रियो मे भी क्या प्रत्येक इन्द्रिय मे भिन्न भिन्न 'चेतनत्व' (प्रत्येक इन्द्रिय आत्मा) है, या समस्त इन्द्रियो मे मिलकर (सामूहिक रूप से) एक चेतनत्व (आत्मा) है ? प्रथम पक्ष लें तो प्रत्येक इन्द्रिय के स्वतत्र रहने पर कदाचित उन इन्द्रियोमें वैमत्य भी हो सकता है, तब उनमें परस्पर विपरीत दिशा की ओर क्रियाओ के होनेपर उन इन्द्रियो से अधिष्ठित हुए शरीर के विदीर्ण होने का प्रसग आवेगा।

यदि द्वितीय पक्ष को लें तो श्रोत्र के नष्ट होनेपर भी चक्षु से शब्द का प्रत्यक्ष होने का प्रसग प्राप्त होगा। अथवा किसी रूप आदि की प्रतीति ही न हो सकेगी, क्योंकि आत्मा तो नष्ट हो चुका है। 'मृतोऽयम्'—यह मर गया है, ऐसी अबाधित प्रतीति सबको सवत्र होने लगेगी।

यदि प्रत्येक इन्द्रिय को अलग अलग पूणस्वतन्त्र आत्मा के रूप मे न कहे तो उससे तो यही अच्छा होगा कि जिसके अधीन (परतत्र) ये इन्द्रियाँ होगी उसे ही आत्मा कहा जाय और उसे इन्द्रिय से पथक कहना होगा। रूपादि विषयो में

अपनी इच्छानुसार वह इन्द्रियो का प्रवतक होगा, जैसे बढई अपनी इच्छानुसार कुठार का प्रवतक रहता है। इन्द्रियो को आत्मा सिद्ध करने के लिये 'अह काण' यह प्रतीति जो प्रदर्शित की थी, उसे 'मम देह'—मेरा देह, इस प्रतीति की तरह 'मम इन्द्रियम'—मेरी इन्द्रिय, इस बाधक प्रत्यय के विद्यमान होने से भाक्त (लाक्षणिक) ही समझना चाहिये। एवच 'अह नेत्रेण पश्यामि' इत्याकारक व्यवहार से नेत्रात्मक उपकरण से भिन्न अहविषय आत्मा है, यह स्पष्ट हो जाता है। अत इन्द्रियात्मवादी चार्वाक का मत (इन्द्रिय ही आत्मा है) ठीक नही है ॥ ४८ ॥

॥ इति इन्द्रियात्मवादखण्डनम् ॥

⊛ मनोऽपि[1] न तथा ज्ञानाद्यनध्यक्षन्तदा भवेत् ।

● **'मनोऽपीति'**। 'मन' भी, **न तथा** = चेतन नही है। **तदा**=मन को यदि चेतन (आत्मा) कहे तो उसका (मनका) अणुपरिमाण होने से उसके (मनोरूप आत्मा के) ज्ञानादि गुणो का, **अनध्यक्षम**=अप्रत्यक्ष होने लगेगा। क्योकि प्रत्यक्ष का प्रयोजक महत परिमाण हुआ करता है।

---

१ 'मन' इन्द्रिय को आत्मा माननेवाले चार्वाक के मत का निरूपण कर रहे है। जैसे—स्वप्न में चक्षुरादि बाह्येन्द्रियो के विरत होने पर 'मन' के ही समस्त व्यवहार चलते रहते है। 'मन' से सम्बन्ध होने के पश्चात ही उन चाक्षुषादिज्ञानो की उत्पत्ति होती है, इस कारण इन्द्रियसमुदाय मे एक 'मन' इन्द्रिय ही स्वतत्र इन्द्रिय है। अथवा—'काम सकल्पो विचिकित्साश्रद्धाऽश्रद्धाधतिरधृतिह्रीर्धीर्भी-रित्येतत्सव मन एव' इस श्रुति मे इच्छा सकल्प, सशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैय, अधैर्य, लज्जा, ज्ञान, भय इन सबको 'मन' का ही धम माना है। इस कारण मन' को ही आत्मा मानना चाहिये। तथा 'मन एवास्यात्मा अन्योऽतर आत्मा मनोमय' श्रुति ने भी 'मन' को ही आत्मा कहा है। तथा 'मन एव मनुष्याणा कारण बन्ध-मोक्षयो' इस स्मति ने भी 'मन' को ही बन्ध मोक्ष का कारण कहा है इसलिये 'मन' ही आत्मा है, यह समझ मे आता है।

उक्त मत का खण्डन—तुम चार्वाको का 'मन' इन्द्रिय सज्ञक आत्मा अणु परिमाणवाला है या देहतुल्य मध्यम परिमाणवाला है ? यदि 'अणुत्व' पक्ष का वह स्वीकार करता है तो मनोरूप आत्मा के ज्ञान, सुख दु ख आदि धर्मो का प्रत्यक्ष नही होगा, क्योकि चाक्षुष आदि छ प्रकार के प्रत्यक्षो मे 'महत्त्व' (महत्परिमाण)

● ननु चक्षुरादीना चैतन्य मास्तु मनसस्तु नित्यस्य चैतन्य स्यादत आह—मनोऽपीति । न तथा—न चेतनम् । ज्ञानादीति । मनसोऽणुत्वात्-प्रत्यक्षे च महत्त्वस्य हेतुत्वान्मनसि ज्ञानसुखादिसत्त्वे तत्प्रत्यक्षानुपपत्ति-रित्यर्थ । यथा मनसोऽणुत्व तथाऽग्रे वक्ष्यते ।

॥ इति मनआत्मवादखण्डनम ॥

● मन को आत्मा कहनेवाला चार्वाक शङ्का कर रहा है—'ननु इति । किसी कारण से इन्द्रियो का उपघात (नाश) होनेपर स्मरणानुपपत्तिरूप दोष दिखा कर चक्षुरादि इन्द्रियो को नयायिक यदि 'आत्मा' नही मानता है तो न माने, किंतु ध्वसाऽप्रतियोगि अर्थात् नित्य 'मन' इन्द्रिय को आत्मा कह सकते हैं । क्योकि यहाँ पर 'नाशे सति स्मरणानुपपत्ति' रूप दोष नही दिया जा सकता । अत मन' इन्द्रिय ही ज्ञान आदि के प्रति करण भी और कर्ता भी है । अनुमान प्रयोग—

को ही कारण माना गया है । किन्तु वह 'महत्परिमाण' मनमे नही है । इसकारण मन के ज्ञान सुखादि धर्मों का प्रत्यक्ष नही होगा, किन्तु 'अह जानामि', 'अह सुखी इत्यादि ज्ञान का सभी को प्रत्यक्ष होता ह । तथा मनोरूप आत्मा को अणुपरिमाण वाला माननेपर समस्तशरीरव्यापि सुख दु खादिकोका अनुभव नही होगा । अत 'अणुत्व' पक्ष का स्वीकार चार्वाक के मत मे नही बन पा रहा ह ।

ऊपर कहे हुए इस (मनोरूप आत्मा, देह के तुल्य मध्यम-परिमाण वाला है) द्वितीय पक्ष को भी वह नही अपना सकेगा । क्योकि मध्यम परिमाणवाले मन का एक ही काल में चक्षुरादि समस्त इन्द्रियो के साथ सम्बन्ध विद्यमान होने से एक ही समय में समस्त ज्ञान उत्पन्न होने लगेंगे । किञ्च 'मन' को स्वतन्त्र कहना भी असगत है, क्योकि वैराग्य आदि के द्वारा मन का निरोध योग मे किया जाता है, वह निरोध करनेवाला आत्मा, 'मन' से भिन्न ही कहना होगा । अथवा— 'हमारा 'मन' स्थिर है तथा नही है' इस अनुभव के अनुरोध से भी 'मन' से भिन्न ही आत्मा सिद्ध होता है । अथवा—'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इस श्रुति मे 'मन' को आत्मसाक्षात्कार का कारण कहा गया है । इसलिये दर्शनरूप क्रिया का कर्मरूप वह आत्मा भी उस करणरूप 'मन' से पृथक् ही सिद्ध होता है ।

किञ्च—'काम सकल्प ' इस श्रुति मे कामादि धर्मों को मनोजन्य बताया गया है । अत इच्छा आदि धर्मों का उपादान कारण ही वह [मन] सिद्ध होता है । एवच मन-आत्मवादी चार्वाक का मत नितान्त असगत है ।

'मन कर्तृ, मानसत्वावच्छिन्नकरणत्वात् ।' नैयायिक भी 'नित्य मन' कहकर 'मन' इन्द्रिय को नित्य कहते हैं। और आत्मा वही है जो नित्य हो। अत 'मन' को आत्मा मान लेने मे कोई अनौचित्य नही हैं। इन्द्रियात्मवादपक्ष मे कृतविप्रणाशादि दोष की तरह यहाँ कोई दोष भी नही होगा।

नैयायिक समाधान देता है—'**न तथा इति**। जैसे 'इन्द्रिय' चेतन नही, वैसे ही 'मन' भी चेतन नही है। उक्त कथन में हेतु देते हैं— '**ज्ञानादीति**'। ज्ञान, इच्छा आदि विशेष गुणो का 'जाने, इच्छामि' -इत्याकारक प्रत्यक्ष नही होगा। उसी को स्पष्ट कर रहे हैं—'**मनसोऽणुत्वात्**' इति। क्योकि 'मन' का परमअणु परिमाण है। और प्रत्यक्ष में तो 'महत्त्व' महत्परिमाण कारण होता है 'मन' के अणुत्व का निरूपण आगे 'मनोनिरूपण' मे किया जायगा। मन का महत्परिमाण न होने से 'मन' का ही प्रत्यक्ष नही होगा तब मनोरूप आत्मा कहनेवाले के मत में तत्समवेत (मनोरूप आत्मा में समवेत) ज्ञान-सुखादिको का भी मानस प्रत्यक्ष नही हो सकेगा।

किञ्च—'मनसा अह जानामि' इस प्रयोग से 'मन' का ज्ञानकरणत्व तो सिद्ध होता है, किन्तु ज्ञानकर्तृत्व नही। 'स्वतन्त्र कर्ता' इस नियम के अनुसार 'कर्तृत्व' तो स्वातन्त्र्यनियत है। 'स्वातन्त्र्य' का अर्थ है—'स्वच्छन्दानुरोधेन साध्यसिद्ध्यनुगुणोपकरणसम्पादनसामर्थ्यम'—अपनी इच्छा के अनुसार साध्यसिद्धि के अनुरूप उपकरण-सम्पादन का सामर्थ्य होन किन्तु 'करणत्व' पारतन्त्र्यनियत होता है। पारतन्त्र्य का अर्थ है—'पराधिष्ठानाधीन व्यापारत्वम'—अन्य अधिष्ठान के अधीन व्यापार का होना। 'मन' के होने में ही क्या प्रमाण है ? यह जिज्ञासा हो तो यह सूत्र 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिमनसोलिङ्गम'—[न्या सू १।१।१६] प्रमाण है। 'मन' यह अणुद्रव्य है और ज्ञान, सुख आदि उसके गुण हैं। एवञ्च 'मन' इन्द्रिय, ज्ञान का कर्ता नही है, किन्तु उन ज्ञानादिको का कर्ता 'मन' से भिन्न कोई अन्य ही है, जिसे आत्मा' कहा जाता है।

॥ इति मनआत्मवादखण्डनम् ॥

ननु अस्तु विज्ञानमेवाऽऽत्मा, तस्य स्वप्रकाशरूपत्वाच्चेतनत्वम्, ज्ञानसुखादिक तु तस्यैवाऽऽकारविशेष। तस्यापि भावत्वादेव क्षणिकत्व, पूर्व-पूर्वविज्ञानस्योत्तरोत्तरविज्ञाने हेतुत्वात्। सुषुप्तावप्यालयविज्ञानधारानिराबाधैव, मृगमदवासनावासितवसन इव पूर्व-पूर्वविज्ञानजनितसस्काराणामुत्तरोत्तरविज्ञाने सङ्क्रान्तत्वान्नानुपपत्ति स्मरणादेरिति चेत्—

न, तस्य जगद्विषयकत्वे सर्वज्ञत्वापत्ति । यत्किञ्चिद्विषयकत्वे विनिगमनाविरह । सुषुप्तावपि विषयावभासप्रसङ्गाच्च ज्ञानस्य सविषयत्वात् ।

● क्षणिक विज्ञानवादी योगाचार बौद्ध शका कर रहा है—'ननु' इति । योगाचार बौद्ध कह रहा है कि इन्द्रिय, प्राण और मन को 'आत्मा' न मानना ठीक ही है, किन्तु क्षणिक (बौद्धो के अनुसार द्वितीयक्षण वृत्तिध्वस प्रतियोगित्व) 'विज्ञान' अर्थात प्रवृत्ति, आलयरूपउभयविध विज्ञान को आत्मा मानने मे कोई आपत्ति नही है । अत प्रवृत्ति-आलयउभयविधक्षणिकविज्ञान को 'आत्मा' मान लेना चाहिये, क्योकि वह विज्ञान भी स्वप्रकाशरूप होने से चेतन है । ज्ञान, सुख आदि उस विज्ञान के ही आकार विसेष है । इन के मतके अनुसार यद्यपि सभी कुछ विज्ञानरूप है तथापि इस समय आत्मनिरूपण प्रस्तुत होने से 'विज्ञानमात्मा' विज्ञान को आत्मा कह रहे है । वह विज्ञान भी भावरूप होने से क्षणिक है । पूव पूव विज्ञान, उत्तरोत्तरविज्ञान मे कारण होता है । अत सुषुप्ति अवस्था मे भी आलयविज्ञान की धारा निर्बाध बनी रहती है । जैसे कस्तूरी की सुगन्ध सौ वस्त्रो की गड्डी मे भी पहली पडत से लेकर अन्तिम पडत तक क्रमश सड्क्रान्त होती जाती है, बैसे ही पूव-पूवविज्ञान उत्तरोत्तरविज्ञान में स्वानुभवजन्य सस्कारो को उत्पन्न करता रहता है। इस कारण स्मरणानुपपत्तिरूप दोष (जैसे चार्वाक के मत में दिया था) भी यहाँ नही ह । अभिप्राय यह है कि इस ससार मे जितने भी पदाथ है वे सब विज्ञान-स्वरूप ही है । अर्थात् विज्ञान के सिवाय अन्य कोई दूसरा पदाथ ही नही है, क्योकि 'यत्र यत्र प्रमेयत्व तत्र तत्र ज्ञानत्वम्' अर्थात् ज्ञानत्व, प्रमेयत्व का व्यापक है । अत सभी कुछ विज्ञानरूप है ।

यह विज्ञान, प्रवृत्तिविज्ञान तथा आलयविज्ञान के भेद से दो प्रकार का है । 'अय घट , अय पट.' इत्यादि बाह्यपदार्थो के ज्ञान को अर्थात् सविषयकविज्ञान को 'प्रवृत्तिविज्ञान' कहते है । वह जाग्रत्, स्वप्न और अघसुषुप्ति मे रहता है । और 'अहम अहम—मैं हूँ, इस प्रकार के ज्ञान को अर्थात् निर्विषयकविज्ञान को 'आलय-विज्ञान' कहते है । वह गाढ सुषुप्ति में रहता है । 'आलयविज्ञान' और प्रवृत्ति-विज्ञानरूप उभयविधविज्ञान की सज्ञा 'आत्मा' है । अर्थात इसी आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञानरूप उभयविध विज्ञान को 'आत्मा' शब्द से लोग कहा करते है ।

शका—बुद्धि का ही नामातर 'विज्ञान' है, अत उसे चेतन (आत्मा) कैसे कह सकते है ? क्योकि बुद्धि तो जड है, उसमें चेतनता का होना असभव है । इस

लिये विज्ञान को आत्मा नही कह सकते । दूसरी बात यह है कि आत्मा (चैतन्य) तो ज्ञान का अधिकरण हुआ करता है, किन्तु ज्ञान, अन्य ज्ञान का आधार (अधिकरण) नही बनता । अत ज्ञानाधिकरणात्मक चैतन्य (आत्मत्व) विज्ञान में कैसे उपपन्न होगा ?

समा —उस क्षणिकविज्ञान को स्व पर के व्यवहार करने मे अपने से किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नही होती, अर्थात वह (प्रवृत्ति तथा आलय) उभयविज्ञान (आत्मा) स्वत प्रकाश (स्वय प्रकाश) है । क्योकि उस विज्ञान का विषय उस से भिन्न नही है, अर्थात स्वाऽभिन्नज्ञानविषयता ही उस विज्ञान मे है । इस कारण उसमें (विज्ञान में) जडता नही ह अपितु उसमे चेतनत्व ही है । अत वही ज्ञान का कर्ता (चेतन) है,

शका—आत्मा को यदि क्षणिकविज्ञानरूप कहे तो उसमें सुख-दु ख आदि की समवायिकारणता नही बन पायगी । यदि कहें कि ज्ञान की उत्पत्ति के क्षण में ही सुखादि की उत्पत्ति होती है, तो सुख दु खादि की उत्पत्ति के पूव विज्ञानकी स्थिति न रहने से उसमे कारणता ही नही बन सकेगी । यदि ज्ञानोत्पत्ति के द्वितीय क्षण मे सुखादि की उत्पत्ति मानी जाय तो सुखादि की उत्पत्ति के समय ज्ञान का ही नाश हो जाने से उसमें समवायिकारणत्व नही बन सकता । कायकाल मे समवायिकारण की स्थिति रहने से ही वह, काय का हेतु (कारण) कहलाता है । अत क्षणिकविज्ञान को आत्मा कैसे कहा जाय ?

समा०—'अह जानामि, अह सुखी' आदि अनेक आकारवाला विज्ञान ही ज्ञान, सुखादि के आकार में भासित होता है । यद्यपि विज्ञान, निर्विशेष (सभीसे अभिन्न) है, तथापि सवृति (सवणोति आत्मनोरूप मिति सवृति अविद्या) के कारण उस निर्विशेष विज्ञान के विशिष्ट आकार भासित होते हैं । 'तदभिन्नत्वे सत्यपि तद्भिन्न त्वेन भासमानत्वम' – निर्विशेषविज्ञान से अभिन्न होकर भी उससे भिन्न भासित होना ही आकारो की विशेषता है । एवच ज्ञान, सुख आदि में कायकारणभाव की प्रसक्ति नही हो पाती, क्योकि वे आत्मा से भिन्न नही है ।

ज्ञान, सुख दु ख आदि सभी आत्मा के गुण हैं । वे सब उस क्षणिकविज्ञानरूप आत्मा के ही आकार है । जैसे नैयायिक के मत में 'घटविषयकज्ञान' का आकार 'अय घट ' यह घट है–होता है, वैसे ही सुख दु खादि भी 'विज्ञान' के आकार है ।

शका– ज्ञान सुखादि को यदि आत्मा का ही आकारविशेष कहेगे तो बौद्धो

के मत मे आत्मा में विकारता प्राप्त होगी और उसके प्राप्त होने से उसे (आत्माको) अनित्य कहना होगा।

समा०—'तस्यापीति।' जो पदाथ (वस्तु) भाव (सत्) रूप होता है, वह क्षणिक होता है—'यतसत (वस्तु) तत क्षणिकम्' यह नियम (व्याप्ति) है। तदनुसार यह विज्ञान भी भावरूप वस्तु होने से क्षणिक है। बौद्धमतानुसार 'क्षणिक' का अर्थ 'द्वितीयक्षणवृत्तिध्वसप्रतियोगित्व' है। अर्थात प्रतिक्षण एक एक विज्ञान उत्पन्न होता है और वह दूसरे (द्वितीय) क्षण में ही नष्ट हो जाता है, तथा दूसरे क्षण मे दूसरा विज्ञान उत्पन्न होता है, वह तीसरे अर्थात उससे दूसरे क्षण में नष्ट होता है। इस प्रकार पूव पूव विज्ञान की उत्तरोत्तरविज्ञानोत्पत्ति के द्वारा अखण्डधारा का प्रवाह बहता रहता है। एवञ्च—पूव क्षण में उत्पन्न हुआ। वह विज्ञान, अपने दूसरे क्षण मे दूसरे विज्ञान को उत्पन्न करके अपने आप नष्ट हो जाता है। इस कारण पूव पूव का विज्ञान उत्तर उत्तर के विज्ञान के प्रति कारण होता है, इस प्रकार से उनमें काय कारण-भाव माना जाता है। एवञ्च 'क्षणिकविज्ञान' भावपदाथ होने से उसमें क्षणिकत्व और अनित्यत्व हम बौद्ध मानते ही है।

शका—पूव उत्पन्न विज्ञान का तो विनाश हो जाता है, क्योकि बौद्धो ने उसे भावपदाथ होने के कारण क्षणिक माना है। तब विज्ञानान्तर (अन्य विनान) का कोई उत्पादक न होने से सुषुप्तिअवस्था मे आत्मा नही है, कहना होगा। ऐसी स्थिति में सुषुप्ति और मरण मे कोई अन्तर (भेद) नही रहेगा।

समा०—गाढ निद्रा (सुषुप्ति) में भी 'आलय विज्ञान की धारा चलती ही रहती है इस कारण सुषुप्त को मृत नही कह सकते अर्थात् सुषुप्ति को मरण नही कहा जाता। अत सुषुप्तिकाल मे भी 'विज्ञानरूप आत्मा' का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। एवच क्षणिक विज्ञान ही आत्मा है।

तात्पय यह है कि हमारे (बौद्धो के) मत मे काय-कारण का सामानाधिकरण्य ही होना चाहिये, यह कोई नियम नही है। हमारे मत (बौद्धसिद्धात) में तो 'कारण' वही होता है जो काय के पूव रहे—'कारणत्व तु कायपूववृत्तित्वमात्रम्' अत पूव पूव विज्ञान, अव्यवहित उत्तरविज्ञान के प्रति कारण (हेतु) होता है अर्थात प्रवृत्तिविज्ञान, आलयविज्ञान के प्रति हेतु होता है। अत गाढनिद्रा के आरम्भ में प्रवृत्तिविज्ञान के द्वारा आलयविज्ञान की उत्पत्ति होने से 'अहम्' इस आलयविज्ञान की अखण्डधारा चलती रहती है। इसलिये सुषुप्ति अवस्था में

आत्मा नहीं है, यह नहीं कह सकते, बल्कि उस अवस्था में भी आत्माका अस्तित्व रहता ही है।

शङ्का—विज्ञान को क्षणिक मानने पर, तदाश्रित संस्कारों को भी क्षणिक मानना होगा तब कालांतर में स्मरण (स्मृति) का होना नहीं बन पायेगा।

समा०—'विज्ञान' क्षणिक वस्तु है, वह पूर्वक्षण में उत्पन्न होकर, दूसरे क्षण में नष्ट होता है, किन्तु वह अपना संस्कार छोड़ जाता है, वह संस्कार, पूर्वविज्ञान के दूसरे क्षण में उत्पन्न होनेवाले दूसरे विज्ञान के आश्रय से रहता है। उसी को दृष्टांत के द्वारा समझा रहे हैं–'**मृगमदवासनेति**।' कस्तूरी को किसी एक कपड़े की तह में रख दिया जाय, फिर उस कपड़े की तह पर अन्यान्य कपड़ों की अनेक तहें लगाते चले जाँय तो भी उस कस्तूरी की सुगंधि का संस्कार (वासना) उन सभी कपड़ों में चलता (संक्रांत होता) जाता है। और सभी कपड़े सुगंधित हो जाते हैं। वैसे ही प्रत्येक ज्ञान के संस्कार से संस्कृत अग्रिम-अग्रिम ज्ञान होते जाते हैं। उस वैज्ञानिक संस्कार के कारण स्मरण (स्मृति) का होना भी संभव हो जाता है। अर्थात् चार्वाक के मत में इन्द्रिय, प्राण, मन को आत्मा मानने पर स्मरण का होना संभव नहीं हो पाता था यानी 'स्मरणानुपपत्ति' रूप दोष दिया गया था, वह दोष हमारे विज्ञानात्मा के पक्ष में नहीं दिया जा सकता। अतः सार्वदिक् क्षणिकविज्ञान ही आत्मा है और वही ज्ञान का कर्ता (चेतन) है।

उपर्युक्त (योगाचार बौद्ध) मत का नैयायिक खण्डन करते हैं—'**न**' इति। योगाचार बौद्ध से नैयायिक पूछता है कि तुम (बौद्ध) यह बताओ—तुम्हारा (बौद्ध का) विज्ञानरूप आत्मा सम्पूर्ण जगत् को विषय करता है, या किसी एक वस्तु को विषय करता है? यदि तुम्हारा विज्ञान (आत्मा) सम्पूर्ण जगत् को विषय करता हो तो वह (विज्ञान) सम्पूर्ण जगद्विषयक हुआ, तब सभी मनुष्यों को सर्वज्ञ क्यों न कहा जाय? किन्तु कोई भी मनुष्य सर्वज्ञ तो है नहीं। अब यदि दूसरे पक्ष की दृष्टि से विचार करें कि 'विज्ञान' केवल यत्किञ्चित् अर्थात् घट-पट आदि किसी एक ही वस्तु (पदार्थ) को विषय करता है अर्थात् यत्किञ्चित् पदार्थ विषयक वह विज्ञान है, तो इस कथन में विनिगमनाविरह (किसी एक पक्ष की प्रतिपादक युक्ति का अभाव) है। क्योंकि तुम्हारे (बौद्ध के) सिद्धांत के अनुसार बाह्यपदार्थ तो कोई है ही नहीं, तब कैसे कह सकते हैं कि अमुक ज्ञान घट-विषयक है और अमुक ज्ञान पटविषयक है, क्योंकि जब कोई बाह्यपदार्थ है ही नहीं तब आपका ज्ञान, किसी भी पदार्थ को अपना विषय बना सकता है। अनेक

पदार्थो मे से किसी एक ही पदार्थ को अपना विषय बनाने मे कोई युक्ति नही है। बाह्यपदार्थों (विषयों) का अस्तित्व न होने के कारण सभी पदाथ, ज्ञान के विषय हो सक्ते हैं। ज्ञान का एक ही विषय क्यो बने ? एक ही विषय बनने मे आपके (बौद्ध के) पास क्या विनिगमना (निर्णायक युक्ति) है ? अर्थात कोई युक्ति नही है। जब कि कोई बाह्यपदाथ है ही नही, तो एक विशेष समय मे एक विशेष पदार्थ (घट पट आदि) का ही अनुभव क्यो होता है ? किसी दूसरे पदाथ का अनुभव क्यो नही होता ? अत योगाचार बौद्ध का विज्ञानवाद मानना उचित नही है।

विज्ञानवाद के न मान सकने मे दूसरा कारण यह भी है कि बौद्धसिद्धात के अनुसार सुषुप्ति अवस्था में भी 'आलयविज्ञान' रहता ह। अत उस अवस्था (सुषुप्तिअवस्था) में भी विषय स्फुरण होना चाहिये, क्योकि ज्ञान (विज्ञान) सविषयक होता है। किन्तु सुषुप्ति अवस्था मे किसी भी घट पटादि बाह्यपदाथ का ज्ञान नही होता। उस अवस्था में तो केवल 'अहम्' = मै के ज्ञान की धारा बहती रहती है, इसी का नाम आलयविज्ञान' है। ज्ञान, निर्विषयक कभी नही होता, वह हमेशा सविषयक होता है—यह नियम है। तब उस समय भी घट पटादि बाह्य विषयो का ज्ञान क्यो नही होता ? अत विज्ञानवाद को मानना ठीक नही है।

तदानीं निराकारा चित्सन्ततिरनुवर्तत इति चेन्न तस्या स्वप्रकाशत्वे प्रमाणाभावात्। अन्यथा घटादीनामपि ज्ञानत्वापत्ति।

न चेष्टापत्तिर्विज्ञानव्यतिरिक्तवस्तुनोऽभावादिति वाच्य, घटादेरनुभूयमानस्यापलपितुमशक्यत्वात्।

आकारविशेष एवाय विज्ञानस्येति चेत्, किमयमाकारोऽतिरिच्यते विज्ञानात् ? तर्हि समायात विज्ञानव्यतिरिक्तेन। नातिरिच्यते चेत्, तर्हिसमूहालम्बने नीलाकारोऽपि पीताकार स्यात्। स्वरूपतो विज्ञानस्याऽविशेषात्।

अपोहरूपो नीलत्वादिर्विज्ञानधर्म इति चेन्न, नीलत्वादीना विरुद्धानामेकस्मिन्नसमावेशात्। इतरथा विरोधावधारणस्यैव दुरुपपादत्वात्, न चा वासना सङ्क्रम सम्भवति, मातृपुत्रयोरपि वासनासङ्क्रम प्रसङ्गात्।

न चोपादानोपादेयभावो नियामक इति वाच्यम्, वासनाया सङ्क्रमासम्भवात्।

उत्तरस्मिन्नुत्पत्तिरेव सङ्क्रम इति चेन्न, तदुत्पादकाभावात् । चितामेवोत्पादकत्वे संस्कारानन्त्यप्रसङ्ग । क्षणिकविज्ञानेऽतिशयविशेष कल्प्यत इति चेन्न, मानाभावात्कल्पनागौरवाच्च ।

इति क्षणिकविज्ञानात्मवादि बौद्धमतखण्डनम् ।

● विज्ञानवादी योगाचार बौद्ध उपयुक्त कथन पर नैयायिक से कह सकता है कि हमारे मत मे सुषुप्ति मे निराकार (विषयाकाररहित अर्थात निर्विषयिणी) चित्-सन्तति (क्षणिक ज्ञान धारा अर्थात् आलयविज्ञान धारा) चलती रहती है । अत उस समय घट—पटादि बाह्य विषयो का ज्ञान क्यो नही होता ? यह प्रश्न ही नही उठता ।

नैयायिक उत्तर देता है—सुषुप्तिकाल मे उस आलय विज्ञान धारा (निर्विषयक चित्सन्तति) को स्वप्रकाश मानने मे कोई प्रमाण नही है, क्योकि ज्ञान हमेशा विषयितासे व्याप्य होता है 'ज्ञानत्वस्यविषयिताव्याप्यत्वात्', यह नियम है। अन्यथा अर्थात बिना प्रमाण के ही निर्विषय को भी 'ज्ञान' कहा जाय यानि जिस ज्ञान का कभी किसी को अनुभव नही होता, उस ज्ञान को यदि स्वयप्रकाश कहे तो घट पट आदि जडपदार्थों को भी स्वय प्रकाश क्यो नही कहते ? क्योकि घट-पटादि जडपदाथ भी निर्विषय है । जैसे—ज्ञान के विषय घट पट आदि है और 'ज्ञान' स्वय विषयी होता है । घट-पट आदि का तो कोई विषय नही होता । यदि घट पट आदि का भी कोई विषय होता तो घट पटादि को विषयी कहा जाता । इसलिये घट-पट आदि बाह्य जडपदार्थों को निर्विषय कहा जाता है । ज्ञान, इच्छा, कृति, भावना, द्वेष ये पाच पदाथ सविषय कहे जाते हैं, इनके अतिरिक्त सभी पदाथ निर्विषय कहे जाते है । निर्विषय को भी यदि 'ज्ञान' कहें तो निर्विषय घट-पटादि जड पदार्थों को भी 'ज्ञानरूप' कहना पडेगा ।

बौद्ध कहता है—हमारे मत में सभी प्रमेय पदार्थ, विज्ञानरूप है, अत घट-पटादि प्रमेय पदार्थों का ज्ञानरूप होना हमें इष्ट ही है। क्योकि विज्ञान से अतिरिक्त (भिन्न) तो कोई वस्तु (पदार्थ) है ही नही । अत घट पटादि सभी प्रमेय पदाथ विज्ञान से अभिन्न (विज्ञानरूप) ही है, इस कारण यह तो हमारे सिद्धान्त के अनुकूल ही है। एवच—'ज्ञान' स्वय प्रकाश ही है। घट-पटादि पदार्थों को स्वय प्रकाश मानना हमें अभीष्ट है ।

नैयायिक कहता है—घट-पट आदि पदार्थों का अनुभव (ज्ञान) होना एक

अलग बात है और उस अनुभव (ज्ञान) का विषय होना एक अलग बात है। घट पटादि पदार्थ उस अनुभव (ज्ञान) के विषय हुआ करते है, अत घट पटादि मे अनुभूत होने वाली ज्ञान विषयता तो उन घट पटादि का स्वरूप ही है यह सभी मानते है। घट पटादि पदार्थो को अनुभूयमान पदार्थ कहा जाता है, यह सब प्रसिद्ध है। इस प्रसिद्धि का अपलाप आप कैसे कर सकते है ? एवञ्च-घट पटादि पदार्थों मे ज्ञानविषयता का अनुभव सभी को होता है, अत ज्ञान और उसके विषय घट-पटादि पदार्थ ये दोनो नितान्त भिन्न है यह स्पष्ट हो जाता है।

बौद्ध कहता है—हम घट पटादि पदार्थो के स्वरूप का अपलाप नही कर रहे है। हमारे कथन का तात्पर्य यह है कि बाह्य आकार (रूप) में दृश्यमान घट पटादि पदार्थ, क्षणिकविज्ञान (ज्ञान) के ही विशेष आकार (स्वरूप विशेष) है। जैसे—पट, तन्तुओ का ही स्वरूपविशेष है। उस पट की सत्ता, तन्तुओ की सत्ता के अतिरिक्त नही है। अत हम घट पटादि पदार्थो के स्वरूप का अपलाप नही कर रहे है, बल्कि वे घट पटादि के रूप में दृश्यमान बाह्यपदार्थ, विज्ञान से अतिरिक्त नही है, विज्ञान के ही विशेष आकार है, इतना ही कह रहे है।

तब **नैयायिक** उससे पूछता है—'**किमयमिति**।' घट पटादि पदार्थो का आकार यदि विज्ञान का ही आकार है तो यह बताओ कि विज्ञान का यह घट पटाद्याकारविशेष, विज्ञान के स्वरूप से भिन्न है या अभिन्न ? यदि अनुभूयमान (दृश्यमान) घट पटाद्याकारविशेष, विज्ञान के स्वरूप (आकार) से भिन्न कहो तो विज्ञान से अतिरिक्त (भिन्न) घट-पटादि पदार्थो को आपने मान लिया। तब तो 'विज्ञानव्यतिरिक्तो घट' इस न्यायमत (हमारे मत) मे आप आ गये। अर्थात हमारे मत में और आपके मत मे कोई भेद ही नही रहा। इस प्रकार हमारे (नैयायिको के) मत का अनुसरण करने पर 'सर्व विज्ञानम्' इस तुम्हारी (बौद्ध की) प्रतिज्ञा का भग हो गया, क्योकि बौद्ध के मत मे विज्ञान के बिना (अतिरिक्त) दूसरी वस्तु ही नही है। और विज्ञान की सत्ता से भिन्न बाह्यपदार्थ की सत्ता आपने स्वीकार करली यह कहना होगा।

दूसरे पक्ष में भी नैयायिक दोष दे रहा है—**नातिरिच्यतेचेत्तर्हीति**।' यदि घट पटादि बाह्य पदार्थों का आकार, विज्ञानस्वरूप (विज्ञान का आकार) ही है, तो विज्ञान तथा बाह्यपदार्थ दोनो का आकार एक ही है यह कहना होगा। अर्थात् घट पटादि बाह्यपदार्थ विज्ञान से अतिरिक्त नही है। ऐसी स्थिति में जब 'इमें नीलपीते' इत्याकारक समूहालम्बनात्मकज्ञान (एक ज्ञान) में नीलाकार विज्ञान,

पीताकार हो जाना चाहिये, क्योकि नील ओर पीत दोना, विज्ञान के ही आकार है। विज्ञान मे स्वरूपत तो कोई भेद है ही नही, अर्थात जो नीलाकारविज्ञान है वही पीताकारविज्ञान है। 'तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वम्' यह नियम है। अर्थात् नील-रूपाकारात्मक विज्ञानाभिन्नस्य पीताकारस्य नीलाभिन्नत्वम्। इस नियम के अनुसार 'नील' पीतस्वरूप तथा 'पीत' नीलस्वरूप होने लगेगा, क्योकि बौद्ध के मत मे नील तथा पीत दोनो, विज्ञान के ही आकार माने गये है। 'नानाविशेष्यता-निरूपितनानाप्रकारताशालिज्ञान—समूहालम्बनम' अर्थात जिस एक ज्ञान मे अनेक पदाथ स्वतत्ररूप से (विशेषण-विशेष्यभाव के बिना) भासते ह, उसे समूहालम्ब-नात्मकज्ञान कहते हैं। एवञ्च ज्ञान का आकार, ज्ञान से भिन्न न होने से ज्ञान में स्वरूपत कोई भेद हो ही नही सकता। यदि क्रमश पहिले व बाद दो ज्ञान हो तो किसी तरह उनमें भेद मान भी लिया जाय, परन्तु नील और पीत का जो ज्ञान एक साथ और एक ही ज्ञान के रूप मे हो रहा है, उस एक ही ज्ञान-व्यक्ति में भेद (भिन्नता) कैसे स्वीकार किया जा सकता है? अत नील में भी पीत प्रत्यय होना चाहिये और उसे यथाथ भी कहना होगा। अर्थात इमे नील-पीते' की जगह 'इमे नीले' इतना हो अथवा 'इमे पीते' इतना ही ज्ञान होगा। क्योकि '**स्वरूपतो विज्ञानस्येति**'। विज्ञान का आकार (स्वरूप) विज्ञान से भिन्न नही (एक ही) है। अत समूहालम्बनात्मक धारावाहिक ज्ञान मे नील और पीत का ज्ञान जो एक साथ और एक ही ज्ञान के रूप में हो रहा है उसमे [एक ही ज्ञान व्यक्ति में] भेद (अन्तर) कैसे हो सकेगा?

बौद्ध कहता है–'अपोहरूप इति'। हमारे सिद्धात के अनुसार नील पीत आदि बाह्य-पदाथ का कोई अस्तित्व न होने से उसमे वस्तुत कोई भेद नही है। अर्थात नीलाकार से पीताकार अभिन्न ही है, भिन्न नही हैं। तथापि हम (बौद्ध) नीलत्व, पीतत्व आदि धम (जाति) को 'अपोह' (अतद्व्यावृत्ति) के रूप मे मानते है। (अपोह्यते व्यावर्त्यते इति अपोह) वह 'अपोह' हमारे मत मे 'ज्ञान' का ही धम है। इस कारण नील और पीत मे भिन्नता हो जायगी। अर्थात 'नील' (नीलात्मक विज्ञान) में अतद्व्यावृत्तिरूप (अनील व्यावृत्तिरूप) नीलत्वधम और 'पीत' (पीतात्मक विज्ञान) मे अपीतव्यावृत्तिरूप पीतत्व धम रहता है। उन भिन्न भिन्न नीलत्व पीतत्व धर्मो के कारण ही नील और पीत में भेद प्रतीति की उपपत्ति हो जायगी, तात्पय यह है कि बौद्ध सिद्धात के अनुसार घट-पट आदि मे रहनेवाली घटत्व-पटत्व आदि जातियो (धर्मों) का वस्तुत कोई अस्तित्व नही ह। अर्थात 'जाति' कोई भावात्मक वस्तु नही है। नैयायिको ने जैसे समस्त

घटो पर रहनेवाला 'घटत्व' सज्ञक एक सामान्य (जाति) वास्तविकरूपमें माना है, वैसा बौद्ध नही मानते । उनका कहना है कि घट पट आदि सभी पदाथ अपने से अतिरिक्त पदार्थों से भिन्न है अर्थात घट मे अघट का (घटातिरिक्त सभी का) भेद है । इस प्रकार की स्वातिरिक्त से व्यावृत्ति को ही अतद्व्यावृत्ति यानी अपोह कहते है । यह अघटो का भेद ही घटो मे सामा य की प्रतीति कराता है । अर्थात घटो में कोई भावात्मक (भावरूप) सामान्य नही है, किन्तु अघटो से भिन्न रहना ही निषेधात्मक सामान्य है । अत सामान्य पदाथ काल्पनिक है, वास्तविक नही । इस रीति से अपोह (अतद्व्यावत्ति) को ज्ञान का धम कह सकते है, उसी के बल पर ज्ञान में रहनेवाले नील, पीत आदि आकारो मे भेद होता है । अत कोई दोष नही है ।

नैयायिक—वह धम भी तुम्हारे (बौद्ध) मत मे विज्ञानरूप ही है, विज्ञान से उसका (धम का) भेद नही है । इस कारण उन धर्मों की भी एकता है तथा 'नीलत्व' और 'पीतत्व' ये (नीलात्मक पीतात्मक विज्ञान के) धम भी शशशृङ्ग के समान मिथ्या है । अत उनके बल पर सद्वस्तु विज्ञान का भेद होना सम्भव नही, तब नील और पीत में भेद की प्रतीति कैसे होगी ?

किञ्च—एक विज्ञानरूप धर्मी मे नीलत्व, पीतत्व ये परस्पर विरुद्ध (असमानाधिकरण अर्थात् परस्पराऽभावव्याप्त) धम कैसे रह सकते है ? क्योकि बौद्ध सिद्धात में किसी भी बाह्य पदाथ का अस्तित्व ही स्वीकार नही है । दो विरुद्ध धर्मों के रहने के लिये दो भिन्न-भिन्न धर्मी पदार्थ मानने होगे । बाह्यपदाथवादी नैयायिक नील, पीत आदि भिन्न-भिन्न दो धर्मी पदार्थों का अस्तित्व मानता है । अत बाह्यपदाथवादी नैयायिक के मत मे तो दो विरुद्ध धम (नीलत्व, पीतत्व) दो भिन्न भिन्न बाह्य धर्मी पदार्थों में रह सकते है । किन्तु बाह्यपदाथ को न माननेवाला बौद्ध, नैयायिको के समान नही कह सकता, क्योकि उसके मत में बाह्यपदाथ है ही नही, तब एक ही ज्ञान में नीलत्व, पीतत्वादि दो विरुद्ध धर्म एक साथ कैसे रह सकते है ? विरुद्ध धर्मों का भी सामानाधिकरण्य (एक अधिकरण में रहना) यदि मान लिया जाय तो 'नीलत्व-पीतत्वे विरुद्धे' इत्याकारक अबाधितानुभवरूप विरोधावधारण ही नही बन पायेगा । जल में उष्णता शीतलता रूप विरुद्ध धर्मों की एक ही समय में एक साथ ही प्रतीति होने लगेगी । अत बाह्यपदाथ का अस्तित्व अर्थात् बाह्यपदाथ का स्वरूप (आकार) विज्ञान से भिन्न मानना ही चाहिये ।

इस रीति से यह सिद्ध हुआ कि नीलत्व-पीतत्वादि धर्मवाले पदार्थ, विज्ञान से भिन्न है। तथा ज्ञान हमेशा सविषय होता है, सुषुप्ति में उस सविषय ज्ञान का होना कदापि सम्भव नही है। अत आत्मा को विज्ञान से अतिरिक्त ही स्वीकार करना होगा।

शका -(बौद्ध की) नैयायिक ने विरुद्धधर्मो के सामानाधिकरण्य नही हो सकने की बात कही, किन्तु समूहालम्बनात्मक ज्ञान में तो नीलत्व-पीतत्व आदि विरुद्ध धर्मों को नही माना जाता अपितु चित्रत्व या चित्र धर्म को ही माना जाता है। अत विरोधावधारण की दुरुपपादतारूप दोष नही हो पाता।

उक्त आशका को ध्यान में रखकर ही नैयायिक इस समय बौद्ध प्रदर्शित वासनासक्रम का खण्डन कर रहा है-**'न वा वासनासक्रम' इति**। बौद्ध ने कहा था कि 'कस्तूरी' (मृगमद) की वासना (गन्ध सस्कार) के सक्रमण के समान पूर्व पूर्व विज्ञान, उत्तरोत्तर विज्ञान मे वासना का सक्रमण करता है। सक्रमण करने के कारण मेरे (बौद्ध के) मत में विज्ञानात्मा के अनित्य तथा क्षणिक रहने पर भी स्मरणानुपपत्तिरूप दोष नही है, किन्तु वह सभव नही। क्योंकि पूर्वआलयविज्ञान, उत्तरआलयविज्ञान का हेतु (कारण) होने से पूर्वआलयविज्ञान की वासना, उत्तरआलयविज्ञान में यदि जा सकती है तो माता (मातृरूपविज्ञान) की वासना (सस्कार) उसके (माता के अपने) पुत्र (पुत्ररूपविज्ञान) मे भी सक्रमित (सचरित) होनी चाहिये। क्योंकि मातृरूपविज्ञान भी पुत्ररूपविज्ञान का हेतु है। एवञ्च मातृनिष्ठसस्कार का सक्रमण पुत्र में होने लगेगा। किन्तु सक्रमणापत्ति को बौद्ध भी स्वीकार नही करेगा, क्योंकि माता के द्वारा अनुभूतपदार्थों का स्मरण माता को ही होना है, पुत्र को नही। वासना-सक्रमण को मानने पर तो मात्रनुभूत बातो का स्मरण पुत्र को भी होने लगेगा, किन्तु होता नही। क्योंकि 'वासना' तो 'आत्मा' का धर्म (गुण) है, अत वह जिस आत्मा (धर्मी) का धर्म है, उस धर्मी का त्यागकर अन्यत्र जाने में समर्थ नही है। मृगमद (कस्तूरी) के सक्रमण में भी उसके परमाणु ही अदृष्टवशात् दूसरी-दूसरी पर्तों मे सयुक्त होते जाते है। बौद्ध इस रहस्य से अपरिचित प्रतीत हो रहा है। अर्थात पदार्थ के स्वभाव से परिचित नही है।

बौद्ध—उपादान कारण के द्वारा अनुभूत जो हो, उसी का स्मरण उपादेय (कार्य) को हुआ करता है—यह नियम है। माता और पुत्र में उपादानोपादेय भाव नही है, क्योंकि माता तो पुत्र के प्रति निमित्तकारण होती है। अत मातृ-

दृष्ट या अनुभूत वस्तु का पुत्र को स्मरण नही हो पाता। विज्ञान की स्थिति ऐसी नही है। पूर्व विज्ञान तो उत्तरविज्ञान का उपादानकारण है और उत्तर विज्ञान, उसका उपादेय है। अत पूर्वविज्ञान के सस्कार उत्तर विज्ञान मे आते है।

नैयायिक— उत्तरविज्ञान मे पू० विज्ञान की वासना (सस्कार) का सक्रम सचार) होना असभव है क्योकि बौद्धो का सिद्धात ह कि 'सर्व क्षणिकम' इस नियम के अनुसार पूर्वविज्ञान भी क्षणिक होने से पूर्णतया नष्ट हो जाता है अर्थात वह (पूर्वविज्ञान) अपना कोई यत किञ्चित अश भी छोडता नही, जिसका सक्रमण सचार) उत्तरविज्ञान में हो पाये। अत पूर्वविज्ञान का उत्तरविज्ञान मे वासना समर्पण करना सर्वथा असम्भव है।

बौद्ध— हमारे मत मे उपादान का अर्थ समवायिकारण नही है 'न उपादानत्व नाम समवायिकारणत्वम।' क्योकि भिन्न काल मे स्थित दो क्षणिकविज्ञान-व्यक्तिय। मे समवायिकारणता का होना सम्भव नही, किन्तु 'असहकृत कारण मुपादानकारणम'। उत्तरकालीनज्ञानव्यक्ति के प्रति केवल (अकेले) पूर्वज्ञानव्यक्ति को ही हम कारण मानते है। माता, पुत्र के प्रति असहकृत कारण नही है, शुक्र आदि भी पुत्र के प्रति सहकारि कारण होते है। अथवा— उपादानत्व नाम 'कार्याऽव्यवहितप्रागवृत्तित्वे सति कार्यसजातीयत्वम्'। कार्यसजातीयत्व च कार्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्वम्। बौद्ध मत मे आत्मत्वावच्छिन्नम्प्रति आत्मत्वेनैव उपादानतया उत्तरकालीन—आलयविज्ञानम्प्रति पूर्वकालीन— आलयविज्ञान— मुपादान भवति। ऐसा उपादानत्व पुत्र के प्रति माता का नही ह। क्योकि पुत्रत्व और मातृत्व भिन्न भिन्न धर्म है। एवञ्च उक्तप्रकार का उपादानोपादेयभाव ही कारणगुणो के कार्यगुणवृत्तित्व मे नियामक होता ह। अत मातृसस्कारो का पुत्र मे सङ्क्रमण नही हो पाता।

नैयायिक— वासना सक्रमण मे 'उपादानोपादेयभाव' को नियामक नही कह सकते। क्योकि 'वासनाया सक्रमासभवात्' इति। 'वासना' तो गुणपदार्थ ह, वह भावनात्मक सस्काररूप है। गुण होने से उसमे गुण, क्रिया नही रह सकती गुणे गुणक्रिययोरभावात'। एवच उत्तर-विज्ञान मे गमनात्मक सक्रमण क्रिया का होना कदापि सभव नही है।

बौद्ध— उत्तरस्मिन्निति। सक्रम' का अर्थ 'गमनक्रिया' नही है, किन्तु 'उत्पत्ति' है। अर्थात् उत्तरविज्ञान मे पूर्वविज्ञान की वासना की उत्पत्ति का होना ही 'सक्रम' है। एवच उत्तरविज्ञान की उत्पत्ति के समय मे ही पूर्व आलयविज्ञान-

स्थितसस्कार से उत्तर आलयविज्ञान मे सस्कार भी उत्पन्न होता है। बौद्ध का अभिप्राय यह नही ह कि पूवविज्ञान की वासना ही उत्तरविज्ञान मे सक्रमित होती ह, अपितु पूवविज्ञान की वासना (सस्कार) अग्रिमविज्ञान मे नये सिरे से उत्पन्न होती है। इस उत्पत्ति को ही 'सक्रम' या 'सचार' कहत है। अत नैयायिक जो समझ रहा है कि पूवविज्ञान की वासना ही उत्तरविज्ञान मे सक्रमित (सचरित) हो जाती है'—वह हमारा (बौद्ध का) अभिप्राय नही है। यदि नैयायिक इसपर कहे कि उत्तर अलयविज्ञान और सस्कार (वासना) दोनो एककालीन होने से उनमें आधाराऽधेयभाव कैसे बन सकेगा ? तो उसपर बौद्ध का कहना है कि दोनो (उत्तरालयविज्ञान और वासना) के एककालीन होनेपर भी उनमें आधाराऽधेयाभाव हम मानते है। अत सस्कारसक्रम की अनुपपत्ति नही है।[1]

नैयायिक—'तदुत्पादकाभावादिति।' बौद्ध ने जो यह कहा था कि 'उत्तरविज्ञान की उत्पत्ति के साथ ही 'वासना' की उत्पत्ति उसमें (उत्तरविज्ञान मे) होती है उस उत्पत्ति का ही नाम 'सक्रम' है।' किन्तु यह कथन ठीक नही है क्योकि उत्पादक के बिना किसी की उत्पत्ति नही हुआ करती। पूवविज्ञान तो नष्ट हा ही चुका है, अत वह अपनी वासना को उत्तरविज्ञान मे कैसे उत्पन्न करेगा ? क्योकि उसकी उत्पत्ति के क्षण मे पूवविज्ञान विद्यमान ही नही है। यदि पूवविज्ञान की सत्ता (विद्यमानता) उस दूसरे क्षण मे भी मानी जाय तो उसमे अधिकक्षणावस्थायित्व मानना होगा, 'जिससे विज्ञान क्षणिकम' इस बौद्ध-सिद्धान्त का भग हो जायगा। एवञ्च वासनासक्रमण के निरूपण करने मे बौद्ध समथ नही ह।

---

१ शका-ज्ञान, सुख, सस्कार आदि को यदि आत्मा से भिन्न नही मानेंगे तो 'अह सुखी' अह सस्कारी' इत्याकारक सभी के अनुभव मे आनेवाले सुख सस्काराधिकरणत्वागाहिप्रत्यय की उपपत्ति नही हो सकेगी, क्योकि अभेद रहने पर आधाराधेय भाव का बनना सम्भव नही ह।

समा०—आधार और आधेय की अभिन्नता (एकता तादात्म्य) रहनेपरभी आधारतावच्छेदक धम और आधेयतावच्छेदक धर्म मे तो भेद (भिन्नता) अवश्य ही रहेगा, तब उसी भेद को आधाराधेयभाव का नियामक मान लेंगे। 'तादात्म्य' को तादात्म्यत्वेन रूपेण अधिकरणता का नियामक न कह सकने पर भी स्वरूपत्वेन उसे अधिकरणता का नियामक कह सकते है।

बौद्ध—'चितामेवेति।' पूर्वविज्ञान भलेही उत्तरविज्ञान मे वासना (सस्कार) को पैदा न करे, किन्तु ज्ञानत्वेनरूपेण ज्ञान, सस्कार का उत्पादक (हेतु) होने से 'चित' (ज्ञान) को ही हम उसका (वासना का) उत्पादक मानते है। अर्थात उत्तरोत्तर उत्पद्यमान विज्ञान स्वय (स्वत) ही वासना (सस्कार) को उत्पन्न करेगा।

नैयायिक—'सस्कारानन्त्य (तदानन्त्य) प्रसङ्ग' इति। प्रतिक्षण मे उत्पन्न हुआ ज्ञान भिन्न भिन्न होने से उसका अन्त नही है, अर्थात ज्ञान, अनन्त है। अत उन अनन्त ज्ञानो से उत्पन्न होनेवाले सस्कार (वासना) भी अनन्त होगे। अर्थात अनन्त सस्कारो की कल्पना करनी पडेगी। तात्पर्य यह है कि नैयायिक प्रत्येक अनुभव का एक सस्कार मानते है, किन्तु बौद्ध को प्रत्येक अनुभव के अनन्त सस्कार मानने पडेंगे क्योकि प्रत्येक ज्ञान के साथ तत्तत पूर्ववर्ती प्रत्येक अनुभव के सस्कार बार बार उत्पन्न होगे।

बौद्ध—विज्ञान तो क्षणिक है, उस क्षणिक विज्ञान मे एक प्रकार की शक्ति है। अर्थात जिस ज्ञान व्यक्ति के अनन्तर स्मरण उत्पन्न होता है, उस स्मरण के हेतुभूत सस्कार को उत्पन्न करनेवाली शक्ति की कल्पना पूर्वज्ञान व्यक्ति में ही करते है, समस्तज्ञानव्यक्तियो में नही। अर्थात 'प्रत्येक ज्ञान के साथ प्रत्येक सस्कार की बार बार उत्पत्ति होती है'—यह हम नही कह रहे है, बल्कि जिस ज्ञान के बाद स्मरण होता है, उस स्मरण से पहले होनेवाले ज्ञान में एक विशेष प्रकार की शक्ति (अतिशय) की कल्पना हम करते है। वही शक्ति (अतिशय) स्मरण का कारण बनती है। अत अनन्त विज्ञानो में अनन्त सस्कार मानने की आवश्यकता नही पडती, और स्मरण की भी उपपत्ति ठीक लग जाती है।

नैयायिक—स्मरण से पूर्व के विज्ञान में इस प्रकार की विशेषशक्ति (अतिशय) मानने में कोई प्रमाण नही है। इसपर बौद्ध कदाचित यह कहे कि ज्ञानव्यक्ति के भेद से अनन्तसस्कारो की कल्पना करने की आवश्यकता के न होने का लाघव ही शक्ति के होने में प्रमाण है, तो दूसरा दोष देते है—**'कल्पनागौरवाच्चे'**ति। अतिशय (शक्ति) के मानने में कल्पनागौरव इस प्रकार होगा—जब जब स्मरण होगा तब तब पूर्वविज्ञान में अतिशय (शक्ति) की कल्पना करनी होगी, फिर उस शक्ति का नाश, पुन उसकी उत्पत्ति इस प्रकार से अनन्त अतिशयरूप शक्तियो को मानना होगा। अभिप्राय यह है कि शक्ति भी भावपदार्थ होने से वह क्षणिक है। अत अनन्तशक्ति उसके प्रागभाव आदि की

कल्पना करने से गौरव होने के कारण लाघव नही है। एवच क्षणिकविज्ञान को किसी प्रकार से भी 'आत्मा' नही कह सकते। अत 'स एवायम' यह प्रत्यभिज्ञा आपामर होने से ज्ञानाधिकरण नित्य आत्मा का स्वीकार करना ही उचित है।

एतेन क्षणिकशरीरेष्वेव चैतन्य प्रत्युक्त गौरवादतिशये मानाभावाच्च। बीजादावपि सहकारिसमवधानासमवधानाभ्यामेवोपपत्तो, कुर्वद्रूपत्वाकल्पनात्।

इति शरीरात्मवादिमतखण्डनम।

● बा० प्रि०—बौद्धसम्प्रदाय के ही कुछ विद्वान् क्षणिक शरीर का ही चेतन (आत्मा) अर्थात 'क्षणिकशरीरेष्वेव चैतन्यम्' चेतनता क्षणिकशरीरो का धम है ऐसा मानते है, किन्तु पूर्वोक्त दो दोषो (प्रमाणाभाव तथा गौरव) के कारण उनका पक्ष भी खण्डित हो जाता है। ये **बौद्धैकदेशीविद्वान्** क्षणिक शरीर में ही चैतन्य (ज्ञान) मानते है, और **चार्वाक** भी चैतन्य को शरीर का ही धम मानते है। तथापि दोनों मे भेद इतना ही है कि **बौद्ध**, शरीर को क्षणिक मानकर उसमें 'चैतन्य' मान रहा है। किन्तु चार्वाक शरीर को क्षणिक नही मानता। अब **नैयायिक 'गौरवात् अतिशये मानाभावाच्च'** कहकर **बौद्धैकदेशी विद्वानो के** मत का खण्डन कर रहा है। प्रतिक्षण परिवतनशील शरीर मे नवीन नवीन सस्कारों के पैदा होने से अनन्त सस्कारो की कल्पना करने का **गौरव** होगा। यही दोष, ज्ञान को उत्पादक मानने पर दिया गया था। इसपर **बौद्ध** ने कहा था कि हम प्रतिक्षण पैदा होनेवाले शरीर मे बार बार सस्कारो की उत्पत्ति न मानकर केवल स्मरण से अव्यवहित पूवक्षण के शरीर में ही विशेष अतिशय (शक्ति) का उत्पन्न होना मानते है, जिससे अनन्तसस्कारो की कल्पना करने का गौरव नही होगा। उसपर **नैयायिक ने** उत्तर दिया था कि स्मरण से अव्यवहित पूर्वक्षण के क्षणिकशरीर में विशेष अतिशय (शक्ति) को मानने में **कोई प्रमाण नही है**। क्षणिकविज्ञानवादी का कहना था कि "क्षणिक विज्ञान ही आत्मा तथा ज्ञान का कर्ता है"। उम पक्ष को छोड इसके बदले "क्षणिक शरीर को ही आत्मा तथा ज्ञान का कर्ता" इस पक्ष ने माना है। किन्तु यह पक्ष भी ठीक नही है। इसके मानने मे भी वैसा ही महान गौरव है। जैसे देवदत्त ने कभी पहले यज्ञदत्त को देखा था। वही यज्ञदत्त कुछ समय के पश्चात उस देवदत्त से मिला। उस समय देवदत्त को 'वही यह यज्ञदत्त है' ऐसा प्रत्यभिज्ञान (ऐक्य-विषयकज्ञान) उत्पन्न होता है। किन्तु उपयुक्त पक्ष में यह प्रत्यभिज्ञा हो नही पायेगी, क्योकि पूर्वोक्त प्रत्यभिज्ञान में 'वह यज्ञदत्त यही है' ऐसे

दोनो ज्ञान एक नही होगे। क्योकि शरीर के क्षणिक होने से आत्मस्वरूपी अनन्त शरीरा की कल्पना करनी होगी, और जिस समय प्रत्यभिज्ञान होगा, उस समय वह पूव का शरीर तो नष्ट हो जाने के कारण रहेगा नही। एवच पूर्व के शरीरस्वरूपी आत्मा के न होने से प्रत्यभिज्ञान होने की अनुपपत्ति (असिद्धि) होगी। वह अनुपपत्ति न हो तथा प्रत्यभिज्ञान की उपपत्ति हो सके इसलिये इस क्षणिक शरीर मे क्षणिक तथा अनन्त शक्तिया और उनके प्रागभाव तथा ध्वस आदि की कल्पना बौद्धों को करनी होगी, उससे महान गौरव होगा। इतना ही नही, किन्तु तादृश क्षणिक तथा अनन्त शक्तियो की कल्पना करने मे कोई प्रमाण भी नही है।

इसपर बौद्ध अपने वासनासक्रमवाद के साधनाथ एक तक उपस्थित कर रहा है। वह कहता है—खेत मे बोया हुआ बीज ही अकुर को पैदा कर पाता है। कुशूल (कुठले) मे रखा हुआ बीज नही। अकुर को उत्पन्न करनेवाले बीज मे 'कुवद्रूपता' नामक धम रहता है। वही धम, अकुर को उत्पन्न करता ह। वह 'कुवद्रूपता' धम अकुरोत्पत्ति का प्रयोजक धम है। इस धर्म के योग से अकुर के उत्पन्न होने की व्यवस्था होती है यह बात तो तुम्हे भी मान्य है। 'कुवद्रूपता' का अथ है—'कुवत फलोन्मुख रूप यस्य, तस्य भाव "कुवद्रूपत्वम" कुवद्रूपता इत्यथ। अकुरोपधायकक्षणिकबीजव्यक्तिमात्रवत्तिर्बीजत्वव्याप्यो जातिविशेष। अर्थात फल को उत्पन्न करता हुआ रूप' ह जिसका, उसे 'कुवद्रूप' कहते ह, उसका भाव 'कुवद्रूपता' कहा जाता है। एवच अकुरत्वावच्छिन्न अकुर के प्रति कुवद्रूपत्वेन बीज कारण होता है। मामान्यरूपेण (बीजत्वेनरूपेण) बीज, अकुर के प्रति कारण नही है। यह 'कुवद्रूपता' अकुरजननयोग्यजातिविशेषरूप है। वह जातिविशेष, फलोपधायक क्षेत्रस्थबीज मे ही रहता है, कुशूलस्थबीज मे नही। क्योकि उसमे (कुवद्रूपत्व में) फलोपधायक क्षणिक समथबीजमात्रवृत्तित्वे सति बीजत्वव्याप्यत्व रहता ह। अर्थात 'यत्र यत्र कुवद्रूपत्व तत्र तत्र बीजत्वम' यह समझा जाता है। बौद्धसिद्धान्त में जो जो भावपदाथ ह, वे सभी क्षणिक माने जाते है। पदाथ का भावत्व क्या है? अथक्रियाक्षमता ही भावत्व ह। स्वकार्योत्पत्ति मे समथ होना ही अथक्रियाक्षमता है। उसीको पदाथ की सत्ता कहते है। एवच अकुरोत्पत्त्यव्यवहितपूवक्षणवर्तिक्षेत्रस्थ बीज ही अकुरोत्पत्ति मे समथ होता है। उसीतरह पूवक्षण में स्थित शरीर या ज्ञान मे किसी अतिशय (शक्ति) की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नही है। यहाँ पर भी हम स्मरण से पूवक्षण

में स्थित शरीर या विज्ञान मे 'कुवद्रूपता' धम को मान लेंगे, उस धम के कारण स्मरण हो रहा है। अर्थात् क्षणिक विज्ञान भी उत्तरविज्ञान मे कुवद्रूप वेनत्वधर्मेण सस्कारोत्पादक होता है कहेगे। उसी प्रकार क्षणिकशरीर भी उत्तरोत्तरशरीरनिष्ठ-सस्कार का उत्पादक 'कुवद्रूपत्व' धम के द्वारा ही होता है। ऐसा मानने से अनन्त शक्तिकल्पनारूप गौरव आदि दोष नही हो पायेगा। दृष्टान्त में दिये गये बीज के साथ कुवद्रूपता की जैसी समव्याप्ति ह, वैसी ही विज्ञान के साथ भी कुवद्रूपता की समव्याप्ति है। 'यत्र यत्र कायजनकत्व तत्र तत्र कुवद्रूपत्वम्, यत्र यत्र कुवद्रूपत्व तत्र तत्र कायजनकत्वम्'—यह समव्याप्ति का आकार है।

नैयायिक—यह जो आपने कहा था कि 'अकुरोत्पत्त्यव्यवहितपूवक्षणवर्ति-क्षेत्रस्थबीज ही अकुरोत्पत्ति का कारण होता है' वह ठीक नही है, क्योकि आपका 'कुवद्रूपता' का सिद्धान्त ही भ्रमपूण है। अकुरोत्पत्ति में 'बीज' अपने सामान्यरूप से ही कारण होता है, 'कुवद्रूपता' सज्ञक धम के कारण नही। कुशूलस्थित बीज से अकुर न होने का कारण यह है कि उसे सहकारिकारणा की उपलब्धि नही हो पाई। क्षेत्रस्थ बीज को पृथ्वी, जल, तेज, वायु सयोगरूप सहकारिकारणो का सन्निध्य प्राप्त हो जाने से वह अकुरोत्पादन मे समथ हो गया। यदि उन सहकारिकारणो की उपलब्धि (सान्निध्य) न होती तो उस बीज से भी अकुरो-त्पत्ति कभी भी न हुई होती। कुशूलस्थबीज तथा क्षेत्रस्थबीज वस्तुत एक ही है। बौद्ध का यह भ्रम है कि कुशूलस्थबीज भिन्न है और क्षेत्रस्थबीज भिन्न है, तथा क्षेत्रस्थबीज मे ही 'कुवद्रूपता' रहती है। अकुरोत्पत्ति के प्रति कुवद्रूपत्वेन बीज मे कारणकल्पना करना व्यथ है। उसीतरह क्षणिक विज्ञान या क्षणिक शरीर को कुवद्रूपत्वेन कारण समझना भी व्यथ है, क्योकि सस्कार का कारण 'अनुभव ही सवमान्य है। अत क्षणिकवाद का आधारभूत 'कुवद्रूपता'वाद बौद्धो का भ्रम है। एवच वासनासक्रम की अनुपपत्ति वैसी ही स्थिर रही। इस प्रकार विज्ञानवाद का खण्डन हो जाता है।

॥ इति क्षणिकविज्ञानवादियोगाचारमतखण्डनम ॥

बौद्धो के सम्बन्ध मे निम्नलिखित इतिहास ज्ञातव्य है—**भगवान् बुद्ध** (सुगत) उपदेशक है ओर वे एक ही है। तथापि उनके **माध्यमिक**, **योगाचार**, **सौत्रान्तिक** और **वैभाषिक** नाम के चार शिष्य है, जो भावनाभेद से भिन्न भिन्न विचार रखते है। भगवान् बुद्ध के शिष्य होने के नाते इन चारो को बौद्ध कहते है। उनमे मुख्य **माध्यमिक** सवशून्यतावादी है। इस **माध्यमिक** शिष्य को

परिपक्व चित्तवाला तथा मुख्य अधिकारी जानकर भगवान् बुद्ध ने इसे **शून्यवाद** का उपदेश दिया। इस कारण यह शिष्य **शून्यवादी माध्यमिक** नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसका मत सक्षेप में इस प्रकार है—

'यत् सत् तत् विनश्यति' जो सत होता है वह नष्ट होता है। अत **सर्वं 'शून्य शून्यमिति विभावनीयम्'**—अत सवत्र शून्य की भावना करनी चाहिये। अतएव कहा गया है—'परिव्राट्कामुकशुनामेकस्याम्प्रमदातनौ।
कुणप कामिनी भक्ष्य इति तिस्रो विकल्पना ॥"

इस कारण १—**"सर्वं क्षणिक क्षणिकम्"**। २—**"सर्वं दु ख दु खम्"**। ३—**"सर्वं स्वलक्षण स्वलक्षण"**। ४—**"सर्वं शून्य शून्यम्"** इन चार भावनाओ के बलपर समस्त वासनाओ की निवृत्ति हो जाने से परनिर्वाणरूप **'शून्यतत्त्व'** को प्राप्त किया जाता है। उससे हम कृताथ है, अब हमें उपदेश्य नाम की कोई वस्तु नही रही।

दूसरे **योगाचार शिष्य** को किञ्चित परिपक्वचित्तवाला जानकर भगवान् बुद्ध ने उसे शून्यरूप तत्त्व मे प्रवेश पाने के हेतु प्रथमत **क्षणिकविज्ञानवाद** का उपदेश किया। इसकारण यह शिष्य क्षणिकविज्ञानवादी योगाचार बौद्ध के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसका मत सक्षेप मे इस प्रकार है—**स्वयम्प्रकाशविज्ञान का स्वीकार अवश्य करना चाहिये**। अन्यथा जगदान्ध्यप्रसग होगा। विज्ञान के सम्बन्ध में कहा जाता है कि—

'तत स्यादालयविज्ञान यद् भवेदहमास्पदम।
तत् स्यात्प्रवृत्तिविज्ञान यन्नीलादिकमुल्लिखेत् ॥'

ग्राह्य-ग्राहक सवित्ति में वस्तुत अभेद होनेपर भी एकचन्द्र मे द्वित्वावभास के समान पृथगवभास का भ्रम हुआ करता है। एवच भावनाचतुष्टय के बल से विविधविषयाकार-विवर्जित शुद्धक्षणिकविज्ञानोदयस्वरूपमोक्ष की प्राप्ति होनेपर ही कृताथता प्राप्त होती है। **भगवान् बुद्ध** ने अपने तीसरे **सौत्रान्तिक शिष्य** को तथा चौथे **वैभाषिक शिष्य** को आन्तर विज्ञान से भिन्न बाह्य घटादि पदार्थों मे उनका अभिनिवेश जानकर उन दोनो के अभिप्राय के अनुसार बाह्य अथ का उपदेश किया। इन दोनो शिष्यो में भेद इतना ही है कि सौत्रान्तिक तो बाह्य अर्थों को अनुमेय (अनुमितिज्ञान का विषय) मानता है, और वैभाषिक उन बाह्य अर्थों को प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय मानता है। **सौत्रान्तिक बौद्ध** का मत सक्षेप में इस प्रकार है—घट पटादि बाह्य पदाथ सब है ही, किन्तु उन सबका

प्रत्यक्ष नही होता। वे सब बाह्यपदाथ अनुमेय ही हैं। जैसे—भाषा से देश का अथवा सम्भ्रम से स्नेह का अनुमान किया जाता है, वैसे ही ज्ञानाकार से ज्ञेय का अनुमान ही किया जाता है। अर्थात् ज्ञानाकारानुमेयक्षणिकबाह्याथ ही आत्मा ह। दु ख, दु खायतन और दु खसाधन का निरोधकर विमलज्ञान का उदय होना ही मुक्ति है। **वैभाषिक बौद्ध** का मत सक्षेप मे इस प्रकार है—ग्राह्य और अध्यवसेय भेद से पदाथ दो प्रकार के है। उनमें ग्राह्यग्राहक निर्विकल्परूपग्रहण अर्थात ज्ञान ही कल्पनापोढ होने से अभ्रान्त प्रत्यक्ष है और वही प्रमाण है, और अध्यवसाय तो सविकल्परूप है अर्थात् अनुमान कल्पनारूप होने से अप्रमाण है। सौत्रान्तिक और वैभाषिक मे इतना ही भेद है कि **सौत्रान्तिक** 'बाह्यानुमेय-पदाथवादी' है और **वैभाषिक** 'बाह्यप्रत्यक्षाथवादी' है।

उपयुक्त बौद्धो को माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक आदि नाम कसे प्राप्त हुए? इसका भी इतिहास है, जो ज्ञातव्य है—शिष्यो को 'योग' और 'आचार दोनो का अनुष्ठान करना चाहिये। उनमे अप्राप्त की प्राप्ति के लिये जो पयनुयाग उसे 'योग' कहते है और गुरु की उक्ति का स्वीकार कर लेना 'आचार' है। गुरु की उक्ति का अङ्गीकार कर लेने के कारण तो वह 'उत्तम है, किन्तु प्रश्न (पयनुयोग) न करने के कारण 'अधम' भी है। अत ऐसे एक शिष्य को **'माध्यमिक'** नाम प्राप्त हुआ। इनका सिद्धान्त नागार्जुन की **'माध्यमिक कारिका'** मे इस प्रकार बताया गया है—चार सभावित कोटियो (सत नही, असत् नही, सत और असत् दोनो नही, और दोनो से भिन्न भी नही) की अपेक्षा विलक्षण जो **'शून्य तत्त्व'** है, उसी को माध्यमिको ने अपना परम-तत्त्व माना है। 'न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम।

चतुष्कोटिविनिर्मुक्त तत्त्व माध्यमिका विदु ॥'

—(माध्य० कारि० १ ७)

माध्यमिक साहित्य का यह विकास, ब्राह्मण-बौद्ध पण्डितो के तार्किक बुद्धि का परमोत्कष ह। शून्यवाद के सिद्धान्त का उपपादन, माध्यमिककारिका, प्रज्ञापारमिता रत्नकरण्ड आदि ग्रन्थो में उपलब्ध होता है।

दूसरे शिष्य ने भगवान बुद्ध के द्वारा उक्त भावनाचतुष्टय और बाह्याथशून्यता का अगीकार कर आन्तर शून्यता का भी अगीकार कर लिया, किन्तु क्यो, कैसे? यह प्रश्न मनमें न उठने के कारण दूसरे बौद्ध को **'योगाचार'** नाम प्राप्त हुआ।

तीसरा शिष्य '**सौत्रान्तिक**' है। इसने सूत्र का अन्त (रहस्य) पूछा। इसलिये भगवान बुद्ध ने उससे कहा कि 'तुमने सूत्र का अन्त पूछा' अत तुम **सौत्रान्तिक** हो।

चौथा शिष्य **वैभाषिक** है। इसने अपने मनमें यह सोचा कि भगवान ने '**माध्यमिक** को तो गन्धादि बाह्यविषय और रूपस्कन्धादि आन्तरविषयो के विद्यमान रहनेपर भी, उनके प्रति अनास्था कराने के लिये 'सव शून्यम' का उपदेश किया और 'विज्ञानमेव एक सत —विज्ञान ही एकमात्र सत है—ऐसा उपदेश योगाचार' को किया, और 'उभय सत्यम —दोनो सत्य है—यह उपदेश सौत्रान्तिक को किया। अर्थात तत्तत शिष्यो की बुद्धि को देखते हुए भगवान ने परस्पर विरुद्ध उपदेश उन्हे किये। अत 'सेय विरुद्धा भगवतो भाषा' इस प्रकार कहनेवाले शिष्य को '**वैभाषिक**' नाम प्राप्त हुआ। भगवान बुद्ध के द्वारा किये गये सभी उपदेश भिन्न भिन्न शिष्यो की भिन्न भिन्न बुद्धि के अनुसार भिन्न भिन्न से प्रतीत होते है, तथापि भिक्षुपादप्रसरन्याय से सभी का पर्यवसान सवशून्यता मे ही समझना चाहिये।

१—**वैभाषिक** 'बाह्याथप्रत्यक्षवादी' है। २—**सौत्रान्तिक** 'बाह्यार्थानुमेयवादी' है। ३—**योगाचार** 'विज्ञानवादी' है। ४—**माध्यमिक** शून्यवादी' है।

मानमेयोदयकार ने उक्त चारो बौद्धो के मतो को एक ही पद्य में इसप्रकार बता दिया है—"मुख्यो **माध्यमिको** विवतमखिल शून्यस्य मेने जगत्
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासा विवर्तोऽखिल।
अन्योऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुध्येति **सौत्रान्तिक**
प्रत्यक्ष क्षणभगुर च सकल **वैभाषिको** भाषते॥"

वैभाषिक—हीनयान का अनुयायी है, यह **ससार** और **निर्वाण** दोनो को **सत्य** मानता है। माध्यमिक, सौत्रान्तिक और योगाचार ये तीनो 'महायान' के अनुयायी है। उनमे **माध्यमिक**—ससार तथा निर्वाण दोनो को असत्य मानता है। **सौत्रान्तिक**—ससार को सत्य किन्तु निर्वाण को असत्य मानता है। **योगाचार**—ससार को असत्य किन्तु निर्वाण को सत्य मानता है।

इति बौद्धमत सक्षेप

अस्तु तर्हि क्षणिकविज्ञाने गौरवान्नित्यविज्ञानमेवात्मा अविनाशी वाऽरेऽयमात्मा सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म इत्यादिश्रुतेरिति चेत्? न तस्य

सविषयकत्वासम्भवस्य दर्शितत्वात्। निर्विषयकस्य ज्ञानत्वे माना भावात्सविषयकत्वस्याप्यननुभवात्। अतो ज्ञानादिभिन्नो नित्य आत्मेति सिद्धम्।

'सत्य ज्ञानमि'ति हि ब्रह्मपर जीवे तु नोपयुज्यते। ज्ञानाज्ञानसुखित्वा दिभिर्जीवाना भेदसिद्धौ सुतरामीश्वरभेद। अन्यथा बन्धमोक्षव्यवस्था नुपपत्ति। योऽपीश्वराभेदबोधको वेद सोऽपि तदभेदेन तदीयत्व प्रतिपादयन् स्तौति अभेदभावनयैव यतितव्यमिति वदति। अत एव 'सर्व एवात्मनि समर्पिता' इति श्रूयते। मोक्षदशायामज्ञान निवृत्तावभेदो जायत, इत्यपि न भेदस्य नित्यत्वेन नाशायोगात्। भेदनाशेऽपि व्यक्ति द्वय स्थास्यत्येव। न च द्वित्वमपि नश्यतीति वाच्य, तत्र निर्धर्मके ब्रह्मणि सत्यत्वाभावेऽपि सत्यस्वरूप तदितिवद् द्वित्वाभावेऽपि व्यक्तिद्वयात्मको ताविति सुवचत्वात्। मिथ्यात्वाभावोऽधिकरणात्मकस्तत्र सत्यत्वमिति चेदेकत्वाभावो व्यक्तिद्वयात्मको द्वित्वमित्यप्युच्यताम्।

● अब नित्यविज्ञानात्मवादी अद्वैतवेदान्ती अपना मत उपस्थित कर रहे है—क्षणिकविज्ञानात्मवादी (विज्ञान स्वत प्रकाश होने से चेतन है और वह विद्युत के समान भावरूप होने से क्षणिक है। जिस पदाथ का अपने उत्पत्ति क्षण से उत्तरक्षण में सम्बन्ध नही होता, उसे क्षणिक कहते है। उस क्षणिक विज्ञान को ही आत्मा समझनेवाले) योगाचार बौद्ध के क्षणिकविज्ञानात्मवाद को स्वीकार करने में अनन्तशक्ति तत्प्रागभाव ध्वस आदि अनेक कल्पनारूप गौरवदोष प्राप्त हो रहा था, इसकारण 'आत्मतत्त्व' को क्षणिकविज्ञानरूप नही माना जा सकता, यह कहकर नैयायिक ने योगाचार बौद्ध को परास्त किया, वह ठीक ही किया। हम वेदान्ती भी गोरवादिदोष पराहत हुए योगाचार के मत को उचित नही मानते। किन्तु, नित्य अर्थात त्रिकालाबाध्य, एकरस यानी प्रागभाव—ध्वसाऽप्रतियोगी, जो विज्ञान अर्थात स्वप्रकाशचैतन्य, जो श्रुतिप्रसिद्ध है, उसे ही आत्मतत्त्व के रूप मे मान लिया जाय। अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही 'आत्मा है, उसके अतिरिक्त किसी को भी 'आत्मा' नही कहा जा सकता। हम वेदान्ती अपने इस कथन में बृहदारण्यकश्रुति को प्रमाणरूप मे दे रहे है— 'अविनाशीति।' योगीश्वर याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी 'गार्गी' को सम्बोधित कर रहे है—'अरे' इति। हे गार्गि! 'अयम्' अर्थात् वेदान्तविचार मे प्रस्तूयमान यह, 'आत्मा' अर्थात चेतन, 'अविनाशी' है, अर्थात नाशाऽप्रतियोगी यानि

त्रिकालाऽबाधित है,—(बृहदा० श्रा० ५, क० १४)। इसी बात का समथन तैत्तिरीयश्रुति भी कर रही है—"सत्य ज्ञानम्' इति—(तैत्ति० आ० व०।अनु०१) 'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म'—सत्यम् अर्थात् त्रिकालाबाध्य, 'ज्ञानम्' अर्थात चित्स्व भाव, 'अनन्तम्' अर्थात् त्रिविध (देश, काल, वस्तु) परिच्छेदरहित यानि व्यापक, 'ब्रह्म' अर्थात् आत्मा है। क्योकि 'बहत्वाद बहणत्वाच्च आत्मा ब्रह्मेति गीयते' ऐसा कहा गया है। इस तैत्तिरीयश्रुति में सत्य आदि तीन पद स्वरूप लक्षणपरक है। 'सत्य' पद से मिथ्या की व्यावत्ति 'ज्ञान' पद से जड की व्यावृत्ति और 'अनन्त' पद से परिच्छिन्न की व्यावृत्ति की गई है। 'इत्यादि श्रुते' यहाँ 'आदि' पद से 'नित्य विज्ञानमानन्द ब्रह्म इत्यादि श्रुतियो को समझना चाहिये। 'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म' इस श्रुतिवाक्य ने ब्रह्म का स्वरूपलक्षण बताया है। इस वाक्य मे 'ब्रह्म' पद लक्ष्यपरक है और सत्य आदि तीनो पद स्वरूप-लक्षण परक है। यहाँ पर निर्विशेष ब्रह्म के ही ये सत्यादि विशेष बताये गये है। इन तीनो पदो से जब ब्रह्म को विशेषित किया जाता है, तब सत्यादि के विरुद्ध असत्य, जाड्य, परिच्छिन्न पदार्थों से जो व्यावृत्त हो वही 'ब्रह्म है, यह स्पष्ट हो जाता ह। जैसे—नीलमुत्पलम्', रक्तमुत्पलम्' इत्यादि वाक्यप्रयोग करने पर अन्य व्यक्तियो से व्यावृत्त हुआ 'उत्पल' है, ऐसा समझ मे आता है, उसी तरह जो असत्यादि अन्य पदार्थो से व्यावत्त हुआ जाना जाता है, वही 'ब्रह्म' है। इस प्रकार से व्यावृत्त हुए सच्चिदेकतान परिपूण 'ब्रह्मस्वरूप' का ज्ञान होता है। व्यावृत्ति का ज्ञान यदि न हो तो अनतादि से व्यावृत्ति न हो सकने से 'ब्रह्म' का ज्ञान नही हो पायेगा। व्यावृत्ति भी ब्रह्मस्वरूप से भिन्न न होने के कारण निर्वि- शेष अद्वैतवाद की स्थिति में कोई अन्तर नही आता। वही 'ब्रह्म' उपाधिवशात् 'जीवभाव' को प्राप्त होता है। नाना उपाधियो के कारण नाना जीव होते है। उपाधि भी माया और अविद्या के भेद से दो प्रकार की मानी गयी है। जब 'चैतन्य' मायोपाधि से युक्त होता है, तब उसे ईश्वर कहते हैं और जब 'चैतन्य' अविद्योपाधि से युक्त होता है तब उसे 'जीव' कहते है। ससार का कारण अविद्या ही है। इस अविद्या का विनाश विद्या से होता है। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योपदेश से होनेवाली 'अहम्ब्रह्मास्मि' इत्याकारा अखण्डाकारवत्ति को ही 'विद्या' कहते है। विद्या के द्वारा अविद्या का नाश होनपर जीव के ब्रह्मस्वरूप का आविर्भाव होना ही 'मोक्ष' है। यह अद्वैतवेदान्तियो का सिद्धान्त है। समस्त पुरुषदोषो से रहित भगवती श्रुति ही स्वय होकर आत्मा को जब नित्यविज्ञानस्वरूप बता रही है, वहाँ उसके बारे में और क्या सोचना विचारना शेष रह जाता है।

इस प्रकार अद्वैतवेदान्ती ने अपना विचार जब उपस्थित किया, तब सिद्धान्ती (नैयायिक) उन्हे उत्तर देता है—"न" इति । 'आत्मतत्त्व' को नित्यविज्ञान स्वरूप माननेवाले वेदान्ती से नैयायिक पूछता है ।

नैयायिक—आप (वेदान्ती) यह बतावें कि आत्मा को आप नित्यविज्ञान-स्वरूप कहते है, या परमेश्वर को नित्यविज्ञानस्वरूप कह रहे है ? यदि आप आत्मा को नित्यविज्ञानस्वरूप कहते हो तो, क्षणिकविज्ञानात्मवाद के खण्डन करते समय हम कह चुके है कि 'तस्य सविषयकत्वाऽसभव ' अर्थात् विज्ञानात्मा का सविषयक होना कभी समव नही है । उसके सविषयक न होने से 'आत्मा' नित्यविज्ञानस्वरूप नही हो सकता । अभिप्राय यह है—वेदान्तियो का अभिमत नित्यविज्ञान, सविषयक है या निर्विषयक ? यदि सविषयक कहें तो उसका विषय क्या है ? यदि समस्त जगत् को उस ज्ञान का विषय कहे तो सभी को सवज्ञ होना चाहिये । यत्किञ्चित वस्तु को यदि उस ज्ञान का विषय कहे तो सुषुप्ति में भी रूपादि विषयो का भान होना चाहिये, किन्तु होता नही है । अत आत्मा को नित्यविज्ञानस्वरूप नही कह सकते ।

यदि **द्वितीयपक्ष** अर्थात नित्यविज्ञानरूप आत्मा को निर्विषयक मानते हैं अर्थात आत्मस्वरूपी विज्ञान मे कोई भी विषय नही आ सकता, तो वैसा मानने में कोई प्रमाण नही है । ज्ञानत्व में विषयिता की व्याप्यता रहती है । अब व्यापकी-भूतविषयिता को न मानने पर ज्ञानत्व की भी सिद्धि नही हो पायगी । **अभिप्राय** यह है कि 'विषयनिरूप्य हि ज्ञानम्' यह एक नियम है । अत ससार में कोई भी ज्ञान निर्विषय नही होता यानी वह (ज्ञान) किसी न किसी वस्तु को विषय न करे यह सभव नही । अभिप्राय यह है कि ज्ञान, विषय को प्रकाशित करता है, अर्थात् ज्ञान, विषय का प्रकाशक है और घटादिविषय, ज्ञान के द्वारा प्रकाश्य है । विषय, ज्ञान का निरूपण करता है । अत विषय को ज्ञान का निरूपक कहते हैं और ज्ञान विषय के द्वारा निरूप्य होता है । इस रीति से ज्ञान और विषय का प्रकाश्य-प्रकाशकभाव, निरूप्य निरूपकभावसबध हुआ करता है । इसी अभिप्राय का उपपादन ' सविषयत्वस्याप्यननुभवात् ' के द्वारा किया जा रहा है । मुक्तावलीकार कहते ह कि यदि कोई यह आशका करे कि जीव (आत्मा) में जगद्विषयकत्व नही है और न नियतयत्किंचिद्विषयकत्व ही है, बल्कि जिस जीव में यद्विषयकत्व का अनुभव हो उस जीव में तद्विषयकत्व अर्थात जिस जिस वस्तु को जो जो आत्मा ग्रहण करता है उस उस विज्ञानस्वरूप आत्मा को तत्तद्विषयकत्व मान

लिया जाय। इस आशका पर 'सविषयकत्वस्याप्यननुभवात' से समाधान दे रहे है—'घटस्य ज्ञानम'-घट का ज्ञान—यह अनुभव तो सभी को होता है, इस कारण 'ज्ञान' को घटादिविषयक सभी ने माना है, कि तु ' घटस्य आत्मा" यह अनुभव आज तक किसी को नही हुआ है इसलिये 'नित्यविज्ञानस्वरूप आत्मा' को सविषयक नही कहा जा सकता। अतएव 'जीवात्मा' विज्ञानस्वरूप न होकर विज्ञान से भिन्न (ज्ञानेच्छादिगुणभेदवान) और नित्य (ध्वस प्रागभावाप्रतियोगी) सिद्ध होता है। एवञ्च ज्ञानेच्छादिगुणो के अधिकरणरूप में ही आत्मा को स्वीकार कर लेना चाहिये। **वेदान्ती** शका करता है कि यदि तुम (नैयायिक) आत्मा को ज्ञान का अधिकरण कहोगे तो आत्मा को विज्ञानस्वरूप कहनेवाली श्रुति से विरोध होगा।

नैयायिक—'सत्य ज्ञानमन त ब्रह्म' यह श्रुति सत्य ज्ञान अन तपदो में ब्रह्मपद का सामानाधिकरण्य प्रदर्शित करती हुई ब्रह्मस्वरूप का प्रतिपादन कर रही है, जीवस्वरूप का प्रतिपादन नही।

वेदान्ती शका करता है कि ज्ञानस्वरूप ब्रह्म से जीव की एकता (तादात्म्य, अभेद) होने से जीव भी ज्ञानस्वरूप है।

नैयायिक—'ज्ञानाऽज्ञानसुखित्वादि०' ग्रन्थ से जीव ब्रह्म में भेद सिद्ध कर वेदान्ती की शका का समाधान कर रहे है। कितने ही जीव, जिस समय ज्ञान या सुख का अनुभव करते है, उसी समय अन्य कितने ही जीव, अज्ञान का तथा दु ख का अनुभव करते है। एवच ज्ञान, अज्ञान, सुख, दु ख आदि भिन्न-भिन्न धर्मों से जीवो मे परस्पर भेद स्पष्ट है। अर्थात 'जीव' अनेक है किन्तु 'परमेश्वर' एक है, अनेक नही। अत वही अनेक जीवरूप कैसे होगा ? क्योकि एकत्व और अनेकत्व का परस्पर विरोध है। एवच 'जीव' 'परमेश्वर' से भिन्न तथा अनेक है, यह सहजसिद्ध होता है। सुख-दु ख के अनुभव तथा अनित्यज्ञान से युक्त हुए असख्य (नाना अनेक) जीवात्माओ के साथ, नित्यज्ञानसम्पन्न सदा सुखी परमेश्वर का ऐक्य (तादात्म्य) होना कदापि सभव नही। इस कारण 'जीव' तथा परमेश्वर अर्थात् 'ब्रह्म' का परस्पर 'भेद' ही सिद्ध है, ऐक्य नही। जीव और ईश (ब्रह्म) के परस्पर भेद का अनुमान इस प्रकार होगा—' जीवेशौ, परस्पर भिन्नौ, विरुद्धधर्माक्रान्तत्वात, दहन-तुहिनवत"। अभिप्राय यह है—'ईश्वर' तो सर्वज्ञ, सर्ववित्, सर्वशक्तिमान, नियामक, नित्यमुक्त है, और 'जीव' अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, दु खी, नियाम्य है, ऐसी परिस्थिति में विरुद्ध धर्मवाले जीवेश्वर में

अभेद होना कैसे सभव हो सकता है ? क्योकि विरुद्ध धर्माध्यास का ही नामान्तर तो भेद है ।

वेदान्ती—तार्किक-प्रदर्शित अनुमान के द्वारा जीवेश मे परस्पर भेद सिद्ध हो जाने पर भी परमेश्वर ने स्वय 'ममैवाशो जीवलोके' इस भगवद्गीतावाक्य के द्वारा 'जीव' को 'ईश्वराश' बताया है । अत 'जीव' को परमेश्वर से अभिन्न ही स्वीकार करना चाहिये, दोनो को अभिन्न (एक) मानने पर 'जीवों' (आत्माओ) की विज्ञानरूपता सिद्ध हो जाती है । क्योकि परमेश्वर 'ज्ञान'-रूप है ।

नैयायिक—उक्त अभेद का खण्डन करने के लिये '**अन्यथेति**' ग्र थ को उपस्थित कर रहा है । नैयायिक कहता है कि यदि वेदान्ती जीव और ईश्वर (ब्रह्म) में भेद न मानें अर्थात जीवात्मा परमात्मा को एक ही माने तो अमुक जीव, ससारी (बद्ध) है तथा अमुकजीव मुक्त है, यह व्यवस्था नही बन सकेगी, क्योकि बद्ध-मुक्तात्मा एव जीव परमात्मा दोनो एक हैं । वेदा तियो के मत में सभी तो ब्रह्मरूप हैं ।

यदि यह कहे कि तत्तत अन्त करणावच्छिन्न चतन्य के एक होने पर भी किसी व्यक्तिविशेष के अन्त करण का नाश होने पर उसके अन्त करणावच्छिन्न चैतन्य को हम 'मुक्त' कहेगे और जिसके अ त करण का नाश नही हुआ, उसके अन्त करणावच्छिन्न चैतन्य को हम 'बद्ध' कहेगे, जिससे बद्ध-मुक्त की व्यवस्था मे कोई अनुपपत्ति नही होगी । इसपर नैयायिक कहता है कि वेदान्ती के उपयुक्त कथनानुसार - बद्ध मुक्त की व्यवस्था बन जाने पर भी मोक्ष के हेतु प्रयत्नानुष्ठान की विफलता तो बनी ही रहेगी । क्योकि एक अन्त करण के नाश होनेपर भी अन्त करणान्तर से अवच्छिन्न स्वात्मा में दु खोत्पत्ति अवश्य ही होगी, तब प्रयत्नानुष्ठान के फलस्वरूप निदु खत्व का होना कभी सभव ही नही होगा । यदि यह कहे कि ये सुख दु खादिधम अन्त करण के ही है, चैतन्य के नही, तो मोक्ष के लिये प्रयास करना नितान्त व्यथ होगा, क्योकि आत्मा तो नित्यमुक्त ही ह । यदि यह कहे कि भ्रमनिवृत्ति के लिये प्रयत्न करना आवश्यक है, किन्तु यह कथन भी ठीक न होगा, क्योकि अन्त करणान्तर से अवच्छिन्न हुए आत्मा मे भ्रम का होना पुनरपि अनिवाय है, तब मुक्ति के लिये प्रयत्न करना निरथक ही होगा । अत जीव और ब्रह्म में भेद स्वीकार करना ही होगा ।

वेदान्ती—जीव और ब्रह्म में यदि परस्पर भेद कहेंगे तो 'तत्त्वमसि'

'अह ब्रह्माऽस्मि' इन अभेद प्रतिपादक श्रुतियो से विरोध होगा। क्योकि 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य—अखण्डाथपरक है। इसी का उपपादन 'योऽपीति' ग्र थ से कर रहे है— परब्रह्म के साथ जीवात्मा के अभेद का प्रतिपादन करनेवाले 'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य का अथ वेदान्तियों के मतानुसार इस प्रकार किया जाता है। 'तत्' अर्थात परोक्षत्वादिविशिष्ट चैत य (सवज्ञत्वविशिष्ट आत्मा), 'त्वम्' अर्थात् अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैत य (अल्पज्ञत्वविशिष्ट देवदत्तात्मा) 'असि' अर्थात भेदाभाव यानी एकता। पञ्चदशीकार कहते है—"एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम्"। एवञ्च जहृदजहल्लक्षणा (भागत्यागलक्षणा) के द्वारा विरुद्ध अश (परोक्षत्व-अपरोक्षत्वादिविशिष्ट अश) का त्यागकर अविरुद्ध अश अर्थात अखण्ड चैतन्य मात्र का बोधन कराया जाता है। सक्षप मे अभिप्राय यह है कि छान्दोग्योपनिषद् के उद्दालक—श्वेतकेतु की कथा के प्रसग मे 'तत्त्वमसि' यह महाकाव्य नौ बार आया है। इस वाक्य में 'तत, त्वम, असि' ये तीन पद है। इनमें 'तत्' पद का वाच्य (मुख्य) अथ परोक्षत्वादिधमविशिष्ट 'अन्तर्यामी ईश्वर' है। 'त्वम्' पद का वाच्य (मुख्य) अथ अपरोक्षत्वादि धमविशिष्ट पुण्य—पापकर्ता नियाम्य जीव है। 'तत—त्वम्' दोनो पद, समानविभक्तिक है, अत अभेदान्वय के योग्य हैं। परन्तु दोनो पदो के विशिष्ट वाच्यार्थों की एकता होना सभव नही, क्योकि तत्-पदवाच्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट ईश्वर की त्वम्पदवाच्य अल्पत्वादिविशिष्ट जीव के साथ ऐक्य अर्थात तादात्म्य कभी हो ही नही सकता, और वेदवाक्य को सत्यार्थद्योतक होने के कारण अप्रमाण भी नही कहा जा सकता, उसका प्रामाण्य तो विश्वप्रसिद्ध है। अत उन दोनों वाच्यार्थों में एकता सिद्ध करने के लिये चिन्मात्रस्वरूप ब्रह्म मे दोनो पदो (तत् और त्वम्) की जहृदजहल्लक्षणा करते हैं। उस लक्षणा के द्वारा 'अद्वितीय ब्रह्म' लक्षित्र किया जाता है। यही कारण है कि अद्वैत वेदान्तियो ने 'तत्त्वमसि' वाक्य को अभेद प्रतिपादक बताया है।

नैयायिक—दो पदो में लक्षणा करने की अपेक्षा पूवपद में ही लक्षणा करके अथ निर्वाह करने में लाघव होगा। ईश्वर के साथ जीव का अभेदप्रतिपादन करनेवाले वेद ने जहाँ कही 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यो के द्वारा ब्रह्म और जीव का अभेद बताया है, उस (अभेदप्रतिपादन) का तात्पय यही है कि समस्त जीव (आत्माएँ), ब्रह्म (ईश्वर) के सम्बन्धी हैं, यानी वे सब आत्माएँ ईश्वर पर आश्रित हैं। अर्थात् 'तत्त्वमसि' में तस्य त्वम असि विग्रह समझना चाहिये।

वेद मे आये हुए ऐसे वाक्यो को 'अथवाद' वाक्य कहते है। 'तस्य त्वम' ऐसा विग्रह करने पर 'तत' पद की तत्सम्बन्धी मे लक्षणा हो जाती है। वेदान्तियो की दृष्टि से 'तत—त्वम् = वह परमात्मा ही 'तू'=जीव है। यह अभेद भाव प्रदर्शित किया जाता है, किन्तु वह वास्तविक न होकर आपातत भासित होता है। वस्तुत भेद रहते हुए भी अभेद प्रतिपादन का प्रयोजन 'जीवात्मा' के अधिकार का महत्त्व बताना ही है। अर्थात् 'तत्त्वमसि' वाक्य मे स्वामि सेवक भाव सम्बन्ध को अभेदरूप से बताकर जीव की प्रशसा की है। अर्थात अभेद भावना से परमात्मा मे जीव को प्रेमभक्ति करनी चाहिये, यह उपदेश दिया गया है। अनेक विद्वानों ने जीव ईश के अनेक प्रकार के सम्बन्ध बताये है। कुछ लोग 'चैतन्याख्य सम्बन्ध', कुछ लोग 'ज्ञानसजातीयज्ञानादिमत्त्व सम्बन्ध', कुछ लोग 'मोक्षस्थितिकत्व सम्बन्ध', कुछ लोग 'नियाम्य नियामकभावसम्बन्ध' मानते है। 'त्वम' पद अल्पज्ञात्मपरक है और 'असि' पद वतमान अस्तित्व का बोधन कर रहा है। एवच महावाक्य का शाब्दबोध इस प्रकार होगा—'परमेश्वरज्ञानादि-सजातीयज्ञानादिमदस्तितावान्'। तात्पय यह है कि—चैतन्य के अथवा ज्ञान आदि के कारण 'तू' (जीव) परमेश्वर के समान है। एवच 'जीव' परमात्मा से भिन्न है। ऐसा मानने पर जीव तथा प्राण आदि सभी कुछ परमात्मा के चरणारविन्द में समर्पित है। अर्थात विद्वान अपने पुत्ररूप आत्मा को तथा शरीररूप आत्मा को और मुख्य आत्मा को ईश्वर के चरणो पर अर्पित करे, क्योकि जीवादिक परमात्मा के अधीन है—ऐसा उपनिषदादि ग्रन्थो मे कहा गया है, वह भी यथार्थ हो जाता है। अर्थात यदि दोनो में भेद न हो तो समपण कौन किसे करेगा ? अनेक ग्रन्थो मे कहा हुआ उपयुक्त कथन सब व्यथ होगा। अभेद प्रतिपादक वाक्य ईश्वर की उपासना करने के निमित्त ही कहे गये ह। ईश्वर की उपासना करते समय अभेद भावना रखना आवश्यक है। एवच तदीय होने के कारण उसके साथ अभेद का प्रतिपादन किया गया है, वह अभेद-प्रतिपादन वास्तविक रूप में नही है। जैसे—कोई पिता अपने पुत्र के विषय मे कहता ह—'यह देवदत्त मेरी आत्मा है' देवदत्त और उसके पिता दोनो वस्तुत एक दूसरे से भिन्न है तथापि स्वजन्य-जनकत्वसम्बन्ध से (उपचार से) आत्मपद द्वारा अभेद व्यवहार किया जाता है। उसीप्रकार उत्पादक होने के कारण पितृस्थानापन्न ईश्वर का पुत्रस्थानापन्न जीवो के साथ तदीय होने के कारण (नियाम्य = नियामकभावादि सम्बन्ध से सम्बन्धित होने के कारण) अभेद का

प्रतिपादन औपचारिक रूप से किया गया है, वास्तविक रूप से नही। मुक्तावलीकार ने 'स्तौति पद प्रयोग के द्वारा सूचित किया है कि वास्तविक भेद के रहते हुए भी 'यजमान प्रस्तर[१]' 'आदित्यो यूप' इत्यादि अभेदबोधक अनेक वाक्य वेद में उपलब्ध होते है। इन वाक्यो मे जैसे उपचार (गौणीलक्षणा) किया गया है, वैसे ही प्रकृत मे जीव और ईश्वर मे अभेद बतानेवाले 'अह ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि' इत्यादि वेदवाक्य भी जीव का ईश्वर से अभेद बताकर जीवात्मा मे ईश्वर का सम्बन्ध बताते हुए जीव की स्तुति करते है। अत मुमुक्षुओ के लिये अभेदोपासना का प्रतिपादन करने में ही इन अभेद बोधक वाक्यो का तात्पय है। 'अभेदभावनयैव यतितव्यमिति वदति'—यहाँ 'भावना' का अथ '**उपासना**' है। अर्थात चित्त का विजातीयप्रत्ययानन्तरित समानाकार-प्रत्यय प्रवाह ही भावना ह, जिसे 'निदिध्यासन' भी कहते है। इसप्रकार की अभेदोपासना (भावना) का अनुष्ठान करने के लिये भगवतीश्रुति मुमुक्षुओ से कह रही है। निरतिशयानन्दरूप ब्रह्म मे परानुरक्तिसम्पादनाथ अभेदोपासना करने के लिये ये अभेदबोधक वाक्य है। अपने इस अभिप्राय की पुष्टि में भगवतीश्रुति को प्रमाणरूप मे उपस्थित कर रहे है—"अतएव" इति। परमेश्वर मे पराऽनुरक्ति सम्पादनाथ अभेदबोधक वाक्यो का तात्पय होने से ही भगवतीश्रुति का यह कथन है कि 'सभी जीव, आत्मा में अर्थात परब्रह्म मे समर्पित है, यानी वे कहते है कि 'हे भगवन परमेश्वर! हम, तुम्हारे ह'। इसप्रकार उन्होने अपने को ब्रह्म के प्रति अपण कर दिया है। एवच जीवो को जब परमेश्वर से भिन्न माना जाय

---

१ पूवमीमासा के प्रथमाध्याय के चतुथपाद के तेरहवें अधिकरण की 'तत्सिद्धि पेटिका' मे यह विचार किया गया है कि यजमान प्रस्तर' यह गुणविधि है या अथवाद है? पूर्व पक्षी ने कहा कि यह गुणविधि है, क्योकि जघन्य प्रस्तर पद लक्षित प्रस्तरकाय स्रुग्धारण को उद्देश्य कर अधिकरणत्वेन रूपेण यजमान का विधान किया गया है। तब सिद्धान्ती कहता है कि यहा पर प्रत्यक्ष विधि का श्रवण नही है, अत "प्रस्तरमुत्तरम्बर्हिष सादयति" इस अ यविधि के साथ एकवाक्यता होने से उपयुक्त वाक्य को अथवाद मानना हो उचित है। यजमान पद गौणी वृत्ति के द्वारा प्रस्तर का स्तावक है। प्रकृत इष्टि मे चार दर्भ-मुष्टियाँ काटी जाती है। मन्त्रसस्कृत हुई प्रथम दभ मुष्टि पर 'जुहू' रखी जाती है जो प्रथम दभ-मुष्टि विधृति-सज्ञक उदगग्र दो दर्भो पर रखी जाती है, उसे 'प्रस्तर' कहते हैं।

तभी तो उनकी यह शरणागति उपपन्न हो सकेगी। अभेद मानने पर यह श्रुत्युक्त शरणागति नही बन सकेगी।

दूसरी बात यह भी है कि जीव ब्रह्म का अभेद मानने पर सेव्य सेवकभाव प्रतिपादकश्रुत्यर्थ को अप्रमाण कहना होगा, क्योकि एक व्यक्ति मे सेव्य सेवक भाव बन नही सकता। अत जीव-ब्रह्म मे भेद मानना ही होगा।

शका—वेदा ती कहता है– मोक्षदशायामिति।' ब्रह्मातिरिक्त (ब्रह्म से भिन्न) सभी कुछ मिथ्या है, अत 'अन्योन्याभाव' (भेद) भी मिथ्या है। तथा च अज्ञान काल में भेद के रहने पर भी मोक्षकाल में (तत्त्वज्ञानाऽव्यवहित उत्तर क्षण मे) मिथ्या ज्ञान के निवृत्त होने पर तो जीवात्माओ का ब्रह्म के साथ अभेद रहेगा ही। क्योकि 'अज्ञान निवृत्तौ' यहाँ पर 'नञ' का अथ 'विरोधी' है, जैसे 'असुर' मे नञ् का अथ विरोधी माना जाता है। अत जीव-ब्रह्म मे अभेद (ऐक्य) होता ह।

समा०—नैयायिक कहता है कि जीव ब्रह्म मे अभेद (ऐक्य) प्रतिपादन की प्रक्रिया ठीक नही ह। तथाहि—'तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान जन्य सस्कार का नाश उससे स्मरण की अनुत्पत्ति, उससे रागादि की अनुत्पत्ति, उससे धर्माधर्म की अनुत्पत्ति, उससे सुखादि की अनुत्पत्ति होने पर जीव ईश्वर दोनो समान धमवाले हो जाने से अभेद सिद्ध हो जायगा, क्योकि उसके होने मे कोई बाधक नही हैं' यह अभेद प्रतिपादक प्रक्रिया वेदान्तियो की इसलिये उचित नही प्रतीत हो रही है, क्याकि 'भेदस्य नित्यत्वेन नाशाऽसभवात्। हम नैयायिको के मत मे भेद (जीव ईश्वर का भेद घट पट के भेद के समान अन्योन्याभावरूप ह, और वह नित्य (ध्वस का अप्रतियोगी) ह अत उसका नाश होना सभव नही हैं।

वेदान्ती—जैसे नवीन नैयायिको के मत मे 'अन्यो'याभाव पथक्त्व' गुणरूप होने से उसे अनित्य कहा जाता है, वह अन्योन्याभावरूप (अभावरूप) नही है और उस गुण का नाश होता ह। उसी प्रकार हम वेदान्ती भी भेद को अन्योन्याभावरूप न मानकर 'पृथक्त्व' गुण मानेंगे। उस गुण के अनित्य होन के कारण उसका नाश भी सभव है। तब भेद (पृथक्त्व) के न रहने से (अनियत अपेक्षाबुद्धि जन्य जीवगत अनेक पथक्त्व रूप भेद के न रहने से) मोक्षकाल मे 'अभेद' रहेगा ही। अत जीव-ब्रह्म के अभेद में कोई बाधा नही है। नैयायिक—'भेद-नाशेऽपि' इति। वेदान्तिसम्मत अनियत अपेक्षाबुद्धिजन्य जीवगत अनेक

'पथक्त्व' रूप 'भेद' के नष्ट होने पर भी 'दो व्यक्ति' तो बने ही रहेंगे। अर्थात जीवव्यक्ति और ब्रह्मव्यक्ति, इन दो व्यक्तियो की स्थिति तो बनी ही रहेगी। तस्मात जीव और ब्रह्म की भिन्नता ही है, ऐक्य नही। तात्पय यह है कि जैसे अपेक्षाबुद्धि के नष्ट होने पर यद्यपि 'द्वित्व' का नाश हो जाता है, तथापि दो व्यक्ति (व्यक्तिद्वय) तो रहते ही है, वैसे ही कारणीभूत अनियतापेक्षाबुद्धि के नाश होने पर अज्ञान का नाश यद्यपि हो जाता है तथापि व्यक्तिद्वय की स्थिति मे कोई अन्तर नही हो पाता। अत भेद तो सदा स्थिर रहता है।

वेदान्ती—'न च द्वित्वमपीति।' 'द्वित्व' भी ब्रह्म से भिन्न होने के कारण मिथ्या है अत अपेक्षाबुद्धि के नष्ट होने से 'द्वित्व' का भी नाश हो जाता है, तब विशेषण के अभाव में विशिष्ट व्यक्तिद्वय की स्थिति कैसे हो सकेगी ?

नैयायिक—दो पदार्थो मे 'अयमेक, अयमेक'—यह एक है, यह एक है—इस रीति से प्रतीत होने वाली अपेक्षा बुद्धि से 'द्वित्व' गुण (धम) पैदा होता है। उसका (द्वित्व का) नाश मान लेने पर भी एक एक करके प्रतीत होने वाले वे दोनो पदाथ, व्यक्तिद्वय ही कहलायेंगे। वे दोनो व्यक्ति एक नही समझे जायेंगे। जैसे वेदान्तियो के मत में, भेद के भय से ब्रह्म मे सत्यत्व, ज्ञातत्वादिधम नही माने जाते, अतएव निधमक, निर्विशेष ब्रह्म का स्वीकार किया जाता है।

ऐसे निधमक ब्रह्म में भी अर्थात उसमे सत्यत्व, ज्ञानत्व, नित्यत्वादी धर्मों के न रहने पर भी उसे (ब्रह्म को) सत्यस्वरूप स्वीकार करते है। उसी तरह अपेक्षा बुद्धि के नाश से द्वित्व का नाश होता है, अतः द्वित्व के न रहने पर भी दोनो (जीव परमात्मा) पृथक पथक व्यक्ति है यह सरलता से कहा जा सकता है। एव च दोनो (जीव-ब्रह्म) की एकता नही है।

वेदान्ती— मिथ्यात्वाभाव' इति। निधमक का अथ है 'स्वभिन्न धम शून्यत्वम' वेदान्तियो के मत में 'अभाव' को अधिकरणात्मक (अधिकरणस्वरूप) माना जाता है। अत मिथ्यात्वाऽभाव का अधिकरण सत्यत्व होने से मिथ्यात्वाभाव 'सत्यत्व हुआ, वह सत्यत्व, ब्रह्मात्मक ही है, ब्रह्म से भिन्न नही है। अत ब्रह्म में सत्य' का व्यवहार करना उचित ही है, किन्तु नैयायिक का व्यवहार (व्यक्तिद्वय का व्यवहार) उचित नही है, क्योंकि द्वित्व के नष्ट होने से द्वित्व का तो वहा अभाव है और एकत्वाभाव को वे (नैयायिक) अधिकरणस्वरूप नही मानते। अत व्यक्तिद्वय का व्यवहार हो ही नही सकता। हमारे मत में (वेदान्तियो के मत में) 'मिथ्यात्वाभावोऽधिकरणात्मकस्तत्र सत्यत्वम्'—तत्र अर्थात् ब्रह्म में, जो

मिथ्यात्वाभाव (स्वाधिकरणनिष्ठ-अत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्वाऽभाव) है, वह अधि करणात्मक है अर्थात ब्रह्मात्मक है। अत वही (ब्रह्म ही) सत्यत्व के व्यवहार का विषय होता है।

नैयायिक—'एकत्वाभाव' इति। प्रत्येक में एकत्व रहता है, जीव ब्रह्मा त्मक दो व्यक्तियो में तो 'एकत्व' नही ह। अत व्यक्तिद्वय साधारण (दो व्यक्तियो मे समानरूप से रहनेवाला) जो एकत्वाऽभाव है, वह व्यक्तिद्वयात्मक (व्यक्ति द्वयस्वरूप) हुआ, क्योकि (वेदान्ती के मतानुसार) अभाव को अधिकरणात्मक मानने मे कोई आपत्ति नही है और लाघव भी है। अत अधिकरणात्मक (व्यक्ति द्वयात्मक) जो एकत्वाभाव है, वही द्वित्व' व्यवहार का विषय होता है। अर्थात् उसे ही हम द्वित्व' कहते है। एव च जीव ब्रह्म ये दो है, एक नही ह। इसलिये उनमें भेद व्यवहार करना हमारा उचित ही है।

'मोक्षदशायामज्ञान-निवृत्तौ से लेकर द्वित्वमित्यप्युच्यताम्' तक के प्रघट्टक का सरलार्थ यह है कि वेदान्तमत के अनुसार यदि कहा जाय कि मोक्षकाल मे जीव का अज्ञान नष्ट हो जाने से ब्रह्म के साथ जीव का अभेद (ऐक्य) होता है, तो नैया यिक के मतानुसार यह भी कहा जा सकता है कि घट-पट के भेद की तरह जीव ब्रह्म का भेद, अन्योन्याभावरूप है और उसके नित्य होने से उसका नाश भी नही होगा। अत जीव ब्रह्म का भेद तो नित्य ही है। इस पर कदाचित् वेदान्ती यह कह दे कि 'भेद' को हम अन्योन्याभावरूप स्वीकार न कर उसे 'पथकत्व' के रूप मे स्वीकार करेंगे तब 'पृथकत्व' तो गुणपदाथ है अत उसका नाश भी हो सकता है। उस स्थिति में जीव ब्रह्म की एकता हो सकती है। इस पर नैयायिक भी कह सकता है कि 'भेद' को पृथक्त्व (गुण) के रूप में स्वीकार करने पर भी तथा उसके नष्ट हो जाने पर भी 'दो व्यक्ति' नष्ट नही हो सकते, वे तो विद्य-मान रहेंगे ही। अत जीव ब्रह्म मे भेद तो स्थिर बना ही रहा। इस पर कदा-चित वेदान्ती यह कहे कि 'दो व्यक्तियो' में रहनेवाले 'द्वित्व' धर्म का भी नाश हो जाता है। जब द्वित्व नही रहेगा तो एकत्व (ऐक्य) अर्थात सिद्ध हो जायगा। इस पर नैयायिक भी कह सकता है कि 'द्वित्व' धम का नाश स्वीकार करने पर भी 'दोनो व्यक्तियो को एक नही कहा जा सकता, क्योकि दो वस्तुओ में 'द्वित्व' धम (गुण) रहता है, वह (द्वित्व) अपेक्षा बुद्धि (अयमेक , अयमेक यह एक है, यह एक है इत्याकारक) से पैदा होता है। यदि उस द्वित्व को नष्ट हुआ भी कहें तब भी एक-एक करके प्रतीत होनेवाली दो वस्तुएँ दो व्यक्ति ही

कहलायेंगी, एक नही। जब व्यक्तिया दो रहेगी, तब उन्हे एक कसे कहा जायगा ? अत जीव और ब्रह्म दो भिन्न भिन्न व्यक्तियाँ है, दोनो एक नही है। वेदान्तीगण ब्रह्म को निधमक (धमरहित) मानते है, अत सत्यत्वादि धर्म, उसमे नही रह सकते तथापि वे ब्रह्म को 'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म' कहते हुए सत्यरूप कहते है। उसी तरह द्वित्व धम के न रहने पर भी दो व्यक्तियो की द्विरूपता तो रहेगी ही। अत द्विरूपता का अपलाप करके एकरूपता कहना उचित नही है। इस पर ब्रह्म को सत्यरूप कहनेवाला वेदान्ती 'सत्य की परिभाषा यदि करे कि 'अधिकरण (ब्रह्म) में वतमान (विद्यमान) जो मिथ्यात्वाऽभाव (मिथ्यात्व का अभाव) है, उसी को 'सत्य' कहते हैं। यानी 'सत्यत्व' कोई भावरूप धम नही, बल्कि वह अभावरूप हैं। जब 'सत्यत्व' धम, अभावात्मक हुआ तब शेष बचा रहा केवल भावरूप धर्मी ब्रह्म। एवञ्च अद्वैत (अभेद) की सिद्धि में कोई बाधा नही है।

इस पर नैयायिक कहेगा कि वेदान्तियो के परिभाषिक सत्यत्व के समान हमारा 'द्वित्व' धम भी दो व्यक्तियो (व्यक्तिद्वय) मे रहनेवाला जो एकत्वाऽभाव, तद्रूप है, अर्थात् एकत्वाभाव ही 'द्वित्व है, यह आपको मानना चाहिये। तब यह अभावात्मक 'द्वित्व धम' जीव ब्रह्म मे हमेशा ही स्थिर रहेगा। एव च द्वित्व धम के रहते हुए आपकी अद्वैत (अभेद) सिद्धि कैसे हो सकती है ?

प्रत्येकमेकत्वेऽपि पृथ्वी जलयोर्न गन्ध इतिवदुभय नैकमित्यस्य सर्वजनसिद्धत्वात्। योऽपि तदानीमभेदप्रतिपादको वेद सोऽपि निर्दु खत्वादिना साम्य प्रतिपादयति, सम्पदाधिक्ये 'पुरोहितोऽय राजा सवृत्त' इतिवत्। अतएव 'निरञ्जन परम साम्यमुपैति' इति श्रूयते। ईश्वरोपि न ज्ञानसुखात्मा किन्तु ज्ञानाद्याश्रय 'नित्य विज्ञानमानन्द ब्रह्म' इत्यादौ विज्ञानपदेन ज्ञानाश्रय एवोक्त 'य सर्वज्ञ. स सर्ववित्' इत्याद्यनुरोधात्। आनन्दमित्यस्याप्यानन्दवदित्यर्थ। अर्शआदित्वान्मत्वर्थीयोऽच्प्रत्ययात्। अन्यथा पुँल्लिङ्गत्वापत्ति। आनन्दोऽपि दु खाभावे उपचर्यते, भाराद्यपगमे सुखी सवृत्तोऽहमितिवत् दु खाभावेन सुखित्वप्रत्ययवत्। अस्तु वा तस्मिन्नानन्दो न त्वसावानन्द, 'असुखम्' इति श्रुते। न विद्यते सुख यस्येति कुतो नार्थ इति चेत्? न, क्लिष्टकल्पनापत्ते, प्रकरणविरोधादानन्दमित्यत्र मत्वर्थीयाच्प्रत्ययविरोधाच्चेति सङ्क्षेप।

इति नित्यविज्ञानात्मवादिवेदान्तिमतखण्डनम्।

* 'द्वित्व' धर्म दो व्यक्तियों में पैदा होता है, यह सभी जानते है। यदि हम उन दो व्यक्तियो को एक एक करके कहे तो उनमे से प्रत्येक मे 'एकत्व' धम रहेगा, किन्तु दोनो व्यक्तियो को मिलाकर कहना चाहे तो उन्हे 'दो' ही कहना होगा, क्याकि दोनो एक नही है। जैसे पृथ्वी में ही 'गन्ध' रहता है, लेकिन यदि कोई पूछे कि पृथ्वी जल दोनो में गन्ध है ? तो उत्तर में कहना होगा कि 'दोनो में गन्ध नही है। वैसे ही जब हम दो व्यक्तियो को इकट्ठा दखते है तब उनमें हम 'एकत्वाऽभाव' का अनुभव करते हैं। वह अनुभूयमान एकत्वाभाव ही 'द्वित्व' है। एव च जीव और ब्रह्म मे भावात्मक 'द्वित्व' धम भले ही न रहे किन्तु अभावात्मक 'द्वित्व' धम को तो अभावात्मक सत्यत्व के समान जीव और ब्रह्म में मानना ही होगा। इमी अभिप्राय को ध्यान में रखकर 'प्रत्येकमेकत्वेऽपि' मूल ग्रन्थ को पढा जाय तो समझने मे कष्ट नही होगा।

वेदान्ती—एक एक व्यक्ति मे 'एकत्व' धम रहता है, तब उसमे एकत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक-अन्योन्याभावात्मक 'द्वित्व' धम कैसे रहेगा ? क्योंकि अन्योन्याभाव का प्रतियोगितावच्छेदक के साथ विरोध रहता है।

नैयायिक—'प्रत्येकमेकत्वेपीति।' जीव में एकत्व है और ब्रह्म (परमेश्वर) में भी एकत्व है। दोनों में से प्रत्येक में एकत्व के रहने पर भी 'उभय, नैकम'—ये दो है, एक (एकत्ववत) नही है—यह अनुभव सभी को होता है। अर्थात् जीव और ब्रह्म दोनो को मिलाकर देखने में 'द्वौ' (दो) यही व्यवहार किया जायगा। इसी बात को दृष्टान्त के द्वारा समझाते है—**पृथिवीजलयोर्न गन्ध इतिवदिति।** अकेली पथिवी मे गन्ध के विद्यमान रहने पर भी 'पृथ्वीजलयोन ग ध' पथ्वी जल दोनो मे गन्ध नही है, यह प्रतीति होती है, इसलिये पथ्वी-जलोभयत्वात्मक व्यासज्य वत्तिधर्मावच्छिन्नानुयोगिताकगन्धात्यन्ताऽभाव को जैसे स्वीकार किया जाता है, वैसे ही 'द्वौ नैकम' इस प्रतीति से 'द्वित्वात्मकव्यासज्यवत्तिधर्मावच्छिन्नानुयोगिताक एकत्ववदन्योन्याभाव के स्वीकार करने मे भी कोई हानि नही है।

वेदान्ती—जीव ब्रह्म का भेद मानने पर मोक्ष के समय जीव ब्रह्म के अभेद (ऐक्य) का प्रतिपादन करने वाली **ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति**' श्रुति कहाँ चरिताथ होगी ? श्रुति स्पष्टरूप से कह रही है '**ब्रह्मविद्**' ब्रह्मविषयक निदिध्यासन करनेवाला, '**ब्रह्मैव**' ब्रह्मरूप '**भवति**' हो जाता है।

नैयायिक—'योऽपि तदानीमिति'। तदानीम अर्थात् मोक्षकाल में वेदान्ती

के कथनानुसार जीव ब्रह्म के ऐक्य (अभेद) का प्रतिपादन करने वाली 'ब्रह्मविद ब्रह्मैव भवति' श्रुति का तात्पय अभेदप्रतिपादन में नही है। वह श्रुति (वेद-वाक्य) तो मोक्ष के समय जीवात्मा मे निर्दुःखत्व, निर्द्वेषत्व (दुःखराहित्य, द्वेष-राहित्य) आदि के होने से 'ब्रह्म' के साथ उसकी (जीव की) समानता (सादृश्य) को बताती ह, अभेद को नही। मुक्तावलीकार ने 'निदुःखत्वादिना साम्यम्प्रति-पादयति' कहा है। उक्त वाक्य में ततीया विभक्ति का अथ होगा 'अभेद' और उसका 'साम्य' से अन्वय होगा, तब उपयुक्त अथ (निर्दुःखत्व-निर्द्वेषत्वआदिरूप समानता) सम्पन्न होगा। नैयायिक उक्त श्रुति का अथ इस प्रकार करता है— ब्रह्मविद=ब्रह्मविषयकतत्त्वज्ञानवान् 'ब्रह्मैव' ब्रह्मसमानो मोक्षस्थितिको भवति। अतः प्रतीयमान जो अभेदाथ है वह वास्तविक नही है, अपितु साम्यपरक अथ ही वास्तविक है। साम्यबोधन के तात्पय से अभेद का प्रतिपादन लोकव्यवहार में भी किया जाता है '**सम्पदाधिक्ये इति**'। जैसे— किसी राजपुरोहित कम-काण्डी ब्राह्मण के पास हाथी, घोडा, पृथ्वी, मोटर, सुवण रजतादि द्रव्य सम्पत्ति के अत्यधिक होने पर लोग कहते है कि 'यह पुरोहित कर्मकाण्डी ब्राह्मण तो राजा ही हो गया' (पुरोहितोऽय राजा सवृत्त)। इस वाक्य मे अभेदाथबोधक 'प्रथमा' विभक्ति का प्रयोग, साम्याथबोधन के तात्पय से किया गया है। अतएव 'पुरोहितोऽय राजा सवृत्त' वाक्य सुननेवाले को 'सम्पदाधिक्यप्रयोज्यराजसाम्य पुरोहित' यही अथबोध होता है। 'राजा से अभिन्न पुरोहित है' यह अथबोध नही होता। उसी तरह ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' यहाँ पर भी 'ब्रह्मसमानो भवति'— ब्रह्म के तुल्य हो जाता है—अर्थ का ही बोध होता है। अतएव अर्थात् 'ब्रह्मविद्' श्रुति के द्वारा साम्य का प्रतिपादन किये जाने के कारण ही भगवती श्रुति बता रही है—'निरञ्जन परम साम्यमुपैति।' '**निरञ्जन**'=निदुःख हुआ मुक्त व्यक्ति (अञ्जन=मिथ्या ज्ञान, उससे रहित मुक्त व्यक्ति), '**परमम्**'= निर्दुःखत्वात्मक अपुनभवरूप, '**साम्यम्** मोक्षाख्य समानता को '**उपैति**'=प्राप्त होता है। इस श्रुति के द्वारा ब्रह्म-जीवात्मा के भेद की ही सिद्धि होती है, क्योकि इन दोनो में जो भेद है वह साम्य से व्याप्य (यत्र यत्र ब्रह्म-जीवात्मनोर्भेद, तत्र तत्र साम्यम्) है। एव च जीव ब्रह्म का भेद ही स्पष्ट हो रहा है।

'निरञ्जन' श्रुति का अथ वेदान्तियो के मत से इस प्रकार किया जाता है। '**निरञ्जन**'=अविद्यारहित होता हुआ, '**परमम्**'=ब्रह्मस्वरूपात्मक, '**साम्यम्**' सामानाधिकरण्यप्रयुक्त ऐक्य का, '**उपैति**'= अनुभव करता है। उपयुक्त ऊहापोह

के द्वारा आत्ममात्र (समस्त आत्माओ) की विज्ञानरूपता का खण्डन करने के पश्चात अब पूर्वोक्त द्वितीय पक्ष (ब्रह्म = परमेश्वर की विज्ञानरूपता) का भी खण्डन कर रहे है—'ईश्वरोऽपीति।' यहाँ अपि' शब्द के प्रयोग से यह सूचित किया गया है कि जैसे 'जीव' ज्ञान—सुखस्वरूप नही है, वैसे ही परमेश्वर (ब्रह्म) भी ज्ञान सुखस्वरूप नही है बल्कि 'आत्मा' तो ज्ञान, सुखादि का समवायसम्बन्ध से आश्रय (अधिकरण) है। अर्थात् 'आत्मा' ज्ञान का अधिकरण, सुख का अधिकरण है, ज्ञानरूप नही।

वेदान्ती—यदि 'आत्मा' को ज्ञानरूप न मानकर ज्ञानाधिकरण माना जाय तो "नित्य विज्ञानमान द ब्रह्म"—(बृहदा॰ ५।९।७) श्रुति से विरोध होगा, क्योकि यह श्रुति 'ब्रह्म' को विज्ञान से अभिन्न (ज्ञानरूप) बता रही है। अत ब्रह्म (परमेश्वर) को ज्ञान का आश्रय (अधिकरण) कैसे कहे ?

नैयायिक—'नित्यमिति'। उक्त श्रुति का अथ इस प्रकार है–'नित्यम्'= प्रागभाव ध्वस का अप्रतियोगी, 'विज्ञानम्' = समवाय सम्ब ध से नित्य ज्ञान का अधिकरण, 'आनन्दम्' = दु खत्वावच्छिन्नाऽभाववन, परब्रह्म है। श्रुतिगत 'विज्ञान' पद से 'ज्ञानाश्रय' समझना चाहिये, क्योकि 'वि' उपसगपूवक 'ज्ञा' धातु से 'करणाधिकरणयोश्च'—(पा॰ सू॰ ३।३।११७) सूत्र के द्वारा 'अधिकरण' के अथ में 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर 'विज्ञान पद निष्पन्न हुआ है, और वह धम-धर्मिभावपरक है। अत 'विज्ञानमस्ति अस्मिन इति विज्ञानम्' अर्थात विज्ञाना श्रयम्ब्रह्म, यह अथ स्पष्ट हो जाता है। इसलिये ज्ञानाधिकरण ही 'ब्रह्म' है, ज्ञानरूप नही।

वेदान्ती—'विज्ञायते इति विज्ञानम्'—इस अथ को बताने के लिये 'वि' पूवक 'ज्ञा' धातु से 'स्वाथ' में 'ल्युट् प्रत्यय क्यो न किया जाय ?

नैयायिक—'विज्ञान' पद में स्वार्थं ल्युट् (भावाथक ल्युट) करने पर य सवज्ञ स सववित'—(मु॰उ॰१।९) श्रुति से विरोध होगा, और उस विरोध का परिहार नही हो पायगा। 'य सवज्ञ स सववित' श्रुति में 'सवज्ञ और सर्ववित' पदो को देखकर पुनरुक्ति की आशका नही करनी चाहिये, क्योकि—मुण्डक श्रुति में प्रयुक्त 'विद' धातु का अथ 'विशेष ज्ञान' है, और 'ज्ञा' धातु का अथ 'सामान्य ज्ञान' है। अत उक्त श्रुतिगत 'यत्'—'तत्' पदो का व्यत्यास करके 'यो यदविषयक विशेषज्ञानवान्, स तद्विषयक-सामान्यज्ञानवान्'—जो जिस विषय का विशेषज्ञान रखता है, वह उस विषय का सामान्यज्ञान भी अवश्य रखता है। इस प्रकार

अथ करने से आपाततः प्रतीयमान पुनरुक्ति नहीं हो पाती। मुण्डक श्रुति के आगे 'इत्याद्यनुरोधात' कहा गया है। यहाँ 'आदि' पद से 'यस्य ज्ञानमय तप' श्रुति को भी सूचित किया है। 'यस्य' जिस परमेश्वर का 'तप' उत्कृष्टतम तेज ज्ञानमयम्' नित्यज्ञान सुखादि की प्रचुरता से पूर्ण है। यहाँ 'प्राचुर्य' अथ में 'मयट्' प्रत्यय किया गया है। एवञ्च परमेश्वर (ब्रह्म) मे नित्यज्ञान सुखादि की प्रचुरता ह। तात्पय यह है कि 'नित्य विज्ञानम्' श्रुति के 'विज्ञान' पद में भावाथक (स्वाथ) ल्युट प्रत्यय करने पर 'य सवज्ञ' श्रुति से विरोध उपस्थित होता है, जिसे दूर नही किया जा सकता, इसलिये अधिकरणाथक ल्युडन्त 'विज्ञान' पद की ही यहा कल्पना करनी चाहिये।

वेदान्ती—नैयायिको के कथनानुसार 'ज्ञान' और ब्रह्म' मे गुण गुणिभाव मानने पर 'विज्ञानमानन्दम्ब्रह्म श्रुति मे प्रयुक्त 'आनन्द' पद की क्या व्यवस्था होगी ?

नैयायिक—'आनन्दमिति।' "अर्श आदिभ्योऽच"—(पा॰ सू॰ ५। २। १२७) सूत्र से मतुबथक 'अच्' प्रत्यय से निष्पन्न हुआ नपसकलिङ्ग 'आनन्द पद है। 'आनन्द अस्यास्तीति' व्युत्पत्ति। इसीलिये 'आनन्दम' का भी अथ 'आनन्दवत' समझना चाहिये। 'आनन्दम' का 'आनन्दवत' अथ न करने पर सुखाथक आनन्द शब्द का प्रयोग 'स्यादानन्दथुरानन्द' कोशानुसार पुँल्लिङ्ग मे होना चाहिये था। मत्वर्थीय अच प्रत्यय करने पर ही 'आनन्द' शब्द का नपुसकलिंग मे प्रयोग हो सकेगा, अन्यथा नही। इसलिये 'आनन्दम्' का 'आनन्दवत्' अथ ही किया गया है।

वेदान्ती—नैयायिको के मतानुसार परमेश्वर मे आनन्दरूपगुण तो है नही तब उसमें 'आनन्दवत्त्व' मानना तो अपसिद्धान्त होगा। अत आनन्दम का आनन्दवत् अथ करना उचित नही, क्योकि सुख का अपर पर्याय ही तो आनन्द है और वह पुण्य का फल है। ईश्वर में पुण्य का होना सभव नही, क्योकि विहित क्रिया जन्य धम को पुण्य कहते है, विहितक्रिया यागादि ही है। ईश्वर को यागानुष्ठान का अधिकार ही नही तो यागानुष्ठातत्व उसमें कैसे सभव होगा ? जब अनुष्ठाता वह नही तो पुण्यजन्यसुखफल का भागी भी वह नही होगा।

नैयायिक—'आनन्दोऽपि दुःखाभावे उपचर्यते' इति। दुःखाऽभाव को प्रवृत्तिनिमित्त बनाकर 'ईश्वर' में आनन्द शब्द का प्रयोग किया गया है। अभि-

प्राय यह ह कि यह आनन्द शब्द, लक्षणा वत्ति से दु खाभाववान का बोधक होता है। अर्थात 'आनन्द=दु खाभाववान इत्यथ । यहा पर आनन्द शब्द' का अथ 'समवायेनआनन्दवान' नही है। ऐमा करने पर अपमिद्धान्त का दोष नही होगा। इसी बात को दष्टान्त देकर समझात है—**भाराद्यपगम इति**। भार (बोझा) वहन (ढोने) के बाद उसे (भार का) उतार देने पर अपनी पवस्थिति मे प्राप्त हुआ (भाररहित हुआ) व्यक्ति अपने को 'मै सुखी हुआ' 'सुखी सवत्तोऽहम'— इतना ही समझना है। वह यह नही कहता कि अब 'मैं पहले से अधिक सुख का अनुभव कर रहा हूँ'। दु खाभाव के रहने से सुखित्व प्रत्यय का केवल वह अनुभव करता है। उसी तरह श्रुतिगत 'आनन्दम का अथ आनन्दवत सुखवत ब्रह्म समझना चाहिये। यदि वेदान्ती कहे कि 'सम्भवति मुख्येऽर्थे-जघन्यवत्तिकल्पनमन्याय्यम — मुख्याथ के सभव रहते लक्षणावत्ति के द्वारा अन्याथ की कल्पना करना उचित नही है। उस पर हमारा (नैयायिक का) कहना यह ह कि **'अस्तु वा तस्मिन्'** इति। परमेश्वर (ब्रह्म) मे नि य ज्ञान की तरह नित्य सुख भी यदि रहता हो, तो भले ही रहे, हमे कोई आपत्ति नही, किन्तु उस परमेश्वर (ब्रह्म) को हम आनन्दरूप नही मान सकते, उसे आनन्द से तो भिन्न ही मानना होगा। एवञ्च आनन्द और ब्रह्म मे अभेद नही है। अभेद न मानने में प्रमाण श्रुति है— **'असुखम्'** इति। 'असुखम' में 'न सुखम = असुखम'—यह नञ तत्पुरुष समास है। श्रुतिघटक 'नञ्' सुखभेदपरक ह। अत नञ शब्द यहा पर परमेश्वर से सुख का भेद बोधन कर रहा है। तथा च 'सुखभिन्न अर्थात सुखाधिकरण परमात्मा' यह अथ 'असुखम्' का है। इस श्रुतिप्रमाण से यह स्पष्ट हो रहा है कि परमेश्वर (ब्रह्म) आनन्दरूप नही है।

वेदान्ती—'न विद्यते' इति। 'असुखम' —मे 'न विद्यते सुख यस्य' ऐसा बहुव्रीहि समास करना चाहिये, 'तत्पुरुष' नही। बहुव्राहि करने पर यह अथ होगा कि 'जिसमें सुख समवाय सम्बन्ध से नही रहता। अर्थात यत्समवेततया सुखमप्रसिद्धम्'। तथा च— ईश्वर (ब्रह्म) सुखवान' यह अप्रसिद्ध अथ ह। अत 'सुखमेवेश्वर' परमेश्वर सुखरूप है, यही अथ उचित है, जो बहुव्रीहि समास से उपलब्ध होता है उसे क्यो नही स्वीकार करते ?

नैयायिक 'क्लिष्टकल्पनापत्ते' इति। वेदान्ती के द्वारा प्रदर्शित बहुव्रीहि के द्वारा परमेश्वर को सुखरूप (आनन्दरूप) कहना ठोक नही है, क्योकि वैमा करने में क्लिष्ट कल्पना करनी पडती है। अर्थात बहुव्रोहि करने पर नञ को लक्षणा

करनी पडेगी। बहुव्रीहिसमास अन्यपदार्थप्रधान हुआ करता है। अत नञ की अन्यपदार्थ में लक्षणा करना ही क्लिष्ट कल्पना है। ऐसी क्लिष्ट कल्पना 'तत्पुरुष' में नही करनी पडती।

वेदान्ती—नञतत्पुरुष मे भी 'असुख' पद और 'ब्रह्म' पद दोनो मे 'एक धर्मिबोधकत्वरूप सामानाधिकरण्य' का अनुभव सभी को होता है। अन्यथा 'असुख' पद और 'ब्रह्म' पद दोनो की तुल्य (समान) वचनता उपपन्न नही हो सकेगी। अत 'नञ' की अभाववान मे लक्षणा करना तत्पुरुष में भी आवश्यक है। एवञ्च वेदान्ती के समान नैयायिक को भी लक्षणारूप क्लिष्ट कल्पना तो तुल्य ही है। इसलिये अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहि करना ही उचित है, जिससे ब्रह्म को सुखरूप माना जासकता है।

नैयायिक—'प्रकरणविरोधात्' इति। बृहदारण्यक के शरीरभेदाद्यर्थक 'अशरीरम अस्थूलम असुखम' श्रुतिघटक 'असुख' शब्द का 'सुखाभाववत' अर्थ करना सभव न होने से सर्वत्र 'नञ तत्पुरुष ही किया गया है। अत समान प्रवाह पतित 'असुख' पद में भी प्रकरणानुरोधेन उसीको (तत्पुरुष को) ही करना ठीक प्रतीत हो रहा है, बहुव्रीहि करना ठीक नही। **किञ्च**—बहुव्रीहि करने पर एक अन्य विरोध भी होगा—**'आनन्दमित्यत्र'** इति। सुखार्थक आनन्द शब्द का तो नित्य पुल्लिङ्ग मे प्रयोग करने का नियम है। और मत्वर्थीय अच प्रत्यय बिना लगाये नपुसकलिङ्ग मे उसका (आनन्दशब्द का) प्रयोग हो नही सकता। ऐसी स्थिति में श्रुतिगत 'आनन्दम' प्रयोग की असाधुता होगी, यह एक दोष है। दूसरी बात यह है—'आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' यह श्रुति तो 'ब्रह्म' और 'आनन्द' में स्पष्टतया भेद का प्रतिपादन कर रही ह। गुण-गुणी का भेद माननेवाले नैयायिको के पक्ष में ही ये सब श्रुतियाँ उपपन्न हो पाती है। अभेदवादी वेदान्तियो के पक्ष मे नही।

अद्वैत वेदान्तियो के सिद्धान्तो का सक्षिप्त सग्रह—

अद्वैत ब्रह्म ही पारमार्थिक **सत्य** है, जो सच्चिदानदस्वरूप है। उससे भिन्न (अतिरिक्त) प्रतीयमान होनेवाला **समस्त प्रपञ्च** शुक्ति रजत की तरह या मरु मरीचिका की तरह **मिथ्या** है अर्थात भ्रान्तिविलास ह। जहाँ जिसका अत्यन्ताभाव हो, वही पर उसकी प्रतीति होने को **मिथ्या** कहते है। **'मिथ्यात्वञ्च** यत्र यस्यात्यन्ताभाव तत्रैव तस्य प्रतीयमानत्वम्।' मिथ्या को ही **प्रतिभास** भी कहते हैं। वही अद्वितीय ब्रह्म उपाधिवशात **जीवभाव** को प्राप्त हुआ सा लगता है।

उपाधियों के अनेक होने से **जीव** भी **अनेक** होते हैं। जैसे घट-मठ आदि उपाधियो की भिन्नता होने से आकाश के एक होने पर भी उसमें नानात्व का व्यवहार (अनेकता का व्यवहार) लोग किया करते है। **माया** और **अविद्या** के भेद से उपाधि के दो भेद है। मायोपाधिक चैतन्य को **ईश्वर** कहते हैं और अविद्योपाधिक चैतन्य को **जीव** कहते है। राग-द्वेषात्मक प्रबन्धानुपाती ससार को **बन्ध** कहते है। उस बन्ध का निदान (कारण) **अविद्या** है। जीव में स्व (ब्रह्म) स्वरूप का आविर्भाव होना ही **मोक्ष** है। तत्त्वमसि आदि महावाक्य से उत्पन्न होनेवाली "अहम ब्रह्माऽस्मि" इस प्रकार की अखण्डाकार वृत्ति को **ब्रह्मविद्या** कहते हैं। यह ब्रह्मविद्या ही उपयुक्त बन्ध का समूल विनाश कर देती है। बन्ध का समूल विनाश हो जाता है, इसलिये मोक्ष को ही परम-पुरुषाथ कहते है। भगवती श्रुति कहती है—

यथैव बिम्ब मृदयोपलिप्त तेजोमय भ्राजते तत्सुधौतम ।
तद्वदात्मतत्त्व प्रसमीक्ष्य देही एक कृतार्थो भवते वीतशोक ॥
यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्व दीपोपमेनेह युक्त प्रपश्येत ।
अज ध्रुव सवतत्त्वैर्विशुद्ध ज्ञात्वा देव मुच्यते सव पाशै ॥

—(श्वेता० उप० २।१४, १५)

एतेन प्रकृति कर्त्री पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेप किंतु चेतन । कार्यकारणयोरभेदात् कार्यनाशे सति कार्यरूपतया तन्नाशोपि न स्यादित्यकारणत्व तस्य। बुद्धिगतचैतन्याभिमानान्यथानुपपत्त्या तत्कल्पनम्। बुद्धिश्च प्रकृते परिणाम। सैव महत्तत्त्वम्, अन्त करण मित्युच्यते। तत्सत्त्वासत्त्वाभ्या पुरुषस्य ससारापवर्गौ। तस्या एवेन्द्रियप्रणालिकया परिणतिर्ज्ञानरूपा घटादिना सम्बन्ध। पुरुषे कर्तृत्वाभिमानो बुद्धौ चैतन्याभिमानश्च भेदाग्रहात्। ममेद कर्तव्यमिति मदश पुरुषोपरागो बुद्धे स्वच्छतया तत्प्रतिबिम्बादतात्त्विको दर्पणस्येव मुखोपराग। इदमिति विषयोपराग, इन्द्रियप्रणालिकया परिणतिभेदस्तात्त्विको नि श्वासाभिहतदर्पणस्येव मलिनिमा। कर्तव्यमिति व्यापाराश। तेनाशत्रयवती बुद्धिस्तत्परिणामेन ज्ञानेन पुरुषस्यातात्त्विक सम्बन्धो दर्पणमलिनिम्नेव मुखस्योपलब्धिरुच्यते। ज्ञानवत्सुखदु खेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मा अपि बुद्धेरेव कृतिसामानाधिकरण्येन प्रतीते। न च बुद्धिश्चेतना परिणामित्वादिति मतमपास्तम्।

● 'एतेन' पद का सम्बन्ध 'इतिमतमपास्तम के साथ समझना चाहिये। 'एतेन' इति। इससे अर्थात् पूर्वोक्त अनेक युक्तियो के द्वारा आत्मा मे ज्ञान की अधिकरणता सिद्ध कर देने से और अग्रिम वक्ष्यमाण ग्रन्थ से 'मत मपास्तम्" अर्थात् सारय-मत का निरसन हो गया समझना चाहिये। सारयदशन का अपना सिद्धान्त ह–प्रकृति कर्त्री, पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेप, किन्तु चेतन "● इति। प्रकृति अर्थात सत्त्वरजस्तमो गुणात्मिका मूल प्रकृति ही समस्त विश्व की कर्त्री (उपादान कारण) है। यहा पर प्रकृति मे जो कतत्व बताया गया है, उसे अनुकूल कृतिमत्त्व के रूप मे नही समझना। अर्थात प्रकृति मे किसी प्रकार की कृति रहने से वह कर्त्री नही कही जा रही है। अनुकूल कृतिमत्त्वरूप कतृत्व तो प्रकृति की कायरूप बुद्धि मे माना गया है। अर्थात वह अन्त करण का धर्म है। प्रकृति में कतृत्व तो केवल कतृभूतबुद्धयात्मक अन्त करण का कारणस्वरूप- है। यह पारिभाषिक कतत्व 'प्रकृति' में समझना चाहिये। 'अकार्यावस्थोपल- क्षितत्वे सति गुणसामान्यत्वम्प्रकृतित्वम'—यह प्रकृति का लक्षण है। सत्त्वरज- स्तम इन तीनो गुणो की साम्यावस्था को प्रकृति कहते ह। प्रकृति के सम्बन्ध मे ब्रह्मवैवतगत प्रकृतिखण्ड के प्रथमाध्याय मे तथा देवीभागवतगत नवम स्कन्ध के प्रथमाध्याय मे—

"प्रकृष्टवाचक प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचक।
सृष्टौ प्रकृष्टा या देवी प्रकृति सा प्रकीर्तिता॥
गुणे प्रकृष्टसत्त्वे च प्रशब्दो वतते श्रुतौ।
मध्यमे रजसि कृश्च ति शब्दस्तमसि स्मृत॥

सत्त्वरजस्तमोगुण का स्वरूप साख्यकारिकाकार ने यह बताया है—

"सत्त्व लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भक चलञ्च रज।
गुरुवरणकमेव तम प्रदीपवच्चाथतो वृत्ति॥"

साख्यदशन में पचविंशति (पच्चीस) तत्त्व बताये गये है–१ प्रकृति (मूल प्रकृति), २ महत्तत्त्व (बुद्धि या अन्त करण), ३ अहकार, ४ पचतन्मात्रा (शब्द, स्पश, रूप, रस, गन्ध), ५ पञ्चज्ञानेन्द्रिय (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण), ६ पञ्च कर्मेन्द्रिय (वाक, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ) ७ पचभूत (आकाश, वायु, अग्नि जल, पृथ्वी), ८ पुरुष और ९ मन इन्ही पचविंशति तत्त्वों का सग्राहक एक श्लोक भी है—

"प्रकृतिर्बुद्ध्यहङ्कारौ तन्मात्रैकादशेन्द्रियम् ।
भूतानि चेति सामान्याच्चतुर्विंशतिरेव ते ॥
पञ्चविंशति पुरुष ॥"

इन तत्त्वो मे प्रकृति से महत्तत्त्व उत्पन्न होता है । महत्तत्त्व से अहकार, अहकार से पञ्चतन्मात्रा, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय तथा पञ्च कर्मेन्द्रिय और मन (उभयेन्द्रिय)—सोलह तत्त्व उत्पन्न होते है । इन सोलह तत्त्वो मे जो पञ्च-तन्मात्रासज्ञकतत्त्व ह, उससे पचमहाभूत उत्पन्न होते है । ये चौबीस तत्त्व है, और पच्चीसवा तत्त्व 'पुरुष' ह ।

इन पच्चीस तत्त्वो के केवल प्रकृति (कारण), केवल विकृति (काय), उभय (प्रकृति विकृति), और अनुभय (न प्रकृति और न विकृति) ये चार भेद किये गये है । क्योकि 'प्रकृति तत्त्व' (मूलप्रकृति तत्त्व) विकृति नही है अर्थात् किसी का विकार (काय) नही है, यानी किसी से भी पैदा (उत्पन्न) नही होता । अभिप्राय यह है कि केवल प्रकृति, मूल प्रकृति, प्रधान, अव्यक्त—ये सब प्रकृति के ही नामान्तर है । पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय और उभयात्मक (ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय भी) मन और पञ्चभूत—ये सोलह (१६) तत्त्व, विकार (काय) ही ह अर्थात ये सोलह तत्त्व किसी भी अन्य तत्त्व के कारण नही ह, यानी इनसे कोई भी तत्त्व उत्पन्न नही होता । महत्तत्त्व, अहकार, पञ्चत मात्रा—ये सात (७) तत्त्व प्रकृति भी (कारण अर्थात् अन्य तत्त्व के उत्पादक भी) है और विकृति भी (काय अर्थात् अपने कारणभूत तत्त्व से ये स्वय उत्पन्न भी) होते है, यानि ये सात तत्त्व उभयरूप (प्रकृति विकृतिरूप) है, और पुरुषतत्त्व न प्रकृति है और न विकृति ही है । अर्थात् यह न किसी का कारण है और न किसी का काय ही है, यानि न कोई इसका उत्पादक है और न यह स्वय किसी से उत्पन्न हुआ है । इसलिये पुरुषतत्त्व अनुभयरूप (न किसी का प्रकृति है और न किसी का विकृति) है । उपयुक्त चौबीस तत्त्व जड है और पचीसवा तत्त्व (पुरुष) चेतन ह, तथापि वह कर्ता नही है । वह केवल साक्षी-मात्र है । इसी अभिप्राय को एक कारिका के द्वारा श्रीमदीश्वरकृष्ण ने व्यक्त किया है—

मूलप्रकृतिरविकृतिमहदाद्या॰ प्रकृति विकृतय सप्त ।
षोडकस्तु विकारो न प्रकृतिन विकृति पुरुष ॥

॥ इति साख्यमतसक्षेप ॥

शङ्का—मुक्तावलीकार ने 'कि तु चेतन ' कहा है, इससे यह प्रतीत हो रहा है कि न्याय-वैशेषिक के तुल्य सारयदशन भी 'पुरुष' को ज्ञानवान (ज्ञानाधिकरण) मानता है, ऐसी स्थिति मे न्याय वैशेषिक के द्वारा साख्यमत का निराकरण कैसे किया जा सकेगा ?

समा०—साख्यदशन ने 'पुरुष' (चेतन) को ज्ञानरूप माना है, ज्ञानवान नही। चेतन से भिन्न (अतिरिक्त) यदि वह (साख्य) ज्ञान को मानें तो उसके परिगणित पच्चीस तत्त्वो की अपेक्षा उसे (ज्ञान को) एक अधिक तत्त्व मानना पडेगा। इस कारण सारय चेतन (पुरुष) को ज्ञानरूप ही मानता है, ज्ञानाधिकरण नही। किन्तु नैयायिक पुरुष को ज्ञानाधिकरण मानता ह।

साख्य—पुरुष मे 'कृतिमत्त्वरूप कतृत्व' है, ऐसा नयायिक कहते है। कि तु वह ठीक नही—'पुरुषस्त्विति'। पुरुष अर्थात जीव (चेतन) अपरिणामी है। सूत्रकार ने भी कहा है—'निगुणत्वान्नचिद्धर्मा'—(सा० सू० १।१४७)। जीव को पुरुष इसलिये कहते है कि वह 'पुरि = शरीर में, शेते = व्याप्त है।' उसी पुरुष को चेतन भी कहते है। वह पुरुष पुष्कर पत्र (कमल पत्र) की तरह निर्लेप—असग अर्थात कृति, ज्ञान, सुख दु ख, इच्छा आदि लेपो से रहित है, यानि हमेशा शुद्ध है। निर्लिप्तत्व नाम—'वास्तविकसुखदु खादिसयोगानधिकरणत्वम।' कुछ लोग दूसरे ढग से कहते है—अनुयोगितासम्बन्धेन विजातीय (सुखादि) सयोगवत्त्व लिप्तत्वम, तद्भिन्नत्वमलिप्तत्वम। वजात्यञ्चात्र अम्भसा लिप्तम, भस्मना लिप्तम्, तैलेन लिप्त शरीरमित्याद्यनुगतप्रतीतिसिद्धनोदनत्वव्याप्यजातिविशेषरूपम्बोध्यम्। श्रुति भी उसकी असगता को बता रही है—असङ्गोह्यय पुरुष — ('बृ० दा० उप० ६।३।१६)। पुरुष की निर्लिप्तता में अनुमान इस प्रकार करेंगे—'पुरुष लिप्तत्वाभाववान् चेतनत्वात्, यन्नैव तन्नैवम, यथा प्रकृति।' जसे कमलपत्र जल में रहते हुए भी उससे अलिप्त रहता है वैसे ही पुरुष कतत्वादि धर्मों का आश्रय नही होता है। गीता भी कहती है—"लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा"—(भग० गी०)। इससे एक अन्य अनुमान भी होता है—'पुरुष कर्तृत्वादिधर्माभाववान् कारणत्वाभावात यन्नैव तन्नैवम, यथा प्रकृति।' साख्य के अनुसार 'चेतनत्व न ज्ञानाश्रयत्वम, ज्ञानस्य पुरुषे अभावात।' 'किन्तु चेतन ' इस अनुगतप्रतीति से चेतनपदशक्यतावच्छेदक-

तया सिद्ध—जातिविशेषत्व चेतनत्वम, उसीको 'आत्मत्व भी कहते है। यह पुरुष चेतन होकर भी जगत का कर्ता नही होता। इसमे दृष्टान्त पद्म पत्र का दिया गया है। तथाहि—पुष्करपलाश (कमल का पत्ता) पानी मे रहकर भी उस पानी से जैसे लिप्त नही होता, वैसे ही यह पुरुष जगत के कर्तृत्वादि धर्मों से लिप्त नही होता, अर्थात् जगत की निर्मिति मे नही लगता। 'जो किसी भी कार्य के प्रति कारण नही होता, वह उन कार्यों का कर्ता भी नही होता।' इस नियम के अनुसार 'पुरुष' जगत के प्रति कारण नही है तो वह उसका (जगत् का) कर्ता भी नही है—यह अनुमान फलित होता है।

यदि उक्त नियम को (जगत् के प्रति कारण न होने से जगत् का कर्ता भी नही हो सकता) स्वीकार न करें और पुरुष को जगत के प्रति कारण (जगत् का उत्पादक) मानें तो साख्यदशन के अनुसार काय कारण दोनों में भेद न होने से (काय तथा कारण के एक होने मे) जगत रूप कार्य का नाश होने पर पुरुष के कायरूप होने से उसका (पुरुष का) भी नाश हो जायगा। इसलिये पुरुष को किसी भी काय का कारण नही माना जाता। भाव यह है कि—साख्य के मत में काय का अपने उपादान कारण के साथ अभेद (तादात्म्यसम्बन्ध) होने से घट पटादि काय का नाश होने पर कायरूपतया अर्थात् घट पटादि काय से अभिन्न होने के कारण उपादानकारणरूप कपाल का भी जैसे नाश होता है, उसी तरह तन्नाशोऽपि अर्थात आत्मा का भी नाश होने का प्रसग प्राप्त होगा। ('तन्नाशो न स्यात्' ऐसा पाठ यदि हो तो पुरुष का नाश न हो अथ करना चाहिये), इति—इस कारण 'अकारणत्व = कारणत्वाऽनधिकरणत्व तस्य'। पुरुष में जगत् के प्रति अकतृत्व का स्वीकार करना चाहिये, यह साख्य का कहना है। तथाच—नाशाऽप्रतियोगित्वरूप नित्यत्व की अनुपपत्ति होने से पुरुष को जगत् का कारण नही मानना चाहिए।

किञ्च—जगत के प्रति यदि पुरुष को कारण कहा जाय तो धमपरिणाम—लक्षणपरिणाम—अवस्थापरिणामो में से किसी एक परिणाम का आश्रय उसे अवश्य ही कहना होगा, और उसे आश्रय कहने पर श्रुति तथा युक्ति से सिद्ध जो उसकी कूटस्थता है, वह नही बन सकेगी। धम, लक्षण और अवस्था के भेद से 'परिणाम' तीन प्रकार का होता है। योग सूत्रकार कहते है—

"एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्था परिणामा व्याख्याता ॥

(पा० यो० सू० पा० ३।सू० १३)

मृत्तिका (मिट्टी) रूप धर्मी का जो घटाकार परिणाम ह उसे **धर्मपरिणाम** कहते है । उसी घट के द्वारा अनागत अध्वा का त्याग कर वतमान अध्वा का स्वीकार करना और उसे भी त्याग कर अतीत अध्वा का स्वीकार करना **लक्षण परिणाम** है । (अध्वा = काल, अनागत = भविष्य, अतीत = भूत) । उसी घट का नवीन प्राचीन के भेद से प्रतिक्षण जो परिक्षय होता रहता है, उसे **अवस्था-परिणाम** कहते ह । अत सभी पदार्थो का प्रतिक्षण परिणाम होता रहता है । एक चितिशक्ति' पदाथ ही ऐसा है, जिसका परिणाम कभी नही होता ।

प्रकृति से महत्तत्त्व का होना धमपरिणाम है । साख्य मे परिणाम की परिभाषा इस प्रकार है—अवस्थितस्य वस्तुन पूर्वावस्थापरित्यागेन (पूवधमनिवृत्तौ) धर्मान्तरोत्पत्ति —**परिणाम** । कि तु **नैयायिक** 'विनाश' को ही '**परिणाम**' कहते है ।

शका– साख्य ऐसे अपरिणामी (निर्विशेष) पुरुष को क्यो स्वीकार कर रहा है ? अर्थात ऐसे पुरुष के स्वीकार करने मे क्या प्रमाण है । ऐसे पुरुष का स्वीकार करना व्यथ है ।

समा०—'बुद्धिगत इति ।' यदि हम 'पुरुष' का स्वीकार न करे तो प्रकृति का साक्षात काय (परिणाम), जड अ त करणस्वरूप 'बुद्धि' है, उसमे होनेवाला (बुद्धिवर्ती), चेतनोऽहम्' इस आकार का जो '**चैतन्याभिमान**' अर्थात बुद्धि को यह ज्ञान (भान) होना कि मैं चेतन हूँ, वह नही बन पायगा । अत उपयुक्त अभिमान की सिद्धि के लिये साख्य को 'पुरुष' तत्त्व का स्वीकार करना पडता ह । सवत्र प्रसिद्ध चैतन्यस्वरूप पुरुष से सयुक्त हुई बुद्धि में चैतन्याभिमान का आरोप तभी सभव हो पाता है । साख्यदशन के इस सिद्धान्त को कभी भूलना नही चाहिए कि प्रकृति का प्रथम परिणाम बुद्धि है, 'प्रकृति' जड है, अत उसकी कायरूप बुद्धि का जड होना भी स्वाभाविक है । क्योकि उपादेय सदा उपादान से अनुविद्ध रहता है । जैसे घट, मृत्तिका से अनुविद्ध होने के कारण वह भी मृत्तिकारूप ही है । किन्तु उसमें (बुद्धि में) ज्ञान-इच्छादि धर्मो की उपलब्धि होने से चैतन्य की भी प्रतीति होती है । किन्तु वह प्रतीति तभी सम्भव हो सकती है जब कि चेतनस्वभाव—पुरुष का उसके साथ सम्बन्ध माना जाय, अन्यथा नही हो सकती । आरोप्यमाण पदाथ कही प्रसिद्ध रहना चाहिये, तभी उसका आरोप हो सकता ह । अतएव प्रसिद्ध चैतन्य का बुद्धि मे आरोप किया जाता है । जैसे 'रक्त, स्फटिक ' इस प्रतीति में जपाकुसुम के सम्बन्ध से ही स्फटिक मे

लौहित्य की प्रतीति होती है। वैसे ही बुद्धि मे पुरुष के उपराग (सम्बन्ध) के कारण चैतन्य की प्रतीति होती है।

शका—उस बुद्धि का स्वरूप क्या है, जिसमें पुरुषोपराग के कारण 'मैं चेतन हू, इस प्रकार चैतन्य की प्रतीति होती है।

समा०—बुद्धिश्चेति। त्रिगुणसाम्यावस्थारूप 'प्रकृति' का जो प्रथम (साक्षात) कार्य (परिणाम) है, अर्थात प्रकृति की एक अवस्था विशेष है उसी को 'बुद्धि' कहते हैं, उसी के 'महत्तत्त्व' 'अन्त करण' ये नामान्तर हैं। जैसे स्फटिक में जपाकुसुम के सम्बन्ध से रक्तिमा और जपाकुसुम के हटा लेने पर उसमे श्वेतिमा होती है, वैसे ही उस बुद्धि के सत्त्व (पुरुष के साथ सयोग) से पुरुष (जीव) को ससार (बन्ध) प्राप्त होता है, और बुद्धि के असत्त्व (पुरुष के साथ वियोग यानी सयोगाऽभाव) से पुरुष को अपवर्ग अर्थात आत्यन्तिक दु खध्वसात्मक मोक्ष प्राप्त होता है। "तस्या एव" इति। 'तस्या' पद का "परिणति" पद के साथ सम्बन्ध है। उस अन्त करणरूप बुद्धि का ही ज्ञानवृत्त्यात्मक परिणाम (परिणति), अर्थात चक्षुरिन्द्रियात्मकनालिका के द्वारा घट-पटादि-विषयो के साथ विषयाकारात्मक जो सम्बन्ध (परिणति-परिणाम) है, वह सम्बन्ध (परिणाम) ज्ञानरूप ही है, उससे अतिरिक्त नही। विषय के आकार से आकारित जो इन्द्रियवृत्तिरूप ज्ञान हैं, वह बुद्धि का ही धर्म है, आत्मा का नही। उसी तरह इच्छा, कृति, सुख, दु ख आदि भी बुद्धि के ही परिणाम है, इसलिये कर्त्री, भोक्त्री, सुख दु ख की दात्री बुद्धि ही है।

शका—यदि पुरुष कर्ता, भोक्ता (कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि धर्म पुरुष के) नही है, तो पुरुष को 'अह करोमि' यह प्रतीति क्यो होती है ?

समा०—इन्द्रियरूप नालिका के द्वारा पदार्थ (वस्तु) सन्निकर्ष सम्बन्ध) होने के पश्चात उत्पन्न होनेवाली 'अय घट' 'इस आकार की चित्तवृत्ति ही 'प्रमाण' है, और उससे उत्पन्न होनेवाला जो 'घटमह जानामि' इत्याकारक बोध (अनुभव, प्रमा) है, वह उसका 'फल' है, और वह प्रमा (अनुभव) रूप फल, बुद्धि मे वर्तमान रहने पर भी बुद्धि मे पडे हुए प्रतिबिम्बित आत्मा में औपाधिक सम्बन्ध (स्वाश्रयप्रतिबिम्बितत्व सम्बन्ध) से रहता है, इसलिये उस प्रमा (बोध) रूपी फल को 'पौरुषेय' कहा जाता है। एवञ्च बुद्धि के कर्तृत्वादि धर्म पुरुष में भी औपाधिक रूप से रहते है—ऐसा कहा जाता है। अत बुद्धि और पुरुष के भेदाऽग्रहमूलक (अभेदज्ञानमूलक) 'पुरुष कर्ता, भोक्ता' यह अनुभव होता है,

किन्तु उसे (अनुभव को) भ्रमात्मक ही समझना चाहिये। क्योकि वह (पुरुष) तो असग है, उसमे कतत्वादि धर्मों का होना कदापि सभव नही । साख्यवादी के इस अभिप्राय को मुक्तावलीकार 'पुरुषे कर्तृत्वाभिमानो' इस ग्रन्थ से बता रहे है। अर्थात 'अह करोमि' इस प्रकार का पुरुषगत जो कतत्वाभिमान (कतृत्वप्रकारक-अभिमान अर्थात 'अहम' प्रत्यय) और प्रकृति के प्रथम परिणामरूप महत्तत्त्वापर-पर्याय बुद्धि को 'अह (बुद्धि) चेतना' इस प्रकार का जो अभिमान, इन दोनो मे भेद (विवेक) का ग्रहण न हो पाने से (बुद्धि और पुरुष का कोई ससग नही है यह ज्ञान न होने से) पुरुषगत चैत य की बुद्धि मे और बुद्धिगत कतत्व की पुरुष मे प्रतीति होती है। अत पुरुष को कतत्वाभिमान होता रहता है। अर्थात् बुद्धिगत कतृत्व, भोक्तृत्वादि धर्मों की पुरुष मे और चैतन्य की प्रतीति बुद्धि मे होती रहती है।

नैयायिक—"बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम"—(न्या० सू० १।१।१५) इस सूत्र के अनुसार बुद्धि और उपलब्धिरूप ज्ञान (प्रत्यय प्रतीति) मे कोई भेद नही मानता अर्थात् ज्ञान को बुद्धि का पर्याय मानता है। कि तु साख्यवादी बुद्धि से उपलब्धि (ज्ञान) को भिन्न मानता है। इसी अभिप्राय को बताने के लिये बुद्धि के तीन अशो को वह प्रदर्शित कर रहा है—'ममेदम्' इति। 'मम इद कतव्यम' यह प्रतीति सभी को हुआ करती है। इस प्रतीति मे न्यायदशन के अनुसार 'मम' अश से स्वामित्व, 'इदम' अश से विषयत्व, 'कत०यम' अश से व्यापार (क्रिया) भासित होता है। इसमे 'स्वामित्व' आत्मा का वास्तविक है, 'विषयत्व' विषय का वास्तविक है, और क्रिया (व्यापार) विषयस्था वास्तविक है। ये सभी, ज्ञान में विषयतया भासित होते है। इसलिये इसे भ्रम नही कह सकते। किन्तु साख्य का कथन है कि 'मम इद कतव्यम' मे तीन अश है, एक 'मम', दूसरा 'इदम', तीसरा 'कर्तव्यम'। उनमे 'मम' अश पुरुष का है, क्योकि बुद्धि मे पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है। अर्थात 'पुरुषचैतन्य' की बुद्धि मे प्रतीति होती है। अर्थात बुद्धि और पुरुष में भेद का ग्रहण न हो पाने से दोनो में एकत्व का अभिमान होता है। अस्मच्छब्दाथभूत पुरुष का सम्ब ध 'मम' इस षष्ठीविभक्ति से ज्ञात होता है। किन्तु वह प्रतिबिम्ब (बुद्धिगत चैतन्य की प्रतीति) वास्तविक नही है, अपितु दपणस्थित प्रतिबिम्ब की तरह मिथ्या है। जैसे— दपण में पडे हुए प्रतिबिम्ब से दपण में कोई परिवतन नही होता है और न उस प्रतिबिम्ब से बिम्ब (मुख आदि) में ही कोई परिवतन होता है, अत

वह प्रतिबिम्ब जैसे मिथ्या (वास्तविक नही) है वैसे ही बुद्धि में पडा हुआ पुरुष (चैतन्य) का प्रतिबिम्ब (छाया) भी मिथ्या है। 'पुरुषोपराग' का अथ 'पुरुषसम्बन्ध' है। जैसे दर्पण का मुखसम्बन्ध। 'मम' इस प्रथम अश की यह व्याख्या हुई।

अब दूसरा अश 'विषय' का है। क्योकि विषय के आकार मे बुद्धि ही परिणत होनी ह, यानी बुद्धि का चक्षुरादि इन्द्रिय के द्वारा विषय के साथ सम्बन्ध होता है और वह सम्बन्ध (उपराग) मिथ्या नही है, अपितु नि श्वास से अभिहत दपण से मलिनिमा के सम्बन्ध के समान सत्य है। अर्थात दपण पर फूक मार कर निकलनेवाली भाप से दपण के साथ मलिनिमा का सम्बन्ध जैसे सत्य है, वैसे ही बुद्धि का विषय के साथ जो सम्बन्ध (विषयाकार परिणाम) है, वह भी सत्य है।

तीसरा अश 'कतव्यम' है, इसका अर्थ है कि किसी विषय की ओर प्रवृत्ति होना, यानी उस विषय के लिये यत्न करना या चेष्टा करना। यह 'कतव्य' व्यापार अश है। यह भी बुद्धि का ही धम है। जैसे नि श्वास से निकलनेवाली भाँप से दपण मे जो मलिनिमा आ जाती है, वह मलिनिमा (दोष) उस दपण पर अपना कोई प्रभाव नही डाल पाती, क्योकि दर्पण को पोछने पर पुन वह पूववत् स्वच्छ (निमल) हो जाता है। उसी प्रकार बुद्धि मे उत्पन्न होनेवाले घट पट आदि विषयो के ज्ञान से वस्तुत पुरुष का कोई सम्बन्ध नही है, पुरुष तो बिलकुल स्वच्छ है। उस ज्ञान से तो बुद्धि का सम्बन्ध है। ज्ञान बुद्धि का धम ह उसी तरह सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधम भी बुद्धि के ही धम (परिणाम) है, क्योकि कृति (प्रयत्न) के अधिकरण में ही ये सब उसी के साथ रहते है। अर्थात् जहा ज्ञान वही इच्छा और जहाँ इच्छा वही कृति होती है।

शका—बुद्धि में चैतन्य का अनुभव सभी को होता है, अत तदनुरोधेन बुद्धि में ही चैतन्य को क्यो न माना जाय ? पुरुष में चैतन्य की कल्पना क्यो की जाय।

समा०—"न च बुद्धिरिति।" 'न च बुद्धि चेतना, परिणामित्वात— इसमे 'बुद्धि' पक्ष है, 'न च चेतना' यह साध्य है और 'परिणामित्वात' यह हेतु है। अर्थात 'बुद्धि चेतनत्वाभाववती परिणामित्वात (अनित्यत्वात) घटवत्' यह अनुमान का आकार साख्य के मत में होगा।

●कृत्यदृष्टभोगानामिव चैतन्यस्यापि सामानाधिकरण्यप्रतीतेस्तद्भिन्ने मानाभावाच्च । चेतनोऽह करोमीति प्रतीतिश्चैतन्यांशे भ्रम इति चेत्कृत्यंशे किं नेष्यते । अन्यथा बुद्धेर्नित्यत्वे मोक्षाभावोऽनित्यत्वे तत्पूर्वमसंसारापत्ति ।

नन्वचेतनाया प्रकृते कार्यत्वाद् बुद्धेरचैतन्य कार्यकारणयोस्तादात्म्यादितिचेन्न, असिद्धे । कर्तुर्जन्यत्वे मानाभावात् । वीतरागजन्मादर्शनादनादित्वम्, अनादिभावस्य नाशासम्भवान्नित्यत्वम् । तत्किं प्रकृत्यादिकल्पनेन ।

न च – प्रकृते क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सर्वश । अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यत' (गी० अ० ३।२७।) इत्यनेन विरोध इति वाच्यम्, प्रकृतेरदृष्टस्य गुणैरदृष्टजन्यैरिच्छादिभि कर्ताहमेवेत्यस्य तदर्थत्वात् । 'तत्रैव सति कर्तारमात्मान केवल तु य ' इत्यादि वदता भगवता प्रकटीकृतोऽयमुपरिष्टादाशय इति सङ्क्षेप ।

इति साख्मतखण्डनम ।

● किन्तु इस सांख्यमत का नैयायिक के द्वारा खण्डन किया गया है, क्योकि 'कृत्यदृष्टभोगानामिवेति' । कृति (प्रयत्न), अदष्ट (धर्माधम) भोग (सुख दु खान्यतरसाक्षात्कार) की तरह चैतन्य (ज्ञान) की भी 'चेतनोऽह करोमि' इस प्रकार सामानाधिकरण्य से प्रतीति होती है । कृति अपने अधिकरण मे ही अदष्ट को पैदा करती ह, और वह अदष्ट अपने अधिकरण मे ही भोग को पैदा करता है । एव च कृति अदृष्ट भोग ये सब अपने अधिकरण 'आत्मा' मे होते है । वैसे ही आत्मा मे कृति और चैतन्य (ज्ञान) भी भासित होता ह, क्योकि कर्ता से भिन्न किसी चेतन के होने में कोई प्रमाण नही है ।

कुसुमाञ्जलिकार कहते है—

"कर्तृधर्मा नियन्तारश्चेतिता च स एव न ।
अ यथानपवग स्यादससारोऽथवा ध्रुव ॥"

शका—साख्यवादी कहता है "चेतनोऽह करोमीति" । चेतनोऽह करोमि' इस प्रतीति में तीन अश है, एक—चैतन्यांश (ज्ञानस्वरूपांश), दूसरा अस्मदश, और तीसरा—कृत्यश । उनमें अस्मदश और कृत्यश तो बुद्धि के वास्तविक हैं लेकिन चेतनत्वांश तो बुद्धि में पुरुष (चेतन) का प्रतिबिम्ब पडने से उपसक्रान्त

(प्रतिफलित) हुआ ह इसलिये वह वास्तविक नही है। एव च चेतनत्व से रहित (शू य) बुद्धि मे चेतनत्वप्रकारक ज्ञानाश जो भासित होता है, वह भ्रम है।

अभिप्राय यह है—यद्यपि बुद्धि को जडता स्वाभाविक है तथापि चेतनपुरुष के सबन्ध से उसके प्रतिबिम्ब को वह ग्रहण कर लेती है। प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर लेने के कारण वह (बुद्धि) 'चेतनोऽहङ्करोमि' इस प्रकार मिथ्या अभिमान करने लगती है। अत चैतन्य (ज्ञान) को कृति आदि के समानाधिकरण नही कहा जा सकता। अर्थात ज्ञान और कृति आदि एकाधिकरणवृत्ति नही है।

समा —नैयायिक कहता है कि "कृत्यशेऽपि किं नेष्यते" इति। न्यायवादी के मतानुसार 'चेतनोऽह करोमि' में चैतन्याश (चेतनत्वाश), अस्मदश और कृत्यश ये तीनो वस्तुत जीव के ही है। अत जैसे चैतन्याश (ज्ञानस्वरूपाश) और अहमश (अस्मदश) मे भ्रम का स्वीकार साख्य ने किया है, उसी तरह बुद्धि मे कृत्यश (प्रयत्नाश) का भी भ्रम ह, यह क्यो नही वह स्वीकार करता ? उसे भी भ्रम कहने में क्या हानि है ? यदि साख्यवादी बुद्धि में कृति का भ्रम नही स्वीकार करता तो चैत य के भ्रम का भी वह स्वीकार न करे। तथा च उपयुक्त तीनो अशो की प्रतीति वस्तुत आत्मा में ही होती है, यह मान लेना चाहिये। पहले जो अनुमान 'पुरुष कतृत्वाऽभाववान कारणत्वाऽभावात' किया था उसका बाधक बुद्धि कतृत्वाभाववती ज यधमत्वात' यह अनुमान किया जा रहा है। इसलिये (आत्मा में कतृत्व होने के कारण) सुखादि धर्मों को भी उसी मे मानना चाहिये। एवच ज्ञान (उपलब्धि) के अतिरिक्त (पृथक्-भिन्न) बुद्धि नामक किसी द्रव्य के होने में कोई प्रमाण नही है।

नैया० – उपलब्धि के अतिरिक्त बुद्धि का स्वीकार करने मे बाधक भी है— 'अन्यथेति।' यदि पुरुष और कर्ता मे भेद माना जाय, अर्थात अतिरिक्त द्रव्यात्मक बुद्धि का स्वीकार किया जाय तो साख्यवादी बतावे कि 'बुद्धि' नित्य है या अनित्य ? यदि बुद्धि को नित्य कहे तो बुद्धि और पुरुष का सम्बन्ध हमेशा ही रहने से पुरुष की कभी भी मुक्ति नही होगी। क्योकि बुद्धि को वे नित्य मान रहे है। ऐसी स्थिति मे आत्मा का कभी मोक्ष ही नही हो पायगा। क्योकि 'बुद्धि का जब तक सम्बन्ध रहता है तबतक मोक्ष नही होता है' यह साख्य का सिद्धा त है।

यदि बुद्धि को अनित्य कहते है तो बुद्धि की उत्पत्ति के पूव बुद्ध्याश्रित एव बुद्धिजनक अदृष्ट के ही न रहने से बुद्धि की उत्पत्ति ही नही होगी और

उसके न होने पर ससार की भी उत्पत्ति नही होगी। अर्थात् जब बुद्धि उत्पन्न होगी तभी पुरुष के साथ उसका सयोग (सम्बन्ध) होगा, और सयोग होने पर ही ससार होगा। एवच जब तक बुद्धि उत्पन्न नही होगी, तब तक पुरुष के साथ उसका सयोग (सम्बन्ध) होना सभव नही, और सयोग न होने पर ससार की उत्पत्ति नही होगी। अत अनित्यत्व पक्ष में अससारापत्ति होगी।

साख्यवादी—'नन्वचेतनाया' इति। बुद्धि को अनित्य मानने पर भी उस (बुद्धि) की उत्पत्ति के पूव अससारापत्ति नही हो सकती, क्योकि कल्पान्तर (अन्य कल्प) में नित्य प्रकृतिरूप कारण से अन्य बुद्धि का उत्पादन होता है, उसके पूवकल्प मे भी अ य बुद्धि का उत्पादन होता है। इस रीति से ससार का प्रवाह अनादिकाल से चलता आ रहा है। बुद्धि अपने मूल-कारण जड प्रकृति का काय ह, इसलिये वह स्वय भी जड (अचेतन) है। उसमे (बुद्धि मे) चैतन्य नही माना जा सकता, क्योकि काय-कारण का तादात्म्य (एकता) माना जाता है। एवच नित्य प्रकृति की अनादिता के कारण तत्प्रयुक्त बुद्धि आदि काय के द्वारा ससार की भी अनादिता सिद्ध हो जाती है और प्रकृति के जड होने से बुद्धि आदि कार्यों की भी जडता सिद्ध हो जाती है। इस-लिये चैतन्य को बुद्धि नही कह सकते। यदि चैतन्य ही बुद्धि होती तो उसमे कृति आदि की समानाधिकरणता (एकाधिकरणवृत्तित्व) रहने से वह आत्मा में समवेत होती। अनुमानप्रयोग इस प्रकार होगा—ससार अनादि अनादि-कारणप्रयुक्तिप्रयुक्तत्वात्।' 'बुद्धि जडा (अचेतना) प्रकृतिजन्यत्वात्।'

नैयायिक—'असिद्धे' इति। साख्यवादी के द्वारा प्रदर्शित दोनो अनुमानो मे जो 'हेतु' दिया गया है उसमें 'असिद्धि' दोष होने से वह सद्धेतु नही ह, किन्तु हेत्वाभास है। अर्थात मूल प्रकृति के अस्तित्व मे कोई प्रमाण नही है और उसके न होने से 'प्रयुक्तिप्रयुक्तत्व' और प्रयुक्तिजन्यत्व' ये दोनो हेतु असिद्ध है।

साख्यवादी—'बुद्धि जन्या कृत्यादिपरिणामवत्त्वात्' इस अनुमान से बुद्धि में जन्यत्व सिद्ध होता है और 'बुद्धि स्वसमाननित्यकारणवती जन्यत्वात्' इस अनुमान से प्रकृति मे बुद्धि की कारणता सिद्ध हो जाने से मूलप्रकृति' का अस्तित्व सिद्ध होता है।

नैयायिक—'कर्तुर्जन्यत्वे मानाभावात्' इति। कृतिमान (कर्तृपदाथ) के अनित्यत्व (जन्यत्व) में अर्थात् कर्ता को अनित्य मानने मे कोई प्रमाण नही

हैं, क्योकि नित्यत्व से कतृत्व व्याप्य होता है अर्थात्—'यत्र कतृत्व तत्र नित्यत्वम' यानि जो कर्ता होता है वह नित्य होता है। तथाच—'बुद्धि जन्या कृत्यादि-परिणामवत्त्वात' यह अनुमान, विरुद्ध—व्यभिचारी दोष से दूषित है। अत नित्य कर्ता 'आत्मा' ही हो सकता है, 'बुद्धि' को नित्य कर्ता के रूप मे नही माना जा सकता। कतृत्व में नित्यत्व की व्याप्यता कहने मे कर्ता के अनादित्व का प्रतिपादक न्यायसूत्र "वीतरागजन्मादशनात्"—(न्या० सू० अ० ३, आ० १, सू० २५) भी प्रमाण है। वीत हुआ है (नष्ट हुआ ह) राग (मिथ्याज्ञानजन्यवासना) जिसका, उस पुरुष के जन्म–(ससरण) अदशनात् (नही दिखाई देने से)–का अभाव हो जाता है। क्योकि सराग पुरुष का ही जन्म होता है। निष्कष यह निकलता ह कि जो कृतिमान (कर्ता) है, वही बचपन मे (बाल्यावस्था) मे इष्टसाधनताज्ञान के बिना स्तन्य (दूध) पान मे प्रवृत्त नही होता, अपितु स्तन्य-पान मेर इष्ट (जीवन) का साधन है यह समझकर ही वह प्रवृत्त होता है। उस बालक को होनेवाला वह इष्ट-साधनता ज्ञान (दुग्ध पान मेरे जीवन का साधन है—यह ज्ञान) स्मरणात्मक (स्मृतिरूप) है, उस स्मरणात्मक ज्ञान (स्मरण) को सस्कार' की अपेक्षा होती है और 'सस्कार' को 'अनुभव की अपेक्षा रहती है, और वह अनुभव पूवजन्म में ही सभव हो सकता है, क्योकि वतमानजन्म मे सद्य उत्पन्न हुए बालक को अभी अनुभव होने की कोई बात ही नही है। एवञ्च **पूर्वजन्म** सिद्ध होता है। इसी प्रकार पहली पहली (प्रथम प्रथम) प्रवृत्ति के अनुरोध से पूव जन्म की सिद्धि हो जाने से जन्म-प्रवाह की भी अनादिता माननी होगी और जन्म प्रवाह के अनादि होने से 'पुरुष' की भी अनादिता (उत्पत्य-प्रतियोगित्व) यानि पुरुष भी अनादि है—यह स्पष्ट हो जाता है। तब अनादि भावपदार्थरूप पुरुष का नाश होना सभव न होने से वह (अनादि पुरुष) नित्य है, यह स्वीकार करना ही होगा। तथाच 'प्रकृति, महत्तत्व' आदि की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नही है।

साख्यवादी—"नचे"ति। प्रकृति के अस्तित्व मे स्मतिप्रमाण (शब्द प्रमाण) दे रहा है—"प्रकृते क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सवश ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥"

(गीता, अ० ३, श्लोक २७)

उक्त गीतावाक्य का अथ साख्यवादी इस प्रकार करता है—

'प्रकृते '=प्रधानके 'गुणै '=सत्त्व, रजस और तमस् संज्ञक गुणो (कर्ताओ)

के द्वारा 'क्रियमाणानि'=किये जाने वाले 'कर्माणि'=शुभाशुभ कर्मों के 'सर्वश '= सब प्रकार से 'अहङ्कारविमूढात्मा'='अहकर्ता' इस प्रकार अहकार के कारण मोहित हुआ आत्मा कर्ता न होता हुआ भी अपने को कर्ता समझता है। इस गीता-वाक्य के साथ प्रकृति को न माननेवाले न्यायमत का (पुरुषनिष्ठकतत्ववादी का) विरोध स्पष्ट है।

नैयायिक—उक्त गीतावाक्य का अथ अपने मत से प्रदर्शित करते हुए साङ्ख्य प्रदर्शित विरोध का परिहार करता है—"प्रकृते"रिति। उक्त गीतावाक्य मे 'प्रकृति' शब्द का अथ 'प्रधान' नही है, अपितु धर्माधर्मारिय अदष्ट' है और 'गुण' शब्द का अथ 'अदष्टजन्यइच्छा आदि' है। कायमात्र के प्रति आठ साधारण कारण होते हैं। वे आठ कारण ये है—ईश्वर, उसका ज्ञान, यत्न, इच्छा, काल, अदष्ट, दिक् और अभाव (प्रागभाव और प्रतिबन्धकाऽभाव)। उक्त—साधारण कारणो से अतिरिक्त जो कारण है, वे विशेष कारण है। ये साधारण और विशेष कारण मिलकर ही समस्त कार्यों को किया करते है। उन कार्यों का 'अहमेक एव कर्ता' मैं अकेला ही करनेवाला कर्ता हू—इस प्रकार 'अहङ्कारेण विमूढ' अज्ञानावच्छिन्न आत्मा अपने को मानता है, किन्तु उसका इस प्रकार मानना (समझना) केवल भ्रम है। एवच 'अहमेक एव कर्ता' इस वाक्य से आत्मा में स्वतन्त्र कर्तत्वाऽभाव का ही प्रतिपादन किया गया है, कर्तृत्वसामान्याभाव का नही।

तथाच—अदष्टादि की अपेक्षा बिना किये केवल आत्मा को कर्ता जो मानता है, वह मूढ ही है, यह अभिप्राय है। नैयायिक के द्वारा प्रतिपादित अथ का बोधक गीता का अगला वाक्य दिया जा रहा है—"**तत्रैवमिति**"

"अधिष्ठान तथा कर्ता करण च पृथग्विधम।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवञ्चैवात्र पञ्चमम्"॥
(गीता अ १८, श्लो १४)

"शरीरवाङमनोभियत् कम प्रारभते नर।
न्याय्य वा विपरीत वा पञ्चैते तस्य हेतव॥"
(गीता अ ८, श्लो १५)

अधिष्ठान (शरीर), विज्ञानात्मा कर्ता, बाह्य और अवान्तर भेद से विभक्त इन्द्रियाँ, अनेक (दश) प्रकार के वायु के व्यापार (प्राण आदि और नाग आदि) तथा पाँचवाँ दैव-ये पाँच कम की उत्पत्ति के कारण हैं॥१४॥ शरीर वाणी और

मन से जिस कम का पुरुष आरम्भ करता है, वह चाहे विहित हो या प्रतिषिद्ध हो, उसके उक्त पाँच ही हेतु हैं ॥ १५ ॥ इस प्रकार पाँचो का कतृत्व बताकर—

"तत्रैव सति कर्तारमात्मान केवल तु य ।
नश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुमति ॥"

—(गीता अ १८, श्लोक १६)

उक्तरीति से अधिष्ठान आदि पाच ही सम्पूण कर्मो के उत्पादक है, ऐसा—निष्कष निकलने पर जो पुरुष, अकर्ता, शुद्ध आत्मा को कर्ता मानता है, वह आत्मतत्त्वज्ञान से शून्य होने के कारण दुमति ह, अत वह आत्मा को नही जानता ॥ १६ ॥ उक्त वाक्य के द्वारा आत्मा के स्वतन्त्र कर्तृत्व का ही निषेध किया है । इस प्रकार भगवान् श्री‌कृष्ण ने आत्मा में कतृत्व है यह आशय प्रकट किया है । अत पुरुष मे ही कतृत्व मानना चाहिये ।

शका—पुरुष में कम की कारणता न होने से उसमें कतृत्व कैसे हो सकता है ?

समा०—कतत्व न मानने पर उसका स्वरूप ही असिद्ध होगा ।

शका—इस प्रकार काय कारण का अभेद मानने पर पुरुष का विनाश होगा ।

समा०—काय-कारण का अभेद मानने में कोई प्रमाण नही है । एवच आत्मा के बिना अचेतन (जड) प्रकृति, जगत् की कर्त्री नही हो सकती । इस प्रकार साख्यमत का सक्षेप से ही खण्डन किया गया है[१] ।

॥ इति साख्यमतखण्डनम् ॥

---

१ छात्रो के बुद्धिवैशद्यार्थ सरल एव सुबोध रीति से साख्यदर्शन का सिद्धान्त एव उसका नैयायिको के द्वारा खण्डन पुन प्रस्तुत कर रहे है—

(चेतन) पुरुष, १ प्रधान, २ महत्तत्व (बुद्धि), ३ अहकार, ४ शब्द, ५ स्पश, ६ रूप, ७ रस, ८ गन्ध—ये पञ्चतन्मात्रा, ९ आकाश, १० वायु, ११ तेज १२ जल, १३ पृथ्वी—ये पञ्चमहाभूत, १४ श्रोत्र, १५ त्वक्, १६ चक्षु, १७ रसन, १८ घ्राण ये पचज्ञानेन्द्रिय, १९ वाक, २० पाणि, २१ पाद, २२ उपस्थ, २३ पायु—ये कर्मेन्द्रिय, २४ मन—ये उभयेन्द्रिय, दोनों को मिलाकर ग्यारह इन्द्रियाँ है ।—ये ही पच्चीस (२५) तत्व साख्यदशन के है । 'तत्व' का अथ पदाथ है । ये तत्व १ केवल प्रकृति (कारण), २ प्रकृति-विकृति (कारण-कार्य), ३ केवल विकृति

(काय), ४ अप्रकृति (अकारण) तथा अविकृति (अकाय) के भेद से चार प्रकार के है। यहा उपादानकारण का नाम 'प्रकृति' है और काय का नाम 'विकृति' है।

सत्व, रज, तम नामक गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रधान (प्रकृति) है। वह 'प्रधान' एक, अनादि तथा किसी की विकृति नही है। प्रधान से महत्तत्व उत्पन्न होता है। महत्तत्व को ही बुद्धि तथा अन्त करण भी कहते है। उससे अहकार की उत्पत्ति होती है। वह महत्तत्व, अहकार की प्रकृति है तथा प्रधान की विकृति है। अहकार से पचतन्मात्रा तथा एकादश इन्द्रिय उत्पन्न होते हैं, अत अहकार तन्मात्रा और इन्द्रियो की प्रकृति है और महत्तत्व की विकृति है। पचतन्मात्राओ से पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते है। अत त मात्रा, पञ्चमहाभूतो की प्रकृति हैं तथा अहकार की विकृति है। इस रीति मे महत्तत्व, अहकार, पञ्चतन्मात्रा इन सप्ततत्वो के प्रकृति-विकृति दोनो रूप है। पञ्चमहाभूत, एकादशेन्द्रिय-ये १६ तत्व पञ्चत मात्रा तथा अहकार के केवल विकृतिरूप है तथा ये किसी काय के प्रकृति नही होते।

प्रश्न—पथ्वी आदि पञ्चभूतो के गो वृक्ष आदि तथा इनके भी दुग्ध बीज आदि पुन इनके भी दधि-अकुर आदि विकार प्रत्यक्ष दीखते ही है, अत ये भी प्रकृति हो गये, तब इन्हे भी प्रकृति न कहकर केवल विकृति क्यो कहा जाता है?

उत्तर-जैसे पृथ्वी आदिको मे स्थूलता तथा इन्द्रियग्राह्यता धम रहते है वैसे ही उन गो वृक्षादिको में भी स्थूलता, इन्द्रियग्राह्यता धम है, इस कारण वे सब पृथ्वी आदि के ही रूपान्तर हैं। यहाँ 'प्रकृति' शब्द से 'अ यतत्व' की उपादान कारणता विवक्षित है, कायमात्र की कारणता नही। 'पुरुष' तो न किसी का प्रकृति है और न किसी का विकृति है। कोई 'पुरुष' बद्ध है और कोई मुक्त है, ऐसा अनुभव होने से वह पुरुष (आत्मा) अनेक है, एक नही है। 'पुरुष' चेतन, नित्य और पद्मपत्र (कमलपत्र) की तरह निर्लेप है तथा कतृत्व-भोक्तृत्व आदि धर्मों का आश्रय भी नही है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'पुरुष कर्तृत्वाऽभाववान् कारणत्वाभाववत्वात् यन्नैव तन्नैवम् यथा बुद्धि।' बुद्धि—कतृत्व तथा कारणत्वधर्मवाली है, किन्तु 'पुरुष' वैसा नही है। इस कारण पुरुष में कतृत्व का अभाव होने से भोक्तृत्व भी नही हो सकता। जहाँ कही साख्यदर्शन ने 'आत्मा' को भोक्ता कहा है, वहाँ बुद्धिनिष्ठ 'भोक्तृत्व' का ही उसपर आरोप उसने किया है। यदि 'पुरुष' को घटादि काय का उपादान माना जायगा तो उन कार्यों का नाश होने पर चेतन पुरुष' का भी नाश होने लगेगा। किन्तु भगवती गीता ने 'अज आत्मा' को न जायते म्रियते वा कदाचित' कहकर नित्य बताया है। उस

निर्विकार चेतन पुरुष में अनुमान प्रमाण भी है। यथा—'चेतनोऽह करोमि'—चेतनरूप मैं कर्ता हूँ—। इससे चेतनता (चैतन्य) धर्म का आश्रय पुरुष है, यह स्पष्ट है। किन्तु 'बुद्धि' जड है। यद्यपि 'कर्मणा बध्यते जन्तु विद्यया च विमुच्यते' इस प्रमाण से जीवात्मा को ही बन्ध मोक्ष का भागी कहा गया है, तथापि उसका तात्पर्य यह है कि बुद्धि, चक्षुरादि इन्द्रिया के द्वारा बाह्य घटादि के देश में प्राप्त होती है, तब उसका (बुद्धि का) 'अय घट' इस रूप मे घटादि-विषयाकार परिणाम होता है। इस परिणाम को ही 'वृत्तिज्ञान' कहते है। इस वृत्तिज्ञान के सम्बन्ध (स्वाकार ज्ञानपरिणामिबुद्ध्याऽगृहीतभेदकत्व) से वह विषय, उस 'पुरुष' मे रहता है। 'मम १, इदम २, कर्तव्यम ३' इस प्रतीति से उस बुद्धि मे 'पुरुष' का सम्बन्ध तथा 'घटादि विषयो' का सम्बन्ध और 'वृत्तिज्ञानरूप व्यापार' का सम्बन्ध—ये तीन सबन्ध तीन अशो ('मम' अश पुरुष का, दूसरा अश विषय का, तीसरा अश व्यापार का है) मे प्रतीत होते है।

नैयायिक—(शका) जैसे 'कृति' के साथ सुख दु खादिको का सामानाधिकरण्य होने से वे (सुखदु खादि) बुद्धि के धर्म कहलाते है, वैसे ही चेतनत्व (चैतन्य) धर्म का भी (ज्ञान का भी) 'कृति' के साथ सामानाधिकरण्य होने से उसको (चैतन्य को) भी बुद्धि का ही धर्म क्यो नही माना जाता ?

साख्य (समा०)—बुद्धि परिणामिनी है, इस कारण उसे चेतन नही कह सकते। यदि परिणामी वस्तु (पदार्थ) भी चेतन होने लगे तो मृत्तिका आदि पदार्थों को भी चेतन कहना चाहिए। 'बुद्धि न चेतना परिणामित्वात मृद्वत्' इस अनुमान से बुद्धि में अचेतनरूपता (जडरूपता) ही स्पष्ट होती है। 'चेतनाऽह करोमि' यह प्रतीति बुद्धि को होती है, वह लोहितस्फटिक के समान भ्रान्ति ही है। अर्थात पुरुष को 'मैं कर्ता हूँ' और बुद्धि को 'मैं चेतन हूँ' यह अभिमान जो होता है, उसका कारण यह है कि बुद्धि और पुरुष में भिन्नता का ज्ञान नही हो पाता।

नैयायिक—उपर्युक्त साख्यवादीका कथन ठीक नही है, क्योकि जैसे कृति, अदृष्ट, भोग तीनो का सामानाधिकरण्य प्रतीत होता है, वैसे ही 'चेतनोऽह करोमि' इस प्रतीति में भी चेतनता तथा कृति का सामानाधिकरण्य प्रतीत हो ही रहा है। क्योकि चेतनता (चैतन्य) 'ज्ञान' से अलग कोई वस्तु नही है, और जो चेतन होता है वही कर्ता भी होता है। क्योंकि 'चेतनोऽह करोमि' यह प्रतीति होती

है। इस प्रतीति (अनुभव) के बल पर चेतन का ही कतृत्व सिद्ध हो रहा है। कर्ता से भिन्न 'चेतन' मानने मे कोई प्रमाण नही है।

साख्यवादी 'चेतनोऽह करोमि' इस प्रतीति को चैतन्याश मे भ्रम मानता है- क्योकि चेतन तो 'पुरुष' है, तब नैयायिक उससे (साख्यवादी से) कहता है कि कृति (कतृत्व) अश मे भी तुम भ्रम क्यो नही मानते ? अर्थात कतृत्व (कृति) को भी चेतन पुरुष का ही धम मान लो। जो चेतन होता है वही कर्ता होता है। चेतन होना द्रव्य का ही स्वभाव है, 'बुद्धि' द्रव्य नही है, वह तो ज्ञानरूप है। किञ्च—साख्यवादी का यह अनुमान बुद्धि न चेतना परिणामित्वात मृद्वत' भी ठीक नही है, क्योकि 'बुद्धि कतृत्वाऽभाववती जन्यत्वात् घटवत'—जैसे 'घट' जन्य होने से कतत्वाऽभाववाला है, वैसे ही बुद्धि भी ज य होने से कत त्व के अभाववाली होगी—इस अनुमान के बल पर पूर्वोक्त 'चेतनाऽह करोमि इत्याकारक अनुभव को भी कृति अश मे भ्रमरूप मानना ही उचित है। साख्यवादी बुद्धि को अतिरिक्त द्रव्य मानकर उसके (बुद्धि के) सत्त्व (होने) असत्त्व (न होने) से पुरुष को ससार और मोक्ष बताता है। किन्तु हम (नैयायिक), साख्यवादी से पूछते है कि तुम्हारी कर्तारूप, द्रव्यात्मिका बुद्धि, नित्य है या अनित्य ? यदि साख्यवादी उसे नित्य कहता है तो बुद्धि के सत्त्वाधीन यह ससार पुरुष को सवदा बना रहेगा, कभी मोक्ष का प्रसग ही नही आवेगा, तब कोई मुमुक्षु मोक्षाथ यत्न भी क्यो करेगा ? अर्थात् कोई भी मुमुक्षु मोक्षाथ यत्न नही करेगा।

यदि बुद्धि को अनित्य कहता है तो बुद्धि की उत्पत्ति से पूर्व, पुरुष को ससार नही होना चाहिए। यदि साख्यवादी इसमें इष्टापत्ति माने तो वह सभव नही, क्योकि बुद्धि की उत्पत्ति के पूव जो पुरुष अससारी थे, वे ही बुद्धि की उत्पत्ति के अनन्तर ससारी हो जायेंगे तथा मुक्त हुए पुरुष भी पुन ससारी होने लगेंगे। और बुद्धि की उत्पत्ति से पूव पुण्य-पापरूप अदृष्ट का अथवा अदष्टजनक विहित-निषिद्ध क्रिया का भी अभाव होगा। अत बुद्धि मे कत त्व नही है, कि तु चेतन आत्मा में ही कर्तृत्व है। किञ्च—बुद्धि मे जो चेतनपुरुष का प्रतिबिम्बरूप अतात्त्विक सम्बन्ध माना है वह भी ठीक नही है, क्योकि रूपवान् पदाथ में ही रूपवान पदार्थ का प्रतिबिम्ब पडा करता है, इस कारण रूपरहित बुद्धि में रूपरहित पुरुष का प्रतिबिम्ब पडना भी सभव नही है।

किञ्च—साख्यवादी प्रधान (प्रकृति) को चेतना से रहित (जड)

मानता है किन्तु उसे चेतन पुरुष के आश्रित नही मानता । ऐसी परिस्थिति में जड प्रधान, महदादि कार्यों को कैसे उत्पन्न करेगा ? लोक व्यवहार मे तो मृत्तिका, सुवण आदि अचेतन पदाथ, कुलाल, स्वणकार आदि चेतन के आश्रित होकर घट, मुवर्णालकारादि कार्यो की उत्पत्ति करने मे प्रवत्त होते है ।

साख्यवादी—जैसे 'दुग्ध' अचेतन होकर भी वत्सविवृद्धि के निमित्त गौ के स्तन स स्वय अपने आप प्रवृत्त होता है, वैसे ही '**अचेतन प्रधान**' भी पुरुष के भाग–अपवग (मोक्ष) के निमित्त स्वय प्रवत्त होता है, उसे किसी चेतन के आश्रित हाने की आवश्यकता नही है ।

नैयायिक—अचेतन दुग्ध की प्रवृत्ति मे चेतन गौ का स्नेहरूप व्यापार तथा चेतन वत्स का चूमना (चोपण) रूप व्यापार ही कारण है ।

साख्यवादी—"प्रकृते' क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सवश । अहकारविमूढात्मा कताहमिति मन्यते ।।' इस गीतावचन से प्रधान मे ही 'कतृत्व' सिद्ध होता ह और चेतन पुरुप मे कतृत्व का अभाव सिद्ध होता है ।

नैयायिक—उक्त गीतावाक्य मे 'प्रकृति' शब्द से पुण्य पापरूपी अदृष्ट लिया गया है, उसी तरह तज्ज य इच्छादि गुणो को भी समझना चाहिये । यदि ऐसा न माना जाय तो—'अधिष्ठान तथा कर्ता करण च पृथग्विधम । विविधाश्च पृथक् चेष्टा दव चैवात्र पञ्चमम् ।।" "शरीरवाडमनोभियत कम प्रारभते नर । न्याय्य वा विपरीत वा पञ्चैते तस्य हेतव ।।" "तत्रैव सति कर्तारमात्मान केवल तु य । पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुमति ।।"—इस अठारहवें अध्याय के श्लोको से विरोध होगा । सुख दु ख के भोग का आयतन तथा नेत्रादि करणो का आश्रय जो शरीर है, उसी को अधिष्ठान कहते है । इच्छादि गुणो वाले आत्मा को कर्ता तथा चक्षुरादि इन्द्रियो को 'करण' कहा गया है । प्राणादिको का नाम 'चेष्टा' ह । पुण्य पापरूप अदष्ट का नाम 'दैव' है । यह 'जीवात्मा' शरीर, मन, वाणी से जिन जिन विहित निषिद्ध कर्मो को करता है, उन कर्मो के अधिष्ठानादि पाँच ही कारण होते है । इन पाचो के होने पर भी जो अविवेकी परुष केवल 'आत्मा' को ही कारण मानता है, वह दुमति असम्यग्दर्शी है । उक्त गीतावाक्यो से भी चेतनकर्ता ही सिद्ध होता है । अत जड प्रकृति को कर्त्री नही मान सकते ।

।। इति साख्यमतमण्डनन्तत्खण्डनञ्च ।।

❀ धर्माधर्माश्रयोऽध्यक्षो विशेषगुणयोगतः ॥ ४९ ॥

(१) अध्यक्ष =प्रत्यक्ष , (२) विशेषगुणयोगत =विशेषगुणसम्बन्धात ।

जीवात्मा, पुण्य पाप का आश्रय है, इस कारण—पुण्य पाप दोना आत्मा मे उत्पन्न होते है, एव सुख दु खादि विशेष गुणो के सम्ब ध से आत्मा का प्रत्यक्ष भी होता है ।

धर्माधर्माश्रय इति । आत्मेत्यनुषज्यते । शरीरस्य तदाश्रयत्वे देहान्तरकृतकर्मणा देहान्तरेण भोगानुपपत्ते ।

विशेषगुणयोगत इति । योग्यविशेषगुणस्य ज्ञानसुखादे सम्बन्धे नात्मन प्रत्यक्षत्व सम्भवति, न त्वन्यथा, अह जाने अह करोमीत्यादिप्रतीते ॥४९॥ ॥ इत्यात्मनि प्रमाणकथनम ॥

● यह आत्मा धर्माधम का आश्रय अर्थात समवायेन अधिकरण ह । धर्माधम का आश्रय, 'शरीर' को ही क्यो न माना जाय ? ऐसी शका यदि कोई करे तो 'शरीरस्य न चैतन्य मृतेषु व्यभिचारत ' इस प्रमाण से पुण्य पाप का आश्रय 'शरीर' नही ह[1], यह पहले कह चुके है, तथापि छात्रो को पुन स्मरण दिलाने के लिये दुबारा कह रहे है कि "**शरीरस्येति ।**" शरीर को ही पुण्य पाप का यदि आश्रय मानें तो पूवजन्म के शरीर से उत्पन्न होनेवाले (किये गये) कर्मों के फल का उपभोग दूसरे शरीर मे भी—होने लगेगा, किन्तु ऐसा होता नही । तथाच कृतविप्रणाश और अकृताभ्यागम का प्रसग प्राप्त होगा । भाष्यकार ने इसी अभिप्राय को 'शरीरदाहे पातकाभावात'—(या सू ३।१।४) सूत्र के भाष्य में अच्छी तरह स्पष्ट किया है। "**विशेषगुणयोगत**" इति । मानसप्रत्यक्ष-

---

१ अभिप्राय यह है—पुण्य-पाप ये दोनो आत्मा के गुण है, यह सिद्धान्त है । जो आत्मा, जिस शरीर से पुण्य-पाप करता है उस शरीर के नाश होने पर भी वही आत्मा दूसरे शरीर मे जाकर पुण्य-पाप का फल भोगता है, यह सर्वसम्मत है । अब पुण्य-पाप को शरीर का गुण कहा जाय तो, उन पुण्य पापो का कर्ता जो शरीर होगा उसके नष्ट होने से अर्थात् पुण्य पाप के फल का भोक्ता उस शरीर के अभाव में उस फल को कौन भोगेगा ? यदि जन्मान्तरीय दूसरे शरीर से उसे भोगा जायगा कहें, तो यह कहना भी ठीक न होगा, क्योकि एक के किये हुए कम (पुण्य पाप) का फल दूसरे को भोगना सभव नही । जिसने जो कम किया है, उस कम का फल उसे ही भोगना होता है, यह सवसम्मत है ।

अत आत्मा को ही उन कर्मों का कर्ता तथा आश्रय मानना उचित है ।

योग्य ज्ञान, सुख दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि विशेष गुणो के समवायसबध से आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होता है। "नत्वन्यथेति" विशेष गुणसबन्ध[1] के बिना आत्मा का मानसप्रत्यक्ष नही हो सकता। उस मानस प्रत्यक्षप्रतीति का आकार यह है—'अह जाने' मैं ज्ञानवान् हूँ, 'अह सुखी, अह दु खी, अहमिच्छामि, अह द्वेष्मि, अह प्रयते, अह करोमि।' इत्याकारक प्रतीतियो से ज्ञानकतृत्व का आश्रय होने से आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् मैं ज्ञानवान हूँ, सुखी हूँ—इत्याद्याकारक जो प्रतीति होती है, वह तत्तद्गुणनिष्ठप्रकारतानिरूपितसमवायसबन्धावच्छिन्नात्मनिष्ठविशेष्यताक होती है। इस प्रकार प्रतीति होना ही मानस-प्रत्यक्ष है। इस प्रतीति (मानस प्रत्यक्ष) में विशेष्यतया आत्मा विषय रहता है ॥४९॥

⊛ प्रवृत्त्याद्यनुमेयोऽयं रथगत्येव सारथिः।
अहङ्कारस्याश्रयोऽयं मनोमात्रस्य गोचरः ॥५०॥
विभुर्बुद्ध्यादिगुणवान् ।

जैसे रथ के चलने से यह ज्ञात होता है कि इस रथ मे अवश्य सारथि होगा, उसी प्रकार दूसरे पुरुष के शरीर की चेष्टा से उसके (दूसरे के) शरीर में भी आत्मा अवश्य होगा, यह अनुमान होता है।

यह 'आत्मा' अहङ्कार का आश्रय है और उसका मानसप्रत्यक्ष होता है।

⊛प्रवृत्त्येति अयमात्मा परदेहादौ प्रवृत्त्यादिनाऽनुमीयते। प्रवृत्तिरत्र चेष्टा। ज्ञानेच्छायत्नादीना देहेऽभावस्योक्तप्रायत्वाच्चेष्टायाश्च प्रयत्नसाध्यत्वाच्चेष्टया प्रयत्नवानात्मानुमीयत इति भाव ।

---

१ १ ज्ञान, २ सुख, ३ दु ख, ४ इच्छा, ५ द्वेष, ६ प्रयत्न इन छहो को आत्मविशेषगुण माना जाता है। इनमें से किसी एक गुण के सबन्ध से आत्मा का मानसप्रत्यक्ष होता है। अर्थात् मैं जानता हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दु खी हूँ, मैं इच्छा वान् हूँ, मैं द्वेषवान् हूँ मैं प्रयत्नवान् हूँ, इस प्रकार ज्ञानादि गुणो के सबध से ही आत्मा का मानसप्रत्यक्ष होता है। यद्यपि धम, अधम, भावनाख्यसस्कार ये तीनों भी आत्मा के ही विशेषगुण है, तथापि ये तीनो गुण प्रत्यक्ष के योग्य नही है। अर्थात मैं धर्मी हूँ, मैं अधर्मी हूँ, मैं सस्कारी हूँ—इस रीति से जीवात्मा का प्रत्यक्ष नही होता, किन्तु शास्त्रप्रमाण से ये तीन जीवात्मा के गुण है, ऐसा माना जाता है। अथवा कायरूप हेतु से इन तीनो का अर्थात सुखरूप कार्य से धर्म का, दु खरूप काय से अधम का, स्मृतिरूप काय से सस्कारो का अनुमान होता है।

अत्र दृष्टान्तमाह—रथेति। यद्यपि रथकर्म चेष्टा न भवति, तथापि तेन कर्मणा सारथिर्यथाऽनुमीयते तथा चेष्टात्मकेन कर्मणा परात्मानुमीयते इति भाव ।

॥ इति परदेहादौ आत्मनि प्रमाणकथनम ॥

अहङ्कारस्येति। अहङ्कारोऽहमितिप्रत्ययस्तस्याश्रयो विषय आत्मा, न शरीरादिरिति भाव ।

मन इति। मनोभिन्नेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षाविषयो मानसप्रत्यक्षविषय श्चेत्यर्थ । रूपाद्यभावेनेन्द्रियान्तरायोग्यत्वात् ॥ ५० ॥

● यद्यपि प्रत्येक को अपनी आत्मा का प्रत्यक्ष है, तथापि दूसरे के शरीर में वैसा प्रत्यक्ष किसी को नही हो पाता, अत अन्यशरीर में उस आत्मा का ज्ञान अनुमान से करना सरल रहता है, इसलिये 'अयमात्मेति'। परकीय शरीर आदि की प्रवत्तिजन्य चेष्टा से उसके (परकीय) शरीर में 'आत्मा' है, ऐसा अनुमान किया जाता है। अनुमानप्रयोग इस प्रकार होगा—'परकीयशरीरम् अवच्छेदकतासबन्धेन प्रयत्नवत चेष्टावत्त्वात मच्छरीरवत' इस अनुमान से समझ मे आ जाता है कि जो प्रवृत्ति का आश्रय है वह चेतन है, शरीर नही, शरीर मे प्रवृत्ति नही रहती, वह तो आत्मा में रहती है। 'परदेहादौ' यहाँ 'आदि' पद से वीणा आदि का परिग्रह किया गया है ऐसा प्राचीन प्रभाकार का कथन है। अनुमानप्रयोग—'परकीयवीणातन्त्री' स्वप्रयोज्याभिघाताख्यसयोगसबन्धेन प्रयत्नवती, अवच्छेदकतासबन्धेन पञ्चमादिस्वरवत्त्वात, अस्मदीयताल्वोष्ठादिवत्' इस प्रयोग से भी प्रयत्नवान् आत्मा ही सिद्ध होता है। परकीय प्रवृत्ति आदि धर्म अतीन्द्रिय होने से उसका (हेतु का) ज्ञान होना सभव नही, तब तो 'हेतु' में स्वरूपासिद्धि दोष आ जायगा। इसलिए कहा गया है "प्रवृत्तिरत्र चेष्टे"ति। अर्थात एतदवाक्यघटकप्रवृत्ति पदका लक्ष्यार्थ 'चेष्टा' है। तथाच—'देवदत्तशरीर चेतनाधिष्ठितम प्रवत्तिमत्त्वात रथवत' यह अनुमान देवदेत्तीय शरीर में चेतनाधिष्ठितत्व सिद्ध कर देगा। हिताऽहितप्राप्तिपरिहारानुकूलक्रियाको 'चेष्टा' कहते है। मुक्तावलीकार ने 'ज्ञानेच्छायत्नादीना देहेऽभावस्योक्तप्रायत्वात्' कहा है। यहा 'उक्तप्राय' का अभिप्राय यह है कि 'शरीरस्य न चैतन्य मृतेषु व्यभिचारत' के द्वारा चार्वाकमत का खण्डन करते समय यह सिद्ध कर दिया था कि ज्ञानेच्छाप्रयत्नादिवम, देह में नही रहते, यानी शरीर में उनका अभाव है। वहाँ पर इच्छा आदि के अभाव को कण्ठत न कहने के कारण प्राय पद दिया है। चेष्टा को प्रवृत्तिज्ञान का जनक तभी कह सकते हैं, जब

चेष्टा और प्रवृत्ति दोनो में काय-कारणभाव हो। अत "चेष्टायाश्चेति"। 'प्रवृत्ति' (प्रयत्न) का काय 'चेष्टा' है, अत कायरूप चेष्टा के द्वारा कारणरूप प्रयत्न (प्रवृत्ति) का अनुमान किया जा सकता है, और उससे परकीय शरीर मे आत्माधिष्ठितत्व का अनुमान किया जाता है—'परकीयशरीरम आत्माधिष्ठित तद्गुण प्रयत्नवत्त्वात'। इस रीति से जड शरीर का अधिष्ठाता प्रयत्नवान चेतन आत्मा सिद्ध होता है। इसमें दृष्टान्त देते हैं—"रथेती"ति। 'रथ प्रयत्नवत्सारथ्यधिष्ठित, अनुकूलक्रियावत्त्वात' इस अनुमान से जिसप्रकार रथ, सारथि से अधिष्ठित ज्ञात होता है, वैसे ही शरीरको भी चेतन से अधिष्ठित समझना चाहिए। उपयुक्त अनुमान मे 'अनुकूलक्रियावत्त्वात' न कहकर यदि 'चेष्टावत्वात' कहे तो वह 'स्वरूपासिद्ध' हेतु (हेत्वाभास) कहलायेगा। क्योकि रथ की (में) गति (गमनक्रिया), हिताहितप्राप्तिपरिहारानुकूलक्रियात्मकचेष्टास्वरूप नही ह, अत पक्ष (रथ) में 'चेष्टावत्त्व' हेतु के न रहने से 'स्वरूपासिद्धि' दोष हो जायगा। इसीलिये ऊपर कहा था कि 'प्रवृत्ति' पद लक्षणा के द्वारा प्रवृत्तिजन्यगमनात्मकक्रिया को बताता है। एवच दृष्टा त मे गत्यात्मक (चलनात्मक) रथक्रिया (कम) रूपी चेष्टा से सारथी का अनुमान किया जाता है[1]। इस दृष्टान्त के अनुसार चेष्टारूप कम से अन्यदीय देह मे आत्मा का अनुमान किया जाता है। यदि कोई कहे कि जड रथ मे इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारानुकूलव्यापाररूप चेष्टा के न रहने से 'दृष्टान्ताऽसिद्धि' दोष है, तो उसके निवारण के लिये उत्तरदशमयागयोग्यक्रिया' को चेष्टा पद से विवक्षित किया गया है, यह समझना चाहिये। क्योकि दृष्टान्त सावदेशिक नही हुआ करता है, वह तो किसी एक देश मे चरितार्थ होता है।

---

१ शका०—यद्यपि अपने अपने शरीर मे सभी को जीवात्मा का प्रत्यक्ष होता है, तथापि अन्य शरीरस्थित जीवात्मा का मानसप्रत्यक्ष नही होता। जैसे देवदत्त को यज्ञदत्त की आत्मा का प्रत्यक्ष नही होता।

समा०—अन्य शरीर मे चेष्टारूप हेतु से जीवात्मा का अनुमान किया जाता है। तथाहि—'इद शरीर चेतनाधिष्ठित चेष्टावत्त्वात रथवत'।

शका—हितप्राप्ति के निमित्त जो क्रिया होती है, उसे 'चेष्टा' कहते हैं। ऐसी चेष्टा, चेतनप्राणि में ही हो सकती है, जडरथादिको मे नही। अत रथ का दृष्टान्त असिद्ध है।

समा०—यद्यपि रथादि जडपदार्थो मे हिताहितप्राप्तिपरिहारानुकूलक्रिया-

"अहङ्कारस्येति ।" 'अहम' इत्याकारक प्रत्यय को 'अहङ्कार' कहते है । 'अहम' इस प्रतीति (प्रत्यय) का विषय 'आत्मा' ही है । अर्थात 'आत्मा' मे ही कतत्व होनेसे 'अहम' इस शब्द से बोध्य भी 'आत्मा' ही होगा । इसी अभिप्राय को "न शरीरादि " कहकर स्पष्ट किया गया है । 'अहम्' इस प्रतीति के विषय 'शरीर, इन्द्रिय, मन, विज्ञान आदि' नही है । "मनोभिन्नेन्द्रिय" इति । 'आत्मा' का प्रत्यक्ष, मन के अतिरिक्त (मन से भिन्न) इन्द्रियो से नही होता । अर्थात मनोभिन्न चक्षुरादि इद्रियो से उसका (आत्मा का) प्रत्यक्ष नही होता । तात्पय यह है कि मनोभिन्नचक्षुरादीन्द्रियजन्यप्रत्यक्षनिरूपितलौकिकविषयताशून्यत्वे सति मानसत्वावच्छिन्ननिरूपितलौकिकविषयतावान् यह आत्मा है ।

शका—चक्षुरादि इन्द्रियो से उसका ज्ञान क्यो नही होता ?

समा०—'रूपाद्यभावेनेति ।' मन से भिन्न चक्षुरादि सभी इद्रिय रूपरसादिविशिष्ट पदार्थो का ही ज्ञान कराते है । 'आत्मा' मे रूप रस आदि गुण न होने से वह चक्षुरादि इन्द्रियो के द्वारा प्रत्यक्ष होने योग्य नही है, क्योकि चाक्षुषप्रत्यक्षादि मे समवायेन रूपादि कारण होते है ॥ ५० ॥

यह जीवात्मा विभु (व्यापक) है तथा १ बुद्धि, २ सुख, ३ दु ख, ४ इच्छा, ५ द्वेष, ६ प्रयत्न, ७ धम, ८ अधम, ९ सस्कार (भावना), १० सख्या, ११ परिमाण, १२ पृथकत्व, १३ सयोग और १४ विभाग आदि चतुदश गुणोवाला है ।

'विभुरिति' विभुत्व परममहत्त्ववत्त्वम् । तच्च पूर्वमुक्तमपि स्पष्टार्थमुक्तम् । बुद्ध्यादीति । बुद्धिसुखदु खेच्छादयश्चतुर्दश गुणा पूर्वमुक्ता वेदितव्या ।

॥ इत्यात्मस्वरूपकथनम् ॥

शका—प्रत्यक्ष होने में रूपादि को कारण बताया है, 'विभुत्व' को तो कारण नही बताया गया है और 'आत्मा' तो विभु है तथा रूपादि का उसमें अभाव है । तब उसका बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष कैसे होगा ?

समा०—'विभु' शब्द की परममहत्परिमाण में लक्षणा करनी चाहिये । तब

रूप चेष्टा का होना सभव नही है, तथापि रथव्यापार से सारथि का जैसे अनुमान होता है, वैसे ही प्रयत्नजनित चेष्टारूप कर्म से परशरीरस्थ आत्मा का भी अनुमान किया जा सकता है । तथाच 'प्रवृत्तिमत्त्व' का तात्पय 'उत्तरदेशसयोगजन्यक्रियावत्त्व' में ही समझना चाहिये ।

अथ होगा—'समवायसबध से परममहत्परिमाणवाला'। विभुत्व का अथ 'परम-महत्त्व' है, यह पहले (का २६, ३२–३३) कह चुके हैं, तथापि स्पष्टता के लिये (स्मरणाथ) पुन कहा गया है, अत इसे पुनरुक्ति नही समझनी चाहिये। अथवा 'विभुत्वम' का अथ व्यापकत्वम अर्थात् अत्य ताभावाऽप्रतियोगित्व समझ लीजिये। 'बुद्ध्यादीति।' आत्मा के चौदह गुणो के नाम ये है—बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धम, अधम, सस्कार, सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग। इन चौदह गुणो को 'बुद्ध्यादिषट्क सख्यादिपञ्चक भावना तथा। धर्माधर्मौ गुणाश्चैते ह्यात्मन स्युश्चतुदश॥' इस बत्तीसवी कारिका के द्वारा पहले बता दिया गया है।

आजकल के कतिपय आधुनिक लोग न्यायसिद्धान्तमुक्तावली को कपोल-कल्पित कह देते ह, परन्तु उन्हे यह नही भूलना चाहिये कि मुक्तावली के सिद्धात सूत्रकार ऋषि के सिद्धान्तो के आधार पर ही किये गये है। तथाहि—आत्मवाद के सिद्धान्त के सबध में वैशेषिक सूत्रकार महर्षि कणाद कहते हैं—"प्राणापान निमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकारा　सुखदु खेच्छाद्वषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि"　—(वै० सू० अ० ३। आ० २। सू० ४)

॥ इति प्रत्यक्षखण्डे द्रव्य निरूपणपरिच्छेद ॥

इति बालप्रियासनाथाया मुक्तावल्यामात्मस्वरूपनिरूपणात्मिका द्वितीयप्रकरणलक्षणा तृतीया मुक्ता॥

———

अथ प्रत्यक्षखण्डे बुद्धिनिरूपणं नाम तृतीयं प्रकरणम्

(★) बुद्धिस्तु द्विविधा मता ।
अनुभूतिः स्मृतिश्च स्यादनुभूतिश्चतुर्विधा ॥५१॥
प्रत्यक्षमप्यनुमितिस्तथोपमितिशब्दजे ।

ऊपर कह चुके है कि परम-महतपरिमाणवाला (विभुपरिमाणवाला) आत्मा बुद्धि (ज्ञान) आदि गुणवाला है। अत प्रसगप्राप्त बुद्धि (ज्ञान) के भेद बताने के लिये "बुद्धिस्तु द्विविधा मता" कहा गया है। बुद्धि (ज्ञान) दो प्रकार की मानी गई है—एक 'अनुभूति' और दूसरी 'स्मृति'। उनमे 'अनुभूति' (अनुभव) चार प्रकार की होती हैं। तथाहि—प्रत्यक्षप्रमिति, अनुमिति, उपमिति और शब्दजा (शाब्दबोध)।

अत्रैव प्रसङ्गाद् बुद्धे कतिपय प्रपञ्च दर्शयति। बुद्धिस्त्विति। द्वैविध्य व्युत्पादयति—अनुभूतिरिति। अनुभूतिश्चतुर्विधेति। एतासा चतसृणा करणानि चत्वारि-'प्रत्यक्षानुमानोपमानेशब्दा प्रमाणानी'ति सूत्रोक्तानि वेदितव्यानि ॥ ५१ ॥

शका—आत्मनिरूपण के बाद 'मनोनिरूपण' करना चाहिए था, क्योकि कारिकाकार ने प्रारम्भ मे ही तीसरी कारिका 'क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योमकालदिग् देहिनोमन द्रव्याणि' के द्वारा आत्मा (देहि) के अन तर 'मन' का परिगणन किया है। किन्तु मनोनिरूपण न करते हुए 'बुद्धि' सज्ञक गुण का निरूपण क्यो किया जा रहा है ?

समा०—"अत्रैव प्रसङ्गादिति।" आत्मनिरूपण के अनन्तर ही बुद्धि निरूपण करना प्रसङ्गत प्राप्त हुआ है। अर्थात प्रसङ्गसगति से बुद्धिनिरूपण किया जा रहा है। 'स्मृतस्य उपेक्षाऽनर्हत्वम्प्रसङ्ग ,—स्मृत हुए की उपेक्षा न करने को 'प्रसङ्ग' कहते है। 'आत्मा' मे समवायसम्बन्ध से 'बुद्धि' गुण रहता है। अत 'आत्मनिष्ठसमवायावच्छिन्नवृत्तित्व सम्बन्ध' से बुद्धि का स्मरण हो आने से बुद्धि का निरूपण किया जा रहा है। बुद्धे 'कतिपय प्रपञ्च दर्शयति' कह-कर ग्रन्थकार यह बताना चाह रहे है कि आगे चलकर १२६ वी कारिका "अप्रमाच प्रमाचेति ज्ञान द्विविधमिष्यते" के द्वारा बुद्धि (ज्ञान) के 'प्रमा' और 'अप्रमा'

के रूप मे दो ही भेद बताये है, उसके अन्य धर्मो के द्वारा अन्य भेद नही बताये है इसलिये 'कतिपयम' कहा गया है। 'कतिपय' का अथ ईषत है और 'प्रपञ्च' शब्द का अथ 'धम' है। ईषत का धम के साथ अभेदान्वय है। 'दशयति' का अथ ज्ञानजनकशब्दानुकूल कृतिमान है। धम का ज्ञान के साथ अन्वय है। 'बुद्धे' की षष्ठीविभक्ति का अथ विशेष्यत्व है। एवञ्च 'बुद्धे कतिपय प्रपञ्च दशयति' इस सम्पूण वाक्य का शब्दबोध यह होगा—'बुद्धिविशेष्यक ईषदभिन्न-अवान्तर धमप्रकारकज्ञानजनकशब्दानुकूलकृतिमान ग्रथकार। इस प्रकार बुद्धि की द्विविधता को बताया 'अनुभूतिरिति।' अनुभूतिश्चतुर्विधेति।' उनमें से अनुभूति चार प्रकार की है। इन चारो अनुभूतियो बुद्धियों–ज्ञानो) के कारण १ प्रत्यक्ष, २ अनुमान, ३ उपमान, ४ शब्द हैं। एतासामिति।' इन प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति शाब्दबोध सज्ञक चारो ज्ञानो के साधन (करण) अर्थात व्यापारविशिष्ट कारण भी चार हैं, जिन्हे न्यायसूत्रकार ने बताया है—"प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दा प्रमाणानि"—(न्या० सू० १।१।३)। अर्थात् प्रत्यक्षप्रमिति का कारण यानी षड्विधसन्निकर्षादिव्यापार से युक्त करण (इन्द्रिय) को 'प्रत्यक्ष प्रमाण' कहते हैं। अनुमितिरूप प्रमिति का परामर्शात्मक व्यापार से युक्त कारण अर्थात् करण (साधन) को अनुमानप्रमाण कहते है यानी अनुमीयते अनेन इति अनुमानम— जिससे अनुमिति की जाती है उस व्याप्तिज्ञान को अनुमान कहते हैं। उपमिति रूप प्रमिति का उपदिष्टवाक्यार्थस्मरणात्मक व्यापार से युक्त कारण अर्थात् करण (साधन) को उपमान कहते है, यानी उपमीयते अनेन इति उपमानम् अर्थात् सादृश्यज्ञान को उपमान कहते है। शाब्दबोधात्मक प्रमिति का पदाथस्मरणात्मक व्यापार से युक्त कारण अर्थात् करण को शब्द (पदज्ञान) प्रमाण कहते हैं। (विषय)- प्रति गतमक्षम्प्रत्यक्षम्=प्रतिगमकम' इन्द्रियम इस व्युत्पत्तिसे व्युत्पन्न 'प्रत्यक्ष' शब्द, 'प्रत्यक्षप्रमा के करण इन्द्रिय' का बोधन करता है, तादश इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमारूप अनुभूति' कहते है। उसी प्रकार 'अनुमीयते अनेनेति अनुमानम = अनुमितिकरण, उससे जन्य (उत्पन्न) ज्ञान को 'अनुमितिप्रमारूप द्वितीय अनुभूति कहते है। उपमीयते अनेन इति उपमानम्=उपमितिकरणम्, उससे जन्य (उत्पन्न) ज्ञान को उपमितिप्रमारूप तृतीय अनुभूति' कहते है। शब्द्यते=प्रतिपाद्यते अथ अनेन इति शब्द=शाब्दीप्रमाकरणम्, उससे जन्य ज्ञान को शब्दजा=शाब्दीप्रमा रूप अनुभूति कहते हैं। इस प्रकार चतुर्विध अनुभूतियो के करण (साधन) भी चार ही है। यही पक्ष महर्षि गौतम को मान्य है ॥ ५१ ॥

प्रमाणो की तथा उनसे होने वाली अनुभूतियो की सख्या के विषय मे विभिन्न दार्शनिको के विभिन्न मतो को भी जान लेना चाहिए—

चार्वाक—प्रत्यक्षात्मक अनुभूति को ही मानते हैं, किन्तु तत्त्वोपप्लव के मत मे उसे भी नही माना है। **कणाद (वैशेषिक) और सुगत**— (बौद्ध) और जैन प्रत्यक्षात्मक और अनुमित्यात्मक अनुभति को ही मानते है। **साख्य-योग और न्यायैकदेशी**—प्रत्यक्ष, अनुमिति, शाब्द अनुभूति को ही मानते है। **भाष्यानुसारी नैयायिक**—प्रत्यक्ष, अनुमिति, शाब्द और उपमिति अनुभूति को ही मानते हैं। **प्राभाकर**—प्रत्यक्ष, अनुमिति, शाब्द, उपमिति और अर्थापत्ति अनुभूति को मानते है। **भाट्ट और वेदान्ती**—प्रत्यक्ष, अनुमिति, शाब्द, उपमिति, अर्थापत्ति और अनुपलब्धिरूप अनुभति को मानते हैं। **पौराणिक**—उक्त अनुभूतियो के साथ सभव, ऐतिह्यरूप अनुभूति को भी मानते है। **तान्त्रिक**—उक्त अनुभूतियो के साथ चेष्टा को भी मानते हैं।

प्रत्यक्षेति। इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्षम्। यद्यपि मनोरूपेन्द्रियजन्य सर्वमेव ज्ञान, तथापीन्द्रियत्वेन रूपेणेन्द्रियाणा यत्र ज्ञाने कारणत्व तत्प्रत्यक्षमिति विवक्षितम्। ईश्वरप्रत्यक्ष तु न लक्ष्यम्। इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मक प्रत्यक्षमिति (गौतम) सूत्रे तथैवोक्तत्वात्।

अथवा ज्ञानाकरणक ज्ञान प्रत्यक्षम्। अनुमितौ व्याप्तिज्ञानस्य, उपमितौ सादृश्यज्ञानस्य, शाब्दबोधे पदज्ञानस्य, स्मृतावनुभवस्य कारणत्वात्तत्र तत्र नातिव्याप्ति। इदं लक्षणमीश्वरप्रत्यक्षसाधारणम्। परामर्शजन्य ज्ञानमनुमिति। यद्यपि परामर्शप्रत्यक्षादिक परामर्शजन्य तथापि परामर्शजन्य हेत्वविषयकं यज्ज्ञान तदेवानुमिति। न च कादाचित्कहेतुविषयकानुमितावव्याप्तिरिति वाच्यम्, तादृशज्ञानवृत्त्यनुभवत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्।

अथवा व्याप्तिज्ञानकरणक ज्ञानमनुमिति। एव सादृश्यज्ञानकरणक ज्ञानमुपमिति। पदज्ञानकरणक ज्ञान शाब्दबोध।

वस्तुतो या काञ्चिदनुमितिव्यक्तिमादाय तद्व्यक्तिवृत्तिप्रत्यक्षावृत्तिजातिमत्त्वमनुमितित्वम् एव यत्किञ्चित्प्रत्यक्षादिकमादाय तद्व्यक्तिवृत्त्यनुमित्यवृत्तिजातिमत्त्व प्रत्यक्षत्वादिकं वाच्यमिति।

॥ इति प्रत्यक्षादिप्रमाणलक्षणकथनम ॥

परन्तु ग्रन्थकार अनुभूति की चातुर्विधा को ही स्वीकार कर रहे है। अनुभूति (प्रमा) के चतुर्विध होने से उनके प्रमाण भी चार ही हैं। उपरिप्रदर्शित अनुभूतियो के अतिरिक्त अनुभूतियो (प्रमाओ) का ग्रन्थकारसम्मत चार अनुभूतियो (अनुभवो) मे ही अन्तर्भाव हो जाता है। ग्रथकार ने स्वय १४० वी कारिका से लेकर १४४ वी कारिका 'व्यतिरेकव्याप्ति बुद्धया चरितार्था हि सा यत ' के द्वारा प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, शाब्दात्मक चार प्रकार के अनुभवो मे ही अन्यान्य दार्शनिकसम्मत अतिरिक्त अनुभवो का अन्तर्भाव करके दिखाया है। 'प्रत्यक्ष' शब्द प्रमा और प्रमाण दोनो के लिए प्रयुक्त किया जाता है, किंतु उसके आगे प्रमा और प्रमाण के बोधक भिन्न भिन्न शब्द है। अनुमिति, उपमिति और शाब्दी ये शब्द 'प्रमा' (अनुभव अनुभूति) के बोधक है, और अनुमान, उपमान, और शब्द—ये प्रमाणा के बोधक शब्द है।

उपर्युक्त चार प्रकार की प्रमाओ में से प्रथमोपस्थित 'प्रत्यक्षप्रमा' को मुक्तावलीकार बता रहे है—**"इन्द्रियजन्यमिति।"** 'इन्द्रियजन्यत्वे सति ज्ञानत्व' प्रत्यक्षप्रमाया लक्षणम। इन्द्रिय से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को 'प्रत्यक्षप्रमा' कहते हैं। उक्त लक्षण मे 'ज्ञान' पद का निवेश इसलिये किया है कि चक्षुरादि इन्द्रियगत रूपादि भी चक्षुरादि इन्द्रियजन्य है, अत इन्द्रियवृत्ति रूपआदि मे प्रत्यक्ष लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। उस अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये उस पद का (ज्ञान पद का) निवेश आवश्यक है। यदि 'ज्ञानम्प्रत्यक्षम्' इतना ही लक्षण का आकार रखें तो 'अनुमिति' आदि प्रमाओ मे अतिव्याप्ति होगी, उसके निवारणार्थ 'इन्द्रियजन्यत्वे सति' इस विशेषण पद का निवेश किया गया है।

शका—'इन्द्रियजन्यत्वे सति ज्ञानत्वम'—प्रत्यक्षम' इस प्रकार प्रत्यक्ष लक्षण करने पर भी अनुमिति आदि प्रमाओ मे अतिव्याप्ति दूर नही हो रही है, क्योकि मनोरूप इन्द्रिय से सभी प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, शाब्दादिज्ञान उत्पन्न होते हैं। ज्ञानत्वावच्छिन्न यावत 'ज्ञान' के प्रति (जन्यज्ञानसामान्य के प्रति) आत्मा के साथ मन सयोग कारण माना गया है। अत प्रत्यक्ष लक्षण की अनुमिति आदि प्रमाओ मे अतिव्याप्ति हो रही है, इस आशका को 'यद्यपि' ग्रन्थ से बताया गया है।

समा०—'तथापी'ति—'प्रत्यक्ष' तो इन्द्रिय जन्य ज्ञान को ही कहते है। सभी ज्ञान यद्यपि मनोरूप इन्द्रिय से जन्य है, तथापि इन्द्रियत्व रूप से इन्द्रिय

जिस ज्ञान मे करण हो वही ज्ञान 'प्रत्यक्ष ज्ञान' है । अभिप्राय यह है कि 'मन' मे दो धम रहते हैं—एक 'मनस्त्व' और दूसरा 'इन्द्रियत्व' । उनमें से ज्ञानत्वावच्छिन्न ज्ञान के प्रति मन को मनस्त्वावच्छिन्नतया कारणता होती है अर्थात् मन मनस्त्व धम से कारण होता है और प्रत्यक्षप्रमामात्र के प्रति मन को इद्रियत्वावच्छिन्नतया कारणता होती है अर्थात् इद्रियत्वधम से 'मन' कारण होता है। चक्षुरादि इद्रिया भी प्रत्यक्षप्रमा के प्रति अपने इद्रियत्व धम से ही कारण होती है । एवञ्च कहना होगा कि प्रत्यक्षप्रमितिनिरूपितकारणता का अवच्छेदक धर्म 'इद्रियत्व' ह । अत इद्रियत्वेन रूपेण यानी इद्रियत्व धम से चक्षुरादि इद्रियो को जिस ज्ञान मे (प्रत्यक्षप्रमात्मक ज्ञान मे) व्यापारवतअसाधारणकारणतारूप करणत्व रहता है उसी ज्ञान को प्रत्यक्षप्रमिति (प्रत्यक्षप्रमा) कहते है । मन को ज्ञानमात्र के प्रति जो कारणता है वह वैसी नही है । अनुमित्यादिसकलसाधारणज्ञान के प्रति मन को मनस्त्वेन रूपेण (मनस्त्व धम से) कारणता होती है, इद्रियत्वेन रूपेण (इन्द्रियत्व धम से) नही । मन को सुखादिसाक्षात्कार करने (सुखादि का प्रत्यक्ष करने) मे ही इद्रियत्वेन रूपण (इद्रियत्व धम से) कारणता होती है, अन्यत्र नही । तथाच ज्ञानमात्र के प्रति 'मन' को साधारण कारण कहा जाता है और चक्षुरादि इद्रियो को तत्तद्रूपादिप्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति असाधारण कारण कहा जाता है । अत इद्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्षम' इस प्रत्यक्ष लक्षण का अर्थ यह हुआ कि 'इद्रियत्वावच्छिन्न — व्यापारसम्बन्धावच्छिन्न—जनकतानिरूपितजन्यतावज्ज्ञानत्वम ।' अनुमिति आदि ज्ञानो में इद्रियत्वावच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यता नही है, अपितु व्याप्तिज्ञानत्वाच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यता है । इसलिये उक्त प्रत्यक्षलक्षणकी अनुमित्यादि ज्ञानो में अतिव्याप्ति नही है ।

कुछ लोग "इन्द्रियत्वेन" का अथ इद्रियत्वव्याप्य चक्षुष्ट्व, घ्राणत्व आदि धम से करते है यानी प्रत्यक्षप्रमा (ज्ञान) के प्रति इद्रियो को इन्द्रियत्वव्याप्य चक्षुष्ट्व-घ्राणत्वादि धर्मेण कारण कहते है अत वे लोग प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार करते हैं—"चक्षुष्टव घ्राणत्वाद्यन्यतमावच्छिन्नव्यापारसम्बन्धावच्छिन्नकारणतानिरूपित-कायतानिरूपितसमवायातिरिक्तसम्बन्धानवच्छिन्नावच्छेदकताश्रयजातिमत्त्वम्प्रत्यक्ष-त्वम् ।"

शका—ईश्वर में समवायसम्बन्ध से रहनेवाली (समवेत) नित्यज्ञानरूप जो प्रत्यक्षप्रमा, वह तो नित्य है, इसलिये उसे इन्द्रियजन्य नही कह सकते, अत ईश्वरसमवेत प्रत्यक्षप्रमा में आपके प्रत्यक्षलक्षण की अव्याप्ति हो रही है ।

समा०—"ईश्वरप्रत्यक्षन्तु न लक्ष्यमिति ।" इद्रियजन्य ज्ञानम प्रत्यक्षम' इस प्रत्यक्षलक्षण का लक्ष्य ईश्वरप्रत्यक्ष नही है, अर्थात् ईश्वरसमवेतनित्यप्रमा, उक्त प्रत्यक्षलक्षण का लक्ष्य नही है, अपितु उस प्रत्यक्षलक्षण का लक्ष्य तो 'जीव का जन्य प्रत्यक्ष' है, अत अव्याप्ति नही है। हमारी उक्ति की पुष्टि सूत्रकार के सूत्र से भी हो रही है। 'इद्रियाथसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मक प्रत्यक्षम'—(न्या सू० १।१।४) इन्द्रियस्य = चक्षुरादिइद्रिय का, अर्थेन=घट-पटादिपदाथ के साथ सन्निकर्षात=सयोगादि छह प्रकार के व्यापार (सम्बन्ध) से उत्पन्नम=उत्पन्न हुआ जो अव्यभिचारि ज्ञान, उसे 'प्रत्यक्ष' कहते है। अव्यभिचारि पद का अथ – भ्रमभिन्न है। यदि सूत्रकार अपने सूत्र में 'अव्यभिचारि' पद न रखते तो 'शुक्तौ इद रजतम' इत्याकारक हानेवाले भ्रमात्मक शुक्ति रजतज्ञान में भी इन्द्रियाथसन्निकषज यता होने से प्रत्यक्षलक्षण की उसम अतिव्याप्ति हो जाती, उसके निवारणाथ उन्होने सूत्र मे 'अव्यभिचारि' पद दिया ह तथाच 'इद्रियाथ-सन्निकर्षोत्पन्न भ्रमभिन्न ज्ञान प्रत्यक्षम' अथात इद्रियाथसन्निकष से उत्पन्न एव भ्रमभिन्न जो ज्ञान हो उसे प्रत्यक्षप्रमा कहते हैं। वह प्रत्यक्षज्ञान दो प्रकार का है—एक अव्यपदेश्य और दूसरा व्यवसायात्मक। 'अय घट, अय पट' इस व्यपदेश (शब्दव्यवहार) के जो अयोग्य हो उसे अव्यपदेश्य यानी **निर्विकल्पक** कहते है तथा व्यवसायात्मक ज्ञान उसे कहते है कि जिस ज्ञान का विषय 'अय घट, अय पट' इत्यादि विशिष्टव्यवहार हो अर्थात विशिष्टव्यवहारविषयक ज्ञान (व्यवसायज्ञान) को सविकल्पज्ञान कहते है। निष्कष यह हुआ कि 'अव्यपदेश्यम' का अथ निर्विकल्प ह और व्यवसायात्मकम' का अथ सविकल्प है। सूत्रकार ने अपने सूत्र मे जीवसमवेत अनित्यप्रत्यक्षप्रमात्मक ज्ञान को ही बताया है। उसी तरह हमने (मुक्तावलीकार ने) भी अनित्यप्रत्यक्षप्रमा का ही लक्षण किया है, जो अनित्य (जन्य) प्रत्यक्ष मे पूणतया घटित होता है। ईश्वरप्रत्यक्ष तो उक्त लक्षण का लक्ष्य ही नही है।

यदि कोई दुराग्रह पर ही अड जाय कि प्रत्यक्षलक्षण को हम तभी निदुष्ट कहेंगे कि जब प्रत्यक्षमात्र (नित्य-अनित्य द्विविध प्रत्यक्ष) उसका लक्ष्य रहे और उसमे वह पूणरूपेण घटित हो जाय। तब उनके सतोष के लिये कहते है—'**अथवेति** प्रत्यक्षप्रमा का दूसरी प्रकार से लक्षण कर लेना चाहिये— ज्ञानाऽकरणक ज्ञानम्प्रत्यक्षम' ऐसा लक्षणान्तर (प्रत्यक्ष का अन्य लक्षण) करने से दोनों प्रकार के (नित्य-अनित्य) प्रत्यक्षो मे वह (लक्षणान्तर) घटित हो

सकेगा। 'ज्ञानाकरणक ज्ञान' अर्थात 'ज्ञानाकरणकत्वेसति ज्ञानत्वम'—प्रथम कहे गये लक्षण से यह भिन्न लक्षण हुआ। ज्ञान न करण यस्य तद ज्ञानाकरणकम तादृश ज्ञान प्रत्यक्षम। 'ज्ञान' पद से व्याप्तिज्ञान, सादृश्यज्ञान, पदज्ञान और अनुभव लेना है। जिस ज्ञान मे उक्त ज्ञानो मे से कोई करण नही हो उस ज्ञान को 'प्रत्यक्षज्ञान' (प्रमा) कहते है यह इस दूसरे लक्षण का अथ हुआ। अनुमिति के प्रति व्याप्तिज्ञान, उपमिति के प्रति सादृश्यज्ञान, शाब्दबोध के प्रति पदज्ञान स्मृति के प्रति अनुभव का करण (साधन) कहा जाता है। एव च प्रत्यक्षातिरिक्त सभी ज्ञान, ज्ञानकरणक है अत उनमे इस लक्षणान्तर की अतिव्याप्तिभी नही है। हम लोगो के प्रत्यक्ष के प्रनि तथा ईश्वर प्रत्यक्ष के प्रति (नित्यानित्य द्विविध प्रत्यक्ष के प्रति) व्याप्तिज्ञानादिको मे से काई भो करण नही है, अत यह द्विविध प्रत्यक्ष ज्ञान (प्रमा) ज्ञानाऽकरणक हुआ। एवञ्च 'ज्ञानाकरणकत्वे सति ज्ञानत्व यह प्रत्यक्ष लक्षण उभयविध प्रत्यक्ष मे पूर्णरूपेण घटित हो जाता है। अत इस प्रत्यक्ष प्रमा के लक्षण को तो निदुष्ट कहना ही होगा।

उक्त लक्षणान्तर मे 'ज्ञानाऽकरणकत्व पद का यदि निवेश नही करेंगे तो अनुमिति आदि ज्ञानो (प्रमाओ) मे अतिव्याप्ति होगी, उसके निवारणाथ 'ज्ञानाकरणकत्व' पद का निवेश करना आवश्यक है।

शका—'ज्ञानाकरणक ज्ञानम्प्रत्यक्षम्' इस लक्षण की योगिप्रत्यक्ष मे अव्याप्ति होगी, क्योकि मनन-निदिध्यासनादि के द्वारा 'योगिप्रत्यक्ष' ज्ञानकरणक ही ह, ज्ञानाऽकरणक नही।

समा०—'ज्ञानाऽकरणकज्ञान' का अथ 'ज्ञानकरणकत्वाऽव्यभिचारिजातिशून्यज्ञान' करना चाहिये। तब ज्ञानकरणकत्वाऽव्यभिचारिजाति, 'अनुमितित्व' आदि जातियाँ ही होगी। अत योगिप्रत्यक्ष मे भी अव्याप्ति नही हैं।

प्रत्यक्षप्रमा को बताकर अब क्रमप्राप्त अनुमितिप्रमा को बताते हैं—**"परामर्श"** इति। परामश से जन्य (उत्पन्न होने वाले) ज्ञान को अनुमिति कहते है। 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधमताज्ञानम्परामश'—यह परामश का लक्षण है। 'वह्निव्याप्यधूमवान् अय पवत' इत्याकारक जो ज्ञान है, वही व्याप्तिविशिष्टपक्ष धमताज्ञान है, उसी को 'परामश' कहते है। इस परामश से 'पवनो वह्निमान्' इत्याकारक जो ज्ञान होता है, उसी को 'अनुमिति' कहते है। अर्थात उक्त परामर्शरूपव्यापारद्वारा व्याप्तिज्ञान जिस ज्ञान का जनक होता है, वह ज्ञान है 'पर्वतो वह्निमान्', और उसी ज्ञान को अनुमितिज्ञान (प्रमा) कहते है। अभिप्राय यह

है कि पवत पर जब हम धूम को देखते है तब महानसमे गृहीत हुई धूम वह्नि की व्याप्ति का स्मरण हो आता है और तब पवत पर हुआ धूमज्ञान उस व्याप्ति-स्मृति से विशिष्ट हो जाता है। तदन तर 'वह्नि से व्याप्य (व्याप्तिविशिष्ट) धूम-वाला यह पवत है' अर्थात् जिस धूम की वह्नि के साथ व्याप्ति (नित्य सम्बन्ध) है, उस धूम से युक्त यह पवत है। यही है व्याप्तिविशिष्ट (धूम) का पक्षधमता (पक्षवृत्तित्व) ज्ञान' और इसी को परामश कहते है। इस परामश के होते ही 'पवतो वह्निमान्'—पवत वह्निवाला है—यह अनुमिति प्रमा तत्काल हो जाती ह। इसलिए 'परामशजन्य ज्ञानमनुमिति' अर्थात 'परामशजन्यत्वेसतिज्ञानत्वम्' यह अनुमिति का लक्षण किया गया ह। उक्त लक्षग मे सत्यन्त अश का निवेश प्रत्यक्ष, उपमिति आदि प्रमात्मक ज्ञानो मे अतिव्याप्ति के निरासाथ किया गया है और विशेष्य (ज्ञानपद) अश का निवेश परामश ध्वस मे अतिव्याप्ति के निरासार्थ किया गया है। एवच उक्तलक्षण का अथ 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधमताज्ञानजन्यत्वेसति ज्ञानत्वम' समझना चाहिये।

शका— यद्यपीति। उपयुक्त अनुमितिलक्षण की 'प्रत्यक्ष' मे अतिव्याप्ति होगी। तथाहि—घट का प्रत्यक्ष, घटजन्य है। घटप्रत्यक्ष में विषयविधया 'घट' कारण है, अत कारणतावच्छेदक 'विषयत्व' हुआ, 'घटत्व' नही। क्योकि घट में जो कारणता है, वह विषयविधया है। उसी तरह 'वह्निव्याप्यधूमवान् पवत' इत्याकारक परामर्शात्मकज्ञान का भी मानसप्रत्यक्षात्मकज्ञान 'परामश जानामि' इस रूप में होता है। इस मानसप्रत्यक्षात्मकज्ञान में भी विषयविधया 'परामश' कारण ह। एवच परामशप्रत्यक्ष परामशजन्य ही हुआ। अत परामशजन्य होने से परामर्शप्रत्यक्ष में अनुमितिलक्षण की अतिव्याप्ति स्पष्ट है। "परामशप्रत्यक्षा-दिकम" यहाँ 'आदि' शब्द से परामर्शध्वस को भी समझना चाहिए। परामशध्वस भी प्रतियोगिविधया परामशजन्य है, क्योकि 'स्वध्वसप्रति स्वस्य कारणत्वम' यह नियम ह। एवच परामशजन्य परामशध्वस मे अनुमितिलक्षण की अतिव्याप्ति हो रही है।

समा —'तथापी'ति। शका करनेवाले ने जो कहा कि 'परामश का प्रत्यक्ष तथा परामश का ध्वस भी परामशजन्य है, क्योकि अपने प्रत्यक्ष मे परामश को विषयविधया कारणता है तथा अपने ध्वस मे परामर्श को प्रतियोगिविधया कारणता है', वह ठीक ह। किन्तु हमने जो अनुमिति का लक्षण किया है, उसका तात्पय इस प्रकार है—हेतु को विषय न करनेवाला जो परामशजन्य 'पवतो

वह्निमान' इत्याकारक ज्ञान, वह 'अनुमिति' है। वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वत' इत्याकारक परामर्शात्मक ज्ञान में हेतु का भान होता है तथा तादृशज्ञानविषयक अनुव्यवसायात्मक परामर्शप्रत्यक्ष में भी हेतु का भान होना निश्चित ही है। क्योंकि 'ज्ञानेन यद् यद् विषयीक्रियते, ज्ञानज्ञानेनाऽपि (अनुव्यवसायात्मकेन-ज्ञानेनापि) तदवश्य विषयीक्रियते' यह नियम है। इसी को अध्यापन परिपाटी के अनुसार भी समझिये—'परामर्शजन्य ज्ञानमनुमिति' इस लक्षण को थोड़ा सा परिष्कृत करते हैं, जिससे दोष की आशका नही रहेगी। 'परामर्शजन्यत्वे सति हेत्वविषयकत्वे सति ज्ञानत्वम्'—अनुमिति। अनुमिति का यह परिष्कृतलक्षण है। परामर्श से जन्य (उत्पन्न हुई) 'पर्वतो वह्निमान' इस अनुमिति में 'पर्वत और वह्नि' दोनो विषय हैं। इस अनुमिति मे 'धूम'रूप हेत्वंश का प्रवेश नही है। किन्तु 'वह्निव्याप्यधूमवत्पर्वत पश्यामि अथवा जानामि' इत्याकारक परामर्शज य प्रत्यक्ष मे और 'वह्निव्याप्यधूमवत्पर्वतवान देश' इस विशिष्ट-वैशिष्ट्यज्ञान मे धूमात्मक (धूमरूप) हेत्वंश प्रविष्ट है। अत ये दोनो ज्ञान 'हेत्वविषयक' न होकर 'हेतुविषयक' ही हुए। किन्तु 'पर्वतो वह्निमान' इत्याकारकज्ञान, हेतु (धूम) को विषय नही करता, इस कारण यह 'हेत्वविषयक' है, इसलिये यही ज्ञान 'अनुमिति' रूप है। एवच हेतुविषयक होने से (हेत्वविषयक न होने से) परामर्शजन्यप्रत्यक्ष तथा उसके अनुव्यवसायात्मकज्ञान दोनो में अनुमितिलक्षण की अतिव्याप्ति नही हो रही है।

शका—'न च कादाचित्केति।' किसी किसी स्थल मे हेतु का भी भान पक्षतावच्छेदकरूप से अनुमिति में होता है। जैसे – धूमवान पर्वतो वह्निमान' इस अनुमिति में धूमरूप हेतु का पक्षतावच्छेदकरूप से (पक्षतावच्छेदकविधया अर्थात पक्षनिष्ठविशेषणत्वेनरूपेण) भान होता है, इस कारण यह ज्ञान अनुमिति रूप होने पर भी हेत्वविषयक नही है, अपितु धूमात्मकहेतुविषयक ही है। अत हेतु को भी विषय करनेवाली 'धूमवान पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति मे ही आपके परिष्कृतअनुमितिलक्षण की अव्याप्ति हो रही है।

समा —'तादृशज्ञानेति।' परामर्श से उत्पन्न होनेवाला जो हेत्वविषयक-ज्ञान अर्थात 'पर्वतो वह्निमान' यह अनुमितिरूप ज्ञान, उसमें रहनेवाली वृत्ति) जो अनुभवत्व की व्याप्यजाति (अनुमितित्वजाति), तादृशजातिमान (अनु-मितित्वजातिमान) समस्त अनुमितिज्ञान हुआ, तब समस्त अनुमिति के अ तर्गत 'धूमवान् पर्वतो वह्निमान्' यह ज्ञान भी तादृशजातिमान् हुआ। अत अनुमितित्व

का जातिघटितलक्षण 'धूमवान् पर्वतो वह्निमान' में समन्वित हो जाने से अव्याप्ति नहीं है। मुक्तावली के 'तादृशज्ञानवृत्ति०' पद में तादृश-ज्ञान पद से 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्यज्ञान' समझना चाहिये। एवञ्च व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्य जो अनुमितिरूप 'पर्वतो वह्निमान' इत्याकारकज्ञान, उसमें वर्तमान जो अनुभवत्वव्याप्यजाति—' अनुमितित्वजाति', वह समवायसम्बन्ध से जहा रहती हो उसी को 'अनुमिति' प्रमा समझनी चाहिये। इस प्रकार जातिघटित लक्षण करने से 'धूमवान् पर्वतो वह्निमान' इस अनुमिति में हेत्वविषयकत्वरूप विशेषणांश के न रहने पर भी अनु-भवत्वव्याप्यअनुमितित्वजातिरूप विवक्षित धर्म के विद्यमान रहने से अव्याप्ति की आशंका नहीं की जा सकती। अनुमितिलक्षण का अन्तिमआकार यह हुआ— 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्यानुमितिज्ञानवृत्त्यनुभवत्वव्याप्यजातिमत्त्वम् —अनु-मितित्वम। लक्षण में दिये गये जन्यान्त अंश से 'घटज्ञान' मे अतिव्याप्ति नहीं हो पायी। लक्षण में दिये गये द्वितीय ज्ञान' पद से 'ध्वंस मे अनुभवत्वव्याप्य-जाति की अप्रसिद्धि से उपस्थित होनेवाले असम्भव दोष का वारण हो गया है। सत्ताजाति को लेकर प्रत्यक्ष आदि मे होनेवाली अतिव्याप्ति का वारण 'अनु भवत्वव्याप्य कहने से हो जाता है। यहा 'जातिमत्व' समवायसम्बन्ध से विवक्षित है। अन्यथा कालिकसम्बन्ध मे अनुभवत्वव्याप्यजातिमान् 'काल भी होगा, तब उसमे लक्षण के प्रविष्ट हो जाने से अतिव्याप्ति हो जायगी। समवायसम्बन्ध की विवक्षा करने पर काल में अतिव्याप्ति नहीं होगी। इस प्रकार परिष्कृत किये गये अनुमिति लक्षण का स्पष्ट अर्थ यह किया जायगा—'व्याप्तित्वावच्छिन्नप्रका-रतानिरूपितहेतुतावच्छेदकावच्छिन्नप्रकारतानिरूपित-पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नविशेष्य-ताशालिनिश्चयत्वावच्छिन्ननिष्ठजनकतानिरूपितजन्यतावत्— पक्षतावच्छेदकावच्छि-न्नोद्देश्यतानिरूपितसाध्यतावच्छेदकावच्छिन्नविधेयताकज्ञानवृत्त्यनुभवत्वन्यूनवृत्तिजा तिनिष्ठाऽधेयतानिरूपितसमवायावच्छिन्नाधिकरणतावत्त्वम्'—**अनुमितित्वम्।**

'परामर्शजन्य' का 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्य' अर्थ होता है, तथाच इसमे 'पक्षधर्मता' का निवेश होने से शरीरकृतगौरव है। इसलिये लघुलक्षण बताने के लिये कहते है—'**अथवे**'ति। अथवा **व्याप्तिज्ञानकरणक ज्ञानमनुमिति**। व्याप्तिज्ञान करण हो जिस ज्ञान का वह अनुमितिज्ञान है। अनुमान-खण्ड मे उनहत्तरवी (६९) कारिका के द्वारा बताया जानेवाला जो **व्याप्तिज्ञान** अर्थात् हेतुमन्निष्ठात्यन्ताऽभावाऽप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यात्मकधर्मरूपव्याप्ति

का धूम मे प्रकारतया होनेवाला यत्र धूम तत्र वह्नि ' इत्याकारक साध्य और हेतु का साहचयरूप जो प्रत्यक्ष ज्ञान है वही है करण (व्यापारवतअसाधारण-कारण) जिस ज्ञान का, उस ज्ञान को 'अनुमिति कहते है। अभिप्राय यह है कि अनुमिति के भेद से व्याप्ति का भेद होने से धूमहेतुक वह्नि की अनुमिति मे यद्यपि धूमनिष्ठव्याप्ति करण रहने पर भी भस्मलिङ्गक वह्नि की अनुमिति मे वह (धूमनिष्ठव्याप्ति) करण नही है, अत अव्याप्ति होगी। इसलिये किसी एक व्याप्ति को लेकर तदव्याप्तिज्ञानकरणकज्ञानवृत्ति अनुभवत्वव्याप्यजातिमत्त्व' अथवा 'व्याप्तिज्ञानत्वावच्छिन्नकरणकत्व' लक्षण करने पर कोई दोष नही होगा। लक्षण में 'व्याप्ति' पद के देने से उपमिति आदि मे अतिव्याप्ति नही हो पायी। व्याप्ति-करणकव्याप्त्यनुव्यवसायज्ञान मे अतिव्याप्ति के वारणाथ 'ज्ञान पद दिया गया है। व्याप्तिज्ञानजन्य परामश मे अतिव्याप्ति के वारणाथ 'करणकम' कहा गया है। व्याप्तिज्ञानकरणक परामशजन्यसस्कार मे अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिये द्वितीय 'ज्ञान' पद दिया गया है।

क्रमश अन्य प्रमाओ का भी लघुलक्षण कह रहे है—**एवमिति**। एव '**सादृश्यज्ञानकरणक ज्ञानमुपमिति**।' सादश्यज्ञान है करण जिस ज्ञान का, उस ज्ञान को **उपमिति** कहते है। लक्षण मे '**सादृश्य**' पद के देने से प्रत्यक्षादि में अतिव्यप्ति नही हो पाती। '**ज्ञान**' पद के देने से सादश्यकरणक सादश्यानु-व्यवसाय में अतिव्याप्ति नही हो पाती। '**करणकम्**' पद के देने से वाक्याथ स्मरणात्मक व्यापार में अतिव्याप्ति नही होती। विशेष्यभूत द्वितीय '**ज्ञान**' पद के देने से सादश्यज्ञानकरणक वाक्यार्थस्मरणजन्यसस्कार मे अतिव्याप्ति नही हो सकी।

'**पदज्ञानकरणक ज्ञान शाब्दबोध** —पदज्ञान ह करण जिस ज्ञान का, उस ज्ञान को शाब्दबोध (शाब्द प्रमा) कहते है। प्रत्यक्ष आदि मे अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये 'पद' का निवेश किया है। पदकरणक-पदानुव्यवसाय में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये 'ज्ञान' का निवेश है। पदाथस्मरण में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये करणकम' कहा है पदज्ञानकरणक पदाथ-स्मरणजन्यसस्कार मे अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये विशेष्यभूत द्वितीय 'ज्ञान' पद दिया गया ह।

शङ्का—अनुमिति आदि प्रमाओ के प्रति व्याप्तिज्ञानत्वादिरूप से कारणता न मानकर केवल मनस्त्वेन रूपेण कारणता मानी जाय। रही बात अनुमित्यादि

फलवैलक्षण्य की, तो वह सामग्रीभेद से ही सम्पन्न हो जायगा। जैसे प्रत्यक्ष के प्रति मनस्त्वेन रूपेण करणता रहने पर भी चक्षुरादि सामग्री भेद से चाक्षुषादि प्रमा का भेद हो जाता है वैसे ही यहाँ पर भी हो जायगा। एवच उपरि प्रदर्शित लक्षणो में असम्भव दोष है। इस कारण सिद्धान्त लक्षण कहते है—"**वस्तुतस्तु**" इति। '**या काञ्चिदिति**।' वस्तुत 'पवतो वह्निमान' इत्यादि जैमी किसी भी विशेष अनुमिति को लेकर उस अनुमितिरूप व्यक्ति मे रहनेवाली और प्रत्यक्षज्ञान मे न रहनेवाली जा जाति करके अनुमितित्व जाति होगी, तद्वत्त्व अनुमिति मे होगा। अर्थात 'अनुमितित्वजातिमत्त्वमेव अनुमितित्वम' यह अनुमिति का लक्षण है। मूलस्थ लक्षण म **वृत्त्यन्तअश,** घट मे अतिव्याप्ति के निवारणाथ ह। '**प्रत्यक्षाऽवृत्ति**' अश अनुभवत्व को लेकर प्रत्यक्षादि मे अतिव्याप्ति के निवारणाथ है। '**जाति**' पद अनुमिति उपमिति दोनो मे से किसी को लेकर उपमिति मे अतिव्याप्ति के वारणाथ ह। जातिमत्त्व की समवाय से विवक्षा है, अन्यथा अनुमितित्ववत्त्व, काल मे कालिक सम्बन्ध से रहने के कारण काल म अतिव्याप्ति होगी, किन्तु समवायसम्बन्ध की विवक्षा करने पर नही होगी।

इसी प्रकार अनुमितिलक्षण की तरह लाघव की दृष्टि से प्रत्यक्ष आदि मे भी प्रत्यक्ष लक्षण को घटा लेना चाहिये—'**प्रत्यक्षत्वादिकमि**'ति। तथाहि—'यत्किञ्चिदघटप्रत्यक्षमादाय तत्र घटप्रत्यक्षे वतमाना अनुमितौ अवतमाना प्रत्यक्षत्व-जाति, तद्वत्त्व प्रत्यक्षप्रमालक्षणम, अर्थात प्रत्यक्षत्वजातिमत्त्व प्रत्यक्षप्रमालक्षणम'। भाव यह हुआ कि 'अय घट' इस प्रत्यक्ष को लेकर उस प्रत्यक्षव्यक्ति में वत्ति और अनुमिति मे अवत्ति जो जाति अर्थात प्रत्यक्षत्वजाति, तादशजातिमत्त्व ही प्रत्यक्षप्रमा का लक्षण है। अभिप्राय यह ह—प्रत्यक्षत्वजाति जिसमे हो उसे प्रत्यक्षप्रमा समझनी चाहिये। 'तदव्यक्तिवृत्त्यनुमित्यवत्तिजातिमत्त्वम'–प्रत्यक्षत्वम। इस लक्षण में 'वत्यन्त अश' से घट में अतिव्याप्ति नही होती। 'अनुमित्यवृत्ति' कहने से अनुभवत्व का लेकर अनुमिति आदि मे अतिव्याप्ति दूर होती ह। प्रत्यक्ष, उपमिति इन दोनो मे से किसी एक को लेकर उपमिति मे अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये 'जाति' पद दिया है। जातिमत्त्व को समवायसम्बन्ध से जानना चाहिये, अन्यथा कालिक सम्बन्ध से प्रत्यक्षत्ववत्त्व काल मे भी रहने से अतिव्याप्ति होगी।

मूल मे 'प्रत्यक्षत्वादिकम' कहा है, वहा 'आदि' पद से 'गवयो गवयपदवाच्य' इस प्रकार यत्किञ्चित उपमिति व्यक्ति को लेकर तदव्यक्तिवत्ति और प्रत्यक्ष मे

अवत्ति जो जाति, तद्वत्त्व होना उपमिति प्रमा का लक्षण समझना चाहिये। घट में अतिव्याप्ति का वारण वत्यन्त' अश से, अनुमिति आदि मे अतिव्याप्ति का वारण प्रत्यक्षावत्ति' कहने से, उपमिति शाब्दबोधान्यतरत्व को लेकर शाब्दबोध में अतिव्याप्ति का वारण 'जाति' पद से हो जाता है। जातिमत्त्व को समवाय से ग्रहण करना चाहिये अन्यथा उपमितित्ववत्त्व, कालिक सम्बन्ध से काल मे भी रहने के कारण अतिव्याप्ति होगी।

इसी प्रकार यत्किञ्चित शाब्दबोधव्यक्ति को लेकर तदव्यक्तिवत्ति और प्रत्यक्षाऽवृत्ति जातिमत्त्व जिसमे हो, उसे शाब्दबोध कहत है, यह शाब्दबोध का लक्षण ह। घट मे अतिव्याप्ति के वारणाथ 'वृत्यन्त' कहा है। प्रत्यक्षादि मे अतिव्याप्ति के वारणाथ 'प्रत्यक्षाऽवत्ति', शाब्दबोध और अनुमिति दोनो मे स अन्यतर को लेकर अनुमिति में अतिव्याप्ति के वारणाथ 'जाति' पद दिया गया है। जातिमत्त्व को समवाय से लेने पर 'काल' मे अतिव्याप्ति नही होगी।

॥ इति प्रत्यक्षादिप्रमालक्षणकथनम ॥

* घ्राणजादिप्रभेदेन प्रत्यक्षं षड्विधं मतम् ॥५२॥

लौकिक सन्निकषजन्य पूर्वोक्त प्रत्यक्ष, घ्राणज आदि भेद से छह प्रकार का होता है। अर्थात अलौकिकसन्निकषजन्य प्रत्यक्ष तीन प्रकार का होता ह— यह भी आगे त्रिसठवी (६३) कारिका के द्वारा बताया जायगा, यह ध्वनित होता है।

●जन्यप्रत्यक्षं विभजते घ्राणजादीति। घ्राणज रासन चाक्षुष स्पार्शन श्रौत्र मानसमिति षड्विध प्रत्यक्षम्। न चेश्वरप्रत्यक्षस्याविभाजनान्न्यूनत्वम्, जन्यप्रत्यक्षस्यैव निरूपणीयत्वादुक्तसूत्रानुसारात्। ५२॥

● **जन्यप्रत्यक्षं विभजते इति।** जन्य प्रत्यक्ष का विभाग करते है। यहा पर 'वि'पूवक भज' धातु का अथ 'स्वसमभिव्याहृतपदाथतावच्छेदक-व्याप्य मिथोविरुद्धयावद्धमप्रकारकज्ञानानुकूल व्यापार' है। 'स्व' पद से 'विभजति' को अर्थात 'वि पवक भज' धातु का समझना चाहिये। तथाच— सर्वानुगतैकजन्य-प्रत्यक्षत्वाऽवान्तर घ्राणजत्वाद्यवान्तरजात्यवच्छिन्नधर्मिप्रतिपादनानुकूलकृतिमान ग्रथ कार' यह जन्यप्रत्यक्ष विभजते' का शाब्दबोध होता है।

घ्राणजादिभेद से प्रत्यक्ष के छह प्रकार बताते है—**घ्राणजमिति।** **'घ्राणजम'** अर्थात् घ्राणेन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष, **'रासनम्'** अर्थात रसनेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष **'चाक्षुषम्'** अर्थात चक्षुरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष, **'स्पार्शनम्'** अर्थात् त्वगिन्द्रिय

जन्यप्रत्यक्ष, **'श्रौत्रम्'** अर्थात श्रोत्रेन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष, **'मानसम्'** अर्थात मनइन्द्रिय-जन्यप्रत्यक्ष, इस रीति से प्रत्यक्ष के छह प्रकार समझने चाहिये।

शका—'न चेश्वरेति' छह प्रकार की प्रत्यक्ष प्रमा के समान ही सातवी ईश्वर समवे त्यक्ष प्रमा को क्यो नही बताया गया ? अत ग्रन्थ मे यह कमी (न्यूनता ह गयी।

समा०—जन्येति। जन्य अर्थात इन्द्रियजन्य जो जीवात्मा मे समवेत प्रमात्मकप्रत्यक्ष है, वही 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम' इस गौतमसूत्र के अनुसार विभाज्यत्वेन अभिप्रेत होने से उसी का (जन्यप्रत्यक्ष का) निरूपण और उसी का विभाग दिखाया गया है ।।५२।।

।। इति प्रत्यक्षादिप्रमालक्षणकथनम ।।

ॐ घ्राणस्य गोचरो गन्धो गन्धत्वादिरपि स्मृतः।
तथा रसो रसज्ञायास्तथा शब्दोऽपि च श्रुतेः ।।५३।।

जिन इन्द्रियो मे जिस विषय के ग्रहण की शक्ति है, उसे पृथक् पृथक् दिखाते है। **घ्राणस्येति।** गोचर, ग्राह्य विषय—ये पर्याय शब्द है। घ्राणेन्द्रिय का गोचर (प्रत्यक्ष विषय) अर्थात घ्राणेन्द्रिय के द्वारा गन्धगुण, गन्धत्व जाति और 'आदि' शब्द से सुरभित्व, असुरभित्व तथा गन्धाभाव और गन्धत्वाभाव का ग्रहण होता है। उसी तरह रसगुण, रसत्वजाति, रसाभाव और रसत्वाभाव का रसनेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण होता है। रसज्ञा का अर्थ रसनेन्द्रिय है। उसी प्रकार शब्द, शब्दत्व, शब्दाभाव और शब्दत्वाऽभाव का ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय से होता है।

☯ गोचर इति ग्राह्य इत्यर्थः। गन्धत्वादिरिति। आदिपदात् सुरभित्वादिपरिग्रहः। गन्धस्य प्रत्यक्षत्वात् तद्वृत्तिजातिरपि प्रत्यक्षा। गन्धाश्रयग्रहणे तु घ्राणस्य न सामर्थ्यमिति बोध्यम्। तथा रस इति। रसत्वादिसहित इत्यर्थः। तथा शब्दोऽपि शब्दत्वादिसहितः। गन्धो रसश्च उद्भूतो बोध्यः ।।५२।।

● गोचर शब्द का अर्थ **'ग्राह्य'** है। कारिकागत 'आदि' पद से गन्धत्व-व्याप्य सुरभित्व आदि का ग्रहण है। 'सुरभित्वादि' यहा 'आदि' पद से 'असुरभित्व' को लेना चाहिये। गन्ध का घ्राणेन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष होना है।

इस कारण तदवृत्ति अर्थात गन्ध मे रहनेवाली गन्धत्वजाति का भी उसी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है। निष्कष यह है कि 'येनेन्द्रियेण यद गृह्यते तेनैवेन्द्रियेण तन्निष्ठा जाति तदभावश्च गह्येते'—जिस इन्द्रिय से जिसका ग्रहण किया जाता है उसी इन्द्रिय से उसकी जाति तथा उसके अभाव का भी ग्रहण किया जाता है—इस नियम के अनुसार घ्राणेन्द्रिय से गन्ध का और रसनेन्द्रिय से रस का तथा श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का ग्रहण (प्रत्यक्ष ज्ञान) होता है, इसलिये गन्धनिष्ठ ग धत्वजाति और गन्धाभाव आदि का और रसनिष्ठ रसत्वजाति और रसाभाव का तथा शब्दनिष्ठ शब्दत्वजाति और शब्दाभाव आदि का भी ग्रहण उसी इन्द्रिय से होता है।

शका—घ्राणेन्द्रिय से ग धगुण का जैसे प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही ग धगुणाश्रय पथ्वी का प्रत्यक्ष भी उसी इन्द्रिय से क्यो नही होता ?

समा०—गन्धाश्रय अर्थात ग धसमवायिकारण पृथिवी का प्रत्यक्ष करने का सामथ्य घ्राणेन्द्रिय मे नही है। द्रव्य का साक्षात्कार (प्रत्यक्ष) करने का सामथ्य (शक्ति) चक्षुरिन्द्रिय और त्वगिन्द्रिय मे ही होता है, अन्य इन्द्रियो मे नही। क्योकि अन्य इन्द्रिया योग्यविषय की ही अवभासक होती है। **'तथा रस इति'। रसत्वादिसहित इत्यर्थ** । यहा 'आदि' पद से मधुरत्व, अम्लत्व, लवणत्व, कटुत्व, कषायत्व तिक्तत्व का ग्रहण करना चाहिये। **'तथा शब्दोऽपि शब्दत्वादि सहित '**। यहा भी 'आदि' शब्द से कत्व, खत्व आदि को समझना चाहिये। अनुदभूत गन्ध का, अनुद्भूत रस का ग्रहण न हो पाने से (प्रत्यक्ष ज्ञान न होपाने से) **'गन्धो रसश्च उद्भूतो बोध्य'** कहा गया है। अर्थात उद्भूत गन्ध का उद्भूत रस का ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, अनुदभूत गन्ध, रस का नही। 'यदि वह प्रत्यक्ष के प्रयोजक सन्निकष से युक्त होता तो अवश्य उपलब्ध होता' इस आपादन का विषय बनना ही **'उद्भूतत्व'** है। 'यद्येतत्प्रत्यक्षप्रयोजकसन्निकषवत् स्यात्तर्हि उपलभ्येत' इत्यापादनविषयत्वमुद्भूतत्वम ॥५३॥

✪उद्भूतरूप नयनस्य गोचरो द्रव्याणि तद्वन्ति पृथक्त्वसङ्ख्ये।
विभागसंयोगपरापरत्वस्नेहद्रवत्वं परिमाणयुक्तम् ॥५४॥

क्रिया जातिर्योग्यवृत्तिः समवायश्च तादृशः।
गृह्णाति चक्षुः सम्बन्धादालोकोद्भूतरूपयोः ॥५५॥

उद्भूतरूपम् = चक्षुरिन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष करने योग्यरूप। **गोचर** = ग्रहण करने योग्य अर्थात ग्राह्य विषय। **तद्वन्ति** (उदभूतरूपवन्ति) = चक्षुरिन्द्रियद्वारा प्रत्यक्षयोग्यरूपवाले। **परिमाणयुक्तम्** = परिमाणसहित अर्थात परिमाण। 'परिमाणयुक्तम'—यह विशेषण है और 'विभागसयोगपरापरत्वस्नेह द्रवत्व' यह विशेष्य है। अभिप्राय यह है कि जैसे विभाग आदि का प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही परिमाण का भी प्रत्यक्ष होता ह। **योग्यवृत्ति** = प्रत्यक्ष के योग्य। **तादृश** = वैसा ही प्रत्यक्षयोग्य। **सम्बन्धात्** = सयोग सम्बन्ध से।

अन्वय—उदभूतरूप नयनस्य गोचर (स्मृत)। तद्वन्ति (उद्भूतरूपवन्ति) द्रव्याणि नयनस्य गोचराणि (स्मृतानि), परिमाणयुक्त विभागसयोग परापरत्वस्नेहद्रवत्व योग्यवृत्ति क्रिया योग्यवृत्ति जाति योग्यवृत्ति समवायश्च, चक्षु आलोकोदभूतरूपयो सम्बन्धात गृह्णाति।

अर्थ - उदभूतरूप, रूपत्व, रूपाभाव तथा उदभूतरूपवाले द्रव्य अर्थात पथ्वी, जल, तेज तथा पृथ्वीत्व, जलत्व और उनका अभाव तेजस्त्व, पथक्त्व और सख्या, विभाग एव सयोग, परत्व अपरत्व, स्नेह, द्रवत्व, परिमाण, प्रत्यक्ष के योग्य-द्रव्य की उत्क्षेपणादि पाच प्रकार की क्रिया, जाति तथा समवाय सबका ग्रहण चक्षुरिन्द्रिय द्वारा प्रकाश तथा उद्भूतरूप के सम्बन्ध से होता ह।

☯ उद्भूतरूपमिति। ग्रीष्मोष्मादावनुद्भूत रूपमिति न तत्प्रत्यक्षम्। तद्वन्ति = उद्भूतरूपवन्ति ॥५४॥

मूल कारिका मे 'उदभूत' पद के देने से यह सूचित हुआ है कि ग्रीष्म-ऋतु मे होनेवाली भाप (वाष्प) मे तथा भजनकपालस्थवह्नि में 'रूप उदभूत न होने से (अनुदभूत रूप होने से) उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नही होता। '**तद्वन्ति**' पद का अथ उदभूतरूपवन्ति अर्थात् उदभूतरूपवाले द्रव्य किया ह ॥५४॥

योग्येति। पृथक्त्वादिकमपि योग्यव्यक्तिवृत्तितया बोध्यम्। तादृश योग्यव्यक्तिवृत्तिरित्यर्थ। चक्षुर्योग्यत्वमेव कथ तदाह—गृह्णातीति आलोकसयोग उद्भूतरूप च चाक्षुषप्रत्यक्षे कारणम्। तत्र द्रव्यचाक्षुष प्रति तयो समवायसम्बन्धेन कारणत्वम्। द्रव्यसमवेतरूपादिप्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवायसम्बन्धेन। द्रव्यसमवेतसमवेतस्य रूपत्वादे प्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवेतसमवायसम्बन्धेनेति ॥५५॥

● **योग्येति।** पृथक्त्व और सख्या आदि का भी प्रत्यक्ष, चक्षु प्रत्यक्षयोग्य

पदाथ मे ही होता है। अर्थात चक्षु प्रत्यक्षयोग्यपदाथसमवेत होने पर ही होता है। अतएव परमाणु आदि जो चक्षु प्रत्यक्षायोग्य व्यक्ति है, उनमे रहनेवाले पथक्त्व सख्या आदि का चाक्षुष प्रत्यक्ष नही होता है। **चक्षुर्योग्यत्वमेवेति।** पृथक्त्वादि मे चक्षुजन्यप्रत्यक्षविषयता किस कारण (प्रयोजक) से होती है? उत्तर दे रहे है—'**गृह्णातीति**।' आलोकसयोग और उदभूतरूप, चाक्षुषप्रत्यक्ष मे कारण हाते है। आलोक (प्रकाश) सयोग को यदि कारण नही कहे तो अन्धेरे मे घट पटादि का भी चक्षु प्रत्यक्ष होना चाहिये लेकिन होता नही। उदभूतरूप को कारण न कहे तो पिशाचादिको का भी चक्षु प्रत्यक्ष होना चाहिये, लेकिन होता नही। अत दोनो को कारण कहा गया ह। अर्थात दोनो को कारण मानने मे तर्कजन्य निश्चय ही प्रमाण ह। 'यदि आलोकसयोग कारण न स्यात तदा अन्धकारेऽपि घटादीना चाक्षुषप्रत्यक्ष स्यात, एव यदि उदभूतरूप कारण न स्यात तदा पिशाचादीनामपि प्रत्यक्ष स्यात्।' उन दोनो के कारणतावच्छेदक-सम्ब ध को बताते है—'**तत्रेति**'। घट पट आदि द्रव्यो के चाक्षुष प्रत्यक्ष मे आलोकसयोग और उदभूतरूप को समवायसम्बन्ध से कारणता होती है। अर्थात आलोकसयोग और उद्भूतरूप का कारणतावच्छेदक सम्बन्ध 'समवाय' है। क्योकि घट और आलोक दोनो का सयोग उभयवृत्ति है और गुण-गुणी का सम्बन्ध 'समवाय' होता है यह नियम है। उसी प्रकार उद्भूतरूप भी घट पटादि द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहता है। विषयनिष्ठ साक्षात्कार के प्रति उन दोनो (आलोक सयोग और उदभूतरूप) को समवायसम्बन्ध से ही कारणता हुआ करती है। **द्रव्यसमवेतरूपादीति**। घट पटादि द्रव्यो मे समवेत रूपादि के प्रत्यक्ष मे स्वाश्रय-समवायसम्बन्ध से दोनो कारण होते हैं। यहा 'स्व' शब्द से आलोक सयोग और उदभूतरूप को लेना चाहिये। दोनो का आश्रय समवायसम्बन्ध से 'घट' होगा। उस घट म समवायसम्बन्ध से रूप रहता है। इस परम्परासम्बन्ध से कारण (आलोकसयोग और उद्भूतरूप), घटरूप मे वतमान है। तथाच घटादि द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से वतमान जो रूप रसादि, उसका विषयता सम्बन्ध से जो प्रत्यक्ष होता है उसमे स्वाश्रयसमवायसम्बन्ध से आलोकसयोग और उदभूतरूप कारण होते है। '**द्रव्यसमवेतसमवेतस्येति**।' उसी प्रकार घटादि द्रव्य में समवेत जो रूपादि, उनमें समवेत जो रूपत्वादि, उनके प्रत्यक्ष मे 'स्वाश्रयसमवेतसमवायसम्बन्ध' से आलोकसयोग और उद्भूतरूप कारण होते हैं। 'स्व' शब्द से आलोकसयोग और उद्भतरूप लेना, उनका आश्रय घट, उसमें

समवेत रूप आदि, उसमे 'रूपत्व समवायसम्बन्ध से रहता है, इस प्रकार 'रूपत्व' के प्रति परम्परासम्बन्ध से आलोकसयोग और उदभूतरूप कारण है। अत रूपत्व के प्रत्यक्ष मे उक्त परम्परासम्बन्ध से आलोकसयोग और उदभूतरूप कारण होते है ॥ ५५ ॥

*** उद्भूतस्पर्शवद्द्रव्य गोचरः सोऽपि च त्वचः।**
रूपान्यच्चक्षुषो योग्यं रूपमत्रापि कारणम् ॥५६॥
द्रव्याध्यक्षे—

अर्थ—उदभूत स्पर्श, स्पर्शत्व तथा उद्भूतस्पर्शवान द्रव्य ये सब त्वगिन्द्रिय से ग्राह्य होते हैं। रूप, रूपत्व (नीलत्व आदि) जाति के सिवाय जो भी चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष के योग्य है, उसका त्वगिन्द्रिय से भी प्रत्यक्ष होता है। त्वगिन्द्रिय से होनेवाले द्रव्य के प्रत्यक्ष में 'रूप' कारण है। अर्थात रूपरहित द्रव्य का यदि स्पर्श भी हो तो उस द्रव्य का प्रत्यक्ष नही हो सकता। अतएव वायु का प्रत्यक्ष नही माना जाता, परन्तु रूपयुक्त घट का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है और उसी घट का त्वचा से भी प्रत्यक्ष हो सकता है।

उद्भूतेति। उद्भूतस्पर्शवद्द्रव्य त्वचो गोचर। सोऽपि=उद्भूतस्पर्शोऽपि, स्पर्शत्वादिसहित। रूपान्यदिति। रूपभिन्न रूपत्वादिभिन्न च यच्चक्षुषो योग्य तत्त्वगिन्द्रियस्यापि ग्राह्यम्। तथा च पृथक्त्वसङ्ख्यादयो ये चक्षुर्ग्राह्या गुणा उक्ता, एव क्रियाजातयो योग्यवृत्तयश्च ते त्वचो ग्राह्या इत्यर्थ।

अत्रापि त्वगिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षेऽपि रूप कारणम्। तथा च बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षे रूप कारणम्।

नवीनास्तु बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षमात्रे न रूप न वा स्पर्श कारण प्रमाणाभावात् किन्तु चाक्षुषप्रत्यक्षे रूप स्पार्शनप्रत्यक्षे स्पर्श कारणमन्वयव्यतिरेकात्। बहिरिन्द्रियजन्येद्रव्यप्रत्यक्षमात्रे किं कारणमिति चेत्, न किञ्चित्, आत्मावृत्तिशब्दभिन्नविशेषगुणवत्त्व वा प्रयोजकमस्तु। रूपस्य कारणत्वे लाघवमिति चेन्न वायोस्त्वगिन्द्रियेणाऽग्रहणप्रसङ्गात्। इष्टापत्तिरिति चेदुद्भूतस्पर्श एव लाघवात्कारणमस्तु। प्रभाया अप्रत्यक्षत्वे त्विष्टापत्तिरेव किं नेष्यते। तस्मात् प्रभा पश्यामीतिवत् वायु स्पृशामीति प्रत्यक्षस्य सम्भवाद्वायोरपि प्रत्यक्ष सम्भव-

त्येव। बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षमात्रे न रूपस्य न वा स्पर्शस्य हेतुत्वम्। वायुप्रभयोरेकत्व गृह्यत एव, क्वचिद्द्वित्वादिकमपि, क्वचित्सङ्ख्या परिमाणाद्यग्रहो दोषादित्याहु ॥५६॥

॥ चाक्षुषादिप्रत्यक्ष चक्षुर्विषयादिकथनम् ॥

● चाक्षुष प्रत्यक्ष का निरूपण करके अब त्वाच प्रत्यक्ष का निरूपण करते है—'**उद्भूतस्पर्शवत्**' इति। उदभूतस्पशवाले द्रव्य का त्वगिन्द्रिय से (त्वाच) प्रत्यक्ष होता है। वे उदभूतस्पश, स्पशत्वजाति और स्पर्शाभाव भी त्वगिन्द्रिय-गोचर होते है। **रूपान्यदिति**। रूपभिन्न, रूपत्वभिन्न, रूपाभावभिन्न और रूपत्वा-भावभिन्न जो चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष करने योग्य ह, वे सब त्वगिन्द्रिय के भी विषय होते है। उसी का स्पष्ट करते है—'**तथाचेति**।' जो पृथक्त्व सख्या, विभाग, सयोग, परत्व, अपरत्व, स्नेह, द्रवत्व, परिमाण आदि गुण और क्रिया, जाति, समवाय यदि योग्यवत्ति (प्रत्यक्ष योग्य पदाथ मे रहनेवाले) हो तो उन सभी का चाक्षुषप्रत्यक्ष के समान त्वाच प्रत्यक्ष भी हो सकता है। क्योकि किसी पदाथ को हम छूकर जान लेते है, एव किसी वस्तु की सख्या को भी स्पश करके गिन लेते है और सयोग, विभाग या क्रिया का अनुभव भी हम स्पश के द्वारा कर सकते है। त्वगिन्द्रिय से होनेवाले द्रव्य के प्रत्यक्ष मे रूप कारण होता है। तात्पय यह है कि बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्ष मे 'रूप को कारण माना गया है। अर्थात् जिस द्रव्य में रूप उद्भूत रहे उसी का बहिरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होगा। इससे यह स्पष्ट होता है कि रूपरहित द्रव्य का यदि स्पश भी हो तो उस द्रव्य का प्रत्यक्ष नही माना जाता। यही कारण है कि वायु का प्रत्यक्ष नही माना गया है। किन्तु रूपवान घट का जैसे चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है वैसे ही उसका त्वाच प्रत्यक्ष भी होता ह और स्पशगुण का प्रत्यक्ष, बिना रूप के भी केवल त्वचा से हो सकता है। लेकिन स्पशवाले द्रव्य का प्रत्यक्ष तभी होगा जब उस द्रव्य मे रूप भी रहे। त्वक और चक्षु इन दोनो बहिरिन्द्रियो से होनेवाले 'पृथ्वी, जल, तेज' सज्ञक द्रव्य के प्रत्यक्ष में 'रूप' समवायसम्बन्ध से कारण होता है। स्पशवाले तीन द्रव्यो का ही प्रत्यक्ष माना गया है। त्वाच प्रत्यक्ष के विषय होनेवाले तथा रूपवाले इन्ही तीनो द्रव्यो का स्पाशन प्रत्यक्ष के समान चाक्षुषप्रत्यक्ष भी होता है। अत स्पश और रूप दोनो को कारण स्वीकार करने के बजाय लाघवेन रूप को ही कारण मानना उचित है, यह प्राचीन नैयायिक कहते ह।

वायु का प्रत्यक्ष माननेवाले नवीन नैयायिको का मत उपस्थित कर रहे

है—**नवीनास्त्विति** । गगेशोपाध्याय गदाधर-जगदीश मथुरानाथ आदि नवीन नैयायिक है ।

'नवीनास्तु' का आगे आनेवाले 'आहु' के साथ अ वय होगा । नवीन नैयायिको का कहना है कि द्रव्य के बहिरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्षमात्र मे 'रूप' कारण नही है और न केवल स्पश ही कारण है, क्योकि उसे कारण मानने मे कोई प्रमाण नही ह । अर्थात 'रूपसत्वे वायुप्रत्यक्षसत्त्व, रूपाभावे वायुप्रत्यक्षाभाव' इस अन्वय व्यतिरेक से युक्त प्रत्यक्ष प्रमाण का अभाव है । क्योकि वायु मे उदभूत-रूप के न रहने पर भी स्पाशन प्रत्यक्ष होता है । उसी तरह प्रभा' का स्पर्श न होने पर भी रूप रहने के कारण उसका प्रत्यक्ष हाता ह । एवच स्पशसत्त्वे 'प्रभा-प्रत्यक्षसत्व और स्पर्शाभावे प्रभाप्रत्यक्षाभाव' इस प्रकार के अन्वय-व्यतिरेक-सहकृत प्रत्यक्षप्रमाण का अभाव है । अत **प्राचीन नैयायिकों का यह कथन**—'जिस द्रव्य मे उदभूतरूप रहता है उसी का प्रत्यक्ष होता है, किन्तु जिस द्रव्य मे रूप और स्पश दोनो हो तो उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष तथा स्पाशन प्रत्यक्ष भी होता है । किन्तु जहां रूप न हो ऐसे रूपरहित द्रव्य के स्पश का तो प्रत्यक्ष हो सकता ह, अतएव वायु के स्पश का प्रत्यक्ष होता ह किन्तु स्पशवाले द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता । अर्थात वायु सज्ञक द्रव्य का त्वाच प्रत्यक्ष नही होता अपितु उसका अनुमान होता है ।'—उचित नही है । अर्थात प्रमाणरहित कायकारणभाव मानना ठीक नही है । किन्तु 'रूपसत्त्वे-चाक्षुषप्रत्यक्ष तदभावे तदभाव ।' उसी तरह 'स्पशसत्त्वे त्वाचम्प्रत्यक्षम, तदभावे तदभाव । इस अन्वय व्यतिरेक के आधार पर चाक्षुष प्रत्यक्ष में रूप को और त्वाच प्रत्यक्ष में स्पश को कारण मानना चाहिये । ऐसा मानने पर वायु का त्वाच प्रत्यक्ष भी हो सकेगा, उसे (वायु को) अनुमेय कहने की आवश्यकता नही है ।

शका—प्राचीन नैयायिक पूछते है **"बहिरिन्द्रियजन्येति ।"** बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षमात्र में अनुगत कारण क्या है ?

समा —नवीन नैयायिक कहते है **"न किञ्चिदिति ।"** बहिरिन्द्रिय से होनेवाले प्रत्यक्षमात्र के प्रति (सब प्रकार के बहिरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष में) कोई एक अनुगत कारण नही कहा जा सकता, क्योकि अनुगत कारण मानने मे गौरव होगा । अत तत्तद् विशेष काय कारणभाव को ही मानना चाहिये, जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है ।

शका— बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष' कहने से चाक्षुष स्पाशन का भी बोध होता

है, तब उसके प्रति किसी एक को कारण न मानने पर उसका जो अभाव होगा, वह किस कारण (प्रयोजक) से होगा ? अर्थात चाक्षुषप्रत्यक्षाभाव या त्वाच-प्रत्यक्षाभाव को किम्प्रयोज्य मानोगे ? क्योकि कार्याभाव भी कारणाभावप्रयोज्य हुआ करता है।

समा —'आत्मावृत्तीति"। दूसरा कल्प प्रस्तुत कर रहे है— आत्मा-ऽवृत्तिशब्दभिन्नविशेषगुणवत्त्व वा प्रयोजकमस्तु।' आत्मनि न वत्ति यस्य तादशो य शब्दभिन्नो विशेषगुण अर्थात पथिव्यादिचतुष्टयवत्ति रूपादिरेव, तादृशगुण वत्त्वमेव = रूपादिविशेषगुण एव बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षसामान्यम्प्रति कारणमस्तु। अर्थात् आत्मा मे न रहनेवाले शब्द भिन्न विशेष गुणवाला होना ही बहिरिन्द्रय जन्यद्रव्यप्रत्यक्षसामान्य के प्रति कारण (हेतु) है। एवञ्च तादशगुणवत्त्वाऽभाव ही तादशप्रत्यक्षाभाव मे प्रयोजक है। पृथिवी आदि चारो द्रव्यो में तादृशगुणवत्ता रहने से तादशप्रत्यक्ष उनका होता है। 'आत्माऽवृत्ति' कहने से आत्मा के बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष का प्रसग नही आता। 'शब्दभिन्न' कहने से आकाश के बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष का प्रसग नही आता। 'विशेष' कहने से काल आदि के बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष का प्रसग नही आता।

शका—प्राचीन नैयायिक कहता है **'रूपस्येति'**। बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षमात्र के प्रति उद्भूतरूप को लाघवात कारण मान लेंगे। जिससे अप्रामाणिक अनन्त-काय कारणभावकल्पनारूपगौरव नही होगा अपितु शरीरकृत लाघव होगा। क्योकि नवीन नैयायिक के अनुसार चाक्षुषप्रत्यक्ष के प्रति उदभूतरूपत्वेन, स्पाशन प्रत्यक्ष के प्रति उदभूतस्पशत्वेन कारणकल्पना करने पर और चाक्षुषत्व-स्पाशनत्व एतदन्यतरावच्छिन्न के प्रति उद्भूतरूपत्व-उदभूतस्पशत्वघटित-अन्यतरावच्छिन्न को प्रयोजक (कारण) मानने पर गौरव होता है अत तादशान्यतरावच्छिन्न के प्रति उदभूतरूपत्वेन उदभूतरूप को ही कारण (हेतु) मानलेने मे लाघव होता है।

समा—नवीन नैयायिक कहता है **'वायोरिति'**। 'उदभूतरूप को कारण मानने मे लाघव है'—यह प्राचीनो का कथन ठीक नही है। क्योकि वैसा मानने पर वायु का त्वाचप्रत्यक्ष नही हो सकेगा, क्योकि रूपवान द्रव्य का ही त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है, रूपरहित का नही। अत वायु में रूप के न होने से उसका त्वगिन्द्रिय से अग्रहण अर्थात् अप्रत्यक्ष होने लगेगा। इसलिये 'रूप' को कारण मानना ठीक नही है। इस पर **प्राचीन नैयायिक** यदि उसे इष्टापत्ति कहे

अर्थात् हम (प्राचीन) वायु का त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष मानते ही नही। हम तो उसे (वायु को) स्पर्श के द्वारा (स्पर्शात्मक हेतु से) अनुमेय मानते हैं। इसलिये नवीनो ने वायु के अप्रत्यक्ष होने की आपत्ति जो हम पर दी है वह तो हमे अभीष्ट ही हैं। वह हमारे लिये कोई दोष नही है। क्योकि वायु का प्रत्यक्ष नही होता, बल्कि स्पशलिङ्गक अनुमान से वायु की अनुमिति होती है। अत वायु अनुमेय ही है, प्रत्यक्ष नही। एवञ्च नवीनो के द्वारा दी गई आपत्ति तो हमारे लिये इष्टापत्ति ही सिद्ध हुई। अर्थात हम त्वचा से वायु का प्रत्यक्ष मानते ही नही। प्राचीन नैयायिको के द्वारा ऐमा कहने पर **नवीन नैयायिक** कहते है—"**उद्भूतस्पर्श**" इति। विनिगमनाविरह समझ कर **नवीन नैयायिक** अन्य प्रकार से **समाधान** कर रहा है। बहिर्द्रव्यमात्रप्रत्यक्षत्वावच्छिन्न के प्रति उदभूत स्पश को ही कारण मान लो। अर्थात जैसे आप लाघव के लोभ से 'रूप' को कारण मानते है, वैसे ही अर्थात् समान युक्ति से उद्भूत स्पश को ही कारण मान लिया जाय तो क्या हानि है ? जैसे आपके यहा लाघव है वैसे ही हमारे यहाँ भी लाघव है, क्योकि उद्भूतरूपत्व-उदभूतस्पर्शत्व के साथ कायकारणभाव की कल्पना करने से तादृशान्यतरावच्छिन्न को चाक्षुपत्वादिघटित अन्यतरावच्छिन्न के प्रति प्रयोजक मानने की आवश्यकता नही पडती।

शका—प्राचीन नैयायिक कहते हैं—'**प्रभाया अप्रत्यक्षत्वे इति**।' प्रभा (प्रकाश) का उद्भूतस्पश न होने से उसका (प्रभा का) प्रत्यक्ष नही हो सकेगा।

समा०—उक्त आशका पर नवीन नैयायिक कहता है—'**इष्टापत्तिरेव किं नेष्यत इति**।' प्रभा (प्रकाश) का प्रत्यक्ष न होना अभीष्ट ही है, ऐसा क्यो नही कहते, क्योकि यदि रूपरहित होने से वायु का प्रत्यक्ष नही माना जाता, तो उसी तरह स्पश के न होने से प्रभा का भी प्रत्यक्ष नही होता, यह क्यो न कहा जाय ? अत नवीन नैयायिक अपने कथन का उपसहार करता है-'**तस्मादिति**।' तुल्य प्रतिबन्दी स्वरूप बाधक के होने से यदि स्पशरहित प्रभा का प्रत्यक्ष (प्रभा-पश्यामि' इत्याकारक) दोनो वादियो के मत से माना जाता है और उसका अप्रत्यक्ष होना स्वीकार नही किया जाता, उसी प्रकार—'वायु स्पृशामि' इत्याकारक अनुभव दोनो वादियो को होने से रूपरहित वायु का भी प्रत्यक्ष होता हैं, यह मान लेना चाहिये। तथाच चाक्षुषप्रत्यक्ष के प्रति '**रूप**' को और त्वाच-प्रत्यक्ष के प्रति स्पश को पृथक् पृथक् रूप से कारण मान लेंना चाहिये। अर्थात्

बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षसामान्य के प्रति केवल '**रूप**' को ही या केवल '**स्पर्श**' को ही कारण मानना ठीक नही है ।

नवीन नैयायिक अपने कथन को पुष्ट करने के लिये एक अन्य युक्ति भी बता रहा है—'**वायुप्रभयोरिति** ।' वायु और प्रभा दोनो मे ही सख्या का भी ग्रहण होता है । अर्थात यह एक पौरस्त्य (पुरवैया) वायु है, ये दक्षिण और उत्तर के दो वायु है इस प्रकार वायगत सख्या का जैसे त्वगिन्द्रिय से ग्रहण (ज्ञान) होता है, उसी प्रकार वायु का भी ग्रहण (ज्ञान) होता ह । वैसे ही यह एक सौरी प्रभा है, ये दो प्रभाएँ है, इस प्रकार प्रभागत सख्या का और प्रभा का चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है । यहाँ 'प्रभा' का उल्लेख दष्टान्त के रूप मे किया गया है। एवञ्च वायु और प्रभा का अलग अलग (भिन्न भिन्न) प्रत्यक्ष समझना चाहिये । जिस द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है, उसी को सख्या का प्रत्यक्ष हो सकता है । अत वायु और प्रभा की सख्या का प्रत्यक्ष होने से कहना पडेगा कि वायु और प्रभा का भी प्रत्यक्ष होता है । '**क्वचिद्द्वित्वादिकमपीति** ।' जहाँ कही अर्थात वायु और प्रभा का विलक्षणसयोग जहा न हो वहाँ द्वित्व और परिमाण का भी ग्रहण होता है । ऐसी जगह 'अस्मिन गहे एका प्रभा, अन्यस्मिन गृहे एका प्रभा', 'अयमेको वायु , अयमेको वायु ' इस प्रकार की अपेक्षा बुद्धि का सम्भव होने से 'द्वित्व' की उत्पत्ति होती है, उससे 'द्वितीयोऽय महान वायु ' इत्याकारक द्वित्व और परिमाण का भी प्रत्यक्ष होता है । किन्तु उन दोनो का विलक्षणसयोग होने पर तादृशसम्बन्धरूप दोष होने से द्वित्व आदि की उत्पत्ति न हो सकने के कारण द्वित्वादि सख्या तथा महत परिमाण का अग्रहण अर्थात अप्रत्यक्ष (प्रत्यक्ष का असम्भव) होता है, यानी प्रत्यक्ष नही होता । ग्रन्थकार (मुक्तावलीकार) ने 'आहु ' कहकर नवीनो के मत में **अस्वारस्य** को सूचित किया है । 'ज्ञेय स्पर्शादिलिङ्गक ' इस कारिकाश के द्वारा प्राचीनो के अनुसार **वायु को अनुमेय** ही बताया गया है और यही मत मुक्तावलीकार विश्वनाथ को मान्य है ॥ ५६ ॥

॥ इति चाक्षुषादिप्रत्यक्ष-चक्षुर्विषयादिकथनम् ॥

❀ त्वचो योगो मनसा ज्ञानकारणम् ।

त्वच इति । त्वङ्मन सयोगो ज्ञानसामान्ये कारणमित्यर्थ । किं तत्र प्रमाण ? सुषुप्तिकाले त्वच त्यक्त्वा पुरीतति वर्तमानेन मनसा ज्ञानाजननमिति[1] ।

---

१ 'ज्ञानाजननम' इत्यत्र प्रमाणमित्युपज्यते ।

● बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षसामान्य के प्रयोजक (कारण नियामक) का विचार कर चुके। अब ज यज्ञानमात्र (ज्ञानमामान्य) के कारण का विचार कर रहे है—'त्वङ्मन सयोग'इति। प्रत्येक प्रकार के ज्ञान मे (ज्ञानमामान्य मे) 'त्वङमन सयोग अर्थात 'त्वक् और मन (मनम) का म योग' ही साधारण कारण है। 'किं तत्र प्रमाणम् ?' जन्यज्ञानमात्र के प्रति त्वङ्मन सयोग के कारण कहने मे क्या प्रमाण ह ? उत्तर देते है—'सुषुप्तिकाल'[1] इनि। सुषुप्तिकाल (गाढ निद्रा की अवस्था) में यह 'मन' (मनम), 'त्वक' को छोडकर 'पुरीतत'[2] नाम की नाडी म प्रविष्ट हो जाना ह। तब 'मन' का 'त्वगिन्द्रिय' के साथ सयोग नही रहता, इस कारण सुपुप्तिकाल मे (गाढ निद्रा मे) कोई किसी प्रकार का बाह्यज्ञान नही रहता। क्योकि कार्याऽभाव (कार्य के न होने) मे कारणाऽभाव (कारण का न होना) ही प्रयोजक (हेतु) होता है। एवञ्च गाढ निद्रा में ज्ञानाऽभाव रहने का कारण 'त्वङमन सयोगाभाव' ही कहना होगा। इस युक्ति के बल पर यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानमामान्य के प्रति 'त्वङमन मयोग' कारण है। यदि त्वङमन सयाग को ज्ञानत्वावच्छिन्न के प्रनि (ज्ञानसामान्य के प्रति) कारण न कहे तो सुपुप्ति अवस्था मे भी ज्ञान होना चाहिये, किन्तु उस अवस्था मे कोई ज्ञान नही होता। तस्मात त्वङमन सयोग को ज्ञानसामान्य के प्रति कारण कहने मे 'सुषुप्तिकालीनज्ञानाऽनुत्पत्ति'[3] ही प्रमाण है। जाग्रत और स्वप्न अवस्था मे मन का पुरीतत नाडी मे प्रवेश न होने के कारण उसका त्वगिन्द्रिय के साथ सम्बन्ध रहता है, इस कारण इन दो अवस्थाओ मे सब प्रकार का ज्ञान होता रहता ह। गाढ निद्रा नाडी पुरीतन के होने में श्रुति का प्रमाण है—"हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते, ताभि प्र यवमप्य परीतनि शेते।" (बृहदा० ५।१।२१) नवीन नैयायिक सुषुप्ति का क्रम इस प्रकार बताते है—प्रथमत सुषुप्त्यनुकूलमन क्रिया के द्वारा मन के साथ आत्मा का विभाग, तदनन्तर आत्ममन सयोगनाश, तदनन्तर पुरीततरूप उत्तर देश के साथ मन का सयोग होता है—इसी का नाम सुषुप्ति है।

---

१ सुषुप्तिर्नाम गाढनिद्रानाड्यवच्छिन्नात्ममनोयोग ।

२ गाढनिद्रानाडी पुरीतत् ।

३ अत्रेद ज्ञातव्यम्—साङ्ख्य मते सुषुप्तिर्द्विधा अधलय-समग्रलयभेदात। अधलये विषयाकारा वृत्तिन भवति, किन्तु स्वगतसुख-दु ख-मोहाकारैव बुद्धिवृत्ति-र्जायते। समग्रलये तु बुद्धेवत्तिसामान्याभावो मरणादाविव भवति। एवञ्च

ऊपर बता चुके ह कि गाढ निद्रात्मक सुषुप्ति मे किसी प्रकार का भी ज्ञान नही होता है, क्योकि ज्ञानमात्र के प्रति त्वङमन सयोग कारण होता है। किन्तु यहाँ इस प्रकार सोच सकते है कि ज्ञानमात्र के प्रति त्वङमन सयोग को कारण मानने की आवश्यकता नही है, सुषुप्ति मे ज्ञानाभाव इसलिये होता है कि उस समय ज्ञानोत्पत्ति के लिये किसी प्रकार की कोई सामग्री नही ह। जैसे चाक्षुष प्रत्यक्ष के समय चक्षुरिन्द्रिय और बाह्यपदाथ का सयोग होता है, तब इन्द्रिय का मन से सयोग होता है। एवञ्च चाक्षुषप्रत्यक्ष मे कारणीभूत इन्द्रियमन सयोगरूप सामग्री जब रहती है तब चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है। उक्त कारणीभूत सामग्री के न रहने पर चाक्षुषप्रत्यक्ष अपने आप नही होता। इसी प्रकार सामग्री के न रहने पर मानसप्रत्यक्ष भी नही होता तथा अनुमिति, उपमिति, शाब्दबोध भी नही होता, एव उदबोधकसामग्री के न रहने पर स्मरण (स्मृति) भी नही होता, उसी तरह सुषुप्ति मे सामग्री का अभाव रहने पर ज्ञान का अभाव रहना सम्भव है। अत त्वङ्मन सयोग को ज्ञानमात्र के प्रति कारण (निमित्त) मानना आवश्यक नही है। उक्त अभिप्राय को ही मन मे रखकर अग्रिम ग्रन्थ को शका के रूप मे उपस्थित कर रहे है।

ननु सुषुप्तिकाले कि ज्ञान भविष्यति अनुभवरूप स्मरणरूप वा। नाद्य। अनुभवसामग्र्यभावात्। तथाहि प्रत्यक्षे चक्षुरादिना मन-सयोगस्य हेतुत्वात्तदभावादेव न चाक्षुषादिप्रत्यक्षम्। ज्ञानादेरभावादेव न मानस प्रत्यक्षम्। ज्ञानाद्यभावे चात्मनोऽपि न प्रत्यक्षमिति। एव व्याप्तिज्ञानाभावादेव नानुमिति। सादृश्यज्ञानाभावान्नोपमिति। पदज्ञानाभावान्न शाब्दबोध। इत्यनुभवसामग्र्यभावान्नानुभव। उद्बोधकाभावाच्च न स्मरणम्। मैवम्, सुषुप्तिप्राक्कालोत्पन्नेच्छादिव्यक्तेस्तत्सम्बन्धेनात्मनश्च प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। तदतीन्द्रियत्वे मानाभावात्

"सुषुप्त्याद्यसाक्षित्वम"—(सा० सू० १।१४८) इत्यत्र भिक्षुणा व्याख्यातम। वेदान्तिना मते तु समग्रलये जीव परमात्मना ऐक्यमाप्नोति। एवञ्च "स्वाप्ययात"—(ब्र० सू० १।१।९) इत्यत्र" यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम"—(छा० उ० ६।८।१) इति श्रुतिमूलक विवरीत भगवच्छङ्करपादै। मध्वमते—'तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्त"—(बृ० अ० उ० ६।३।१) इति श्रुत्या जीव सुषुप्त्यवस्थाया परमात्मन आलिङ्गनमात्रम्प्राप्नोति। तस्मात् परमात्मालिङ्गनावस्थैव सुषुप्ति।

सुषुप्तिप्राक्काले निर्विकल्पकमेव नियमेन जायत इत्यत्रापि प्रमाणा भावात् ।

● शंका—सुषुप्ति के समय किस प्रकार का (कियद्धर्मावच्छिन्न) ज्ञान उत्पन्न होगा, अनुभवरूप (अनुभवत्वावच्छिन्न) या स्मरणरूप (स्मृतित्वावच्छिन्न) ? उनमे से प्रथम अनुभवरूप ज्ञान का होना तो सम्भव नही है, क्योंकि अनुभव की इन्द्रिय, व्याप्तिज्ञान, सादृश्यज्ञान, पदज्ञानरूप सामग्री नही है। तथाहि—प्रत्यक्षात्मक अनुभव मे भी चाक्षुषप्रत्यक्ष के प्रति चक्षुमन संयोग कारण होता है, त्वाचप्रत्यक्ष के प्रति त्वङ्मन संयोग कारण होता है, रासनप्रत्यक्ष के प्रति रसनामन संयोग कारण होता है, घ्राणजप्रत्यक्ष के प्रति घ्राणमन संयोग कारण होता है। श्रावणप्रत्यक्ष के प्रति श्रोत्रमन संयोग कारण होता है। अत 'तद् भावादेव' अर्थात चक्षुरादिइन्द्रियो के साथ मन संयोगात्मक सामग्री के न रहने से ही चाक्षुषादिप्रत्यक्ष (बाह्यप्रत्यक्षात्मक अनुभव) नही होता है। इस पर यदि कोई कह दे कि बाह्य प्रत्यक्ष भले ही न हो, मानसप्रत्यक्ष तो हो ही जायगा। इसलिये कहते है "ज्ञानादेरभावादेवेति।" मानसप्रत्यक्ष (अनुभव) दो प्रकार का होता है—एक तो आत्मवृत्तिज्ञानादिगुणविषयक और दूसरा आत्मविषयक। उनमे से पहला तो ज्ञानादिविशेषगुण का अभाव रहने से ही नही हो सकता और दूसरा अर्थात आत्मविषयक प्रत्यक्ष (अनुभव) इसलिये नही होगा कि योग्यविशेषगुणात्मकज्ञानादि सामग्री का अभाव है और आत्मा का प्रत्यक्ष तो ज्ञानादिविशेषगुण के सम्बन्ध से ही हुआ करता है। तात्पर्य यह है कि सुषुप्ति मे सामग्री के न रहने से न बाह्य प्रत्यक्ष होता है और न मानस प्रत्यक्ष ही होता है। उसी तरह "व्याप्तिज्ञानाभावादेवेति"। हेतुव्यापक साध्यसामानाधिकरण्यात्मकव्याप्तिज्ञानरूप कारण के अभाव मे अनुमितिरूप कार्य भी नही होता। 'सादृश्यज्ञानाऽभावादिति'। अनुयोगितासम्बन्ध से तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयो धर्मवत्त्व को 'सादृश्य' कहते हैं। जैसे—'गो सदृशो गवय' इत्याकारकसादृश्यात्मक कारण के अभाव मे उपमितिरूप कार्य भी नही होता। पदज्ञानाभावादिति। 'घटो घटपदवाच्य' इत्याकारक शक्तिज्ञानसहकृतघटपद-ज्ञानात्मक कारण के अभाव में शाब्दबोधरूप कार्य भी नही होता। एव स्मृति-जनक संस्कारो के उद्बोधक प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्यादि के न होने से स्मृति (स्मरण) का होना भी सम्भव नही। इस रीति से चतुर्विध अनुभवात्मकज्ञान की सामग्री के न रहने से सुषुप्ति मे अनुभवात्मक ज्ञान का

होना सम्भव ही नही ह । एवञ्च सुषुप्ति मे ज्ञान का अभाव तो सामग्री के अभाव से ही हो जाता है, उसके लिये 'त्वङमन सयोग' को ज्ञानमात्र का कारण (निमित्त) मानने की क्या आवश्यकता ?

समा०—**मैवमिति** । यदि ज्ञानसामान्य के प्रति त्वङमन सयोग को कारण नही मानेंगे तो सुषुप्ति के प्रारम्भ होने से पूव अर्थात् सुषुप्तिप्रथमक्षणाऽव्यवहित पूवक्षण मे (स्वप्न के अन्तिम क्षण मे) आत्मा में जो ज्ञान, इच्छा आदि धम होगे उनका प्रत्यक्ष सुषुप्ति मे भी बना रहना चाहिये । इतना ही नही, बल्कि उनके द्वारा आत्मा का भी प्रत्यक्ष सुषुप्ति मे होगा । स्वप्न के अन्तिम क्षण मे (सुषुप्तिप्राककाल मे) उत्पन्न जो **इच्छादिव्यक्ति** अर्थात 'इच्छाया आदि' इस व्युत्पत्ति से इच्छा का आदि यानी इच्छा का कारण अर्थात 'अय घट' इत्याकारक '**ज्ञानव्यक्ति**' है । वह आत्मविषयकप्रत्यक्ष की कारणभूत विशेषसामग्री है, उसकी स्थिति सुषुप्ति के प्रथम क्षण मे होने से उसके साथ मन का सयुक्तसमवायसम्बन्ध है । अत आत्मा का ज्ञानादिगुणो के साथ सम्बन्ध हो जाने से 'अह सुखी', 'अह ज्ञानी' इत्याकारक आत्मप्रत्यक्ष का प्रसग अवश्य प्राप्त होगा । किन्तु त्वङमन सयोग को ज्ञानसामान्य के प्रति कारण मानने पर सुषुप्ति प्रथमक्षण मे त्वङमन सयोगात्मक कारण के न रहने से ज्ञान के प्रत्यक्ष का प्रसग नही प्राप्त होगा, क्योकि त्वङमन सयोग को स्वप्नान्तिमक्षण तक ही माना गया है । एवञ्च सुषुप्तिप्रथमक्षण मे विशेषसामग्री के रहने पर भी सामान्यसामग्री के न रहने से प्रत्यक्ष का प्रसग नही आता । यदि कोई यह कहे कि सुषुप्ति के पूव क्षण मे उत्पन्न ज्ञानव्यक्ति (सुषुप्तिप्राककालीन ज्ञानव्यक्ति) अतीन्द्रिय होती है, इस कारण सुषुप्तिकाल मे आत्मप्रत्यक्ष का प्रसग नही प्राप्त होगा । किन्तु यह कथन ठीक नही है, क्योकि सुषुप्तिप्राक् क्षण में उत्पन्न ज्ञानव्यक्ति को अतीन्द्रिय मानने में कोई प्रत्यक्षादि प्रमाण नही है । यदि यह कहे कि सुषुप्तिप्राककाल में उत्पन्न ज्ञान (सुषुप्ति से पहले का ज्ञान) निर्विकल्पक है, अत वह अतीन्द्रिय है, किन्तु ऐसा कहने में कोई प्रमाण नही है । क्योंकि प्रकारता ससगता विशेष्यताऽनवगाहिरूप निर्विकल्पक ज्ञान, सुषुप्ति के पूव क्षण में नियमेन उत्पन्न होता है इस कथन मे कोई प्रमाण नही है । निष्कष यह है कि ज्ञानसामान्य (ज्ञानमात्र) के प्रति 'त्वड्मन सयोग' को कारण न मानकर विशेष सामग्री को ही यदि कारण मान लिया जाय, तो स्वप्न के अन्तिम क्षण में उत्पन्न जो 'अह सुखी' इत्याकारक ज्ञानरूप विशेषगुण है, वह

आत्मविशेषगुण होने से उसे आत्मा के प्रत्यक्ष होने मे कारणविशेष (विशेष सामग्री) माना जा सकता है और वह सुषुप्ति के प्रथम क्षण मे विद्यमान है, अत आत्मा का मानस प्रत्यक्ष ज्ञान होता ह, यह आपको हठात् स्वीकार करना होगा। लेकिन 'त्वङ्मन सयाग' को ज्ञान सामान्य के प्रति कारण मानने पर स्वप्न के अन्तिम क्षण तक ही स्थायी रहनेवाले उसका (त्वङ्मन सयोग का) सुषुप्ति के प्रथम क्षण मे नाश होता ह, तब सामान्यकारण के न होने से आत्मविषयक प्रत्यक्ष कदापि नही हो सकेगा।

अथ ज्ञानमात्रे त्वङ्मन सयोगस्य यदि कारणत्व तदा रासन चाक्षुषादिप्रत्यक्षकाले त्वाचप्रत्यक्ष स्यात्। विषयत्वक्सयोगस्य त्वङ्मन सयोगस्य च (तत्र) सत्त्वात्। परस्परप्रतिबन्धादेकमपि वा न स्यादिति।

अत्र केचित्-पूर्वोक्तयुक्त्या त्वङ्मनोयोगस्य ज्ञानहेतुत्वे सिद्धे चाक्षुषादिसामग्र्या स्पार्शनादिप्रतिबन्धकत्वमनुभवानुरोधात्कल्प्यत इति।

अन्ये तु सुषुप्त्यनुरोधाच्चर्ममन सयोगस्य ज्ञानहेतुत्व कल्प्यते चाक्षुषादिप्रत्यक्षकाले त्वङ्मन सयोगाभावान्न स्पार्शनप्रत्यक्षमिति वदन्ति।

॥ इति त्वङ्मन सयोगस्य ज्ञानहेतुत्वनिरूपणम् ॥

शका—त्वङ्मन सयोग को ज्ञानसामान्य के प्रति कारण न माननेवाला शका कर रहा है–'**अथेति**'। ज्ञानसामान्य के प्रति त्वङमन सयोग को कारण मानने पर जब आम्रफल के रस का रासनप्रत्यक्ष किया जाता है और उसी समय उसके (आम्र के) रूप का चाक्षुषप्रत्यक्ष भी किया जाता ह, उस समय आम्रफल के साथ त्वक् सयाग भी रहता ही ह। अत रासन और चाक्षुष प्रत्यक्ष के साथ ही त्वाचप्रत्यक्ष भी होना चाहिये। क्योकि सामग्री पूरी-पूरी विद्यमान है। मुक्तावलिकार हेतु बताते है कि 'विषयत्वकसयोगस्य त्वङमन सयोगस्य च सत्त्वात' अर्थात् विषय आम्रादि फल, उसके साथ त्वक्सयोग रहता ही है और त्वक् के साथ मन सयोग रहता है। इसलिये चाक्षुष तथा रासनप्रत्यक्ष के साथ ही त्वाचप्रत्यक्ष भी होना चाहिये। इस अवसर पर यदि यह कहा जाय कि चक्षु सयोगरूप चाक्षुषसामग्री अथवा रसनासयुक्तसमवायरूप रासनसामग्री को हम स्पार्शनप्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति प्रतिबन्धक मान लेगे। किन्तु इस प्रकार प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव मान लेने पर तो '**परस्परप्रतिबन्धादेकमपि वा न स्यात् इति।**' अर्थात् रासन

सामग्री मे स्पाशनज्ञान की प्रतिब धकता और त्वगविषयसयोगरूपस्पाशनसामग्री मे रासनज्ञान की प्रतिबन्धकता रहेगी। उसी प्रकार चाक्षुषसामग्री में स्पाशनज्ञान की प्रतिब धकता और स्पाशनसामग्री मे चाक्षुषज्ञान की प्रतिबन्धकता रहेगी। इस रीति से दोनो सामग्रिया परस्पर प्रतिबन्धक हो जाने से किसी एक का भी (रासनप्रत्यक्ष या त्वाचप्रत्यक्ष तथा चाक्षुषप्रत्यक्ष या त्वाचप्रत्यक्ष) प्रत्यक्ष-ज्ञान नही हो पायगा। क्योकि रासनसामग्री और त्वाचसामग्री में परस्पर प्रतिबन्धकता है उसी तरह चाक्षुपसामग्री और त्वाचसामग्री में परस्पर प्रति बन्धकता है। निष्कर्ष यह है कि एक प्रकार के प्रत्यक्ष की सामग्री अन्य प्रकार के प्रत्यक्ष पर प्रतिबन्ध लगा दे तो चाक्षुष या रासन या त्वाचप्रत्यक्ष में से कोई भी प्रत्यक्ष नही हो पायगा।

समा०—ज्ञानमात्र (ज्ञानसामान्य) के प्रति त्वङमन सयोग को कारण मानने वाला उपयुक्त शका का समाधान कर रहा है—'**अत्र केचिदिति**' यहा 'केचित' पद से त्वङ्मन सयोगनिष्ठ ज्ञानसामान्य कारणतावादी को समझना चाहिये। यह कहता है—सुषुप्तिकाले त्वच त्यक्त्वा पुरीतति वतमानेन मनसा ज्ञानाऽजननमित्याकारिकया युक्त्या त्वङमन सयोग मे ज्ञानकारणता की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाने पर चक्षु सयोगादिरूप चाक्षुषसामग्रो स्पाशनादि प्रत्यक्ष की प्रतिब धक है वह समझ मे आ जाता है। एव च चाक्षुषादि प्रत्यक्षसामग्री, स्पाशनप्रत्यक्ष की प्रतिबन्धक रहने से चाक्षुषप्रत्यक्ष के समय त्वङ्मन सयोग के रहने पर भी स्पाशनप्रत्यक्षज्ञान नही होगा। अर्थात् त्वाचप्रत्यक्ष तभी होता है जब चाक्षुष या रासनप्रत्यक्ष की सामग्री न हो, क्योकि चाक्षुष या रासनप्रत्यक्ष की सामग्री उसकी (त्वाचप्रत्यक्ष की) प्रतिबन्धक है। अत त्वाच प्रत्यक्ष में स्वप्रतिबन्धकाभाव का होना आवश्यक है। एव च चाक्षुष-रासन सामग्री में परस्पर प्रतिबन्धकता न होने से चाक्षुष या रासन प्रत्यक्ष के होने मे तो कोई बाधा नही है, वह तो हो जायेगा, किन्तु त्वाचप्रत्यक्ष के प्रति चाक्षुष-रासन-सामग्री ही प्रतिबन्धक होने से केवल त्वाचप्रत्यक्ष ही नही होगा, यह हमारा अनुमान अनुभव के बल पर है। तथाहि—'घट-चक्षुरिन्द्रियसन्निकर्ष, स्पाशन प्रत्यक्षप्रतिबन्धक, रूपीघट इत्याकारकज्ञानजनकत्वात् (रूपविशिष्टघटविषयक ज्ञानजनकत्वात्), यन्नैव तन्नैव, यथा त्वाचसन्निकर्ष।' यह अनुमान प्रयोग है।

प्रस्तुत समस्या का समाधान करने के लिए **पक्षधरमिश्र** एक अन्य मार्ग का अवलम्बन कर रहे हैं—'**अन्ये तु इति**।' ये मिश्रमहोदय ज्ञानसामान्य के

प्रति पूर्वोक्त त्वङमन सयोग (त्वङमनोयोग) को कारण न कहकर (ज्ञान-सामान्य के प्रति) 'चम-मन सयोग' को कारण बता रहे है। इनके अनुसार सुषुप्ति मे ज्ञान इसलिए नही हो पाता कि उस समय (सुषुप्ति के समय) मन (मनस) निद्रानाडी (पुरीतत नाडी) मे प्रविष्ट हो जाता है, अत मन और चम का सबध (सयोग) नही रहता। चम और त्वगिन्द्रिय पर्याय शब्द नही है, दोनो परस्पर भिन्न है। चम तो 'त्वगिन्द्रिय' का गोलकस्थान है। अर्थात 'चम' मे 'त्वगिन्द्रिय' रहती है। वस्तुत त्वगिन्द्रिय, चम से भिन्न है। उस चम के साथ होनेवाला जो मन सयोग है, वह ज्ञानसामान्य के प्रति कारण (हेतु) है, यह अनुमानप्रमाण से अवगत होता है। तथाहि—'चम मन सयोग, ज्ञानसामान्य-करण, ज्ञानसामान्याभावाधिकरणकसुषुप्त्यवच्छिन्नाभावप्रतियोगित्वात।' पक्ष धरमिश्र के ऊहित कल्प के अनुसार चाक्षुष-रासनादिप्रत्यक्ष के समय उक्त स्पार्शनप्रत्यक्षापत्तिरूप दोष नही होगा, क्योकि उस समय मन का त्वगिन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष नही है। अर्थात त्वङ्मन सयोगात्मिका स्पार्शनप्रत्यक्ष विशेषसामग्री नही है। और परस्पर प्रतिबध्य प्रतिबन्धकभावकल्पनागौरव भी नही है। **निष्कर्ष—पक्षधर मिश्र के मत मे**—ज्ञानसामान्य के प्रति चममन सयोग कारण है, और विशेषज्ञान मे तत्तदिन्द्रिय मन सयोग कारण है। जाग्रत् और स्वप्न मे सवदैव चममन सयोग के विद्यमान रहने पर भी जिस विशेष इन्द्रिय के साथ मन सयोग रहेगा तज्जन्य प्रत्यक्ष होगा, अन्य नही। **केचित् पक्ष मे**—ज्ञान सामान्य के प्रति त्वङमन सयोग को हेतु मानने मे और स्पार्शनप्रत्यक्ष म चाक्षुषादि सामग्री को प्रतिबन्धक मानने मे गौरव है।

अन्ये तु कल्प में—चम मन सयोग को हेतु मानने मे गौरव है, यही अस्वारस्य है।

॥ इति त्वङ्मन सयोगस्य ज्ञानहेतुत्वव्यवस्थापनम ॥

⊛ मनोग्राह्यं सुखं दुःखमिच्छा द्वेषो मतिः कृति ॥५७॥

अर्थ—सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, मति (बुद्धि), कृति (प्रयत्न) ये सब तथा सुखत्वादिजातिया तथा सुखाद्यभाव और सुखत्वाद्यभाव ये सब मन से ग्राह्य होते है।

मनोग्राह्यमिति। मनोजन्यप्रत्यक्षविषय इत्यर्थ। मतिर्ज्ञानम्। कृति प्रयत्न। एव सुखत्वदु खत्वादिकमपि मनोग्राह्यम्। एवमात्मापि मनोग्राह्य, किन्तु मनोमात्रस्य गोचर इत्यनेन पूर्वमुक्तत्वादत्र नोक्त ।५७।

॥ इति मनोग्राह्यविषयनिरूपणम ॥

● 'मनोग्राह्यमिति।' 'मनोग्राह्यम्' का अर्थ कर रहे हैं—मनस् (मन) संज्ञक इन्द्रिय से उत्पन्न होनेवाले प्रत्यक्ष का विषय होना। यानी मनोमात्रज य अर्थात् मानसत्वाश्रयनिरूपितलौकिक विषयतावाला होना। ऐसा परिष्कार करने से चाक्षुष प्रत्यक्ष मे कोई क्षति नही पहुँची क्योकि चाक्षुषादि प्रत्यक्ष भी मनोजन्य है, तथापि उसम मानसत्वाश्रयनिरूपितलौकिकसन्निकर्षप्रयोज्यविषयता नही है। करणव्युत्पत्ति के द्वारा 'मति' शब्द चक्षुरादिप्रमाणपरक ह, यह कहने के लिए 'मति' का अर्थ 'ज्ञान' बताया। उसी तरह करण व्युत्पत्ति के द्वारा कृति' शब्द, कृतिसाधनपरक होने से 'कृति' का अर्थ 'प्रयत्न' किया है। एव सुखत्व आदि जातिया भी मनइन्द्रिय से ग्राह्य है। 'आदि' शब्द से इच्छात्व आदि, सुख,-सुखत्वाद्यभाव को समझना चाहिये। आत्मा भी मनोग्राह्य है तो उसे यहा पर क्यो नही बताया? इसलिये नही बताया कि पहिले 'मनोमात्रस्य गोचर'—(कारि ५०) के द्वारा उसे मनोग्राह्य बता दिया गया ह, यहा पुन कहते तो पुनरुक्ति हो जाती, इसलिये यहा नही कहा ॥ ५७ ॥

॥ इति मनोग्राह्यविषयनिरूपणम ॥

★ ज्ञान यन्निर्विकल्पाख्यं तदतीन्द्रियमिष्यते।
महत्त्व षड्विधे हेतुरिन्द्रिय करण मतम् ॥५८॥

अर्थ—निर्विकल्पक जो ज्ञान है, उसे अतीन्द्रिय माना जाता है। निगतो विकल्पो विशेषण विशेष्यभाव यस्मात् तत निर्विकल्पकम, तदेव आख्या यस्य तत् निर्विकल्पाख्य। विशेषण विशेष्यभाव जिस ज्ञान में न हो उसे 'निर्विकल्प' यह नाम दिया गया ह। वह निर्विकल्पसंज्ञक ज्ञान, अतीन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियो के परे है, यानी इन्द्रियो से ग्राह्य नही ह, ऐसा नैयायिक लोग मानते है। निष्कर्ष यह है कि 'विषयता' तीन प्रकार की होती है—१ विशेष्यताख्य विषयता, २ विशेषणताख्यविषयता, ३ ससर्गताख्यविषयता। इन त्रिविध विषयताओ से अतिरिक्त एक चतुर्थ विषयता निरूपक जो ज्ञान हो उसे 'निर्विकल्पकज्ञान' कहते हैं, जैसे 'किञ्चित' यह ज्ञान, निर्विकल्पक है। इस निर्विकल्पक ज्ञानको कुमारिलभट्टपाद ने अपने श्लोकवार्तिक में इस प्रकार बयाया है—

"अस्ति ह्यालोचन ज्ञान प्रथम निर्विकल्पकम्।
बालमूकादिविज्ञानसदृश शुद्धवस्तुजम् ॥"

'शुद्धवस्तुजम' का अर्थ है विशेषण विशेष्यभावानुल्लेखि। घ्राणज, रासन, श्रौत्रज, स्पार्शन और मानस इन षड्विध (छह प्रकार के) प्रत्यक्ष के प्रति

महत्त्व (महत परिमाण), साक्षात्सम्बन्ध (समवाय) और परम्परासम्बन्ध (समवेतसमवाय आदि) से कारण होता है । अर्थात जन्यप्रत्यक्षसामान्य के प्रति लौकिकविषयता सम्बन्ध मे 'महत्त्व' को कारण (नियत पूर्ववत्ति) समझा जाता है । उक्त छहो प्रकार के प्रत्यक्ष मे इन्द्रिय (चक्षुरादि इन्द्रिय) करण (असारण कारण) होता है । यहा यह समझ लेना चाहिये—प्रत्यक्षज्ञान दो प्रकार का है—एक तो 'अय घट ' इत्याकारक सविकल्पकज्ञान और एक सविकल्पकज्ञान से पहिले होनेवाला 'इद किञ्चित —यह कुछ ह—इत्याकारक निर्विकल्पकज्ञान । इस निर्विकल्पकज्ञान को सविकल्पकज्ञान के पूव अवश्य मानना पडना ह ।

चक्षु सयोगाद्यनन्तर 'घट' इत्यकारक घटत्वादिविशिष्ट ज्ञान न सम्भवति, पूर्वं विशेषणस्य घटत्वादेर्ज्ञानाभावात् । विशिष्टबुद्धौ विशेषणज्ञानस्य कारणत्वात् । तथा च प्रथमतो घटघटत्वयोर्वैशिष्ट्या नवगाह्येव ज्ञान जायते । तदेव निर्विकल्पकम् । तच्च न प्रत्यक्षम् ।

● घट के साथ चक्षुरिन्द्रिय का सयोग सम्बन्ध होने के पश्चात ही तत्काल 'किञ्चित' (कुछ है) यह ज्ञान होता है। यहाँ पर 'घटत्व' और 'घट' स्वतन्त्ररूप से भासित होते है उनमे कोई मबध नही होता । इसलिये घटत्व-घटौ' इत्याकारक होनेवाले ज्ञान को ही 'वैशिष्ट्या (सम्बन्धा) नवगाहि' कहते है इस अवस्था मे उनके पथक् पृथक भासने से और उनमे विशेषण विशेष्यभाव सबध न हाने स हमे उस निर्विकल्पकज्ञान का साक्षात्कार भी नही हो सकता । इसलिये निर्विकल्पकज्ञान को अतीन्द्रिय अर्थात प्रत्यक्षायोग्य माना गया है । और इसी ज्ञान को 'निर्विकल्पक कहा जाता ह । इसके पश्चात अय घट ' (घटत्वविशिष्टो घट) इत्याकारक अर्थात घटत्वादिविशिष्ट (समवायेन घटत्वविशिष्ट) जो व्यवसायात्मक ज्ञान होता है, उसे सविकल्पक कहते है। सविकल्पकज्ञान होने के पश्चात 'घटमह जानामि' (घटविषयक ज्ञानवानहम) इत्याकारक अनुव्यवसायात्मक ज्ञान होता है, इस ज्ञान को 'विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञान' कहते है । इतना समझलेने के बाद अब मुक्तावली 'चक्षु सयोगाद्यनन्तर' को पढिये । चक्षुरिन्द्रिय और घट का सयोग होन के बाद सबसे पहिले 'घट ' अर्थात अय घट =यह घट (घटत्ववान घट) ह' इत्याकारक घटत्वादि विशिष्टज्ञान (सविकल्पकज्ञान) नही होता अभिप्राय यह है—अय घट इत्याकारकज्ञान, घटत्वादिप्रकारक घटत्ववद्विशेष्यकस्वरूप जो विशिष्टज्ञान है, वह उन्पन्न नही हो सकता । क्योकि अय घट (घटत्ववान घट) इत्याकारक ज्ञान के अव्यवहित पूव (प्राक्) क्षण में ('यह घट है' इस

ज्ञान स पहिले) 'घट' और 'घटत्व' का विशेष्य विशेणभाव से रहित (वैशिष्ट्या-नवगाहि) ज्ञान होता ह । अर्थात् 'अय घट ' इस सविकल्पकज्ञान होने के पहिले विशिष्टज्ञान निरूपितविशेषणताश्रायस्वरूप विशेषणभूत घटत्व और समवाय का कारणत्वेनरूपेण (कारण के रूप में) ज्ञान नही है ।

शका—विशेषणज्ञान के न होने पर विशिष्टज्ञान के न होने में क्या कारण है ?

समा०—विशिष्टबुद्धाविति । अय घट (घटत्ववान घट) इस विशिष्ट ज्ञान के प्रति विशेषण (घटत्व) का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान कारण होता हैं । क्याकि **'नाऽगृहीतविशेषणा बुद्धि विशिष्टे उपजायते'** यह नियम हैं । इसलिए 'घटत्व-घटौ' इस निर्विकल्पात्मक ज्ञान को मध्य मे अवश्य मानना ही होगा । अनुमान इम प्रकार करेंगे—''अय घट इति विशिष्टबुद्धि विशेषणज्ञानजन्या विशिष्ट बुद्धित्वात्, दण्डीपुरुष इनि विशिष्टबुद्धिवत् ।'' इसी का स्पष्ट करते है—**तथा-चेति** ।' घट और घटत्व (विशेष्य और विशेषण) का अर्थात धर्मी और धम का 'वशिष्ट्यानवगाहि एव' अर्थात विशेष्यत्व, प्रकारत्व, ससगत्व को विषय न करने वाला ही ज्ञान होता ह । इमी वैशिष्ट्यनिष्ठ सासर्गिक विषयतानिरूपितविषयिता-शून्य ज्ञान को निर्विकल्पकज्ञान कहते है । और यह निर्विकल्पक ज्ञान इन्द्रियाथ सन्निकषजन्य नही होता (निर्विकल्पक ज्ञान का प्रत्यक्ष नही होता अर्थात वह अनुमेय है ।) निष्कष यह है—'अय घट इत्याकारक ज्ञान, विशिष्ट ज्ञान है, क्योकि इम ज्ञान मे घट-घटत्व और दोनो का सम्बन्ध भासित होता है । उनमे 'घटत्व' विशेषण (प्रकार) ह, और 'घट' विशेष्य है तथा जाति-व्यक्तिरूप उन दोनो का परस्पर जो 'समवाय' है, वही सम्बन्ध है । 'अय घट' 'इत्याकारक ज्ञान के ये तीन ही विषय होते है । और विशिष्ट ज्ञान, सवदा विशेषण ज्ञान पूर्वक ही हाता है । यह नियम है । एवच इसके पूव घट-घटत्व का पृथक पृथक् (विशकलित) जो ज्ञान हुआ था, वही वैशिष्ट्या नवगाहि 'इमे घट घटत्वे' इत्याकारक निर्विकल्पक ज्ञान था । वह निर्विकल्पक ज्ञान अनुमेय हैं, प्रत्यक्ष नही । सविकल्पक और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

''नामादिभिर्विशिष्टाथ विषय सविकल्पकम ।
अविशिष्टाथविषयम्प्रत्यक्ष निर्विकल्पकम ॥''—तार्किकरक्षा

नामादि विशेषण शून्य स्वलक्षगमात्र विषयक निर्विकल्पक होता है । अर्थात् विशेष्य-विशेषण-सम्बन्ध-एतत त्रितयातिरिक्त विषयता निरुप्य यह ज्ञान है ।

● तथाहि वैशिष्ट्यानवगाहिज्ञानस्य प्रत्यक्ष न भवति 'घटमहं जानामी'ति प्रत्ययात्। तत्रात्मनि ज्ञान प्रकारीभूय भासते। ज्ञाने घटस्तत्र घटत्वम्। य प्रकार स एव विशेषणमित्युच्यते। विशेषणे यद्विशेषण तद्विशेषणतावच्छेदकमित्युच्यते। विशेषणतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान विशिष्ट वैशिष्ट्यज्ञाने कारणम्। निर्विकल्पके च घटत्वादिक न प्रकारस्तेन घटत्वादिविशिष्टघटादिवैशिष्ट्यमान ज्ञाने न सम्भवति। घटत्वाद्य प्रकारकं च घटादिविशिष्टज्ञान न सम्भवति। जात्यखण्डोपाध्यतिरिक्त-पदार्थज्ञानस्य किञ्चिद्धर्मप्रकारकत्वनियमात्।

॥ इति निर्विकल्पकस्याऽतीन्द्रियत्वनिरूपणम् ॥

● ऊपर बता चुके है कि निर्विकल्पक ज्ञान अतीन्द्रिय होता है अर्थात मानस प्रत्यक्ष का विषय नही होता। परन्तु क्यो नही होता? यह प्रश्न करने पर उत्तर दे रहे है–"तथाहीति"। उसी ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है, जिसमे विशेष्य विशेषण भाव रहता है। अर्थात् जिस ज्ञान मे विशेष्य विशेषण भाव नही रहता उसका प्रत्यक्ष कभी नही होता। ज्ञान में विशेष्य विशेषणभाव रहने का अथ यह है कि ज्ञान मे उद्देश्य विधेयभाव हो। अर्थात किसी वस्तु के विषय मे कुछ कहा जाय।

क्वचित विशेष्य विशेषण भाव रहित भी दो पदार्थो का ज्ञान यद्यपि होता है, जैसे निर्विकल्पक दशा मे 'घट' और 'घटत्व' का ज्ञान हुआ करता ह। किन्तु उस ज्ञान का मानम प्रत्यक्ष (अनुव्यवसाय) ज्ञान नही होता यह बात अनुभव-सिद्ध ह। 'अह घट जानामि'—मैं घटको जानता हूँ—यह आकार, ज्ञान के प्रत्यक्ष होने का है। यहा 'घट' का अथ होता ह 'घटत्ववान घट'–'घटत्व' विशेषण से युक्त घट अथात घटत्वावच्छिन्न घट। इसी मानस प्रत्यक्ष (अनुव्य-वसाय) का विश्लेषण मुक्तावलीकार कर रहे है। हमारे व्यावहारिक प्रयोजन निष्पादक सभी ज्ञानो म विशेष्य-विशेषण भाव रहता है, यह ऊपर कहा हो गया है। 'अह घट जानामि यह ज्ञान 'अनुव्यवसाय' (मानस प्रत्यक्ष) रूप है। इसका अथ है 'घटज्ञानवान अहम'। इसमे 'मैं' (आत्मा) विशेष्य ह, और उसका विशेषण 'ज्ञान' है। ज्ञान (व्यवसाय) का स्वरूप है 'अय घट'—यह घट है—यह ज्ञान चाक्षुषप्रत्यक्षात्मक है। इस चाक्षुषप्रत्यक्षात्मक ज्ञान मे 'घट' विशेषण है, किन्तु 'घट' का अथ है 'घटत्व-विशिष्ट घट'। इस कथन का विश्लेषण यह हुआ कि 'ज्ञान' मे 'घट' विशेषण है और 'घट' में 'घटत्व' विशेषण

है। एवच 'अयघट ' इत्याकारक ज्ञान में 'घटत्वविशिष्ट घट' भासित होता है। विशेपण से जो युक्त होता है उसे 'विशिष्ट' कहते हैं। विशेषण का काय व्यावतन (अलग या पथक् करना) करना है। इसलिये विशेषण को व्यावतक कहते हैं। व्यावतक का अथ ह दूसरो से अलग (पथक) करने वाला। जैसे 'लाल पुष्प' को अन्य सफेद, पीले, नीले, गुलाबी आदि रगो के पुष्पो से पृथक् (अलग) कर दिया है। इसलिये 'लाल' विशेषण को व्यवहार की भाषा मे व्यावतक कहा जायगा। इसी व्यावतक (विशेषण) को नैयायिक विद्वान 'अवच्छेदक' शब्द से कहते हैं। क्याकि दूसरो से अलग करने वाले को ही 'अवच्छेदक' कहते है। यह समझ लेने के बाद अब प्रस्तुत प्रसग को सोचिये। 'अय घट ' इत्याकारक ज्ञान मे 'घट' विशेषण है इसने दूसरे दूमरे (अन्यान्य) ज्ञानों से प्रस्तुत ज्ञान (अय घट इत्याकारक ज्ञान) को पथक् कर दिया है। ऊपर बता चुके है कि 'घट' का अथ है 'घटत्वविशिष्ट घट'। अत स्पष्ट हैं कि घट' मे 'घटत्व' विशेषण हैं। अर्थात् 'अय घट ' इत्याकारक ज्ञान मे विशेषणीभूत 'घट' का 'घटत्व' विशेषण हुआ न्याय में विशेषण को ही 'अवच्छेदक' कहते है। अत 'घटत्व' अवच्छेदक कहलाया इससे यह समझ मे आया कि ज्ञान मे विशेषणीभूत 'घट' की विशेषता 'घटत्व' से अवच्छिन्न है, यानी विशेषणीभूत घटनिष्ठ विशेषणता का अवच्छेदक 'घटत्व' है। एवच घटत्व' को घटनिष्ठ विशेषणता का अवच्छेदक कहा जाता है। अत घटत्वावच्छिन्न घट कहने पर घटत्वावच्छिन्ना घटनिष्ठा विशेषणता समझनी चाहिये। इसी प्रकार 'अह घट जानामि' इत्याकारक अनुव्यवसायात्मक (मानस प्रत्यक्षात्मक) जो ज्ञान है, वही 'विशिष्ट वैशिष्टय ज्ञान है, क्योकि 'अय घट ' यह विशिष्ट (विशेष्य-विशेषण भावयुक्त) ज्ञान है और 'अह घट जानामि' यह ज्ञान अयघट ' इस विशिष्ट ज्ञान की विशिष्टता (विशेषणता) से युक्त है। इस कारण 'अहघट जानामि' इस अनुव्यवसायज्ञान को 'विशिष्ट वैशिष्टयज्ञान' समझना चाहिये। इस अनुव्यवसाय ज्ञानके प्रति 'घटत्वविशिष्टघट' का ज्ञान कारण है। 'घटत्वविशिष्टघटज्ञान' को ही 'विशेषणतावच्छेदक प्रकारकज्ञान' कहते है। अर्थात् 'विशेषणतावच्छेदक' जो 'घटत्व' वह है 'प्रकार' (विशेषण) जिस ज्ञान मे-ऐसा ज्ञान। यह अनुभव होता है, इसके बलपर ही यह कहा जा रहा है कि अनुव्यवसाय (मानसप्रत्यक्ष) ज्ञान तभी होता है कि जब ज्ञान के विषय में कोई विशेषणता हो अर्थात 'ज्ञान' विशेषणरहित (निष्प्रकारक) न हो। निर्विकल्पकज्ञान का स्वरूप ही यह है कि वह

निर्विशेषण (निष्प्रकारक) होता है। यद्यपि निर्विकल्पकज्ञान मे 'घट' और 'घटत्व' दोनो का ज्ञान होता है, तथापि उम ज्ञान मे 'विशेष्य विशेषणभाव' नही है, अत उस ज्ञान को निष्प्रकारक ही कहा जाता है। और निष्प्रकारक होने से उस (निर्विकल्पकज्ञान) का मानसप्रत्यक्ष नही हो मकता। इमीलिये इस निर्विकल्पकज्ञान को 'अतीन्द्रिय' कहा जाता ह। 'अय घट' इत्यकारकज्ञान को विशिष्टज्ञान तभी कहा जा सकेगा कि जब 'घट' मे 'घटत्व' प्रकार (विशेषण) होगा। 'घटत्व' को 'घट' मे प्रकार (विशेषण) किये बिना 'अय घट' इस ज्ञान को विशिष्टज्ञान नही कहा जायेगा। क्योकि 'जाति' और 'अखण्डोपाधि' को छोडकर सभी पदाथ का ज्ञान किसी विशेषणता (प्रकारता) को लेकर ही होता है और तभी उसका मानमप्रत्यक्ष हो पाता ह। यदि उम ज्ञान मे कोई विशेषणता न हो तो उसका प्रत्यक्ष न होगा। इमी कारण निर्विकल्पज्ञान का प्रत्यक्ष नही होता अर्थात उसे अतीन्द्रिय कहा जाता है। प्रत्येक पदाथ (वस्तु) का ज्ञान किमी न किसी विशेपणता (प्रकारता) के साथ होना है, किन्तु 'जाति' और अखण्डोपाधि' का ज्ञान प्रकारता (विशेषणता के) बिना ही होता है। क्योकि 'घट' का ज्ञान तो 'घटत्व' की विशेषणता के साथ ही होता है, और यदि 'घटत्व' का ज्ञान भी किसी अन्य (दूसरी) विशेषणता के साथ माना जाय तो अनवस्था हो जायगी। इस कारण 'जाति' और 'अखण्डोपाधि' का ज्ञान बिना प्रकारता (विशेषणता) के ही स्वीकार किया गया है। पदार्थों (वस्तुओ) मे रहनेवाले सामान्य धम दो प्रकार के होते है—एक तो नित्य धम 'सामान्य' (जाति) के रूप में जिन धर्मो का ससार मे अस्तित्व है, जैसे (गौ = गाय) मे रहनेवाला 'गोत्व', घट, पट मे रहनेवाला 'घटत्व पटत्व' आदि, धर्मों का ससार मे अस्तित्व है। किन्तु कतिपय सामान्य धम ऐसे भी है, जिनका ससार में वस्तुत अस्तित्व नही है, तथापि कल्पना के बलपर माने जाते है। कतिपय समान गुणो के कारण उन धर्मों की भी कल्पना कर ली जाती है और उन्हे 'सामान्यधम' या 'उपाधि' कहते है। सभी गौओ मे समानता की प्रतीति होती है, इसलिये 'गोत्व को सामान्य (जाति) के रूप में कहा जाता है। उसी तरह भारतीयो म विदेशियोमें भी भारतीयत्व-विदेशियत्व धम को सामान्य (जाति) के रूप में नही माना जायगा, अपितु इन धर्मो को 'उपाधि' के रूप मे माना जायगा जिसकी कल्पना अपने विचार या बुद्धि के बल पर की जाती है, उसे नित्य नही कहा जा सकता वह केवल मानसिक होने के कारण ससार में उसका वास्तविक रूप मे अस्तित्व

नही ह, अपितु केवल व्यावहारिक अस्तित्व है। ऐसे धर्मा को 'उपाधि' कहते है। 'जाति' का वास्तविक अस्तित्व हो जाता है। और 'उपाधि' का काल्पनिक अस्तित्व होता है, जाति और उपाधि मे भेद है। 'गोत्व' 'मनुष्यत्व' 'घटत्व' आदि धम 'जाति' रूप है और प्रतियोगित्व, अनुयोगित्व, गगनत्व आदि धम 'उपाधि' रूप ह। यह उपाधि भी दो प्रकार का ह-एक सखण्डोपाधि और दूसरा अखण्डोपाधि। जिन उपलब्धिया का निरूपण (निवचन) किया जा सकता है, जैसे-भारतीयत्व (भारत मे उत्पन्न होगा), विदेशीयत्व (विदेश मे उत्पन्न होना) आदि। परन्तु जिनका निरूपण (निवचन) नही किया जा सकता, उन्हे अखण्डो पाधि कहते है। जैसे—आकाशत्व, प्रतियोगित्व, अनुयोगित्व आदि। एवच जाति और उपाधि का भी ज्ञान बिना विशेषणता (प्रकारता) के ही होता ह। अन्यथा अनवस्था दोष होगा। जात्यादि धर्मो का निरवच्छिन्नज्ञान होता है किन्तु तद्भिन्न जातिमदादिपदार्थो का ज्ञान किसी न किसी विशेषण से अवच्छिन्न ही हुआ करता है, यह नियम है। इस कारण घटत्वादि धर्मों का (विशेषणो का) निर्विकल्पकज्ञान ही होता ह। यह अवश्य स्वीकार करना होगा। नैयायिको के अनुसार निर्विकल्पकज्ञान वह है जिसमे नाम, जाति आदि का सम्बन्ध न हो और जो निष्प्रकारक (विशेषणमात्र) हो तथा जो केवल वस्तुस्वरूपमात्र का ग्रहण करता हो। जैसे "किञ्चिदिदम्" अथवा दूर से 'अस्तिकिञ्चित'।

साख्य के अनुसार 'आलोचनात्मकज्ञानविशष' निर्विकल्पकज्ञान है। अद्वैत-वेदान्तियो के अनुसार जिस ज्ञान मे ज्ञातृ-ज्ञेय आदि विभाग न हो, और ब्रह्म—आत्मा की एकता जिसका विषय हो, तथा विशेष्य विशेषण भावसम्बन्धशून्य, अखण्डाकार जो ज्ञान हो, वह निर्विकल्पकज्ञान है। प्राभाकरमीमासक 'निर्विकल्प-ज्ञान' को ही नही मानते। इनके मत मे विशिष्टज्ञान के प्रति 'विशेषणज्ञान' की कारणता नही ह। द्रव्यविशिष्टप्रत्यक्ष म प्रतिसन्धानविशिष्ट की भी कारणता होती है।

पदाथ रत्नमालाकार ने कहा है—

"विशेषण विशेष्यञ्च सम्बन्ध लौकिकी स्थितिम।
गृहीत्वा सङ्कलय्यैतत् तथा प्रत्येति नान्यथा॥"

अर्थ—उक्त षड्विध प्रत्यक्ष में अर्थात चाक्षुष, रासन, घ्राणज, श्रोत्रज, त्वाच, और मानस प्रत्यक्षमें 'महत्त्व' परिमाण को कारण माना जाता है। अर्थात् लौकिक विषयता सम्बन्ध से जन्य प्रत्यक्ष सामान्य के प्रति, 'महत्त्व' (महत परिमाण) नियत् पूर्ववृत्ति (कारण) होता है।

महत्त्वमिति । द्रव्यप्रत्यक्षे महत्त्व समवायसम्बन्धेन कारणम् । द्रव्यसमवेताना गुणकर्मसामान्याना प्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवायसम्बन्धेन कारणम् । द्रव्यसमवेतसमवेताना गुणत्वकर्मत्वादीना प्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवेतसमवायसम्बन्धेन कारणमिति ।

● उपर्युक्त महत्त्व (महत परिमाण) किस किस सम्बन्ध से कहा कहा कारण होता है यह बता रहे है— 'द्रव्यप्रत्यक्ष ' इति । लौकिक सन्निकर्षप्रयोज्य-विषयता सम्ब ध से द्रव्यवत्ति चाक्षुषप्रत्यक्ष के प्रति और स्पार्शनप्रत्यक्ष के प्रति समवाय सम्बन्ध से 'महत-परिमाण' (महत्त्व) कारण होता है । क्योकि महत्त्व' गुण ह और द्र य' गुणी है । गुण और गुणी का सम्बन्ध समवाय' माना गया है । अर्थात जिस द्रव्य मे 'महत्त्व' समवेत (समवाय सम्ब ध से रहता) हो, उसी द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है, दूसरे का नही । द्रव्य मे समवेत (समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले) गुण, कम और सामा य (जाति) के लौकिकसन्निकर्षप्रयोज्य-विषता सम्बन्ध से होनेवाले चाक्षुष प्रत्यक्ष (चाक्षुप प्रत्यक्षत्वादि धर्मावच्छिन्न) के प्रति स्वाश्रयसमवायसम्बन्ध से 'महत्व' कारण होता है । यहा पर 'स्व शब्द से 'महत्त्व (महत्परिमाण) को लेना है, उसका आश्रय 'द्रव्य' होगा, उसमे गुण कम, सामान्य का समवाय है । अत द्रव्य के गुण, कम, सामान्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष मे 'स्वाश्रयसमवाय' सम्बन्ध से 'महत्त्व (महत्परिमाण) कारण होता है । नयायिक विद्वान गुण मे रहनेवाली 'गुणत्व' जाति, तथा कम मे रहनेवाली 'कमत्व' जाति का भी प्रत्यक्ष मानते है । क्योकि द्रव्य में 'गुण' तथा 'कम' समवेत है और उनमें (गुण कम मे) गुणत्व, कमत्व जाति का समवाय है । इस कारण 'गुणत्व, कमत्व' जातिया द्रव्य समवेत समवेत कहलाती है । अत उनके (गुणत्व कमत्व जातियो के) प्रत्यक्ष मे स्वाश्रय समवेत-समवाय सम्बन्ध से 'महत्त्व' (महत्परिमाण) कारण होता है । यहा पर भी 'स्व' शब्द से 'महत्त्व' को लेना है । उसका (महत्त्व का) आश्रय 'द्रव्य' होगा, उसमें (द्रव्य मे) समवेत 'गुण, कर्म' है, उनमे (गुण कम मे) गुणत्व, कमत्व का समवाय है ।

⊛ इन्द्रियं करणं मतम् ॥ ५८ ॥

अर्थ —उक्त षडविध प्रत्यक्ष मे 'इन्द्रिय' करण (असाधारण कारण) हैं ।

इन्द्रियमिति । अत्रापि षड्विध इत्यनुषज्यते । इन्द्रियत्व तु न जाति पृथिवीत्वादिना साङ्कर्यप्रसङ्गात् । शब्देतरोद्भूतविशेष-

गुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयत्वमिन्द्रियत्वम् । आत्मादि-वारणाय सत्यन्तम् । उद्भूतविशेषगुणस्य शब्दस्य श्रोत्रे सत्त्वाच्छब्देत-रेति । विशेषगुणस्य रूपादेश्चक्षुरादावपि सत्त्वादुद्भूतेति ।

● मूल कारिका में स्थित 'इन्द्रिय करण मतम्' के आगे पूर्वोक्त 'षड्विधे' पद का अनुषङ्ग करना चाहिये । इसी बात को बताने के लिये 'अत्रापि' कहा गया है । तथाच 'चाक्षुषत्वादिप्रत्येकधर्मावच्छिन्ननिरूपितव्यापारसम्बन्धावच्छिन्न कारणताश्रयीभूत यत, तत इन्द्रियविभाजकचक्षुष्ट्वादिप्रत्येकधर्मावच्छिन्नम' यह अर्थ निष्पन्न हुआ । तादृशकारणतावच्छेदक चक्षुष्टवादि प्रत्येक धर्मवाले षडविध प्रत्यक्ष मे 'इन्द्रिय' करण होता है ।

शका—इन्द्रियाँ तो अनेक है और 'इन्द्रियत्व धर्म एक है, जो समस्त इन्द्रियो पर रहता है । अत इन्द्रियत्व धर्म जाति' रूप हुआ, क्योकि वह (इन्द्रियत्वधर्म) स्वय नित्य होता हुआ अनेक समवेत है, घटत्व के समान 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वात घटत्वादित । अत उसी जातिरूप इन्द्रियत्व धर्म के द्वारा ही 'इन्द्रिय' को षडविध प्रत्यक्ष के प्रति हेतु मान लिया जाय । इस प्रकार मानने मे छह् कार्य कारण भाव नही मानने पडेंगे, तो लाघव होगा ।

समा०—'इन्द्रियत्व' धर्म 'जाति' रूप नही है, अपितु वह सखण्डोपाधिरूप धर्म है । उस धर्म को 'जाति' रूप न मानने मे 'सकर' नामक दोष बाधक होता है, "पृथिवीत्वादिना" इति । 'सकरदोष का स्वरूप इस प्रकार होगा—'पृथिवीत्व' को छोडकर 'इन्द्रियत्व' धर्म चक्षुरादिको मे विद्यमान है, तथा 'इन्द्रियत्व' धर्म को छोडकर पृथिवीत्व' धर्म घटादिको मे है । ये दोनो धर्म (पृथिवीत्व-इन्द्रियत्व) घ्राणेन्द्रिय में समाविष्ट है, अत यह सङ्कर है । एवञ्च सङ्करदोष से युक्त होने के कारण 'इन्द्रियत्व' धर्म को जातिरूप नही माना जाता । तस्मात 'इन्द्रियत्व' न जाति "इन्द्रियत्व जातित्वाभाववत स्वाभाववद्वृत्ति स्वसमानाधिकरणधर्माभाववद्वृत्तित्वात् ।" इन्द्रियत्व के जाति न होने मे यह अनुमान-प्रयोग है ।

शका—'इन्द्रियत्व' धर्म यदि जातिरूप नही है, तो वह किंरूप है ? अर्थात "इन्द्रियत्व' क्या है ?

समा०—'इन्द्रियत्व' धर्म, सखण्डोपाधिरूप है । उसे बताने के लिये ही इन्द्रिय का निर्वचन कर रहे है—"शब्देतरोद्भूत" इति । इन्द्रिय के

लक्षण बता रहे हैं—'शब्देतरोदभूतविशेषगुणानाश्रयत्वेसति ज्ञानकारण-मन मयोगाश्रयत्वम —इन्द्रियत्वम । **शब्दात् इतरे**=शब्द के अतिरिक्त **उद्भूता**= प्रत्यक्षयोग्य (प्रत्यक्षसन्निकषवत्तापादनविषय), जो विशेषगुणा =रूप—सुखादि, उनका अनाश्रय (आश्रय न) रहते हुए अर्थात शब्द को छोडकर (शब्द के बिना) जितने रूप—सुखादि अनुदभूत विशेष गुण है, उनका आश्रय होकर, **ज्ञानस्य कारणीभूत** = ज्ञान का असाधारण कारणभूत, जो **मन सयोग** = इन्द्रिय मन सयोग, **तदाश्रयत्वम्**=उसका आश्रय होना । अर्थात् उसका जो आश्रय हो उसे 'इन्द्रिय' कहते है । तत्त्वम् इन्द्रियत्वम, इस रीति से 'इन्द्रियत्व' का निवचन हो सकने के कारण 'इन्द्रियत्व धम, सखण्डोपाधिरूप है, जातिरूप नही है । इन्द्रिय के लक्षण मे निविष्ट पदो की आवश्यकता को (पदकृत्य को) बताते है—"आत्मादी ति । लक्षण मे यदि 'सत्यन्त' पद न दें तो 'ज्ञानकारण-मन सयोगाश्रय' पद से 'आत्मा' भी समझा जा सकेगा तथा 'आदि' से 'चम-मन सयोगाश्रय चम भी होगा । अत आत्मा और चर्म मे अतिव्याप्ति हो जायगी, उसका वारण करने के लिये 'सत्यन्त' पद की आवश्यकता हैं । उसके देने पर 'आत्मा' तादशसयोगाश्रय रहने पर भी शब्द के अतिरिक्त ज्ञान सुखादि जो उदभूत विशेषगुण है, उनका वह आश्रय ही है, अनाश्रय नही हैं । उसी तरह 'चम' भी उदभूत जो रूपादि विशेषगुण हैं, उनका आश्रय ही है, अनाश्रय नही है । अत अतिव्याप्ति नही होगी । लक्षण मे यदि 'शब्देतर' पद न दें तो श्रोत्रेन्द्रिय में लक्षण की अव्याप्ति होगी, क्योकि 'श्रोत्र', उदभूत विशेषगुण (शब्द) का अनाश्रय नही है, अपितु 'श्रोत्र' आकाशात्मक होने से शब्दात्मक उदभूत विशेष-गुण का आश्रय ही है । क्योकि उदभूतत्व अर्थात 'प्रत्यक्षप्रयोजकसन्निकषवत्ता स्यात तर्हि उपलभ्येत' के अनुसार आपादनविषयत्व ही उदभूतत्व हुआ । वह उद्भूतत्व, शब्द में है ही । एवच शब्द, उद्भूत हुआ, अत अव्याप्ति होगी । उसके निवा-रणाथ 'शब्देतर' पद का निवेश लक्षण मे किया गया है । उसके निवेश करने से शब्देतरोदभूत-रूपादि गुणो का अनाश्रय होने से लक्षण सगत हो जाता है, तब अव्याप्ति नही हो पाती । अब यदि लक्षण मे 'उदभूत' पद न दें, अर्थात् 'शब्देतर-विशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमन सयोगाश्रयत्वम' इतना ही लक्षण करें तो चक्षुरादि, रूपादि विशेषगुण के आश्रय ही है, शब्देतरानुदभूत विशेष गुण रूपादि के अनाश्रय नही है, अत चक्षुरादि में अव्याप्ति होगी । 'उद्भूत' पद का उपा-दान करने पर चक्षुरादि, यद्यपि रूपादि विशेषगुण के आश्रय है तथापि उदभूत-

विशेष गुण रूपादिको के अनाश्रय है (आश्रय नही है) किन्तु अनुदभतरूपादि-गुणो के आश्रय है इसलिये उनमे अव्याप्ति नही हो पाती ।

उद्भूतत्व न जाति शुक्लत्वादिना साङ्कर्यात् । न च शुक्लत्वादिव्याप्य नानैवोद्भूतत्वमिति वाच्यम्, उद्भूतरूपवत्वादिना चाक्षुषादौ जनकतानुपपत्ते । किन्तु शुक्लत्वादिव्याप्य नानैवानुद्भूतत्व तदभाव कूटश्चोद्भूतत्वम् तच्च संयोगादावप्यस्ति । तथा च शब्देतरोद्भूत-गुण संयोगादिश्चक्षुरादेरप्यस्त्यतो विशेषेति । कालादिवारणाय विशेष्य-दलम् । इन्द्रियावयवविषयसंयोगस्यापि प्राचा मते प्रत्यक्षजनकत्वादि-न्द्रियावयववारणाय, नवीनमते कालादौ रूपाभावप्रत्यक्षे सन्निकर्षघटक तया कारणीभूतचक्षुसंयोगाश्रयस्य कालादेश्च वारणाय मन पदम् । ज्ञानकारणमित्यपि तद्वारणाय करणमिति । असाधारण कारण करणम् । असाधारणत्व व्यापारवत्त्वम् ॥ ५८॥

● लक्षण में दिये गये 'विशेष' पद का प्रयोजन बताने के लिये भूमिका (प्रयोजन सम्पादिका युक्ति) बता रहे है—'उद्भूतत्वमिति । गुणो में 'उद्भूतत्व' धम जातिरूप है या उपाधिरूप है ? यह प्रश्न उपस्थित होने पर कहते है–'न जाति ', क्योकि 'शुक्लत्वादिना साङ्कर्यात' । गुणो में जो 'उद्भूतत्व' धम है, वह जातिरूप नही है, अर्थात 'उदभूतत्व' जाति नही है, बल्कि वह (उद्भूतत्व) उपाधि रूप धम है अर्थात् 'उदभूतत्व उपाधि है । क्योकि उसे जातिरूप मानने में 'साङ्कर्यदोष' बाधक होता है । अर्थात 'साङ्कय दोष के कारण उसे 'जाति' नही कह सकते । साङ्कय का स्वरूप यह है—'शुक्लत्व' धम को छोडकर 'उदभूतत्व', उदभूतगन्ध (प्रत्यक्ष गन्ध) में है, उसी प्रकार 'उद्भूतत्व' धम का छोडकर 'शुक्लत्व' धम अनुदभूत-शुक्ल मे (परमाणुगत अनुदभूत शुक्ल में) है, किन्तु उदभूतत्व-शुक्लत्व दोनो ही धम, उद्भूतशुक्ल में (वस्त्रादिशुक्ल में) समाविष्ट है इसलिये साकय हो गया । इस साकय दोष के कारण 'उद्भूतत्व का जाति न कहकर उपाधि कहा है । अनुमान प्रयोग यह होगा—'उद्भूतत्व जातित्वाभाववत, स्वाभाववदवृत्तिस्वस-मानाधिकरणधर्माभाववद्वृत्तित्वात् ।'

शका—उद्भूतत्व धम एक न होकर नाना (अनेक) है, यह कुछ विद्वानों का मत है । जैसे-शुक्लत्वधर्मव्याप्य उद्भूतत्व, कृष्णत्वधर्मव्याप्य उदभूतत्व, सुर

भित्वधर्मव्याप्य उदभूतत्व, मधुरत्व धर्मव्याप्य उद्भूतत्व इस प्रकार तत्तद्धर्मव्याप्य उदभूतत्व नाना है, एक नही है। अभिप्राय यह है कि शुक्लत्वादिनिष्ठा या व्यापकता, तादशव्यापकतानिरूपिता या व्याप्यता अर्थात यत्र यत्र उदभूतत्व तत्र तत्र शुक्लत्व' इति व्याप्तिरेव, तदाश्रय उदभूतत्वम्, ऐसा उभूतत्व, तदरूप रसादिको मे नाना ही ह अर्थात भिन्न भिन्न ही हैं। एवच शुक्लोदभूतत्व, कृष्णोदभूतत्व आदि जातिया मानने से सकर दोष नही होगा। यानी उद्भूतत्व धम अनेक है, वे शुक्लरूप, नीलरूप, गन्ध, स्पश आदि मे रहते है। अत शुक्लोद्भूतत्व, कृष्णोदभूतत्व आदि जातिया मानने म सकर नही हो पायगा।

समा०—'तादृश नानाविध उद्भूत्वो को जातिरूप मानेगे', एकविध उद्भूतत्व को ही नही ऐसी शका नाना उदभूत वादियो को नही करनी चाहिये—'नच वाच्यमिति।' उद्भूतरूपत्वादिना = उदभूतरूपत्वेन। चाक्षुषादौ = चाक्षुषादिप्रत्यक्षे। जनकत्वाऽनुपपत्ते = हेतुत्वाऽसिद्धे। क्योकि चाक्षुषप्रत्यक्ष मे अर्थात् 'चक्षुरिन्द्रियजन्यद्रव्यादिप्रत्यक्ष के प्रति उदभूत रूपत्वावच्छिन्न उद्भूतरूप कारण होता है, इस नियम के अनुसार 'यत्र यत्र चाक्षुषप्रत्यक्ष भवति तत्र तत्र कारणम् उद्भूतरूप, अर्थात जहाँ जहाँ चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है वहा वहाँ कारण होनेवाला उदभूतरूप, कारणता वच्छेदक एक उदभूतरूपत्वधर्म से युक्त रहता है। अर्थात चाक्षुष प्रत्यक्ष मे उदभूतरूप कारण है, और स्पाशन प्रत्यक्ष में उद्भूतस्पश कारण है। यदि भिन्न भिन्न (अनेक) उद्भूतत्व होगे तो सामान्यत चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति एक ही उद्भूतरूपत्व धम से युक्त उदभूतरूप के कारण रहने पर बाकी के अन्य उदभूतरूपो को अकारण कहना होगा, किन्तु वहा भी चाक्षुष प्रत्यक्ष तो होता ही है। ऐसी स्थिति मे कारण का अभाव रहने पर भी काय की उत्पत्ति होने से व्यतिरेकव्यभिचार होगा, 'कारणाभावेऽपि कायसत्त्वात्मको व्यतिरेक व्यभिचार।' अत एक एक उदभूतत्व को कारणतावच्छेदक मानने पर व्यभिचार होता है ओर अनेक उद्भूतत्वो का समुदाय किसी एक घट पटादिव्यक्ति में होना कभी सभव नही, अत उसमे कारणतावच्छेदकत्व भी नही बन सकेगा। कारणता का अवच्छेदक एक ही हो सकता है, अनेक, नही। एवच कारणतावच्छेदक न बनपाये (कारणतानवच्छेदकाक्रान्त) उद्भूतत्व धर्मों के कारण चाक्षुषादि प्रत्यक्षो के प्रति रूप आदि भी कारण नही बन पायेंगे। वही धम कारणतावच्छेदक हुआ करता है कि जो अन्यूनानतिरिक्तदेशवृत्ति होता है। अत उद्भूतत्व के स्वरूप को ग्रन्थकार बता रहे है—"किन्तु शुक्लत्वादिव्याप्य नानैव अनुद्भूतत्व,

तद्भावकूटश्च उद्भूतत्वम्'। 'उदभूतत्व' को अभावरूप मानकर उसकी एकता को सिद्ध किया जा रहा है तथाहि—शुक्लत्वादिन्यूनवत्ति अनुदभूतत्व नानाविधम, तदभावकूट अर्थात नानाविध अनुद्भूतत्वाऽभावसमूह एव उदभूनत्व बोध्यम। अर्थात शुक्लत्व कृष्णत्व आदि के व्याप्य (न्यूनवत्ति) अर्थात शुक्ल, कृष्ण आदि रूपो में या गन्ध, स्पश आदि मे विद्यमान (रहने वाले) अनुदभूतत्व अनेक (नाना) ह, उन समस्त अनुद्भूतत्वो के अभावसमूह का नाम 'उदभूतत्व' है। अर्थात शुक्लत्वादिनिष्ठव्यापकतापिरूपित व्याप्यताश्रयस्वरूप अनुद्भूतत्व, नाना ही है, और तदभावकूट यानि अनुदभूतत्वाभावसमुदाय ही उदभूतत्व है। अर्थात "शुक्लत्वा दव्याप्य नानानुदभूतत्वाभाव समुदाय एवोद्भूतत्वम'। इस प्रकार का वह 'उदभूतत्व एक है। अत उसे चाक्षुषादि प्रत्यक्ष मे 'कारण' कहा जा मकता है। किन्तु यह कहने से प्रकृत में अव्याप्ति हो रही है—"तच्च सयोगादाविति।' इस प्रकार से निर्दिष्ट (तादृशाभावकूटात्मक) उदभूतत्व, सयोग, विभाग अ दि मे भी रहता है। वे सयोग विभाग आदि, चक्षुरादि के उदभूत गुण है, जो (सयोगादि) शब्द से इतर भी है। अत चक्षुरिन्द्रिय, रसनेन्द्रिय आदि में भी शब्देतरोद्भूतगुण-सयोगाऽनाश्रयत्वाऽभाव रहने से (शब्देतर जा सयोगादि उदभूतगुण, वे चक्षुरादि में रहने के कारण) उन चक्षुरादिको मे अव्याप्ति होगी उस अव्याप्ति के निवारणाथ लक्षण में '**विशेष**' पद दिया गया है। 'विशेष' पद के देने से चक्षुरादिको मे अव्याप्ति नही होगी, क्योकि 'सयोग' आदि विशेषगुण नही है "रूप गन्धो रस-स्पश स्नेह सासिद्धिको द्रव। बुद्धयादिभावनान्ताश्च शब्दो वैशेषिका गुणा॥" विशेष गुण तो ये होते है। अत चक्षुरादि शब्देतरोदभूत विशेष गुण का अनाश्रय (आश्रय न) होने से चक्षुरादि मे इन्द्रियलक्षण का समन्वय हो गया, इसलिये अव्याप्ति अब नही है। उक्त इन्द्रियलक्षण मे यदि 'ज्ञानकारणमन सयोगाश्रय-त्वम् इस विशेष्य दल को न दें तो 'काल' मे अतिव्याप्ति होगी, क्योकि 'काल' किसी भी विशेष गुण का आश्रय नही अर्थात अनाश्रय ह। विशेष्यदल को जोड-देने पर 'काल' में लक्षणगत सत्यन्त अश के घटित हो जाने पर भी विशेष्य अश घटित नही हो रहा है, क्योकि 'काल' 'ज्ञानकारणमन सयोगाश्रय' नही है। अत 'काल' में लक्षणसमन्वय न होने से अतिव्याप्ति नही है। 'कालादि' यहा 'आदि' पद से 'दिक्' को भी समझ लेना चाहिये। इन्द्रिय के लक्षण मे 'मनस' पद के निवेश का प्रयोजन बता रहे हैं—"**इन्द्रियावयवेति**।" **प्राचीनों के मत के अनुसार** लक्षण में यदि 'मनस्' पद न दें तो घट के प्रत्यक्ष मे चक्षुरिन्द्रिय के अवयव और

घट दोनो का सयोग कारण होता है (इन्द्रियावयव और विषय के सयोग से घटादि विषयो (वस्तुओ) का प्रत्यक्ष होता है) तादृशज्ञान कारणसयोगाश्रयता चक्षुरवयव मे ह ही और लक्षणगत सत्य त दल भी चक्षुरवयव में घटित हो रहा है। अत **इन्द्रियावयव** मे इन्द्रियलक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी, उसके निवारणाथ 'मनम' पद देना आवश्यक है । एवञ्च 'ज्ञान कारण मन सयोग कहने से इन्द्रिय मनस्सयोग ही हो सकेगा, इन्द्रियावयव मन सयोग नही होगा, तव इन्द्रियावयव में अतिव्याप्ति नही होगी ।

इसो बात को केशव मिश्र ने अपनी **तर्कभाषा** में भी कहा है—"चतुष्टय-सन्निकर्षो यथा—इन्द्रियावयवैरर्थावयविनाम , इन्द्रियावयविनामर्थावयवानाम, इन्द्रियावयवैरर्थावयवानाम, अर्थावयविनामिन्द्रियावयवाना सन्निकष ।"

नवीनो के मत के अनुसार–इन्द्रियलक्षण मे 'मनस' पद को सयोग के साथ यदि न जोडें तो इन्द्रियलक्षण की 'काल आदि' में अतिव्याप्ति होगी, क्योकि नवीनो के मत मे 'कालो रूपाभाववान' इत्याकारक कालगत रूपाभाव का प्रत्यक्ष होता है । उस प्रत्यक्ष के प्रति कारण, कालगत (काल में रहने वाले) रूपाभाव के साथ इन्द्रिय का चक्षु - सयुक्तविशेषणभावसन्निकष' माना जाता है । उस सन्निकष का घटक 'काल चक्षु सयोग' है और उस सयोग का आश्रय 'काल' है । इस रीति से काल भी ज्ञानकारणसयोग का आश्रय' होता है । अत इन्द्रियलक्षण को काल' में अतिव्याप्ति हो रही ह, उसके निवारणाथ मनस' पद को 'सयोग' पद के साथ जोडा गया है । फिर भी उसके साथ 'ज्ञानकारण' पद को यदि न जोड तो उक्त लक्षण की पुन 'काल' मे ही अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योकि 'काल' विभु है, अत काल मनस्सयोग रहेगा हो, उस सयोग का आश्रय 'काल' होगा । अत मन सयोगाश्रयता काल मे आने से अतिव्याप्ति होगी । उसके निवारणाथ 'ज्ञान-कारण' पद का 'मन सयोग' के साथ जोडना पडा । काल मे मनका सयोग रहने पर भी वह ज्ञानका कारण नही है । अत अतिव्याप्ति नही है ।

मूलकारिका में 'इन्द्रिय करण मतम' कहा गया है । अत 'करणत्व' का निवचन करते है—'**असाधारणमिति ।**' प्राचीन लोग 'करण' का लक्षण "फलायोगव्यवच्छिन्नकारणत्व"—**करणत्वम् ।** अथवा "फलयोगाऽव्यवच्छिन्न कारण —**करणम्** । अर्थात जिसके रहने पर अव्यवहित उत्तरक्षण मे कार्य अवश्यमेव हो, उसीको करण कहते है । यह प्राचीन नैयायिको का मत है किन्तु

मे प्रत्यक्ष के प्रति करणत्व नही बन पा रहा है। अत **नवीन नैयायिक** अपने मत के अनुसार करण' को बता रहे हैं। नवीन नैयायिको के अनुसार 'असाधारणत्वे सति कारणत्व'— **करणत्वम्**। न 'साधारणम —**असाधारणम्। असाधारणत्वञ्च**— तदितराऽवत्तित्वे सति सकलतदवत्तित्वम।' 'सास्नादिमत्त्व' गाय से भिन्न पशुआ मे न रहता हुआ समस्त गौओ मे रहता है। अत गोवत्ति 'सास्नावत्त्व' जो धम ह, वह उसका (गौका) असाधारण धम ह। उसी प्रकार प्रकृत म कारणगत असाधारणत्व "कायत्वानवच्छिन्न (कायत्वातिरिक्तधर्मावच्छिन्न) कायतानिरूपित कारणताश्रयत्व" होगा। एतादृशकारणताशालित्व (कारणताश्रयत्व) तो इन्द्रिय की तरह सन्निकष मे भी रहगा, क्योकि कायत्वानवच्छिन्न धम अर्थात कायत्वातिरिक्तधर्मावच्छिन्न कायता कहने से 'प्रत्यक्षत्वधर्मावच्छिन्नकायता' लेंगे, उससे निरूपित कारणता जैसी इन्द्रिय मे रहती है। वैसी ही वह सन्निकष मे भी रहेगी। अत सन्निकष म करणत्व की अतिव्याप्ति होगी इसलिये 'असाधारणत्व का निवचन करते है—'**व्यापारवत्त्वम्**' इनि। 'सन्निकष' तो व्यापार है। स्वजनकत्वसम्बन्ध से वह (व्यापार) व्यापारवान नही ह। अत सन्निकष मे अतिव्याप्ति नही है। व्यापारश्च —तज्जन्यत्वे सति तज्जन्य-जनक। जैसे—कुठार दारुसयोग, कुठारजन्य होता हुआ कुठारजन्य छेदनक्रिया का जनक ह। अत तादश सयोगात्मक व्यापार से युक्त होने के कारण छेदनक्रिया के प्रति कुठार ही असाधारण कारण होता है। इसलिये उसी को (कुठार को) छिदा करण कहत हैं। यही बात पाणिनिमुनि ने 'साधकतम करणम्"—(१।४।४२) के द्वारा बताई है। उसी प्रकार प्रकृत मे भी चाक्षुषादिप्रत्यक्षप्रमारूपफल के प्रति 'इन्द्रिय' करण कहलाता है, क्योकि इन्द्रिय मे विषयेन्द्रियसन्निकर्षरूपव्यापारवत्त्व भी है और कारणत्व भी है। नवीन नैयायिको के अनुसार जो व्यापार ह, उसी को प्राचीन नैयायिक करण' कहते है, और जिसे नवीन लोग 'करण' कहते हैं, उसी को प्राचीन लोग 'कारण कहते है।

किञ्च—जहा श्रोत्र से शब्दसाक्षात्कार हाता है, वहा नवीनो के अनुसार 'समवाय' ही व्यापार हागा, किन्तु वहा तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापार यह व्यापारलक्षण घटित नही होता, क्योकि 'समवाय' नित्य होने से वह श्रोत्र से जन्य नही ह। तस्मात सर्वत्र षड्विध प्रत्यक्ष में इन्द्रियमनस्सयोग में ही व्यापारवत्त्व (व्यापारवत्ता) समझना होगा, यह नव्यमत में असङ्गति है, किन्तु प्राचीनो

के लक्षणानुसार कोई दोष नही है। यदि नव्यमत मे सङ्गति बैठानी हो तो व्यापार का निवचन इस प्रकार करना होगा, 'इन्द्रियसत्तातिरिक्तसत्ताशून्यत्वे सति इन्द्रियजन्यजनकत्वम ।' निष्कष यह है— असाधारण कारण को 'करण' कहना चाहिये। और असाधारण का अथ है कि जिसमे व्यापार रहता हो, अर्थात जो व्यापारवाला हो। तथा विषय और इन्द्रिय के सन्निकष को व्यापार कहते हैं। यह व्यापार, इन्द्रियो मे विद्यमान रहता है। अत इन्द्रियो को षड्विध प्रत्यक्ष का करण' बताया गया ह ॥५८॥

⊛ विषयेन्द्रियसम्बन्धो व्यापारः सोऽपि षड्विधः ।
द्रव्यग्रहस्तु संयोगात् संयुक्तसमवायतः ॥५९॥
द्रव्येषु समवेताना तथा तत्समवायतः ।
तत्रापि समवेताना शब्दस्य समवायतः ॥६०॥
तद्वृत्तीना समवेतसमवायेन तु ग्रहः ।
प्रत्यक्षं समवायस्य विशेषणतया भवेत् ॥६२॥
विशेषणतया तद्वदभावाना ग्रहो भवेत् ।
यदि स्यादुपलभ्येतेत्येवं यत्र प्रसज्यते ॥६२॥

अर्थ—विषयेन्द्रियसम्बन्ध (एव) **व्यापार** = विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध ही व्यापार (सन्निकष) कहा जाता है और वह छह प्रकार का है। जैसे—**द्रव्यग्रहस्तु** = घटादिद्रव्य का प्रत्यक्ष तो **सयोगात्** = इन्द्रिय सयोग से होता है। अत 'सयोग' सज्ञक एक— सन्निकष है। द्रव्येषु = घटादिद्रव्यो में **समवेतानाम्** = समवायसम्बन्ध से रहने वाले गुण, कम, सामान्य का प्रत्यक्ष तो **सयुक्त-समवायत** = इन्द्रिय-सयुक्त-समवायसन्निकष से होता है। अत सयुक्त समवायसज्ञक द्वितीय सन्निकष हैं। **तथा** = उसी प्रकार **तत्रापि** = द्रव्य में समवेत हुए गुण, कम पर **समवेतानाम्** = समवाय से रहनेवाले गुणत्व, कमत्व का प्रत्यक्ष तो **तत्समवायत** = इन्द्रिय सयुक्तसमवेत-समवाय सन्निकष से होता है। अत सयुक्त समवेत समवायसज्ञक तृतीयसन्निकष है। **शब्दस्य** = शब्द का प्रत्यक्ष **समवायत** = श्रोत्रसमवाय से होता ह। अत समवाय = सज्ञक चतुथ सन्निकष है। **तद्वृत्ताना** = शब्दवृत्तिशब्दत्व का ग्रहस्तु प्रत्यक्ष तो **समवेतसम**

वायेन = श्रोत्र समवेत समवाय से होता है। अत समवेत समवायसञ्ज्ञक पञ्चम सन्निकर्ष ह। **समवायस्य** = समवायसम्ब ध का **प्रत्यक्षम्**=प्रत्यक्ष **विशेषणतया** = स्वरूपसम्बन्धाख्यविशेषणतासन्निकर्ष से होता ह। अत सयुक्तविशेषणता-सञ्ज्ञक षष्ठसन्निकर्ष ह। **तद्वत** = समवाय की तरह **अभावाना** = अभावपदार्थ का भी ग्रह = प्रत्यक्ष, विशेषणतया = विशेषणतासम्बन्ध से होना है।

शका — किस अभाव का प्रत्यक्ष होता है ?

समा०— यदिस्यादिति।' योग्य पदाथ के अभाव का प्रत्यक्ष होता है। योग्यता क्या है ? यह पूछने पर कह सकते है कि 'यदि स्यादउपलभ्येत' इस प्रकार की आपादन-विषयता का होना ही योग्यता है, वह योग्यता **यत्र** = जिस घट पटादि मे **प्रसज्यते** = आपादान की जाती है उसके अभाव का प्रत्यक्ष होता है ॥६२॥

विषयेन्द्रियेति। व्यापार सन्निकर्ष। षड्विध सन्निकर्षमुदाहरणद्वारा प्रदर्शयति। द्रव्यग्रह इति। द्रव्यप्रत्यक्षमिन्द्रियसयोगजन्यम्। द्रव्यसमवेतप्रत्यक्षमिन्द्रियसयुक्तसमवायजन्यम्। एवमग्रेऽपि।

वस्तुतस्तु द्रव्यचाक्षुष प्रति चक्षुस्सयोग कारणम्। द्रव्यसमवेतचाक्षुष प्रति चक्षु सयुक्तसमवाय कारणम। द्रव्यसमवेतसमवेतचाक्षुष प्रति चक्ष सयुक्तसमवेतसमवाय कारणम। एवमन्यत्रापि विशिष्यैव कार्यकारणभाव।

परन्तु पृथिवीपरमाणुनीले नीलत्व पृथ्वीपरमाणौ पृथिवीत्व च चक्षषा कथ न गृह्यते तत्र परम्परयोद्भूतरूपसम्बन्धस्य महत्त्वसम्बन्धस्य च सत्त्वात्। तथाहि—नीले नीलत्व जातिरेकैव घटनीले परमाणुनीले च वर्तते। तथा च महत्त्वसम्बन्धो घटनीलमादाय वर्तते। उद्भूतरूपसम्बन्धस्तूभयमादायैव वर्तते। एव पृथिवीत्वेऽपि घटादिकमादाय महत्त्वसम्बन्धो बोध्य।

एव वायौ तदीयस्पर्शादौ च सत्तायाश्चाक्षुषप्रत्यक्ष स्यात्।

तस्मादुद्भूतरूपावच्छिन्नमहत्त्वावच्छिन्नचक्षु सयुक्तसमवायस्य द्रव्यसमवेतचाक्षुषप्रत्यक्षे, तादृशचक्ष सयुक्तसमवेतसमवायस्य द्रव्यसमवेतसमवेतचाक्षुषप्रत्यक्षे कारणत्व वाच्यम्।

● व्यापार पदार्थ को बताने के लिये कहा 'सन्निकर्ष' अर्थात् सम्बन्ध। एवच विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध (सन्निकष) को ही व्यपार कहते है। सयोग, सयुक्तसमवाय, सयुक्तसमवेतसमवाय समवाय, समवेत समवाय विशेषण-विशेष्यभाव इन षडविध सनिकर्षो (सम्बन्धो) को उदाहरण के द्वारा दिखा रहे है—'द्रव्यग्रह इति। घटादिद्रव्य के प्रत्यक्ष मे इन्द्रियसयोग 'व्यापार' है। अर्थात घटादिद्रव्यवृत्ति लौकिक विषयता सम्बन्ध से जो प्रत्यक्ष होता ह वह चक्षुरादिइन्द्रियसयोगजन्य है, इसलिये वहा पर 'इन्द्रियसयोग' को व्यापार समझना चाहिये। "द्रव्यसमवेत" इति। घटादिद्रव्यसमवेत रूपादिगुणो के प्रत्यक्ष मे इन्द्रियसयुक्तसमवाय 'व्यापार है। अर्थात द्रव्यसमवेत रूपादिगुणो का प्रत्यक्ष, 'इन्द्रियसयुक्तसमवाय' से होता है। अत द्रव्यसमवेतवृत्ति लौकिक-विषयता-सम्बन्ध से रूपादि के प्रत्यक्ष में 'सयुक्त समवाय' को व्यापार समझना चाहिये। 'एवमग्रेऽपी'ति। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये। जैसे-द्रव्यसमवेतसमवेत-वत्तिलौकिक विषयतासम्बन्ध से रूपत्वादि का प्रत्यक्ष, इन्द्रियसयुक्तसमवेतसमवाय-से होता है, क्याकि इन्द्रियसयुक्तघटादि, उसमे समवेत रूपादिक, उनमे रूपत्वादि का समवाय है। अत द्रव्यसमवेतसमवेतगुणत्वादि के प्रत्यक्ष मे इन्द्रियसयुक्त समवेतसमवाय को व्यापार समझना चाहिये।

शका द्रव्यवृत्तिलौकिकविषयतासम्बध से द्रव्यप्रत्यक्ष में इन्द्रियसन्निकष को यदि कारण कहे तो त्वक-प्रभासयोग से प्रभाका भी चाक्षुपप्रत्यक्ष होने लगेगा, उसी प्रकार घट चक्षु सयोगरहने से अन्धकार मे स्पाशन प्रत्यक्ष का भी अनुभव होने लगेगा क्योकि इन्द्रियसयोग वहाँ विद्यमान है ही, किन्तु इन्द्रियत्व और तद्घटित सयोगत्व के अनुगत न होने से परस्पर व्यभिचार होता है। इसी अरुचि के कारण नवीनो के मत से विशेष कायकारणभाव को बता रहे हैं-'**वस्तुतस्तु**' इति। विषयतासम्बन्ध से द्रव्यनिष्ठ (जो) चक्षुरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष, उसके प्रति अर्थात घटादिद्रव्यीयलौकिकसाक्षात्कार मे 'चक्षु सयोग' को समवाय सम्बन्ध से कारण समझना चाहिये। उसी प्रकार विषयतासम्बध से द्रव्यसमवेतगुणादिनिष्ठ जो चक्षुरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष, उसके प्रति अर्थात घटादिद्रव्य में समवायसम्बन्ध से विद्य-मान रूपादि के साक्षात्कार के प्रति 'चक्षु सयुक्तसमवाय' को स्वरूपसम्बन्ध से कारण समझना चाहिए, क्योंकि विषयतासम्बन्ध से प्रत्यक्ष द्रव्यसमवेतगुण में रहता है। क्योकि वहा चक्षु सयुक्त जो घटादिद्रव्य, उसमे रूपादिगुण का समवाय, स्वरूपसम्बन्ध से है। उसी प्रकार विषयतासम्बन्ध से द्रव्यसमवेतगुणादि समवेतगुण

त्वादिनिष्ठ चक्षुरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष के प्रति चक्षु संयुक्तसमवेत समवाय को स्वरूप सम्बन्ध से कारण समझना चाहिये। अर्थात् घटादिद्रव्य मे समवेत रूपादिक हैं, उनमें समवेत रूपत्वादि है उन रूपत्वादि के चाक्षुषप्रत्यक्ष मे चक्षुसंयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष कारण होता है। **एवमन्यत्रापीति** । इसी प्रकार त्वाचादिप्रत्यक्ष मे भी उक्तसन्निकर्ष का विशिष्य कार्य-कारणभाव समझना चाहिये। जैसे—विषयतासंबंध से द्रव्यनिष्ठस्पार्शनप्रत्यक्ष के प्रति त्वक्संयोग, समवाय से कारण है। विषयता-सम्बन्ध से द्रव्यसमवेतगुणादिनिष्ठस्पार्शनप्रत्यक्ष के प्रति त्वक्संयुक्तसमवाय, स्वरूप संबंध से कारण है। विषयतासम्बन्ध से द्रव्यसमवेतसमवेतगुणत्वादिनिष्ठस्पार्शन प्रत्यक्ष के प्रति त्वक्संयुक्त समवेत समवाय, स्वरूपसम्बन्ध से कारण होता है। निष्कर्ष यह है कि सामान्यरूप से संयोग या संयुक्त समवाय आदि कारण नही है, किन्तु प्रत्येक इन्द्रिय से जन्य प्रत्यक्ष मे तत्तत् इन्द्रियसंयोग आदि कारण होते हैं। अब द्रव्य के महत्परिमाण और उद्भूतरूप के प्रत्यक्षकरने मे पृथक् कार्य कारण भाव मानने मे गौरव होगा, अतः महत्परिमाण और उद्भूतरूप को सन्निकर्षांश मे निविष्ट करके कार्य कारणभावकल्पनाप्रयुक्त लाघव प्रदर्शित करने के लिये पूर्व पक्षी शंका कर रहा है—'**परन्तु**' इति।

शंका—पृथिवी के नील परमाणुओं के नीलरूप मे रहनेवाली नीलत्व' जाति, अर्थात् परमाणुनीलनिष्ठा 'नीलत्व' जाति, तथा पृथिवी परमाणुनिष्ठा 'पृथिवीत्व' जाति का भी चाक्षुषप्रत्यक्ष (चाक्षुषसाक्षात्कार) क्यो नही होता ? अर्थात ये जातियां भी चक्षुरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष की विषय होनी चाहिये। क्योंकि विषय के साथ इन्द्रिय का परम्परासम्बन्ध मानकर द्रव्य में रहनेवाले रूपादिगुणो का और तद्गतरूपत्वादि जाति का प्रत्यक्ष होता है। उसी प्रकार उपर्युक्त नीलत्व पृथिवीत्व जाति का भी 'स्वाश्रयसमवेत समवेतत्व' आदि परम्परासम्बन्ध से प्रत्यक्ष होना क्यो न माना जाय ? क्योकि नीलत्व और पृथिवीत्व में स्वाश्रयसम-वेतसमवेतत्वसम्बन्ध (परम्परासम्बन्ध) से उद्भूतरूप और महत्परिमाण विद्यमान है। तथाहि—एक ही नीलत्वजाति, घट के नीलरूप में और परमाणु के नीलरूप में समवाय से रहती है। उसीतरह घट मे महत्परिमाण, समवाय से रहता है, और वही (महत्परिमाण) स्वसमवायिसमवेतसमवेतत्व सम्बन्ध से नीलत्वजाति मे है। जैसे—'स्व' शब्द से महत्परिमाण को लेंगे, उसका समवायिकारण 'घट' हुआ, उसमें समवेत हुआ, नीलरूप, उसमे समवेत हुई नीलत्वजाति। इस प्रकार विषयतासम्बन्ध से नीलत्वजातिनिष्ठ चाक्षुष-

प्रत्यक्ष के प्रति स्वाश्रय समवेत समवेतत्व सम्बन्ध से 'महत्परिमाण' कारण होता है, इसलिये परमाणुगत नील मे नीलत्वजाति का प्रत्यक्ष होना चाहिये। इसी प्रकार घटगत जो नील है, वह उदभूतरूप भी है उसका आश्रय 'घट' हुआ उनमे समवेत नीलरूप भी वही हुआ, उसमे समवेत हुई नीलत्व जाति। इस प्रकार विषयतासम्ब ध से नीलत्वजातिनिष्ठ चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति स्वाश्रय-समवत समवेतत्व सम्बन्ध से 'उदभूतरूप' कारण हो जाता है, इसलिये परमाणु नीलवृत्तिनीलत्वजाति का प्रत्यक्ष होना चाहिये, इसी आशय को मुक्तावलीकारने बताया है कि—"**उद्भूतरूपसम्बन्धस्तु उभयमादायैव वर्तते।**" अर्थात 'उदभूतरूप' तो घटनील और परमाणुनील दोनो (उभय) को लेकर स्वाश्रय समवेत समवेतत्व आदि सम्बन्ध से नीलत्व मे रहता है। उपर्युक्त शका करने वाले से पूछते है कि 'परमाणुनील' तो उदभूतरूप नही है, तव परमाणुनील का अवलबकर नीलत्व' में उदभूतरूप का सब ध कैसे बता रहे है ?

शका करनेवाला उत्तर देता है कि ऊपर जो कहा था कि 'परमाणुनील को 'लेकर' उसका अथ यह है कि परमाणुनीलघटितपरम्परया त्रसरेणुगत उद्भूतरूप-सम्ब ध। परमाणुनीलघटितपरम्परा का अथ है कि 'स्वाश्रयसमवायिसमवेतसमवेतत्व।' यहापर 'स्व' शब्द मे त्रसरेणुगतउदभूतनीलरूप उसका आश्रय त्रसरेणु, उसमे समवायि द्वयणुक, उसमें समवायी परमाणु, उसमे समवेत 'परमाणुनील, उसमे समवेत 'नीलत्व ।

एक अन्य प्रश्न और भी है कि त्रसरेणुगतमहत्परिमाण भी इसी रीति से अर्थात परमाणुनीलघटित परम्परासम्ब्र ध से विद्यमान है, यह न कहकर 'उदभूतरूपसम्ब धस्तु उभयमादाय वतते' ऐसा पृथकरूप से उल्लेख क्यो किया ?

शका करने वाले ने उत्तर दिया कि कुछ लोग (परमाणुपाकवादी) परमाणु में उद्भूतगन्ध, और उद्भूतरूप को मानते है। अत उनके मत के अनुसार 'उदभूतरूपसम्बन्धस्तूभयमादाय वर्तते' कहा गया है।

किन्तु नवीन नैयायिक 'परमाणु' मे उदभूतगन्ध और उदभूतरूप नही मानते, क्योकि वैसा अनुभव नही होता। इस कारण नवीन नैयायिको के अनुसार त्रसरेणुगत उदभूतरूप को परमाणुनीलघटित ऐसे स्वाश्रयसमवायि समवायि समवेत समवेतत्व सम्बन्ध से नीलत्व मे लाकर 'उदभूतरूपसम्बन्धस्तूभयमादाय वतते' यह ग्रन्थ लगाना चाहिये। यहाँ 'तु' शब्द 'अपि' के अथ मे ह। उसका फल यह होगा कि त्रसरेणुगत महत्परिमाण भी 'स्वाश्रयसमवायिसमवायिसमवेतसमवेतत्व-

सम्बन्ध से 'नीलत्व' म उपलब्ध हो जायगा। 'एव पृथिवीपरमाणौ' इति। पथिवी के परमाणु मे और पट मे रहनेवाली 'पथिवीत्व' जाति एक ही है, पथक् पृथक् नही ह। घटगतपथिवीत्व मे घटगतमहत्परिमाण और उदभूतरूप 'स्वाश्रय समवेतत्व' सम्बन्ध से रहता है। अत पथिवीपरमाणुगत पथिवीत्व का प्रत्यक्ष हो सकता है। 'एव वायौ' इति। इसी प्रकार (परम्परासम्बन्ध से) वायु मे ओर उसके स्पर्श आदि म विद्यमान जो 'सत्ताजाति' है उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष होना चाहिये, क्योकि वायु मे विद्यमान सत्ताजाति मे और महत्परिमाणवाले घट में रहनेवाली सत्ताजाति का लेकर 'स्वाश्रयसमवेतत्व' सम्बन्ध से प्रदर्शित किया जा सकता है। एव वायु के स्पश मे रहनेवाली सत्ताजाति मे भी महत्परिमाण को 'स्वाश्रयसमवेतसमवेतत्व' सम्बन्ध से प्रदर्शित किया जा सकता ह। तथाहि- स्व' शब्द से महत्परिमाण, उसका आश्रय 'घट', उसमे समवेत 'स्पश', उससे समवेत जो सत्ताजाति' ह, वह वही है, जो वायु के स्पश मे रहती ह। इस प्रकार वायु के स्पर्श मे रहनेवाली सत्ताजाति में भी महत्परिमाण चला जायगा। इसी प्रकार सत्ता आदि मे उदभूतरूप भी चला जायगा।

समा०—इसीलिये सन्निकष के स्वरूप मे इस प्रकार का परिष्कार किया कि 'द्रव्य में समवेत जो रूप आदि उनके प्रत्यक्ष करने मे, 'उद्भूतरूपावच्छिन्न' 'महत्वावच्छिन्न' जो चक्षु सयुक्तद्रव्य, 'ऐसे द्रव्य मे समवाय का होना कारण माना जाता ह। अथात केवल 'चक्षु सयुक्तसमवाय' यह, सन्निकष का स्वरूप नही है, अपितु उपयुक्त परिष्कृत स्वरूप ही ह। निष्कष यह ह कि उदभूतरूपावच्छिन्न, महत्वावच्छिन्न जो चक्षु सयुक्त, तत्समवाय को ही द्रव्यसमवेतरूपादिगुणो के प्रत्यक्ष के प्रति कारण मानना चाहिये। 'तादृशेति' उद्भूतरूपावच्छिन्न महत्त्वावच्छिन्न जो चक्षु सयुक्त, तत्समवेतसमवाय को ही द्रव्यसमवेत समवेत रूपत्वादि के प्रत्यक्ष के प्रति कारण मानना चाहिये।

इत्थ च परमाणुनीलादौ न नीलत्वादिग्रह, परमाणौ चक्षु सयोगस्य महात्त्वावच्छिन्नत्वाभावात, एव वाय्वादौ न सत्तादिचाक्षुष, तत्र चक्षु-सयोगस्य रूपावच्छिन्नत्वाभावात्।

एव यत्र घटस्य मध्यावच्छेदेनालोकसयोग चक्षु सयोगस्तु बाह्यावच्छेदेन तत्र घटप्रत्यक्षाभावादालोकसयोगावच्छिन्नत्व चक्षु सयोगे विशेषण देयम्।

एवं द्रव्यस्पार्शनप्रत्यक्षे त्वक्संयोगः कारणम्। द्रव्यसमवेतस्पार्शनप्रत्यक्षे त्वक्संयुक्तसमवायः कारणम्। द्रव्यसमवेतसमवेतस्पार्शनप्रत्यक्षे त्वक्संयुक्तसमवेतसमवायः कारणम्।

अत्रापि महत्त्वावच्छिन्नत्वमुद्भूतस्पर्शावच्छिन्नत्वं च पूर्ववदेव बोध्यम्।

एवं गन्धप्रत्यक्षे घ्राणसंयुक्तसमवायः गन्धसमवेतस्य घ्राणजन्यप्रत्यक्षे घ्राणसंयुक्तसमवेतसमवायः कारणम्।

• 'इत्थञ्चेति।' उद्भूतरूप और महत्परिमाण घटित चक्षुः सन्निकर्ष को कारण मानने पर पूर्वोक्त आपत्ति (पृथिवीपरमाणुनील में नीलत्व तथा पृथिवी-परमाणु में पृथिवीत्व के प्रत्यक्ष होने की आपत्ति) नहीं दी जा सकेगी। क्योंकि परमाणु में जो चक्षुः-संयोग है, वह महत्परिमाणविशिष्ट नहीं है। क्योंकि परमाणु में महत्परिमाण नहीं है। एवञ्च महत्परिमाणविशिष्ट जो चक्षुः संयुक्त है, तत्सम-वेत समवाय का परमाणुनीलगत नीलत्व में अभाव है, अतः वहाँ नीलत्व का प्रत्यक्ष नहीं होगा। उसी प्रकार महत्परिमाणविशिष्ट जो चक्षुः-संयुक्त है तत्सम-वाय का पृथिवीपरमाणुगत पृथिवीत्व में अभाव है अतः वहाँ पर भी पृथिवीत्व का प्रत्यक्ष नहीं होगा। 'एवमिति।' उसी प्रकार वायु और उसके स्पर्श तथा सत्ताजाति के भी चाक्षुष प्रत्यक्ष होने का प्रसंग नहीं दिया जा सकेगा। क्योंकि (तत्र) वायु में जो चक्षुः संयोग है, वह रूपावच्छिन्न (रूपविशिष्ट) नहीं है। एवञ्च उद्भूतरूपावच्छिन्न जो चक्षुः संयुक्त है, तत्समवाय का वायुनिष्ठसत्ता में अभाव है, अतः वायुनिष्ठसत्ताजाति का चाक्षुषप्रत्यक्ष होने का प्रसंग नहीं दिया जा सकेगा। इसी प्रकार उद्भूतरूपावच्छिन्न जो चक्षुः संयुक्त है, तत्समवेत समवाय का वायुस्पर्शनिष्ठसत्ता में अभाव है, अतः वायुस्पर्शनिष्ठसत्ता का भी प्रत्यक्ष होने का प्रसंग नहीं दिया जा सकेगा। 'सत्तादि' के 'आदि' पद से भर्जनकपालस्थ-वह्निनिष्ठसत्ता का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष का न होना समझ लेना चाहिये। **अभि-प्राय यह है**—द्रव्यसमवेतरूपादि के चाक्षुषप्रत्यक्ष में उद्भूतरूपविशिष्ट महत्त्वा-वच्छिन्न के साथ चक्षुः संयुक्तसमवाय भी कारण होता है। उसी प्रकार द्रव्यसमवेत समवेत रूपत्वादि के चाक्षुषप्रत्यक्ष में (तादृश) उद्भूतरूपविशिष्ट-महत्त्वावच्छिन्न के साथ चक्षुः संयुक्त समवेत समवाय सम्बन्ध भी कारण होता है।

एवमिति' । पहले बता चुके है कि चाक्षुष प्रत्यक्ष होने मे व्यापार 'सन्निकर्ष' रहता है, उसके अतिरिक्त उसके अपने तीन सहकारिकारण भी होते है— (१) महत्परिमाण २) उदभूतरूप (३) प्रकाशसयोग । दो महकारिकारणो के बारे मे बता चुके तथापि प्रकाशसयोग' रूप सहकारिकारण को लेकर प्रश्न हो सकता है कि अँधेरे में महत्परिमाणविशिष्ट उद्भूतरूपविशिष्ट चक्षु सयुक्त घट का प्रत्यक्ष नही हो पायगा । इस अन्वय व्यभिचार का निवारण करने के लिये चक्षु सयोग में 'आलोकसयोगविशिष्टत्व' यह विशेषण जोड देना चाहिये ।

शका—जहा अन्धेरे में घट के बीच (मध्य भाग मे) दीपक रखा जाय, तो उसका चादना घट के मध्यदेश में पडेगा, अर्थात आलोकसयोग (प्रकाश सयोग) घट के मध्य (उदर) भाग मे रहेगा और चक्षु सयोग तो अन्धकार में घट के बाह्य देश में (बाह्यावच्छेदेन) हुआ है । अत घट मे महत्त्व भी, उद्भूतरूप भी, आलोकसयोग भी और चक्षु सयोग भी है तथापि घट का प्रत्यक्ष नही होता, यह अ वयव्यभिचार है ।

समा॰—उपयुक्त अन्वयव्यभिचार के निवारणाथ उक्त चारो का एकस्थलावच्छेदन वैशिष्टय कहना चाहिये । तात्पय यह है कि चक्षु सयोग मे 'प्रकाशसयोगाव च्छिन्नत्व' विशेषण भी देना चाहिये, क्योकि 'सयोग' अव्याप्यवत्तिगुण है अत वह द्रव्य के एक भाग में ही रहेगा, इसलिये यह कहने की आवश्यकता हुई कि जिस देश (भाग) में चक्षु सयोग हो उसी देश में प्रकाश का भी सयोग रहना चाहिये अर्थात् जहा उद्भूतरूप, महत्परिमाण, प्रकाशसयोगविशिष्ट चक्षु सयोग होगा, वही पर द्रव्य प्रत्यक्ष होगा, अन्यथा नही । यही भाव मुक्तावली में 'आलोकसयोगावच्छिन्नत्व चक्षु सयोग' इति, इस ग्रन्थ से बताया गया है । एवञ्च एकस्थलावच्छेदेन जो महत्त्वविशिष्टोदभूतरूपविशिष्टालोकसयोगविशिष्ट चक्षु सयोग हो, वही द्रव्यप्रत्यक्ष के प्रति कारण कहलाता है । घट के बाहरी भाग मे जहा चक्षु सयोग है वहाँ यदि आलोकसयोग होता तो प्रत्यक्ष होता, किन्तु वहाँ आलोकसयोग किसी जगह ह और चक्षु सयोग अन्यत्र कही है अर्थात् दोनो भिन्न-भिन्न देशो में है । एवञ्च विशिष्टकारण के न रहने से प्रत्यक्ष नही हो रहा ह, अर्थात उपयुक्त अन्वयव्यभिचार नही है । यहाँ ज्ञातव्य यह है—चाक्षुष प्रत्यक्ष में 'चक्षु' करण है । चक्षु सन्निकर्ष (सयोगादि) व्यापार है महत्त्व उद्भूतरूप और आलोकसयोग ये तीनो सहकारि कारण हैं । यह सब मिलकर प्रत्यक्ष की एक साथ पुष्कलसामग्री हो जाती है, इनमें से एक की भी यदि कमी

(न्यूनता) रहे तो द्रव्य का प्रत्यक्ष नही हो पाता। 'एवमिति' इसी रीति से द्रव्य के स्पार्शनप्रत्यक्ष मे महत्त्वावच्छिन्न, उदभूतस्पर्शावच्छिन्न 'त्वकसयोग' कारण होता है। द्रव्य समवेत उष्णादि-स्पर्श के प्रत्यक्ष मे महत्त्वावच्छिन्न उद्भूतस्पर्शावच्छिन्न 'त्वकसयुक्त समवाय' कारण होता है। द्रव्य 'समवेत समवेत उष्णत्वादि के स्पार्शनप्रत्यक्ष में महत्त्वावच्छिन्न उद्भूतस्पर्शावच्छिन्न त्वकसयुक्तसमवेतसमवाय' कारण होता है। यहाँ पर भी पूर्ववत् (चाक्षुषप्रत्यक्ष की तरह) महत्त्वावच्छिन्न उदभूतस्पर्शत्वावच्छिन्न के साथ 'त्वकसयुक्तसमवेतादि' सबध को कारण समझना चाहिये। इसी प्रकार गन्धप्रत्यक्ष के प्रति घ्राणसयुक्त समवाय सम्बन्ध को कारण माना जाता है, और गन्ध समवेत 'गन्धत्वादि' के प्रत्यक्ष मे 'घ्राणसयुक्त-समवेत-समवाय' कारण होता है। अर्थात द्रव्य के त्वाचप्रत्यक्ष (स्पार्शनप्रत्यक्ष में) सन्निकर्ष 'त्वकसयोग है, और द्रव्य में समवेत स्पर्श आदि के स्पार्शनप्रत्यक्ष मे त्वक्-सयुक्तसमवायसन्निकर्ष कारण है, क्योकि त्वकसयुक्त हुए घटपटादि द्रव्य, उनमें 'स्पर्श' का समवाय है, तथा द्रव्य में समवेत जो स्पर्श, उसमें समवेत जो स्पर्शत्वादिजाति, उसके स्पार्शनप्रत्यक्ष में 'त्वकसयुक्तसमवेतसमवाय' कारण होता है। क्योकि त्वक्सयुक्त द्रव्य हुआ, उसमें स्पर्श का समवाय है। अर्थात् स्पर्श समवेत है, उस स्पर्श में स्पर्शत्व जाति का समवाय है। यहा पर भी त्वकसयुक्त द्रव्य को महत्त्वावच्छिन्न और उदभूतस्पर्शावच्छिन्न होना चाहिये। अणु और द्वयणुक का स्पार्शनप्रत्यक्ष इसलिये नही होता कि उनमें महत्परिमाण नहीं है। उसी तरह प्रकाश का स्पार्शनप्रत्यक्ष इसलिये नही होता कि उसमें उदभूतस्पर्श नही है। बाह्यद्रव्य का प्रत्यक्ष केवल चक्षु और त्वक दो इन्द्रियो से होता है। आत्मा का प्रत्यक्ष 'मन' इन्द्रिय से होता है। अब बाकी बचे घ्राण, रसना, श्रोत्र, इन तीन इन्द्रियो से द्रव्य का प्रत्यक्ष नही होता। घ्राणेन्द्रिय से पुष्प के गन्ध का प्रत्यक्ष होता है, किन्तु पुष्प का प्रत्यक्ष नही होता, इस कारण घ्राणजन्यप्रत्यक्ष मे सयोग सन्निकर्ष का कोई प्रश्न हो नही है। क्योकि सयोग तो द्रव्य से ही हो सकता है। घ्राणजप्रत्यक्ष में गन्ध का प्रत्यक्ष, घ्राणसयुक्तसमवायसम्बन्ध से होता है। क्योकि घ्राण से सयुक्त जो पुष्प, उसमें गन्ध का समवाय है। उसी प्रकार गन्ध-समवेत गन्धत्व आदि जाति का प्रत्यक्ष घ्राणसयुक्तसमवेतसमवायसन्निकर्ष से होता है।

☛ एव रसप्रत्यक्षे रसनासयुक्तसमवाय, रससमवेतरासनप्रत्यक्षे रसनासयुक्तसमवेतसमवाय कारणम्।

शब्दप्रत्यक्षे श्रोत्रावच्छिन्नसमवाय कारणम्। शब्दसमवेतश्रावण-प्रत्यक्षे श्रोत्रावच्छिन्नसमवेतसमवाय कारणम।

अत्र सर्वं प्रत्यक्ष लौकिक बोध्यम्। वक्ष्यमाणमलौकिकप्रत्यक्षमिन्द्रियसयोगादिक विनापि भवति। एवमात्मन प्रत्यक्षे मन सयोग, आत्मसमवेतमानसप्रत्यक्षे मन सयुक्तसमवाय, आत्मसमवेतसमवेत-मानसप्रत्यक्षे मन सयुक्तसमवेतसमवाय कारणम्।

● इस प्रकार रासनप्रत्यक्ष में भी 'सयोग' सन्निकर्ष नही होता, क्योंकि रसना के द्वारा किसी द्रव्य का प्रत्यक्ष नही होता, बल्कि 'रस' सज्ञक गुण का ही प्रत्यक्ष होता है। उसके (रस के) प्रत्यक्ष में महत्त्वावच्छिन्न रसनासयुक्त समवाय ही कारण होता है। अर्थात् रसना से सयुक्त जल हुआ, उस जल में रस का समवाय है। उसी प्रकार रस समवेत रसत्व के प्रत्यक्ष में महत्त्वावच्छिन्नरसना-सयुक्तसमवेतसमवाय कारण होता है। 'शब्दप्रत्यक्षे' इति। 'श्रोत्र' आकाशरूप है और 'शब्द' गुण है। अत श्रोत्रात्मक आकाशसमवेतशब्द के प्रत्यक्ष में श्रोत्रानुयोगिकसमवाय कारण होता है। इसी कारण अ यदेशस्थशब्द का प्रत्यक्ष नही होता। शब्दसमवेनशब्दत्व (शब्द में रहनेवाली शब्दत्वजाति) के श्रावण प्रत्यक्ष मे श्रोत्रावच्छिन्नसमवेत समवाय (श्रोत्रानुयोगिकसमवेतसमवाय) कारण होता है, क्योकि श्रोत्रावच्छि न देश मे शब्द समवेत है और उसमे शब्दत्व जाति का समवाय ह।

अलौकिक और लौकिक भेद से प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है, यह आगे बताया जायगा। षडविध (छह प्रकार के) सन्निकर्ष, लौकिक प्रत्यक्ष के ही होते है, किन्तु अलौकिक प्रत्यक्ष, इन्द्रियसयोगादिसन्निकर्षो के बिना भी होता है। उसे अलौकिक इसलिये कहा जाता है कि वह लोकव्यवहार मे प्रायश अप्रसिद्ध (अज्ञात) रहता है। वह अलौकिकप्रत्यक्ष, सामान्यलक्षणासन्निकर्ष, ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष, योगजधमसन्निकर्ष-प्रयोज्य विषयता निरूपक होता है। अत चक्षुरादिइन्द्रियसयोगात्मक लौकिकसन्निकर्ष की उसे अपेक्षा नही होती है। 'विनापि' यहा 'अपि' शब्द से यह सूचित किया गया है कि क्वचित् अलौकिक प्रत्यक्ष मे भी लौकिकसन्निकर्ष की अपेक्षा (आवश्यकता) होती है। उसीप्रकार आत्मा का प्रत्यक्ष मनस् इन्द्रिय (मानस प्रत्यक्ष) से होता है। मनस् (मन) और आत्मा दोनो द्रव्य है। इस कारण आत्मा का मनस् (मन) से सयोग होता है। इसलिये उसके (आत्मा के) प्रत्यक्ष में 'मन सयोग'

सन्निकर्ष कारण होता है। यद्यपि 'पारिमाण्डल्यभिन्नाना कारणत्वमुदाहृतम्' इस कारिका की मुक्तावली में 'आत्म-मानसप्रत्यक्षे आत्ममहत्वस्य कारणत्वात' कहकर आत्मा के मानस प्रत्यक्ष मे महत्परिमाण को कारण बताया है, तथापि कार्य कारणभाव के बीच मे महत्परिमाण के निवेश करने का कोई प्रयोजन न होने से महत्परिमाण का निवेश बिना किये ही कार्य कारणभाव को बताया गया है कि 'मन सयोग सन्निकर्ष' कारण होता है। अर्थात आत्मवृत्तिलौकिक-विषयता सम्बन्ध से प्रत्यक्ष के प्रति केवल 'मन सयोग' को कारण बताया गया है। आत्मा मे समवेत ज्ञान आदि गुणो का भी मानस प्रत्यक्ष माना गया है। आत्मा के गुणो के प्रत्यक्ष मे 'मन सयुक्त-समवाय' सन्निकर्ष कारण है। क्योकि मन से सयुक्त हुआ आत्मा और उसमें ज्ञान आदि गुणो का समवाय है। तथा आत्मा म समवेत जो ज्ञान, सुख आदि गुण, उनमे समवेत जो ज्ञानत्व, सुखत्व आदि जातिया, उनके प्रत्यक्ष मे 'मन सयुक्तसमवायसन्निकर्ष' कारण है।

● अभावप्रत्यक्षे समवायप्रत्यक्षे चेन्द्रियसम्बद्धविशेषणता हेतु। वैशेषिकमते तु समवायो न प्रत्यक्ष।

अत्र यद्यपि विशेषणता नानाविधा। तथाहि—भूतलादौ घटाद्यभाव स्वसयुक्तविशेषणतया गृह्यते, सङ्ख्यादौ रूपाद्यभाव स्वसयुक्तसमवेत-विशेषणतया, सङ्ख्यात्वादौ रूपाद्यभाव स्वसयुक्तसमवेतसमवेत-विशेषणतया, शब्दाभाव केवलश्रोत्रावच्छिन्नविशेषणतया, कादौ खत्वाद्यभाव श्रोत्रावच्छिन्नसमवेतविशेषणतया, एव कत्वाद्यवच्छिन्ना-भावे गत्वाभावादिक श्रोत्रावच्छिन्नविशेषणविशेषणतया, एव घटाभा-वादौ पटाभाव चक्षु सयुक्तविशेषणविशेषणतया, एवमन्यदप्यूह्यम्। तथापि विशेषणतात्वरूपेणैकैव सा गण्यते। अन्यथा षोढा सन्निकर्ष इति प्राचा प्रवादो व्याहन्येतेति।

॥ इति लौकिकसन्निकर्षनिरूपणम् ॥

● समवाय को छोडकर भावात्मक पदार्थ के प्रत्यक्ष मे सन्निकर्ष का निरूपण कर चुके। अब अभाव और समवाय के प्रत्यक्ष होने मे सन्निकर्ष को बताते है—

'अभावप्रत्यक्षे इति।' समवाय के प्रत्यक्ष मानने मे कुछ विवाद है। इसलिये प्रथमत अभाव के प्रत्यक्ष का विचार प्रस्तुत किया जा रहा है। अभाव तथा समवाय का 'इन्द्रिय-सम्बद्ध विशेषणता' सम्बन्ध से प्रत्यक्ष होता है। चक्षु से सम्बद्ध भूतलादि मे घटादिको का अभाव तथा समवेत रूपादिको का समवाय

दोनो विशेषण है। इसलिये इन्द्रियसम्बद्ध जो भूतलादि, उसमें विशेषणीभूत अभावादिको का 'इन्द्रियसम्बद्ध विशेषणता' सन्निकर्ष (सम्बन्ध) से ग्रहण होता है। भूतल पर घटाभाव का जहाँ प्रत्यक्ष होता है, वहा पर चक्षुरिन्द्रिय से सयुक्त हुए भूतल मे (अभाव के अधिकरण मे) विशेषण 'घटाभाव' स्वरूपसम्बन्ध से रहता है। स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नवत्तिता को ही विशेषणता विषयता कहा जाता है। वह घटाभाव में है। इस कारण अभाव के प्रत्यक्ष मे इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता सन्निकर्ष को कारण कहा गया है। यथा 'घटाभाववद भूतलम' इत्याकारक प्रतीति मे भासित होता है उसी प्रकार इन्द्रियसम्बद्ध रूपादि भी समवेत है, वहा पर समवाय विशेषणीभूत है। जैसे 'रूपीरूपसमवायवान घट' यहा पर विशेषणतारूपा विषयता, समवायनिष्ठा है। अर्थात 'रूपसमवायवान घट' यहाँ पर समवायप्रत्यक्ष मे और चक्षु सम्बद्ध घट मे विशेषण 'समवाय' है और वह स्वरूपसम्बन्ध से रहता है, इस इन्द्रियसम्बद्ध विशेषणताख्य सम्बन्ध को ही विशेषण विशेष्यभाव सन्निकर्ष भी कहते है। एवच समवाय के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय सम्बद्ध विशेषणता सन्निकर्ष' को कारण कहते है। क्योकि वस्तुत सम्बन्ध तो दो ही प्रकार के माने जाते है, जिनका अपना पथक अस्तित्व है, एक सयोग और दूसरा समवाय। दो द्रव्यो के सम्बन्ध को सयोग कहते है। दोनो सयुक्त द्रव्यो मे वह 'सयोग' गुण होने के कारण समवाय सबध से रहता है। किन्तु समवाय किस सबध से रहता है? यह पूछने पर यदि दूसरा समवाय कहे तो अनवस्था होगी। अत समवाय अपने अधिकरण मे अपने स्वरूप से ही रहता है। इसलिये समवाय अपने अधिकरण का विशेषण कहलाता है। अतएव 'समवाय' का प्रत्यक्ष भी 'अभाव' के प्रत्यक्ष के समान इन्द्रियसम्बद्ध विशेषणता सन्निकर्ष से ही होता है। इस विशेषण विशेष्यभावाख्य सन्निकर्ष को छठा (षष्ठ) सन्निकर्ष समझना चाहिये। वह दो प्रकार का होता है—(१) इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यत्व और (२) इन्द्रियसम्बद्धविशेषणत्व। जब हम कहें 'भूतले घटाभाव' तब उसका अर्थ होगा 'भूतलवृत्तितावान घटाभाव।' यहा पर 'घटाभाव' विशेष्य पदार्थ है और 'भूतल' वत्तितासम्बन्ध से घटाभाव में विशेषण है। अत ऐसे स्थल मे घटाभाव प्रत्यक्ष के प्रति चक्षु सयुक्त-भूतलनिरूपितविशेष्यताख्य सन्निकर्ष को कारण समझना चाहिये। और जब 'घटाभाववद्भूतलम' ऐसा प्रत्यय हो तब घटाभाव को भूतल में विशेषण समझना चाहिये। ऐसे स्थल में चक्षु सयुक्त भूतलनिरूपित-विशेषणता सन्निकर्ष को कारण समझना चाहिये।

गोतम के मत में 'समवाय' का तो प्रत्यक्ष होता है, किन्तु नवीनो के मत मे तो समवायसम्ब ध अनेक प्रकार के माने गये है। 'प्रत्यक्षद्रव्यादौ प्रत्यक्षा' इस मत के अनुमार 'समवाय' का प्रत्यक्ष कहा गया ह।

वैशेषिकमते इति—वशेषिको का कहना है कि यदि समवाय का प्रत्यक्ष होता तो रूपादिको का समवाय जिनमे है ऐसे परमाणु आदिको का भी प्रत्यक्ष होना चाहिये था, और समवाय के एक होने से एक ही समय मे भविष्यकाल के तथा भूतकाल के समवायाश्रय समस्त व्यक्तियो का प्रत्यक्ष होना चाहिये था, क्योकि सम्बन्ध के प्रत्यक्ष मे यावदाश्रयप्रत्यक्ष कारण होता है। तात्पय यह है कि सम्बन्ध का प्रत्यक्ष तभी हो सकता है कि जब उस सम्बन्ध के द्वारा सम्बद्ध सभी वस्तुओ का प्रत्यक्ष हो। ससार मे समवाय नित्य तथा एक माना जाता है। उसके द्वारा सम्बद्ध समस्त वस्तुओ का यानी त्रैकालिक वस्तुओ का प्रत्यक्ष होना चाहिये, किन्तु वह सभव नही। इस कारण वैशेषिको ने समवाय का प्रत्यक्ष नही माना है।

पर तु नैयायिक समवाय का प्रत्यक्ष मानते है। उनका कहना ह कि जब घट में रूप का प्रत्यक्ष होता है, तो यह आवश्यक है कि रूप के समवाय का भी प्रत्यक्ष हो, यानी सम्बन्ध का प्रत्यक्ष भी आवश्यक है। नवीन नैयायिको के अनुसार 'सम्बन्धप्रत्यक्षत्व' को कायतावच्छेदक नही माना गया है, अपितु यावदाश्रयप्रत्यक्ष का कायतावच्छेदक 'सयोगप्रत्यक्षत्व' ही है। वैशिषिको का जो यह कहना है कि 'समस्त त्रैकालिक सम्बन्धी के प्रत्यक्ष होने पर ही सम्बन्ध का प्रत्यक्ष होता है, वह उचित नही है। हा, 'सयोग' सम्बन्ध के विषय मे वह कथन ठीक है, कि तु 'समवाय' में भी उसे कह देना ठीक नही। अत नैयायिक 'समवाय' का भी प्रत्यक्ष 'अभाव के प्रत्यक्ष के समान ही 'इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता' सन्निकष से ही मानते है। '**अत्र यद्यपीति**।' यहाँ पर विशेषणतासन्निकष का 'प्रत्यक्ष' के साथ काय कारणभावस्थल मे जो विशेषणता सम्बन्ध है, वह, इद्रिय और तत्सन्निकष के भेद से अनेक प्रकार का है, तब विशेषणतासन्निकष को एक षष्ठसख्या का पूरक मात्र समझना ठीक नही है, तथापि 'विशेषणतात्व' रूप एक धर्म के कारण विशेषणता सन्निकष को एक कहा जाना है। इसलिये षष्ठसख्यापूरक के रूप मे उसे स्वीकृत किया गया है। विशेषणता की अनक विधता को बता रहे है-'**तथाहीति**।' चक्षु सयुक्त भूतल या जल में घटपटादि के अभाव का प्रत्यक्ष-'घटाभावदभूतल जल वा'—चक्षुसयुक्तविशेषणता सन्निकष से होता है। क्योकि

चक्षुसयुक्त हुआ भूतल या जल आदि, उसमे 'घटाभाव' विशेषण है तथा सख्या, आदि गुणो मे रूपादि के अभाव का (सख्या मे रूप नही है) प्रत्यक्ष, चक्षु सयुक्त समवेत विशेषणतासन्निकर्ष से होता है, क्योकि चक्षुसयुक्त हुआ भूतल, उसमें समवेत हुई सख्या, उसमे विशेषण हुआ रूपादि का अभाव। तथा 'सख्यात्व' जाति मे रूपभाव का प्रत्यक्ष, चक्षु सयुक्त समवेत समवेत विशेषणता सन्निकर्ष से होता है, क्योकि चक्षु सयुक्त हुआ भूतल, उसमें समवेत हुई सख्या, उसमे समवेत हुआ सख्यात्व, उसमे रूपादि का अभाव विशेषण है। उसी प्रकार शब्द के अभाव का प्रत्यक्ष, केवल श्रोत्रावच्छिन्नविशेषणतासन्निकर्ष (श्रोत्रवृत्ति विशेषणतासन्निकर्ष) से होता है, क्योकि 'शब्दाभाव' श्रोत्र का विशेषण है। अर्थात 'शब्दाभाववत्श्रोत्रम इस प्रतीति के समय शब्दाभाव मे जो विशेषणता है, वह श्रोत्रावच्छिन्न है। श्रोत्रवृत्ति 'क' कार मे ('क' आदि शब्दो मे) जो खत्व' जाति का अभाव, उसके प्रत्यक्ष मे श्रोत्रसमवेत (क) विशेषणता सन्निकर्ष' कारण है, क्योकि श्रोत्रावच्छेदेन समवेत जो 'क' शब्द, उसमे 'खत्वाभाव' विशेषण है। उसी प्रकार आकाशात्मक श्रोत्र मे जो कत्वावच्छिन्न 'क' कार का अभाव है, उस अभाव में 'गत्व' जाति का जो अभाव है ('क' कार के अभाव में 'ग' कार का अभाव है) उसके प्रत्यक्ष में श्रोत्र विशेषण ('क' काराभाव) विशेषणतासन्निकर्ष कारण होता है, क्योकि श्रोत्र में विशेषण 'क' काराभाव, उसमें विशेषण 'गत्वजाति' का अभाव है। उसी प्रकार भूतल में जो घटाभाव है, उसमें रहनेवाले पटाभाव के प्रत्यक्ष में चक्षु सयुक्त (भूतल) विशेषण (घटाभाव) विशेषणता (पटाभावनिष्ठ) सन्निकर्ष कारण है, क्योकि चक्षु सयुक्त भूतल में विशेषण घटाभाव हुआ और उसमें विशेषण पटाभाव हुआ। इसलिये घटाभावनिरूपितविशेषणता पटाभाव में हुई। '**एवमन्यदप्यूह्यमिति**।' इसी प्रकार इतर अभावो के प्रत्यक्ष में भी जसा जहा हो वहा पर वैसे सम्बन्धो की कल्पना कर लेनी चाहिए। इस प्रकार विशेषणता अनेक प्रकार की होती है, यह प्रतीत होता है, तथापि उन सभी विशेषणताओ में जो अनुगत धर्म विशेषणतात्व है, उस (विशेषणतात्व) रूप से उन सब विशेषणताओ के समुदाय को एक ही (विशेषणतारूप) माना है। 'विशेषणतया तद्वत' कहकर मूलकार ने यही अभिप्राय व्यक्त किया है। अन्यथा (विशेषणता को यदि अनेक मानेंगे तो) 'सन्निकर्ष छ प्रकार का होता है' यह प्राचीनो का कथन (प्रवाद) सगत नही हो सकेगा, क्योकि विशेषणताओ को अनेक प्रकार का मानने से तो सन्निकर्ष भी छह से कही अधिक होगे। जैसे—घटद्रव्य में गुण,

गुण में गुणत्व, गुणत्व में पदार्थत्व, पदार्थत्वधर्म में घटाभाव, घटभाव में गुणत्वाभाव इस क्रम से विशेषण विशेष्यभाव के रहने पर तत्तद विशेष्यो के साथ विशेषणो के जो सम्बन्ध होंगे, उनके अनुसार सम्बन्धपरम्परा की कल्पना करनी पडेगी।

॥ इति लौकिकसन्निकर्षनिरूपणम ॥

यदि स्यादुपलभ्येतेति। अत्राभावप्रत्यक्षे योग्यानुपलब्धि कारणम्। तथाहि—भूतलादौ घटादिज्ञाने जाते घटाभावादिक न ज्ञायते। तेनाभावोपलम्भे प्रतियोग्युपलम्भाभाव कारणम्। तत्र योग्यताप्यपेक्षिता। सा च प्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जनप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वरूपा। तदर्थश्च प्रतियोगिनो घटादे सत्त्वप्रसक्त्या प्रसञ्जित आपादि उपलम्भरूप प्रतियोगी यस्य सोऽभावप्रत्यक्षे हेतु। तथाहि—यत्रालोकसयोगादिक वर्तते, तत्र 'यद्यत्र घट स्यात्तर्हि उपलभ्येते'त्यापादयितु शक्यते। तत्र घटाभावादिप्रत्यक्ष भवति। अन्धकारे तु नापादयितु शक्यते। तेन घटाभावादेरन्धकारे न चाक्षुष प्रत्यक्षम्, स्पार्शनप्रत्यक्ष तु भवत्येव, आलोकसयोग विनापि स्पार्शनप्रत्यक्षस्यापादयितु शक्यत्वात्। गुरुत्वादिक यदयोग्य तदभावस्तु न प्रत्यक्षस्तत्र गुरुत्वादिप्रत्यक्षस्यापादयितुमशक्यत्वात्। वायौ रूपाभाव। पाषाणे सौरभाभाव। गुडे तिक्ताभाव। श्रोत्रे शब्दाभाव। आत्मनि सुखाभाव। एवमादयस्तत्तदिन्द्रियै गृह्यन्ते, तत्तत्प्रत्यक्षस्यापादयितु शक्यत्वात्। ससर्गाभावप्रत्यक्षे प्रतियोगिनो योग्यता। अन्योन्याभावप्रत्यक्षे त्वधिकरणयोग्यताऽपेक्षिता। अत स्तम्भादौ पिशाचादिभेदोऽपि चक्षुषा गृह्यत एव ॥५९–६२॥

● यहा तक अभाव के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय कारण है और 'इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता सन्निकर्ष व्यापार है—यह बताया। अब अभाव के प्रत्यक्ष में 'योग्यानुपलब्धि' को सहकारिकारण [सहायक] के रूप में बता रहे है। उसके सहायक होने में युक्ति बताते है—जिस किसी भूप्रदेश में 'घट' है, एसा भ्रम हुआ, उसी भूप्रदेश में घट के अभाव का ज्ञान [यहा घट नही है—इस प्रकार का ज्ञान] नही होता। अर्थात जहा प्रतियोगी का प्रत्यक्ष नही होगा, वही पर उसके अभाव का प्रत्यक्ष होता है, यानी घट का प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर घटाभाव का प्रत्यक्ष नही होता, यह वस्तुस्थिति है। अत **अभाव के लौकिक प्रत्यक्ष मे प्रतियोगी के** [जिस वस्तु के अभाव का प्रत्यक्ष होता है, उस वस्तु के]

ज्ञान का जो अभाव है, वही, [अभावरूपी अनुपलब्धि] कारण होता है । अर्थात अभाव के प्रत्यक्ष मे प्रतियोगी के नान का अभाव ही कारण है।

शका—प्रतियोगी का उपलभाभाव [अनुपलब्धि] प्रतियोगी के अभाव का प्रत्यक्ष होन में यदि कारण है तो जलादि परमाणु में पथ्वीत्व का उपलभ [प्रत्यक्ष] नही हाता, अत जलादि परमाणु मे पृथ्वोत्वोपलभाभाव है, तो वहा [जलादिपर माणु में] पृथ्वीत्वाभाव का प्रत्यक्ष क्यो नही होता ?

समा—प्रतियोगी के उपलभाभाव मे 'योग्यता' भी अपेक्षित होती ह। अर्थात याग्यताविशिष्ट जो प्रतियोग्युपलभाभाव हो, वही, प्रतियोगी के अभाव का प्रत्यक्ष ह ने मे कारण होता है। योग्यता को प्रदर्शित करते ह—"**सा चेति** ।' **सा च प्रतियोगित्वप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वरूपा** । इसका अथ यह हुआ कि वह योग्यता प्रतियोगी के सत्त्वापादन मे आपादित प्रतियोगिकत्वरूपा है, अर्थात घटादि प्रतियोगियो की प्रसक्तिद्वारा जिसके प्रतियोगी का उपलभरूप से आपादन हो सके, ऐसा उपलभाऽभाव, अभावप्रत्यक्ष मे कारण है। अभिप्राय यह ह— प्रतियोगी के उपलभ (अस्तित्व) के आरोप का जहा सभव हो सके वहा तत्प्रतियोगी के अभाव का प्रत्यक्ष होता है, अन्यथा नही। निष्कप यह निकला कि 'अभाव' का प्रतियोगी 'घट' है, वह घट जिस भूप्रदेश मे जब रहे, तब उस अभाव के प्रतियोगी की उपलब्धि होती ह, उस उपलब्धि का अभाव ही उस प्रति योगी के अभावप्रत्यक्ष के प्रति कारण होता है। भाट्ट मीमासको का कहना है कि 'अभाव' पदाथ का ज्ञान 'प्रत्यक्ष' प्रमाण से नही होता, किन्तु 'अनुपलब्धिप्रमाण' से होता ह। अर्थात अभाव पदाथ अनुपलब्धिप्रमाणज य अनुपलम्भात्मक प्रमिति का विषय होता है। उसी तरह भाट्ट मीमासक 'समवाय' सज्ञक पदाथ को भी नहीं मानते। अत उन दोनो के प्रत्यक्ष के लिये 'विशेषणता सन्निकष को मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

उक्त मीमासकसिद्धान्त का खण्डन 'यदि स्यादुपलभ्येत' के द्वारा किया जा रहा है। अनुपलब्धिसहकृत इन्द्रिय के द्वारा 'अभाव' का प्रत्यक्ष यदि हो सकता है तो अनुपलम्भात्मक एक पृथक ज्ञान और तत्करणत्वेन अनुपलब्धिरूप एक पृथक् प्रमाण क्यो माना जाय ? क्योकि पृथक प्रमिति और तत्साधनाथ एक पृथक प्रमाण मानने में गौरव होगा। नैयायिक अपने सिद्धान्त को बता रहा ह—'**अभावप्रत्यक्षे योग्यानुपलब्धिरिति** ।' इन्द्रिय से होनेवाल अभावप्रत्यक्ष में योग्यानुपलब्धि सहकारि कारण होती है। योग्यस्य अनुपलब्धि

योग्यानुपलब्धि । प्रत्यक्ष होने की योग्यता जिसमे है, ऐसे घट की अनुपलब्धि= उपलम्भाभाव अर्थात प्रत्यक्ष प्रतीति न होना । तात्पय यह है कि घटप्रत्यक्षाभाव, घटाऽभावप्रत्यक्ष मे सहकारि कारण होता है । योग्यानुपलब्धि का वास्तविक अथ यह ह कि योग्यताविशिष्ट उपलब्ध्यभाव, वह योग्यता अभाव मे रहती है । **कारणमिति** । योग्यानुपलब्धि, प्रत्यक्ष मे कारण ही है, 'करण नही है । इसीके उपपादनार्थ **'तथाहीति'** के द्वारा बता रहे हैं—भूतलरूप अधिकरण मे चक्षु सयुक्त-सयोग के द्वारा घट का प्रत्यक्षज्ञान होने पर घटाभाव (घटप्रतियोगिताक अभाव) का प्रत्यक्षज्ञान नही होता । अर्थात तत्तदिन्द्रियजन्यसयोगादिसम्बन्धावच्छिन्नघटत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारताशाल्यनहार्यनिश्चये जातेसति तत्तदिन्द्रियजन्यमयोगादिसम्बन्धावच्छिन्न घटत्वाद्यवच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावत्वावच्छिन्न लौकिकप्रकारताशाल्यनाहार्यज्ञानत्वावच्छिन्न न जायते । तात्पय यह है कि विशेष्यतासम्बन्ध से भूतलनिष्ठ घटाभावज्ञान मे विशेष्यतासम्बन्ध से घटनिश्चय प्रतिबन्धक होता ह—'विशेष्यतासम्बन्धेन भूतलनिष्ठ घटाभावज्ञानम्प्रति विशेष्यतासम्बन्धेन घटनिश्चय प्रतिबन्धक ।' **'तेनेति ।'** घटाभावज्ञान मे घटनिश्चय प्रतिबन्धक होने से **'अभावोपलम्भे'** अर्थात विशेष्यतासबध से घटाद्यभावज्ञान के प्रति **'प्रतियोग्यपलम्भाभाव '** अर्थात विशेष्यतासम्ब ध से घटात्मकप्रतियोगिनिश्चयाऽभाव को कारण माना जाता है, करण नही । अभाव के प्रत्यक्ष मे प्रतियोग्युपलम्भाभाव को कारण मानने पर जलपरमाणु में पृथिवीत्वोपलम्भाभाव रहने से पृथिवीत्वाभाव के प्रत्यक्ष होने की आशका का निवारण करने के लिये योग्यताविशिष्ट प्रतियोग्युपलम्भाभाव को कारण बताया जा रहा है—**'तत्र योग्यताप्यपेक्षिता'** तत्र = उस प्रतियोग्युपलम्भाभाव मे अर्थात पृथिवीत्वादिप्रत्यक्षाभावरूप कारण में सहकारिकारण के रूप मे योग्यता की अपेक्षा की जाती है । उस योग्यता को मणिकार के अनुसार बता रहे है—**'प्रतियोगीति ।'** यहा पर तक आपादक होता है, अत तक का स्वरूप यह होगा—'यदि अत्र घट स्यात, तर्हि उपलभ्येत' । इसमें 'यदि अत्र घट स्यात' यह प्रथम दल आपादक है, वह घटरूप—प्रतियोगी की सत्ता (सत्त्व) का आरोपक होता है । उस आपादक के द्वारा (प्रतियोगी के सत्त्वारोप के द्वारा) 'तर्हि उपलभ्येत' इस प्रकार घटोपलम्भ—(घट प्रत्यक्ष) रूप आपाद्य का आरोप होता है । आपाद्याभाव से आपादकाभाव की सिद्धि अर्थात घटोपलम्भाभाव से घटाभाव की सिद्धि यहा प्रत्यक्ष हो जाती है । आपाद्याभाव मे (प्रतियोग्युपलम्भाभाव में) जो आपाद्यप्रतियोगिकत्व धम (घटोपलम्भप्रतियो-

गिकत्व धम) है, वही 'योग्यता' पदाथ है। इसी अभिप्राय को मुक्तावलीकार बता रहे है—प्रतियागिमत्त्वप्रसञ्जन के द्वारा प्रसञ्जित ह प्रतियोगी जिसका। **प्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जन** का अथ होगा कि घट की सत्ता का आराप। जसे 'यदि अत्र घट स्यात' इत्याकारक आरोप, इस आरोप के द्वारा **प्रसञ्जितप्रतियोगिक** अर्थात आरोपित प्रतियोगी, यानी 'तर्हि उपलभ्येत' इस आरोप का विषय जो घटोपलम्भ [घटप्रत्यक्ष] ह वही प्रतियोगी है जिस अभाव का, वह घटोपलम्भप्रतियोगिक अभाव हुआ। उस अभाव मे जो तादशप्रतियागिकत्वरूप धम है वही **योग्यता पदार्थ** है। अर्थात तादशयोग्यताविशिष्टप्रतियोग्युपलम्भाभाव ही प्रतियोग्यभाव के प्रत्यक्ष मे कारण होता है। जलपरमाणु मे 'यदि अत्र पथिवीत्व स्यात तर्हि उपलभ्येत' इस प्रकार आपादन करना सभव न होने से अर्थात पृथिवीत्वसत्तारापज य आरोपविषय पथिवीत्वात्मकप्रतियोगिकत्व का जलपरमाणुगतपृथिवीत्वाभाव में अभाव होने से जलपरमाणु में पथित्वाभाव का प्रत्यक्ष नही होता। योग्यता का लघुलक्षण इस प्रकार होगा—'प्रतियोगिसत्ताव्यापकोपलम्भप्रतियोगिकत्व योग्यत्वम।' मुक्तावलीकार 'योग्यता' को व्युत्पत्ति के द्वारा बता रहे है—'**तदर्थश्चेति**।' जिसका अभाव प्रत्यक्ष करना ह, वह प्रतियागी है। जैसे घटाभाव का प्रतियोगी 'घट' हुआ, उसकी 'सत्त्वप्रसक्ति' से अर्थात 'स्यात इत्याकारक सत्ता की प्रसक्ति (आरोप) से प्रसञ्जित (आरोपित) अर्थात् 'तर्हि उपलभ्येत' इस प्रकार आरोप का विषय बना हुआ, उपलम्भरूप (प्रत्यक्षज्ञानात्मक) प्रतियोगी, जिस उपलभाभाव का है, उम उपलभाभाव में रहनेवाला जो तादशप्रतियोगिकत्वात्मक धम है, वही योग्यता पदाथ है। तादशयोग्यताविशिष्ट प्रतियोग्युपलभाभाव, प्रतियोगी के अभावप्रत्यक्ष मे कारण है। प्रतियोगी (घट) की सत्ता व्याप्य है और प्रतियोगी का उपलभ व्यापक है। इसीको स्पष्ट करते है—'**तथाहीति**।' जहा (जिस भूप्रदेश मे) आलोकसयोग आदि है अर्थात आलोकसयोगावच्छिन्न महत्त्वावच्छिन्न उदभूतरूपावच्छिन्न चक्षुसयोग है, वहा (उस भूप्रदेश में) 'यदि अत्र घट स्यात तर्हि उपलभ्येत' ऐसा आपादन (आरोप) कर सकते है, अत वहाँ पर घटाभाव का प्रत्यक्ष होता है। जहाँ प्रतियोगी की सत्ता है वहा प्रतियोगी का उपलम्भ होता है। एवञ्च चक्षुसन्निकषसहकृत जो प्रतियोगि (घट) सत्तानिष्ठव्याप्यतानिरूपितव्यापकतावान प्रतियोग्युपलभ, उसका विशेष्यतासम्ब ध से जो भूतलनिष्ठ अभाव है, वह प्रतियोग्यभाव के प्रत्यक्ष में कारण है। निष्कष यह है—तन्निष्ठ (घटनिष्ठ) प्रकारताशालि (घटवद्भूतलम)

प्रत्यक्ष का जो लौकिकविशेष्यतासबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वात्मकयोग्यताविशिष्ट अभाव, वही, तदभाव (घटाभाव) प्रत्यक्ष मे कारण है । जहा अधकार है (जहा आलोकसयोगाद्यवच्छिन्न चक्षु सयोग नही है) वहा तो पूव प्रदर्शित रीति से उपलब्धि की सभावना चक्षुरिन्द्रिय से नही की जाती, इस कारण अन्धकार मे घटाभाव का चाक्षुष प्रत्यक्ष नही होता । क्योकि उस अधकार में यदि अत्र घट स्यात तर्हि उपलभ्येत' ऐसा आपादान (आरोप) नही कर सकते । तेन=उसकारण अर्थात प्रतियोगि (घट) सत्ताव्यापक प्रतियोग्युपलम्भप्रतियोगिकत्वात्मकयोग्यता का ही अभाव होने के कारण योग्यताविशिष्टप्रतियोग्युपलम्भाभावरूप कारण नही है, इसलिए अन्धकार मे घटाभाव का चाक्षुषप्रत्यक्षरूप काय नही हो पाता किन्तु अन्धकार मे घट का स्पाशन प्रत्यक्ष होने मे कोई रुकावट नही है । अत स्पाशन प्रत्यक्ष (त्वगिन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष) तो होता ही है, क्योकि घट के स्पाशन प्रत्यक्ष मे आलोकसयोग को कारण नही माना जाता, अपितु उदभूतस्पर्शावच्छिन्न महत्त्वावच्छिन्न त्वकसयोग को ही कारण माना जाता है । एवञ्च अन्धकार मे भी जब घट नही होता, तब त्वगिन्द्रियजन्य अभावप्रत्यक्ष के प्रति उदभूतस्पर्शावच्छिन्न-महत्त्वावच्छिन्न त्वकसयुक्तविशेषणता को ही कारण माना जाता है । अत उक्त 'कारण' अधेरे मे भी स्थित घटाभाव मे विद्यमान है । इस कारण वहाँ अधेरे मे आलोकसयोग के बिना भी स्पाशन प्रत्यक्ष (त्वगिन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष) का 'यदि अत्र गृहे घट स्यात तर्हि त्वचा उपलभ्येत' इत्याकारक आपादान (आरोप) कर सकते है । अत घटसत्ताव्यापक घटस्पार्शनोपलम्भप्रतियोगिकत्वात्मकयोग्यताविशिष्ट अभावात्मक कारण के विद्यमान होने से घटाभाव का स्पाशनप्रत्यक्ष होने मे कोई रुकावट नही होती । जैसे अन्धकार मे घटाभाव के चाक्षुषप्रत्यक्ष नही होता, वैसे ही अतीन्द्रिय पदाथ के अभाव का भी प्रत्यक्ष नही होता, यह बताते है—'**गुरुत्वादिकमिति** ।' गुरुत्व, धम अधम, पिशाच आदि अतीन्द्रिय पदाथ है, जो प्रत्यक्ष होने के योग्य नही है, उनका अभाव भी प्रत्यक्ष का विषय नही होता । क्योकि उस गुरुत्वाधिकरण में गुरुत्वादिप्रत्यक्ष का 'यदि घटे गुरुत्व स्यात, तर्हि उपलभ्येत' इत्याकारक आपादन [आरोप] करना सभव नही है । गुरुत्व तो सवथा तुला के द्वारा अनुमेय ही होता है । उसी तरह धर्माऽधम भी प्रत्यक्षयोग्य नही है, इस कारण धर्माऽधर्माधिकरण में 'यदि मयि धम स्यात, तर्हि उपलभ्येत' ऐसा आपादान भी नही किया जाता, किन्तु सुखादिफलात्मकलिङ्ग से धर्माऽधम का अनुमान ही किया जाता है । तात्पय यह है कि

तादशयोग्यता और उपलम्भ ही अप्रसिद्ध है। (वञ्च कारण की अप्रसिद्धि होने से गुरुत्वादिप्रत्य न भी अप्रसिद्ध है।

इसी प्रकार वायु में रूपाभाव का, पाषाण म सुगन्ध के [सौरम के] अभाव का, गुड मे तिक्तरस के अभाव का, श्रोत्र मे शब्दाभाव का, आत्मा में सुखाभाव आदि का ग्रहण [प्रत्यक्ष] तत्तद इन्द्रियो से [उन उन इन्द्रियो से] होता है, जिन जिन इन्द्रियो से उन उन अभावो के प्रत्यक्ष का आपादन [आरोप] किया जा सकता है, क्याकि उक्त अभावो के प्रतियोगी जो रूपादिक है, उनके उपलभाभाव मे 'प्रतियोगित्वप्रसञ्जनप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वरूप' याग्यता है। पृथिवी मे उदभूतरूप का चाक्षुषप्रत्यक्ष होता देखा गया ह, अत 'वायौ यदि उदभूतरूप स्यात् तर्हि चक्षुषा उपलभ्येत' ऐसा आपादन (आरोप) हो सकता है। एवञ्च उदभूतरूपसत्ताव्यापक - चाक्षुषप्रत्यक्षप्रतियोगिकत्वात्मकयोग्यताविशिष्टाभावात्मक कारण के विद्यमान होने से वायु में उदभूतरूपाऽभाव का प्रत्यक्ष होता है। उसी प्रकार पुष्प आदि मे उदभूतसौरभ का घ्राणजप्रत्यक्ष होता है। अत पाषाणे यदि उद्भूतसौरभ स्यात् तर्हि घ्राणेन उपलभ्येत' ऐसा आपादन हो सकता है। एवञ्च — उदभूतसौरभसत्ताव्यापकघ्राणजप्रत्यक्षप्रतियोगिकत्वात्मकयोग्यताविशिष्ट अभावात्मक कारण के रहने से पाषाण में उदभूतसौरभाभाव का प्रत्यक्ष होता ह। उसी प्रकार मरीचिका आदि में उदभूत तिक्तरस का रासनप्रत्यक्ष होता है। अत 'गुडे यदि उदभूततिक्त स्यात् तर्हि रसनया उपलभ्येत' यह आपादन किया जा सकता है। अत उद्भूततिक्तसत्ताव्यापकरासनप्रत्यक्षप्रतियोगिकत्वात्मक योग्यताविशिष्ट अभावात्मक कारण के रहने से गुड में उद्भूततिक्ताभाव का प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार पृथिवी मे अनुष्णस्पश का त्वाच प्रत्यक्ष होता है। अत 'वह्नौ यदि उद्भूताऽनुष्णस्पश स्यात तर्हि त्वचा उपलभ्येत' ऐसा आपादन किया जा सकता है। इसलिये उदभूतानुष्णस्पशसत्ताव्यापकत्वाचप्रत्यक्षप्रतियोगिकत्वात्मकयोग्यताविशिष्ट अभावात्मक कारण के रहने से वह्नि में उदभूतानुष्णाभाव का प्रत्यक्ष हाता ह। श्रोत्र मे एक बार शब्द का प्रत्यक्ष हो चुका है, अत दूसरी बार भी 'यदि श्रोत्रे शब्द स्यात तर्हि श्रोत्रेण उपलभ्येत' यह आपादन किया जा सकता ह। अत शब्दसत्ताव्यापकश्रोत्रजप्रत्यक्षप्रतियोगिकत्वात्मकयोग्यताविशिष्ट अभावात्मक कारण के रहने से श्रोत्र में शब्दाभाव का प्रत्यक्ष होता है। उसी प्रकार एक बार आत्मा में सुख का प्रत्यक्ष हो चुका ह, तो दूसरी बार भी 'यदि आत्मनि सुख स्यात तर्हि मनसा उप-

लभ्येत' यह आपादन किया जा सकता है। इस कारण सुखसत्ताव्यापकमानस प्रत्यक्षप्रतियोगिकत्वात्मकयोग्यताविशिष्ट अभावात्मक कारण के विद्यमान रहने से आत्मा मे सुखाभाव का मानस प्रत्यक्ष होता है। 'आदि' शब्द से 'प्रभा' मे उद भूतस्पर्शाभाव का त्वाचप्रत्यक्ष होता है क्योकि 'प्रभाया यदि उदभूतस्पश स्यात तर्हि उपलभ्येत' ऐसा आपादन (आरोप) किया जा सकता है। तात्पय यह है कि वायु मे रूपाभाव के प्रत्यक्ष से लेकर आत्मा मे सुखाभाव आदि का प्रत्यक्ष उन उन इन्द्रियो से होता है, जिन जिन इन्द्रियो से उन उन अभावो के उन उन प्रतियोगियो का प्रत्यक्ष होता है। क्योकि तत्तत अभावो के प्रत्यक्ष का आपादन (आरोप) कर सकते है, क्योकि तत्तत अभावो के रूपादि प्रतियोगियो के उपलभाभाव मे 'प्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जनप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्व' रूप योग्यता विद्यमान है।

अब ससर्गाभाव के प्रत्यक्ष में और अन्योन्याभाव के प्रत्यक्ष में भिन्न भिन्न योग्यता अपेक्षित होती है **'ससर्गाभावप्रत्यक्षे'** इति। प्रागभाव प्रध्वसाभाव-अत्यन्ताभाव के भेद से ससर्गाभाव के तीन प्रकार है। **ससर्गाभाव के प्रत्यक्ष मे** प्रतियोगी (घटादि) की प्रत्यक्षयोग्यता आवश्यक रहती है। अर्थात जिस किसी इन्द्रिय से जो घटादि प्रतियोगी प्रत्यक्षयोग्य रहता है, उसीके प्रागभाव का, प्रध्वसाभाव का और अत्यन्ताभाव का प्रत्यक्ष हो पाता है। जो प्रतियोगी इन्द्रिय का गोचर (विषय) कभी होता ही नही, उसके ससर्गाभाव का कभी भी प्रत्यक्ष नही होता। 'प्रतियोगिनो योग्यता' अर्थात 'प्रतियोगियोग्यत्व'। 'योग्य' का अथ है प्रत्यक्ष के योग्य अर्थात प्रत्यक्षविषय। इस योग्यत्व (योग्यमात्रप्रति-योगिकत्व) को अभावनिष्ठ समझना चाहिये। उसीतरह **अन्योन्याभाव के प्रत्यक्ष मे तो** अधिकरण की योग्यता अपेक्षित है। अर्थात् ससर्गाभाव के अतिरिक्त अभाव के प्रत्यक्ष में अधिकरणयोग्यता अर्थात अभावाधिकरण की ही प्रत्यक्ष-योग्यता आवश्यक ह। यदि अधिकरण प्रत्यक्षयोग्य (प्रत्यक्ष का विषय) ह, तो अन्योन्याभाव का प्रत्यक्ष अवश्य होगा। अधिकरणयोग्यत्व अर्थात योग्या (प्रत्यक्षविषया) धिकरणवृत्तित्व। एवञ्च यहा योग्यतापदाथ, अन्योन्याभावनिष्ठ है। अन्योन्याभाव के प्रत्यक्ष में अधिकरणयोग्यता कारण होने से 'स्तभ पिशाचो न' इत्याकारक भेद अर्थात स्तभ आदि अधिकरण में प्रत्यक्ष के अयोग्य ऐसे पिशाच आदि का भेद (अन्योन्याभाव) चक्षु से गृहीत होता है **'एवमिति'**। नैयायिको के मत में लौकिक तथा अलौकिक भेद से प्रत्यक्ष के दो प्रकार माने

जाते है। लोक-व्यवहार मे प्रसिद्धसयोगादिषड्विधसन्निकषजन्यप्रत्यक्ष को लौकिक प्रत्यक्ष कहते है, इस लौकिक प्रत्यक्ष के हेतुभूत षडविध (षोढा) सन्निकर्षो का निरूपण अभी तक किया गया। [५९ ६० - ६१ ६२]

॥ इति योग्यानुपलब्धिनिरूपणम् ॥

एव प्रत्यक्ष लौकिकालौकिकभेदेन द्विविधम्। तत्र लौकिकप्रत्यक्षे षोढा सन्निकर्षो वर्णित । अलौकिकसन्निकर्षस्त्विदानीमुच्यते—

अलौकिकस्तु व्यापारस्त्रिविधः परिकीर्तितः।
सामान्यलक्षणो ज्ञानलक्षणो योगजस्तथा ॥६३॥

अलौकिक लोके भव लौकिक, न लौकिक अलौकिक, इन्द्रियसम्ब ध रहित इत्यथ । व्यापार सन्निकष = यहा व्यापार, सन्निकष को समझना। अ यथा धूमत्वादि-सामान्यलक्षणा में इन्द्रियजन्यत्व के न रहने से व्यापार का कथन असगत होगा, क्योकि व्यापार तो तज्जन्यजनकत्वरूप होता है। सामान्य लक्षण = सामान्य लक्षण यस्य स, सामान्य पद से यहा जाति का ग्रहण है। अर्थात समानाना भाव अनागन्तुको नित्यो धम सामान्यम। द्रव्यगुणकर्मैतत्त्रितयवत्ति । वात्स्यायन ने बताया है कि 'या समानाम्बुद्धिम्प्रसूते भिन्नेष्वधिकरणेषु यया बहूनीतरेतरतो व्यावतन्ते, 'योऽर्थोऽनेकत्र प्रत्ययानुवृत्तिनिमित्त तत्सामान्यम्'। (न्या० भा० २।२।७१) इति। यथा घटत्वादि जाति । ज्ञानलक्षणः—ज्ञान लक्षण यस्य स । योगज —योगाभ्यासजनित इत्यथ ।

अलौकिक सन्निकष तो सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण तथा योगाभ्यासज य इन भेदो से तीन प्रकार का है।

अलौकिकस्त्विति। व्यापार सन्निकर्ष•। सामान्यलक्षण इति सामान्य लक्षण यस्येत्यर्थ ।

अत्र लक्षणपदेन यदि स्वरूपमुच्यते तदा सामान्यस्वरूपा प्रत्यासत्तिरित्यर्थो लभ्यते । तच्चेन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञाने प्रकारीभत बोध्यम्। तथाहि यत्रेन्द्रियसयुक्तो धूमादिस्तद्विशेष्यक धूम इति ज्ञान यत्र जात तत्र ज्ञाने धूमत्व प्रकार । तत्र धूमत्वेन सन्निकर्षेण धूमा इत्येव रूप सकलधूमविषयक ज्ञान जायते। अत्र यदीन्द्रियसबद्धमित्येवोच्यते तदा धूलीपटले धूमत्वभ्रमानन्तर सकलधूमविषयक ज्ञान न स्यात् तत्र धूमत्वेन सह इन्द्रियसम्बन्धाभावात्।

● **'अलौकिकसन्निकर्षस्तु'** इति । लोकव्यवहार में जो सयोगादिसन्निकष प्रसिद्ध है, उनसे भिन्न (अतिरिक्त) जो सन्निकर्ष शास्त्रगम्य है उन्हे, **'इदानीम्'** लौकिकसन्निकर्षो के निरूपण करने के पश्चात **'उच्यते'** कहा जा रहा है। **'अलौकिकस्त्विति'** । नैयायिको ने **अलौकिक व्यापार (सन्निकर्ष) तीन प्रकार के बतलाये है । 'सामान्यलक्षण'** इति । 'सामान्य लक्षण यस्य' इस व्युत्पत्ति से जात्यात्मक (जातिरूप) और व्यक्त्यात्मक (व्यक्तिरूप) सन्निकष, **यह एक प्रकार हुआ** । सामान्य शब्द का अथ **'जाति और घटादिव्यक्ति'** दोनो समझना । ऐसा सामा य ही है लक्षण (स्वरूप) जिसका, उसे 'सामान्य लक्षण' शब्द से कहा गया है । अब स निकष का दूसरा प्रकार ह—'ज्ञानलक्षण', अर्थात् ज्ञान ही है लक्षण (स्वरूप) जिसका, उसे 'ज्ञानलक्षण' शब्द से कहा गया है, यानी ज्ञानात्मक सन्निकष, **यह दूसरा प्रकार हुआ** । उसी तरह **तीसरा प्रकार 'योगज'** है । **योग** (चित्तवत्तिनिराव) **से** जन्य (उत्प न होनेवाला) **सन्निकर्ष**, यानी ध्यानधारणा समाधिरूपसयमात्मकस निकष, **यह तीसरा प्रकार हुआ** । तात्पय यह है कि लौकिक और अलौकिक भेद से प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है । लोकिक प्रत्यक्ष के सन्निकष भी लौकिक, और अलौकिक प्रत्यक्ष के सन्निकष अलौकिक हुआ करते हैं । सामा यलक्षण, ज्ञानलक्षण और योगज भेद से तीन प्रकार के ही अलौकिक सन्निकष बताये गये है । इन तीनो मे से 'योगज' स निकष से होनेवाला प्रत्यक्ष केवल योगियो को ही होता है, सर्व साधारणो को नही । किन्तु सामान्यलक्षण तथा ज्ञानलक्षण इन दो अलौकिक सन्निकर्षों से होनेवाला अलौकिक प्रत्यक्ष साधारण लोगो को भी होता है । यहा सन्निकष को 'व्यापार' शब्द से कहा गया है । 'सामान्यलक्षण' शब्द का अथ इस प्रकार ह —'सामान्य' (घटत्वादिजाति और घटादि व्यक्ति) है 'लक्षण' (**स्वरूप**) जिसका । क्योकि 'लक्षण' शब्द के दो अथ (स्वरूप और विषय) किये जा सकते है । उनमें से 'लक्षण' शब्द से यदि 'स्वरूप' अथ का ग्रहण किया जाय तो 'सामान्य लक्षण यस्य' (सामान्य है स्वरूप जिसका) ऐसा सन्निकष । 'प्रत्यासत्ति' का अथ 'सन्निकष', **'सम्बन्ध'** है । **'तच्चेति'** । उस सामान्यस्वरूप प्रत्यासत्ति को (सम्ब घ या सन्निकष को) इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यक जो 'अय घट ' इत्याकारक ज्ञान, उसमें प्रकारीभूत (विशेषणीभूत) समझना चाहिये । अर्थात् 'घट' मे नेत्र का सम्बन्ध (सयोग) होने के अनन्तर 'घट-घटत्वे' यह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है, तदनन्तर 'अय घट ' यह सविकल्पक

प्रत्यक्ष (अनुभव) होता है। इस प्रत्यक्ष (साक्षात्कार या अनुभव) का कारणीभूत (हेतुभूत) सयोग सम्बन्ध लौकिक है। 'अय घट' इत्याकारक ज्ञान 'घट-घटत्व' दोनो को विषय करता है, उनमें 'घट' को विशेष्यविधया तथा 'घटत्व' को प्रकार (विशेषण) विधया विषय करता है। इस कारण 'इन्द्रियसम्बद्ध विशेष्य यस्य तत इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यक ज्ञानम' अर्थात इन्द्रियसम्बद्धविशेष्य (घट) का जो ज्ञान (अय घट इत्याकारक) उसमे जो प्रकारविधया भान हो रहा है, वही सामान्यस्वरूप प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) का स्वरूप है। ऐसे 'घटत्व' आदि ही होगे। अर्थात् 'अय घट' इत्याकारक ज्ञान मे प्रकारीभूत सामान्य 'घटत्व' है। इस घटत्वरूप सामान्यलक्षणासन्निकर्ष के द्वारा 'घटा' इस प्रकार सकलघटविषक **अलौकिक प्रत्यक्ष** होता है। यहा यह समझना चाहिए कि 'सामान्य' को इन्द्रियसम्बद्ध नही कहा है, बल्कि इन्द्रियसम्बद्ध पदार्थ 'विशेष्य' है जिस ज्ञान मे, उस (ज्ञान) मे 'सामान्य' को विशेषण होना चाहिये। जब 'अय धूम' इत्याकारक धूम का ज्ञान होता है, तब उस ज्ञान मे **विशेष्य** है **'धूम'** और **विशेषण** (प्रकार) है **'धूमत्व'**। वह 'धूमत्व' ही सन्निकर्ष बन जाता है। उस 'धूमत्व' नामक सामान्यसन्निकर्ष के द्वारा ससार के यच्च यावत् समस्त धूमो का ज्ञान हो जाता है। ससार के समस्त धूमो का ज्ञान करा देना ही 'सामान्यलक्षण'-सज्ञक अलौकिकसन्निकर्ष का फल है। इसी अभिप्राय को मुक्तावलीकार बता रहे हैं—**'तथाहीति।'** जहा धूमादि विशेष्य पदार्थो के साथ नेत्रादि इन्द्रिया का सम्बन्ध हुआ है वहा धूमादिविशेष्यक 'धूम' इत्याकारक ज्ञान होता है। उस ज्ञान में प्रकारविधया 'धूमत्व' का भान होता है। वह धूमत्व ही अलौकिक सन्निकर्ष है, उस धूमत्वरूप सन्निकर्ष से 'धूमा' इत्याकारक सकलधूमविषयकज्ञान उत्पन्न होता है, क्योकि इस ज्ञान मे प्रकार जो धूमत्व है, वह सभी धूमो मे एक ही है, इसलिये पुरोवर्ती धूम के ज्ञानकाल मे नेत्रेन्द्रिय का 'स्वजन्यज्ञानप्रकारीभूत धूमत्ववत्ता' सम्बन्ध सकल धूमो में है। इस सम्बन्ध से नेत्रेन्द्रियजन्य यावत् धूम का प्रत्यक्ष द्वितीय क्षण मे होता है। इस प्रत्यक्ष का विषय पुरोवर्ती धूम भी हो सकता है, क्योकि ज्ञानप्रकारीभूत धूमत्ववत्ता जैसे अन्य धूमो है, वैसे ही पुरोवर्ती धूम में भी है, इसलिये पुरोवर्ती धूमादि पदार्थों में प्रथम क्षण में लौकिक और द्वितीय क्षण में अलौकिक ये दो ज्ञान मानने चाहिये।

शका—'इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञानप्रकारीभूत सामान्य' के बजाय 'इन्द्रियसम्बद्धवृत्तित्व' ही कहे तो लाघव होगा। अर्थात् इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञान मे

प्रकारीभूत धम को 'सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति' न मानकर लाघवात केवल प्रकार-त्वेन इन्द्रियसम्बद्ध को ही प्रत्यासत्ति (सन्निकष) कहे तो क्या दोष है ? जैम तादृशज्ञान प्रकारीभूतसामा य 'धूमत्व' आदि होते है, वैमे ही इन्द्रियसम्बद्ध हुआ 'धूम', उसमे 'धूमत्व' वृत्ति है हा। अर्थात धूमचक्षु सयोगकाल मे 'धूमत्व' भी प्रकारत्वेन इन्द्रियसम्बद्ध ह ही जिससे धूमत्वेन 'धूमा' इत्याकारक सकलधूमविषयकज्ञान हो सकेगा। अत 'इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञान मे जो सामान्य, विशेषण हो' इतना न कहकर 'जो सामान्य इन्द्रियसम्बद्ध हो' इतना ही कहा जाय।

समा०—'इन्द्रियसम्बद्धवत्तित्व' कहने से काम नही चलेगा, क्योकि जहाँ कही धूलिपटल के साथ चक्षुरिन्द्रिय का जब सबघ हुआ तब उस धूलिपटल मे 'धूमत्व' का भ्रम होने पर 'धूमत्व' स्वरूप सामान्यलक्षण सन्निकष से सकल धूम-विषयक 'धूमा' यह ज्ञान होता है। परतु अब नही हो सकेगा, क्योकि 'धूमत्व' के साथ चक्षुरिन्द्रिय का सबघ नही है। 'धूम' के साथ जब इन्द्रियसयोग रहेगा तभी 'सयुक्त समवाय' सबध 'धूमत्व' के साथ हो पाएगा, अन्यथा नही। यहाँ तो धूलिपटल के साथ चक्षुरिन्द्रिय का सबध है। और इन्द्रियसबद्ध धूलिपटल मे 'धूमत्व' वृत्ति नही है। यहाँ तो प्रकारतासबध से इन्द्रियसबद्ध 'धूलिपटलत्व' है, 'धूमत्व' नही। तथापि सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति से सकलधूमविषयक ज्ञान तो यहाँ भी होता है, किंतु 'धूमत्व इन्द्रियसबद्ध न होने से नही होना चाहिये—यही दोष ह। 'इन्द्रियसबद्धविशेष्यकज्ञान में जो सामान्य प्रकार (विशेषण) हो' यह कहने पर दोष नही होगा, क्योकि इन्द्रिय से सबद्ध यहाँ 'धूलीपटल' है, वह 'धूम' इत्याकारक ज्ञान में विशेष्य है, उसमें 'धूमत्व प्रकार (विशेषण) है। इस रीति से वह 'धूमत्वसामा य' सन्निकष होगा। उससे यावत् (सकल) धूमो की उपस्थिति हो जायगी। इन्द्रिय सबद्धविशेष्यकज्ञान मे इन्द्रियसबध को लौकिक समझना चाहिये। इसी तरह 'इन्द्रियसबद्धविशेष्यकज्ञान में जो 'सामान्य' विशेषण हो' यह कथन बहिरिन्द्रियजन्य ज्ञान के विषय मे कहा गया है। अनुमान-शब्दादिजन्य मानसज्ञान मे इन्द्रियसबद्ध' यह अश सगत नही होगा।

☛ मन्मते तु इन्द्रियसम्बद्ध धूलीपटल, तद्विशेष्यक धूम इति ज्ञानम्, तत्र प्रकारीभूत धूमत्व प्रत्यासत्ति। इन्द्रियसम्बन्धश्च लौकिको ग्राह्य। इद च बहिरिन्द्रियस्थले। मानसस्थले तु "ज्ञानप्रकारीभूत सामान्यमात्र प्रत्यासत्ति।" अत शब्दादिना यत्किञ्चित् पिशाचाद्युपस्थितौ मानस सकलपिशाचादिबोध उपपद्यते॥६३॥

● 'मन्मते त्विति ।' हम नैयायिकों के–'इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञाने प्रकारीभूतसामान्यम्प्रत्यासत्ति '—मत में तो अलौकिकप्रत्यक्ष की सिद्धि हो जाती है। पूर्वोक्त धलीपटलवाले भ्रम के स्थल मे भी हमारा वही लम्बायमान 'इन्द्रियसबद्ध विशेष्यक ज्ञान मे प्रकारीभूत धम' ही प्रत्यासत्ति स्वरूप है। अत कही पर भी कोई दोष नही है। जैसे—बहिरिन्द्रिय से सयुक्त 'धूलीपटल' है, वह धूलीपटल पूर्वोक्त भ्रम मे 'विशेष्य' बनकर विषय होता है। अर्थात इन्द्रियसबद्ध धूलीपटल में धूलीपटलविशेष्यक धूमत्वप्रकारक 'धूम' इत्याकारक ज्ञान हुआ है, उसमें प्रकार (विशेषण) रूप से भासमान 'धूमत्व' ही सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति है, अर्थात यहा पर 'धूमत्व' विशेषण बनकर विषय होता है। अत इस प्रकार का विषय मानने से अलौकिकप्रत्यक्षात्मकज्ञान हमारे मत से उपपन्न हो जाता है। अत हमारे मत मे पूर्वोक्त दोष नही आ पाता। पुरोवर्ती पदाथ मे 'इन्द्रिय का सम्बन्ध लौकिक ग्रहण करना उचित है, किंतु यह कथन बाह्य इन्द्रियस्थल मे है। अर्थात बहिरिन्द्रिय से 'घट ज्ञान' जहा होता है, और तदनन्तर 'घटत्वरूपसामान्यलक्षण सन्निकष' के द्वारा सकल घटो का ज्ञान हुआ हो ऐसे स्थल में ही 'इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञानप्रकारीभूतसामान्य को प्रत्यासत्ति (सन्निकष) के रूप में कारण समझना चाहिये।

मानस प्रत्यक्षस्थल में तो केवल 'ज्ञानप्रकारीभूतसामान्य' को ही प्रत्यासत्ति (सन्निकष) मानना चाहिये। इसी प्रत्यासत्ति से सवत्र सवथा प्रत्यक्ष के अयोग्य ऐसे किसी पिशाच आदि का ज्ञान जब शब्द आदि के द्वारा होता है, तब 'सर्वे पिशाचा पिशाचत्ववन्त' इत्याकारक सकलपिशाचादिविषयक मानसबोध (मानसप्रत्यक्ष) उत्पन्न होता ह। क्योकि पूर्वोक्त प्रकार द्वारा 'ज्ञानशब्द' से पिशाचादिविषयक शाब्दज्ञान को भी ले सकते है, उसमे प्रकारीभूत जो पिशाचत्वरूप सामान्य, वही 'मनोजन्यज्ञानप्रकारीभूत पिशाचत्ववत्ता' सम्बन्ध से सकल पिशाचविषयक अलौकिक प्रत्यक्षज्ञान का जनक है। इस प्रकार से 'सामान्यलक्षण' का प्रथम (पहिला) अथ नित्य जातिरूप सामान्य लिया गया है ॥ ६३ ॥

परन्तु समानाना भाव सामान्यम्। तच्च क्वचिन्नित्य धूमत्वादि, क्वचिच्चानित्य घटादि। यत्रैको घट सयोगेन भूतले, समवायेन कपाले ज्ञातस्तदनन्तर सर्वेषामेव तद्घटवता भूतलादीना कपालादीना वा ज्ञान भवति तत्रेद बोध्यम्। परन्तु सामान्य येन सम्बन्धेन ज्ञायते, तेन सम्बन्धेनाधिकरणानाम्प्रत्यासत्ति। किन्तु–यत्र तद्घटनाशानन्तर

तद्घटवत स्मरण जात तत्र सामान्यलक्षणया सर्वेषा तद्घटवता भान न स्यात्। सामान्यस्य तदानीमभावात्। किञ्चेन्द्रियसम्बद्धविशेष्यक घट इति ज्ञान यत्र जात, तत्र परदिने इन्द्रियसम्बन्ध विनापि तादृश-ज्ञानप्रकारीभतसामान्यस्य सत्त्वात्तादृशज्ञान कुतो न जायते, तस्मात् सामान्यविषयक ज्ञान प्रत्यासत्तिर्न तु सामान्यमित्याह—

● परन्तु इस प्रकरण मे 'सामान्य' शब्द का अथ साधारण धम है। समान पदार्थो के भाव (साधारण धम) को सामान्य कहते है। कही पर जातिरूप सामान्य शब्द से नित्य धूमत्व, घटत्व, पटत्व आदि लिये जाते है। और कही पर अनित्यव्यक्तिरूप सामान्य शब्द से अनित्य घट, पट आदि लिये जाते है। एवञ्च नित्य जाति और अनित्य व्यक्ति दोनो 'सामान्य शब्द से लिये जाते है, क्योकि यच्चयावत् घटो से युक्त भूतलो का सामान्य (साधारण) धम 'घट' है। जिस सम्ब ध से सामान्य धम, अधिकरण मे ज्ञात होता है उसी सम्ब ध से उस अधि-करण के समस्त धर्मो को वह उपस्थित करता है। अनित्य (घटादिरूप सामान्य-लक्षण सन्निकष) के उदाहरण को प्रदर्शित करने के लिये कहते है—जिस स्थल में एक ही घट का सयोगसम्बन्ध से भूतल में या समवाय सम्बन्ध से कपालो मे समूहालम्बनात्मकज्ञान एक ही मनुष्य को हुआ, तदनन्तर उस लौकिकज्ञान के पश्चात् द्वितीय क्षण में 'सर्वाणि भूतलादीनि सयोगघटवन्ति, एव सर्वे कपाला समवायेन घटवन्त' इस प्रकार सयोगसम्बन्ध से सकलघटवदभूतलो का एव समवायसम्बन्ध से सकल घटवाले कपालो का ज्ञान हो जाता है। अर्थात् सयोग सबध से घटयुक्तभूतल का ज्ञान होने पर सयोगसबध से ही घटयुक्त समस्त भूतलो का ज्ञान सामान्यलक्षणसन्निकष से हो जायगा। उसी तरह समवायसम्बन्ध से घटयुक्त कपाल का ज्ञान होने पर समवायसम्बन्ध से ही घटयुक्त कपालो का ज्ञान सामान्यलक्षणसन्निकष से हो जायगा। 'तत्रेद बोध्यमिति।' वहा यह समझ लेना चाहिये कि अनित्य वस्तु भी सामान्यरूपप्रत्यासत्ति हो सकती है। अर्थात ऐसे स्थल मे ज्ञायमान अनित्य सामान्य को ही आश्रय के प्रत्यक्ष में प्रत्या-सत्तिरूप समझना उचित है 'परन्तु इति।' परन्तु उसमे भी इतना और अधिक जानना चाहिये कि वह सामान्य, जिस सम्ब ध से अपने अधिकरण मे ज्ञात हुआ है, उसी सम्बन्ध से उस सामान्य को आधेय के रूप मे रखने वाले तत्सदश अधि-करणो के अलौकिक प्रत्यक्ष मे प्रत्यासत्ति (अलौकिक सन्निकष) होता है। अर्थात् चक्षुरादिइन्द्रियसम्बन्धवद्विशेष्यकज्ञान मे सामान्य जिस सम्बन्ध से विशेषण

होता है, वह सामा य उसी सम्ब ध से अर्थात इ द्रियसम्ब धवदविशेष्यकज्ञान की प्रकारता का अवच्छेदक (नियामक) जो सम्ब घ उमी सम्बन्ध से अपने अधिकरणो (आश्रयो) के अलौकिक प्रत्यक्ष मे प्रत्यासत्ति (अलौकिक सन्निकर्ष) हो सकता है। जैसे- सयोगेन घटवत् भूतलम' इस ज्ञान मे घटनिष्ठा प्रकारता, सयोगसम्बन्ध से अवच्छिन्न है। अत यहा पर उस प्रकारता के नियामक सयोग सम्बन्ध से ही अवच्छिन्न जो प्रकारता, उससे विशिष्ट घटात्मक अनित्यसामा य, अपने अधिकरणभूत समस्तभूतलो के अलौकिक प्रत्यक्ष मे सन्निकर्प हो मकता है, अन्य सबघ से नही। अन्यथा किसी स्थल में धूमपर समवायसबध के द्वारा विशेषण रूप से विषय बने हुए धूमत्वरूप सामा य के योग से कालिकसम्बन्ध के द्वारा धूमत्व का आश्रय काल भी हो सकता है, अत उसका भी अलौकिक ज्ञान होने लगेगा, यह आपत्ति उपस्थित होगी, वह न हो इसलिये पूवप्रकार माना है। ऐसा मानने पर समवाय सम्बन्ध से धूमत्व का आश्रय धूम ही होता है, कालिक सम्बन्ध से धूमत्व का आश्रय कहकर 'काल' को नही ले सकते। अत कोई दोष नही है। निष्कष यह है कि स्वाधिकरण मे जिस सम्बन्ध से 'सामान्य अवगत होता है, उसी सम्बन्ध से तत्सदश अधिकरणो के अलौकिक प्रत्यक्ष मे वह हेतु होता है। अन्यथा समवायसम्बन्ध से ज्ञानप्रकारीभूत धूमत्व, घटत्वादि-सामान्य भी काल, आकाशादि पदार्थों के अलौकिक प्रत्यक्ष मे हेतु होने लगेगा। किन्तु उक्त नियम के अनुसार धूमत्व घटत्वादि सामान्य धूम, घटादि अधिकरणो में ही समवायसम्बन्ध से ज्ञात होता है, अत उन्हीके अलौकिक साक्षात्कार (प्रत्यक्ष) को वह कराता है। प्राचीनो के अनुसार सामान्य लक्षण के पूर्वोक्त पहले अथ (ज्ञायमानसामान्य प्रत्यासत्ति) मे दो दोष आते हैं, उनमे से पहले दोष को दिखाते हैं—'किन्तु इति।' जहा 'सयोगेन घटवद् भूतलम' इस प्रकार भूतल मे सयोग सबध से घट का चाक्षुषप्रत्यक्ष हुआ, उसके पश्चात किसी कारणवश वह घट नष्ट हो गया, उस घट के नाश होने के बाद भी पूर्वोक्त चाक्षुष प्रत्यक्षात्मक अनुभवजन्यसस्कार के बल से 'भूतल तद्घटवत्' इस प्रकार स्मरण होने के अनन्तर सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति के द्वारा तद्घट वाले समस्त अधिकरणो का (भूतलो का) तद्घटवन्ति भूतलानि' इत्याकारक अलौकिकभान होता है, किन्तु 'ज्ञायमानसामान्य को प्रत्यासत्ति' मानने के पक्ष मे वह नही हो सकेगा। क्योंकि कारणीभूतसामान्य (तदघट) नही है, वह तो नष्ट हो चुका, तब कारण के व्यतिरेक (न होने पर) मे काय का होना तो व्यतिरेकव्यभिचार होगा-यह

प्राचीनमत मे प्रथम दोष बताया गया । 'किञ्चेति ।' अब 'किञ्च' से 'अन्वयव्यभिचार' सज्ञक द्वितीय दोष बता रहे है । किञ्च अर्थात दूसरी बात यह है कि इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यक 'अय घट' यह ज्ञान आज हुआ, तब कल (दूसरे दिन) घट के साथ इन्द्रियसबध हुए बिना भी 'सर्वेघटा' इत्याकारक अलौकिकभान प्राचीन मत के पक्ष मे होना चाहिये, क्योकि आज हमे चक्षुरिन्द्रिय का घट के साथ सम्बन्ध होकर 'अय घट' यह ज्ञान हुआ, उस ज्ञान मे प्रकारीभूतसामान्य 'घटत्व' नित्य होने के कारण हमेशा रहेगा, अर्थात कल भी रहेगा । अत जब सामान्यरूप कारण है तो काय (अलौकिक प्रत्यक्ष) क्यो नही होता—यह अन्वयव्यभिचार प्राचीन मत मे द्वितीय दोष बताया गया । एवञ्च 'ज्ञायमानसामान्य प्रत्यासत्ति इस प्राचीन मत मे दो दोष होने से 'सामान्यज्ञानमेवप्रत्यासत्ति' सामान्यज्ञान का ही प्रत्यासत्ति (सन्निकष) कहना चाहिये । और 'सामान्यलक्षण' शब्द का अथ 'सामान्यविषयकज्ञान करना चाहिये । अर्थात 'इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञानप्रकारीभूतसामान्यज्ञान सन्निकष' कहना चाहिये । 'तादृशसामान्यमात्र' यह अर्थ नही । एवञ्च घटनाशस्थल में इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञानप्रकारीभूततद्घटस्मरणज्ञानात्मक सन्निकषरूप कारण विद्यमान ह अत कार्य होता है । अर्थात घट का नाश होने पर भी घट का ज्ञान तो है हो । तस्मात व्यतिरेकव्यभिचार नही है । और दूसरे दिन इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञानप्रकारीभूतघटत्व का स्मरणज्ञानरूप कारण न रहने से काय नही हो रहा है । अर्थात सामान्य (घटत्व) के नित्य होने पर भी इन्द्रिय सबध के बिना उसका ज्ञान सवथा असभव है । अत अन्वयव्यभिचार भी नही ह । अत 'सामान्य' प्रत्यासत्ति नही बन सकता, किन्तु 'सामान्य का ज्ञान' ही प्रत्यासत्ति बन सकता ह, इसी बात को कारिकाकार 'आसत्तिराश्रयाणान्तु' कारिका ग्रथ से कह रहे है—

❀ आसत्तिराश्रयाणा तु सामान्यज्ञानमिष्यते ।
तदिन्द्रियजतद्धर्मबोधसामग्र्यपेक्ष्यते ॥६४॥

आश्रयाणाम् भूतलादि अधिकरणो के अलौकिकप्रत्यक्ष का कारण, **सामान्यज्ञानम्** इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञानप्रकारीभूतसामान्यज्ञान (सामान्यविषयकज्ञान) को ही **आसत्ति** सन्निकष समझना चाहिये । 'तदिन्द्रियजेति ।' चक्षुरादीन्द्रिय से होनेवाले घटात्मक धम के ज्ञान मे (चक्षु -सयुक्त सयोग, आलोकसयोग, महत्परिमाण, उदभूतरूपादि) सहकारिसामग्री की उपस्थिति भी अपेक्षित होती है ।

● आसत्ति प्रत्यासत्तिरित्यर्थ । तथा च सामान्यलक्षणमित्यत्र लक्षणशब्दस्य विषयोऽर्थ । तेन सामान्यविषयक ज्ञानम्प्रत्यासत्तिरित्यर्थो लभ्यते ।

ननु चक्षु सयोगादिक विनापि सामान्यज्ञान यत्र वर्तते तत्र सकलघटादीना चाक्षुषादिप्रत्यक्ष स्यादत आह—तदिति । अस्यार्थ —यदा बहिरिन्द्रियेण सामान्यलक्षणया ज्ञान जननीय तदा यत्किञ्चिद्ध र्मिणि तत्सामान्यस्य तदिन्द्रियजन्यज्ञानस्य सामग्री अपेक्षिता । सा च सामग्री चक्षु सयोगालोकसयोगादिकम् । तेनान्धकारादौ चक्षुरादिना तादृशज्ञान न जायते ॥६४॥

॥ इति सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिनिरूपणम ॥

● 'आसत्ति' पद का अथ करते है—'प्रत्यासत्ति' यानी सम्बन्ध । 'मामान्य लक्षण' शब्द का अथ 'सामान्यज्ञान' है, यह बतान के लिये 'लक्षण' पद का अथ बता रहे है—'तथाचेति ।' 'सामान्यलक्षण' सज्ञाघटक 'लक्षण' शब्द का अथ 'विषय' है, पूर्वोक्तरीति के अनुसार 'स्वरूप' अथ नही है । 'मामा य लक्षण विषयो यस्य' ऐसा समास करने से 'सामान्यविषयकज्ञान ही प्रत्यासत्ति है' इस अथ का लाभ होता ह । प्राचीनमतवादी पूर्वपक्षी कहता ह कि सामान्यज्ञान कराना सन्निकष का अलौकिक स्वभाव है, अत इन्द्रियसम्बन्ध के बिना भी सकलव्यक्ति साक्षात्कार का होना सम्भव हो सकता है, इसी अभिप्राय से शका कर रहे है ।

शका—'ननु चक्षु सयोगादिक विनापीति ।' जहाँ चक्षु सयोग के बिना भी सामा य घटत्व' का शाब्दिक या स्मरणात्मक ज्ञान हुआ, वहा सामान्य विषयकज्ञान विद्यमान है यह मानना ही होगा, तब सकल घट आदि अर्थात मकल घटवदभूतलादि विषयो का चाक्षुष प्रत्यक्ष होना चाहिये । क्योकि प्रत्यक्षकारणीभूत 'सामान्यज्ञानप्रत्यासत्तिरूपा' सामग्री विद्यमान है ।

समा०—'तदिति ।' 'अस्यार्थ ।' 'तदिन्द्रियजतद्धमबोधमामग्री' इसका अथ यह है—'यदेति ।' अभिप्राय यह है कि प्राचीनो ने 'प्रत्यक्ष क्यो नही होता ?' यह जो पूछा है, तो उसमें सामग्री की न्यूनता होने से प्रत्यक्ष नही हो पाता यह समझना चाहिये । जब चक्षुरादि बहिरिन्द्रिय से सामान्यलक्षणमन्निकष के द्वारा अलौकिक चाक्षुषप्रत्यक्ष करना हो तब (उस समय) यत्किञ्चित घटादिधर्मी मे 'घटत्वादि' सामान्यविषयक चक्षुरिन्द्रियजन्य ज्ञान की सामग्री भी अपेक्षित है ।

उसके बिना वह ज्ञान नही हो सकता । 'साचेति ।' वह सामग्री चक्षु सयोग, आलोकसयोग, उद्भूतरूप, महत्त्वपरिमाणादि यथायोग्य तत्तदिन्द्रियजप्रत्यक्ष मे जाननी चाहिये । अत पूर्वोक्त स्थल मे चक्षु सयोग के बिना अलौकिक चाक्षुष प्रत्यक्ष नही हो सकता है । आलोकसयोग भी सामग्री के अन्तगत होने से अधेरे में घटादि पदाथ का चक्षुरादि इन्द्रिय के द्वारा घटत्वादिधमविशिष्ट धर्मी (घट) का ज्ञान (अलौकिक चाक्षुष प्रत्यक्ष) नही हो पाता, इसलिये वहा सामान्य लक्षणप्रत्यासत्ति भी नही बन सकती ॥ ६४ ॥

॥ इति सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिनिरूपणम ॥

❀ विषयी यस्य तस्यैव व्यापारो ज्ञानलक्षणः ।

यस्य सौरभ आदि का, **विषयी** ज्ञान, **तस्यैव** उसी सौरभ आदि का **व्यापार** सन्निकष, **ज्ञानलक्षण** प्रत्यासत्ति है। अर्थात जिस अलौकिक सन्निकष से यदविषयकज्ञान होता है उसी सम्बन्धविशेष का नाम 'ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति' है। **'सुरभि चन्दनम्'** यह वाक्यप्रयोग करने पर जिस सौरभ आदि का ज्ञान होता है उसी सौरभादिका जो सन्निकष ह, उसे ज्ञानस्वरूप समझना चाहिये । अर्थात् पूव दिन चन्दन को सू घकर 'सुरभिचन्दनम्' निश्चय करलिया । दूसरे दिन बिना सूघे ही दूर से चन्दन को देखकर ही 'सुरभिचन्दनम्' ऐसा दूसरे से कह देते है । तब दूसरे दिन के 'सुरभिचन्दनम' इस ज्ञान में 'सौरभ', चन्दन', और 'चन्दनत्व' भासित होता ह यानी वह ज्ञान तीनो को विषय करता है । उनमे 'चन्दन' तथा 'चदनत्व' का तो यथाक्रम 'चक्षु सयोग' तथा चक्षु सयुक्त समवाय' सम्बन्ध से लौकिक प्रत्यक्ष हो सकता है। अर्थात् चक्षु सयोग से चन्दन का ज्ञान और चक्षु सयुक्तसमवाय से चन्दनत्व का जो ज्ञान होता है वह लौकिक सन्निकषजन्य होने से उसे लौकिकप्रत्यक्ष कहा जा सकता है, परन्तु सौरभाश मे साक्षात्कारजनक लौकिकसम्बन्ध होना तो दुघट है क्योकि घ्राणसबध के बिना भी जो सौरभज्ञान हुआ ह, वह तो चक्षु सयुक्तमन सयुक्त आत्मसमवेत-ज्ञानाख्य सन्निकष से सस्कार द्वारा हो रहा है, अत उसे अलौकिकप्रत्यक्ष के रूप मे ही समझना होगा । अर्थात सौरभाश को चाक्षुषज्ञान का विषय तो कह नही सकते क्योकि सौरभाश को विषय करनेवाली घ्राणेन्द्रिय का तो उस काल मे सम्बन्ध ही नही है । प्रभाकर मीमासक के कथनानुसार पूवगृहीत सौरभाश का स्मरणात्मक (स्मृति) ज्ञान और चन्दन का प्रत्यक्ष ज्ञान ऐसे पृथक् पृथक् दो ज्ञान हो

रहे है यह भी नही कह सकते, क्योकि स्मृतित्व और प्रत्यक्षत्व का सकर हो जायगा। अत 'सुरभिच दनम' यह एक ही विशिष्टज्ञान है कहना चाहिये। प्रभाकर की तरह यहा दो ज्ञान नही है। अर्थान पूवगृहीत सौरभ का स्मरण तथा पूवगृहीत सौरभ का आत्मा मे सस्कार मात्र का सभव हो सकता है इस कारण 'सुरभिच दनम' में सौरभानुयोगिक तथा चक्षु प्रतियोगिक कोई एक सबध अवश्य ही मानना होगा। वह सबध साक्षात तो बन नही सकता। अत चक्षु सयुक्त आत्मसमवेतज्ञानरूप या चक्षु सयुक्त-मन सयुक्त आत्म समवेत सस्काररूप परम्परा-सबध बन सकता ह, इस परम्परासम्ब ध का ही नाम 'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति' है। इससे होनेवाला ज्ञान अलौकिक ही है। जिस समय चक्षुरिन्द्रिय का च दन से सयोग होता ह उसी समय एकसबधिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकम' याय से सौरभ का स्मरण या स्मृति मे हेतुभूत पूर्वानुभव जन्यसस्कार उदबुद्ध होकर 'सुरभिचन्दनम्' इस प्रकार के चाक्षुषज्ञान को उत्पन्न करता ह। यह ज्ञान च दनाश मे तो लौकिक है और सौरभाश मे पूर्वोक्त सम्बन्ध से अलौकिक है। यद्यपि सौरभ के प्रत्यक्ष करने का सामथ्य चक्षु मे नही है तथापि उक्त अलौकिक सम्बन्ध के द्वारा चक्षु से भी जो सौरभज्ञान होता है, वही यह द्वितीय अलौकिक प्रत्यक्ष है। एवरूपा सौरभसाक्षात्कार हेतुभूत जो प्रत्यासत्ति ह, उसे 'ज्ञानलक्षणा' प्रत्यासत्ति कहते है।

● ननु ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिर्यदि ज्ञानरूपा सामान्यलक्षणापि ज्ञानरूपा तदा तयोर्भेदो न स्यादत आह—

सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिर्हि तदाश्रयस्य ज्ञान जनयति। ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिस्तु यद्विषयक ज्ञान तस्यैव प्रत्यासत्तिरिति।

अत्रायमर्थ। प्रत्यक्ष सन्निकर्ष विना भान न सम्भवति। तथा च सामान्यलक्षणा विना धूमत्वेन सकलधूमाना वह्नित्वेन सकलवह्नीना च भान कथ भवेत्तदर्थ सामान्यलक्षणा स्वीक्रियते।

न च सकलवह्निधूमभानाभावे का क्षतिरिति वाच्य, प्रत्यक्षधूमे वह्निसम्बन्धस्य गृहीतत्वादन्यधूमस्य चानुपस्थितत्वाद् 'धूमो वह्निव्याप्यो न वे'ति सशयानुपपत्ते।

● शका— पूर्वोक्त सामान्यलक्षण ज्ञानलक्षण, और योगज इन तीन सन्नि-कर्षों में से प्रथम तथा द्वितीय अर्थात् सामान्यलक्षण सन्निकष तथा ज्ञानलक्षण-

सन्निकष ये दोनो यदि ज्ञानरूप है अर्थात् सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति की व्याख्या करते समय यह बताया था कि **'सामान्य'** स्वय प्रत्यासत्ति (सन्निकष) नही है, बल्कि **'सामान्य का ज्ञान'** प्रत्यासत्ति (सन्निकष) है। एवच सामान्यलक्षण प्रत्यासत्ति (सन्निकष) भी ज्ञानरूप है और ज्ञानलक्षण प्रत्यासत्ति (सन्निकष) भी ज्ञानरूप है तो दोनो मे भेद क्या होगा ?

समा —'सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिर्हीति'। उक्त दोनो प्रत्यासत्तिया (सामान्यलक्षण और ज्ञानलक्षण सन्निकष) ज्ञानरूप ही है तथापि सामान्य का ज्ञानरूप जो सामान्यलक्षणसन्निकर्ष (सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति) है, वह उस सामान्य के समस्त आश्रयो (अधिकरणो) का अलौकिक प्रत्यक्ष (ज्ञान) करा देता है अर्थात घटत्वादिधमविशिष्ट एक घटरूप धर्मी का साक्षात्कार (प्रत्यक्ष) होने पर, उस धम के आश्रय देशान्तरीय या कालान्तरीय यावत धर्मियो का ज्ञान, सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति के द्वारा होता है। यानी घटत्वज्ञानरूप सामान्य लक्षणा से उन घटत्वाश्रय समस्त घटो का 'सर्वे घटा' इत्याकारक अलौकिक प्रत्यक्ष होता है। किन्तु द्वितीय ज्ञानलक्षणासन्निकष (प्रत्यासत्ति) से चन्दन में जिस सौरभादि का अलौकिक ज्ञान होता है, उस सौरभ का सन्निकष ही ज्ञान-लक्षणाप्रत्यासत्ति का स्वरूप है। अर्थात ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति से जिस सौरभ का अलौकिक भान हुआ है उसी के साथ होनेवाले सम्बन्धविशेष को ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति कहते है। जैसे सुरभिचन्दनम मे चन्दन को देखकर सौरभ का ही स्मृतिज्ञान (स्मरणात्मक ज्ञान) रूप ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति (सन्निकष) के द्वारा अलौकिक भान होता है, सौरभाश्रयचन्दन का नही, क्योकि 'चक्षु सयुक्तमन सयुक्तआत्म समवेतस्मृतिविषयत्व' ही ज्ञानलक्षणा पदाथ है। चन्दन को देखने के पश्चात सौरभ का स्मरण होता है, इसलिये तादृशस्मृतिविषयत्वरूप जो ज्ञानलक्षणा है, वह सौरभ का ही सन्निकष है, चन्दन का नही। क्योकि चन्दन का तो चाक्षुष प्रत्यक्ष हो रहा ह।

शका—सामान्यलक्षणासन्निकष तथा ज्ञानलक्षणासन्निकष से अलौकिक प्रत्यक्ष होता ह, यह क्यो कहा जाता है ? जब दोनो का एक ही काय है, तब उनमें भेद क्यो ? दानो को मानने की आवश्यकता भी क्या ?

समा०—'अत्रायमर्थ इति'। सामान्यलक्षणा नामक अलौकिक सन्निकष मानने मे नैयायिक-वैशेषिको का यही अभिप्राय है कि समस्त सामान्याश्रयो का भान हो सके। उक्त अलौकिक सन्निकष को न मानने पर समस्त सामान्याश्रयों

का भान नही हो पायेगा। क्योकि बिना सन्निकष के प्रत्यक्ष नही होता, प्रत्यक्ष होने मे सन्निकष को कारण माना गया है। अभिप्राय यह ह कि सामान्यलक्षण सन्निकष को न मानने पर धूमत्व के आश्रय समस्त धूमो (उपस्थित अनुपस्थित समस्त धूम) और वह्नित्व के आश्रय सब वह्नियो (उपस्थित अनुपस्थित समस्त वह्नि) का प्रत्यक्ष कैसे होगा ? उनका प्रत्यक्ष हो सके (ये सब प्रत्यक्ष के विषय हो सकें) इसलिय सामान्यलक्षणसन्निकष को मानना आवश्यक है।

शका—सकल वह्नियो का तथा सकल धूमो का ज्ञान (भान) न हो तो क्या हानि है ?

समा०—महानसीय प्रत्यक्ष धूम मे तो वह्नि के साथ 'सहवृत्तित्व' रूप सम्ब ध का (यत्र धूमस्तत्र वह्नि इत्याकारक व्याप्तिरूप सम्बन्ध का) चक्षुरिन्द्रिय से ग्रहण हुआ है, कि तु देशा तरीय कालान्तरीय (पवतादिवृत्ति) धूम की तो उपस्थिति नही ह (चक्षु से स निकृष्टता नही है), तब वह्नि धूम के व्याप्तिज्ञान से पूव धूम, वह्निनिरूपित व्याप्ति का आश्रय है या नही' (धूमो वह्निव्याप्यो न वा) यह सशय नही बन सकेगा। अर्थात पक्षता का आपादक सदेह उपपन्न नही होगा और स देह के न होने पर पवत पर वह्नि का अनुमान नहीं हो पायेगा।

मन्मते तु सामान्यलक्षणया सकलधूमोपस्थितौ कालान्तरीयदेशान्तरीयधूमे वह्निव्याप्यत्वसन्देह सम्भवति।

न च सामान्यलक्षणास्वीकारे प्रमेयत्वेन सकलप्रमेयज्ञाने जाते सार्वज्ञ्यापत्तिरिति वाच्य, प्रमेयत्वेन सकलप्रमेयज्ञाने जातेऽपि विशिष्य सकलपदार्थानामज्ञानत्वेन सार्वज्ञ्याभावात्।

किन्तु मेरे (सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिवादी नैयायिक के) मत मे तो सामान्य लक्षणा (सामान्यविषयक ज्ञानरूप अलौकिक सम्बन्ध) से यावत् धूमो की उपस्थिति (धूमत्वेन सकल धूमो का साक्षात्कार) हुई है। अत देशान्तरीय कालान्तरीय धूम में (अन्य पवतादि देशवृत्ति धूम मे, अतीत अनागतादि धूम मे) भी व्याप्ति का निश्चय न होने से वह्निनिरूपित व्याप्ति के आश्रयत्व का अर्थात अय वह्निनिरूपितव्याप्त्याश्रयो नवा इत्याकारक सन्देह बन सकता है। अभिप्राय यह है कि सभी धूम यदि प्रत्यक्ष के विषय न हो तो सब धूमो में अग्नि की व्याप्ति (सम्बन्ध) है या नहीं, यह सशय होता है। कि तु अब वह न हो सकेगा, क्योकि जितनी धूम-

व्यक्तियो का प्रत्यक्ष होता ह, उतनी ही धूमव्यक्तियो मे अग्नि की व्याप्ति का निश्चय होता ह। अत वहा निश्चयरूप प्रतिबन्धक के होने से पूर्वोक्त सशय तो होता ही नही है और जिन धूमव्यक्तियो का प्रत्यक्ष नही ह, उन धूमव्यक्तियो मे सशय होने का सम्भव नही है, क्योकि पूर्वोक्त सशय के प्रति धूमज्ञान (धर्मिज्ञान) कारण है। अत कारणीभूत धूमज्ञान के न होने से कायभूत सशय भी नही होगा, किन्तु हम नैयायिको के मत में सशय हो सकेगा, जिससे पवत पर वह्नि का अनुमान कर सकने मे कोई बाधा नही होगी। अत सामान्यलक्षणा का स्वीकार करना निरथक नही है।

शका—नैयायिक के मन्तव्य के अनुसार यदि सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति को मान लिया जाय तो प्रमेयत्वरूप सामान्यलक्षणा के द्वारा (प्रमेयत्वरूपसामान्य से) स-पदाथरूप समस्त प्रमेयो का भी अलौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाने से मनुष्य सवज्ञ हो जायगा। अर्थात प्रमेयत्वेन सकल प्रमेय का ज्ञान प्राप्त किये हुए मनुष्य को यावत पदाथविषयकज्ञानवान् यानी सवज्ञ हो जाना चाहिये।

समा०—'प्रमेयत्वेनेति।' प्रमेयत्वेन (प्रमेयत्वरूप से) अर्थात प्रमेयत्वरूप सामान्यलक्षणा के द्वारा सकल पदार्थों (सकल सप्तपदार्थात्मक प्रमेयो) का ज्ञान (मानसप्रत्यक्षज्ञान) हो जाने पर भी घटत्व पटत्वादि तत्तद विशेष धर्मों के द्वारा देशान्तरीय कालान्तरीय घट, पटादि सकल धर्मी पदार्थो का ज्ञान न हो पाने स उसे सवज्ञ कैसे कहा जा सकेगा ? अभिप्राय यह ह कि प्रमेयत्वरूप महा-व्यापक धम को लेकर कायकारणभाव का स्वीकार नही किया गया है, किन्तु प्रमेयत्वव्याप्य धूमत्वादि धर्मों को लेकर ही विशेष कायकारणभाव को माना गया है। एवञ्च प्रमेयत्वेनरूपेण सकल पदार्थो का ज्ञान होने पर भी तत्तद् विशेषरूप से ज्ञान न होने के कारण सवज्ञत्व की आशका नही की जा सकती, क्योकि 'सार्वज्ञ्य प्रति साधारणधमप्रकारकज्ञानवत्वे सति विशेषतत्तदयावत्पदाथवृत्तिधमप्रकारक-ज्ञानवत्त्व प्रयोजकम्' यह नियम है।

एव ज्ञानलक्षणाया अस्वीकारे सुरभि चन्दनमिति ज्ञाने सौरभस्य भान कथ स्यात्। यद्यपि सामान्यलक्षणयापि सौरभभान सम्भवति, तथापि सौरभत्वस्य भान ज्ञानलक्षणया। एव यत्र धूमत्वेन धूलीपटल ज्ञात तत्र धूलीपटलस्यानुव्यवसाये भान ज्ञानलक्षणया।

● इसी प्रकार ज्ञानलक्षणासन्निकष (प्रत्यासत्ति) को यदि न माना जाय तो 'सुरभिचन्दनम' इस ज्ञान मे सौरभ का ज्ञान कैसे हो पायेगा ? क्योकि

चन्दनखण्ड का चाक्षुषप्रत्यक्ष रहने पर भी उपस्थित सौरभांश के साथ चक्षु-र्सनिकर्ष नही है। किसी एक दिन चन्दनखण्ड को सूँघ कर सुरभिचन्दन का अनुभव कर लिया, उसके पश्चात किसी अन्य दिन च दनखण्ड को दूर से देखकर ही कह दिया जाता है कि 'सुरभिच दनम' यह चन्दन सुग धी है। इस प्रकार सौरभ का जो अलौकिक ज्ञान हो रहा है, उसमे इ द्रियसन्निकष तो है नही, तब किस सन्निकष से सौरभ का अलौकिक ज्ञान हो रहा है ? यह शका हो सकती ह, उसके समाधान के लिये तादश अलौकिकप्रत्यक्षविषयताव्यापकज्ञानलक्षणा-सन्निकष को मानना आवश्यक है।

शका—'यद्यपीति।' 'सुरभिचन्दनम्' में सौरभत्वरूप सामा यलक्षणा के द्वारा सौरभ का ज्ञान हो सकता है। अत सौरभ के ज्ञान के लिये ज्ञानलक्षणा सन्निकष को मानने की आवश्यकता नही है।

समा०— सुरभिचन्दनम्' चन्दनखण्ड सुगन्धियुक्त है, इस ज्ञान मे दो विषय है, एक तो चन्दन का खण्ड, दूसरा सुगन्ध। चन्दनखण्ड से ता चक्षु सन्निकष हाता है और सुगन्ध मे ज्ञानलक्षणासन्निकष होता ह। इसी प्रत्यक्ष को 'उपनीत भान भी कहते है। इस प्रकार के चाक्षुषप्रत्यक्ष मे सुगन्ध विषय होता है। वह अब न हो सकेगा। क्य कि चन्दनखण्ड से तो चक्षु सन्निकष है, किन्तु सुगन्धरूप विषय से चक्षु सन्निकष नही है। अत ज्ञानलक्षणसन्निकष मानना चाहिये। **तथापीति।'** जात्यखण्डोपाध्यतिरिक्तपदार्थज्ञानस्य किञ्चिद्धमप्रकारकत्वम्'— जाति और अखण्डोपाधि से भि न पदाथ का ज्ञान किञ्चिद्धमप्रकारक ही हुआ करता है यह नियम है। तदनुसार सौरभत्वजाति का ज्ञान तो किसी धम से नही हो रहा है, अत उसका, सौरभत्व का) स्वरूपेण ही अलौकिकमानसप्रत्यक्ष ज्ञानलक्षणा से ही हो सकता है, इसलिये ज्ञानलक्षणा को मानना आवश्यक है। अभिप्राय यह है कि 'सुरभिचन्दनम्' आदि स्थलो में सौरभ का भान, सौरभ-त्वादि सामान्यलक्षणसन्निकष से भी हो सकता है, क्योंकि सौरभत्वप्रकारक लौकिक प्रत्यक्ष या सौरभत्वावच्छिन्नप्रकारक लौकिक प्रत्यक्ष, इन दोनो मे से किसी एक सामग्री की सहायना से सामान्यलक्षणसन्निकष को फलजनक माना गया है। प्रकृत में यद्यपि पहली सामग्री का अभाव है, तथापि सौरभत्वावच्छिन्नप्रकारक-लौकिक प्रत्यक्षरूप दूसरी सामग्री तो विद्यमान ह ही। इसलिये सामान्यलक्षणा से भी सौरभ का ज्ञान हो सकता ह, तथापि स्वरूप से सौरभत्व धम का ज्ञान (भान) तो ज्ञानलक्षणासन्निकष से ही होता है, क्योंकि उस समय के सौरभत्व

अश मे किसी भी धर्मान्तर का ग्रहण नही है। इस कारण सामान्यलक्षणा मे सौरभत्वाश के ग्रहण का निर्वाह नही हो सकता। एवञ्च जाति का स्वरूपत भन होने के लिये ज्ञानलक्षण को मानना आवश्यक ह। तथा ज्ञानलक्षणा के मानने मे दूसरी युक्ति यह है कि जात्यतिरिक्तपदाथ का किञ्चिद्धमप्रकार से जो भान होता ह, उसके लिये ज्ञानलक्षणा की आवश्यकता है **'एवमिति।'** जब 'धूमत्वेन' धूलीपटल में भ्रम हुआ अर्थात जहा धूलिसमूह का धूमत्वरूप से ज्ञान हुआ उसके पश्चात 'धूमत्वावच्छिन्नधूलीपटलभ्रमवानहम्' अर्थात 'धूमत्वेन धूलीपटल जानामि' ऐसा **अनुव्यवसायज्ञान मन में** हुआ। तब उस **अनुव्यवसायज्ञान** मे 'धूमत्व', 'धूलीपटल' और 'भ्रम' ये तीन भासित हो रहे है, क्योकि 'ज्ञानका ज्ञान' भी ज्ञान विषय विषयक होता है। तथा च उक्त तीनो मे भ्रमाशविषयक अनुव्यवसाय, मन सयोगसन्निकष से हो रहा है। धूमत्वाश विषयक पटलाशविषयक अनुव्यवसाय मन सयुक्तआत्मसमवेतभ्रमात्मकज्ञानलक्षणासंनिकष से ही हो सकता है, क्योकि अनुव्यवसाय में धूलीपटल और धूमत्व के साथ मन का लौकिक सन्निकष नही है और धूमत्व भी विद्यमान नही है। इसलिये सामान्यलक्षणा का भी सभव नही है। अत उक्त अनुव्यवसाय स्थल मे किञ्चिद्धम धूमत्वप्रकारक धूलीपटल, ज्ञानलक्षणा का विषय बन जाता है। अभिप्राय यह है कि धूमत्व धमपुरस्कारेण धूलीपटल मे 'अय धूम' इत्याकारक ज्ञान होने के बाद 'धूममह जानामि' इत्याकारक अनुव्यवसाय मे 'धूलीपटल' का भान, ज्ञानलक्षणाप्रत्यसत्ति से होगा। ज्ञानविषयकज्ञान को अनुव्यवसाय कहते है। वह सवत्र मानसिक होता है तथा स्वविषयभूत ज्ञान को उसके विषय सहित विषय करता है। उसमे ज्ञान को तो 'स्वमन सयुक्त–आत्म समवेतत्व' रूप आभ्यन्तर सम्बन्ध से विषय करता है, किन्तु ज्ञान के विषय जो बाह्य घट पटादि है, उनके साथ उसका कोई लौकिक सबध नही है, अपितु 'स्वमन सयुक्त आत्म समवेत ज्ञानविषयत्व' रूप ज्ञानलक्षणा नामका अलौकिक सम्बन्ध ही रहता है। घटादि सदविषय स्थल में तो 'आसत्तिराश्रयाणाम' इत्यादि पूर्वोक्त रीति से घटादि अश मे सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति तो हो सकती है, तथापि अनुव्यवसाय में घटत्वादि धमभान का निर्वाह ज्ञानलक्षणा से ही होता है। इसी प्रकार धूमत्वेन धूलीपटलादि भ्रमस्थल में भी (धूमत्वाभाववाले धूलीपटल में धूमत्वप्रकारकज्ञान के भ्रमरूप होने से), उभयाश में (धूम, धूमत्व दोनो के ज्ञान मे)

ज्ञानलक्षण को (स्वसयुक्तात्मसमवेतज्ञान विषयत्वरूपज्ञानलक्षणा को) ही मानना पडता है । क्योकि वहाँ धूमत्वधम का अस्तित्व धूलीपटल में वास्तविकरूप से नही है, इसलिये तदाश्रयत्वेन धूलीपटल का ज्ञान भी सामान्यलक्षणा से नही हो सकता, किन्तु पूर्वोक्त सम्बन्धरूप ज्ञानलक्षणा से ही हो सकता है । जहा यथार्थज्ञान है, जसे 'अह घट जानामि' इस प्रतीति मे ज्ञान का प्रत्यक्ष तो सयुक्त समवाय सन्निकष से हो सकता है, क्योकि आत्मा मन से सयुक्त है और उसमे ज्ञान का समवाय है, परन्तु मानसज्ञान मे घट भी भासित हो रहा है । मानसज्ञान में घट का ज्ञान लौकिकसन्निकर्ष से तो हो नही सकता, क्योकि लौकिकसन्निकष से तो चाक्षुषप्रत्यक्ष मे ही घट का ज्ञान होता है । किंतु मानस प्रत्यक्ष मे घट के ज्ञान के लिये ज्ञानलक्षणा नामक अलौकिक सन्निकष की ही आवश्यकता हागी ।

⊛ योगजो द्विविधः प्रोक्तो युक्तयुञ्जानभेदतः ॥६५॥
युक्तस्य सर्वदा भान चिन्तासहकृतोऽपरः ।

योगज इति । योगाभ्यासजनितो धर्मविशेष श्रुतिस्मृतिपुराणादि प्रतिपाद्य इत्यर्थ । युक्तयुञ्जानभेदत इति । युक्तयुञ्जानरूपयोगिद्वैविध्या द्धर्मस्यापि द्वैविध्यमिति भाव ॥ ६५ ॥

युक्तस्य तावद्योगजधर्मसहायेन मनसा आकाशपरमाण्वादिनिखिल-पदार्थगोचर ज्ञान सर्वदैव भवितुमर्हति । द्वितीयस्य चिन्ताविशेषोऽपि सहकारीति ।

॥ इति श्रीविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यविरचिताया न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्याम्प्रत्यक्षखण्डम् ॥



● पूर्वोक्त तीन प्रकार के अलौकिक सन्निकर्षों में से तृतीय योगजसन्निकष को बता रहे हैं—'योगज इति ।' 'योगात् जातो योगज' इस व्युत्पत्तिलभ्यअर्थ

को बताते है—'योगाभ्यासजनितो धमविशेष' इति। चित्तवृत्तिनिरोध को 'योग' कहते है। महर्षि पतञ्जलि ने कहा है-योगश्चित्तवृत्तिनिरोध '-(यो०सू० १।२) वह योग, समाधिरूप ही है। युज समाधौ' इस समाधि अथ वाले 'युज्' धातु से उक्त 'योग' शब्द की निष्पत्ति होती है, 'युजिर् योगे' इस सयोगाथक 'युजिर' धातु से उक्त योग शब्द की निष्पत्ति नही है। युक्त और युञ्जानरूप योगी के भेद से योगाभ्यास से उत्पन्न होनेवाले तथा श्रुतिपुराणादिको मे वर्णित, योगज धम (पुण्य) विशेष दो प्रकार का होता है। योगरूप समाधि के लिये उसके साधनो (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार) का अभ्यास तथा ईश्वर-प्रणिधान का अभ्यास करना पडता ह, तब उससे धारणा, ध्यान का सम्पादक एक धम विशेष (महान पुण्य) और ईश्वरानुग्रह से प्राप्त हुए ज्ञान मे वैशारद्य होता है। इसका समथन श्रुतियो ने किया है—'त दुदश गूढमनुप्रविष्ट गुहाहित गह्वरेष्ठ पुराणम। अध्यात्मयोगाधिगमेन देव मत्वा धीरो हर्षशोकौजहाति।'—(कण्ठवल्ली अ–१, व–२, म–१२) 'न चक्षुषा गह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्त-पमा कमणा वा। ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु त पश्यति निष्कल ध्याय-मान।'—(मु ३ ख १, म ८) 'ते सवग सवत प्राप्य धीरा युक्तात्मान सवमेवाविशन्ति।'—(मु ३, ख २, म ५)। तथा च यमनियमादि के अभ्यास से उत्पन्न पुण्यात्मक सन्निकर्ष, धारणा ध्यान-समाधिरूपसयम (चिन्तन) सहित होकर **युञ्जानयोगी** को कालान्तरीय देशान्तरीय सूक्ष्म विप्रकृष्ट पदार्थों का अलौकिक प्रत्यक्ष करा देता है। उसी प्रकार ईश्वरप्रणिधानलभ्य ईश्वरानुग्रहान्वित-ज्ञानवैशारद्यरूप सावज्यकल्प सन्निकष से **युक्तयोगी** को सावदिक स्फुरणरूप विवे-कसाक्षात्कार होता रहता है। ईश्वरानुग्रहान्वितज्ञानप्रसाद ही **युक्तधर्म** है उससे समन्वित योगी को **युक्तयोगी** कहते है। और सयमसहकृत महत् पुण्य ही **युञ्जान-धर्म** है, उससे समन्वित योगी को **युञ्जानयोगी** कहते है। युक्त और युञ्जान ये दो धम है। **युक्तस्येति**। ईश्वरानुग्रहविशिष्टज्ञानप्रसाद प्राप्त किये युक्तयोगी को ईश्वरप्रणिधानजनित अनुग्रहविशिष्टज्ञानप्रसाद रूप **योगजधर्म की सहायता से**, मन (अन्त करण) में आकाश परमाणु आदि समस्त पदार्थो का अलौकिक प्रत्यक्षात्मकज्ञान सवदा ही अविच्छिन्नरूपसे होता रहता है। तथा युञ्जानयोगी को ध्यान, धारणा आदि सयमरूप चिन्ताविशेष करने से अर्थात सयम सहकृत

पुण्यान्वित मन के द्वारा यद्विषयक सयम होगा, तद्विषयक ही अलौकिक साक्षात्कार (अलौकिक प्रत्यक्ष) होता है। अभिप्राय यह है कि युक्तयोगी को निखिलविषयविषयकसाक्षात्कार, बिना चिन्ता किये भी होता रहता है किन्तु युञ्जानयोगी को अपना चित्त एकाग्र करना पडता है अर्थात चित्त को तत्तद विषयाकार करना पडता है तब उसे सार्वकालिक, सार्वदेशिक पदार्थो का ज्ञान होता है ॥ ६५½ ॥

श्रीमदभगवदवताराणाम्पूज्यपादानाम्**पण्डितराज - श्रीराजेश्वरशास्त्रि-**
द्राविडचरणानामनुगृहीतान्तेवासिना, पूज्यपादश्रीमन्महामहोपाध्याय
श्रीसदाशिवशास्त्रिचरणतनूजन्मना, मुसलगावकरोपनामकेन
श्रीगजाननशास्त्रिणा विरचिताया बालप्रियाख्याया
व्याख्यायाम प्रथमम्प्रत्यक्षखण्डम ।

(प्रत्यक्षस्वरूपाभिधानपरा तुरीया मुक्ता)

रेखाचित्रो द्वारा न्या० सि० मु० का सिंहावलोकन

चित्र सख्या १ — मगलवाद

- पूर्वपक्ष (मगलाचरण व्यर्थ)
- सिद्धान्तपक्ष
  - प्राचीन नैयायिक (समाप्तिफल)
  - नव्य नैयायिक (विघ्नध्वस फल)

चित्र सख्या २ — 'कार्यत्व' हेतु से ईश्वर की सिद्धि

- पूर्वपक्ष
  - 'शरीराजन्यत्व' हेतु से सत्प्रतिपक्ष ।
- सिद्धान्तपक्ष
  - कार्य कारणभावरूप अनुकूल तर्क के आधार पर पूर्वपक्ष का निरसन ।

चित्र सख्या ३ — पदार्थ विभाग

(१) द्रव्य (२) गुण ३) कर्म (४) सामान्य (५) विशेष (६) समवाय (७) अभाव

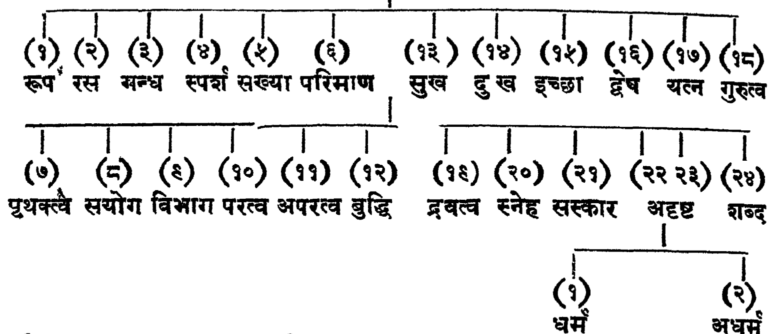
चित्र सख्या ४ — द्रव्य विभाग

(१) पृथिवी (२) जल (३) तेज (४) वायु (५) आकाश (६) काल (७) दिशा (८) आत्मा (९) मन

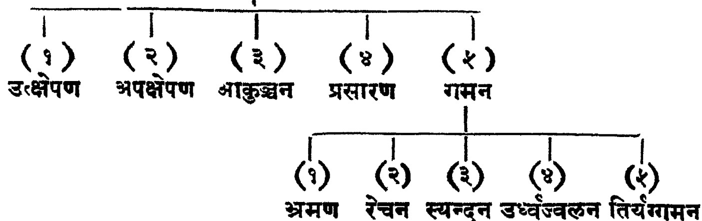
चित्र सख्या ५ — तम

- पूर्वपक्ष
  - रूपवत्व तथा कर्मवत्व के आधारपर दशम द्रव्य तम का प्रतिपादन ।
- सिद्धान्तपक्ष
  - आवश्यक तेजोऽभावरूप से तम की उपपत्ति करते हुए पूर्वपक्ष का निरसन ।

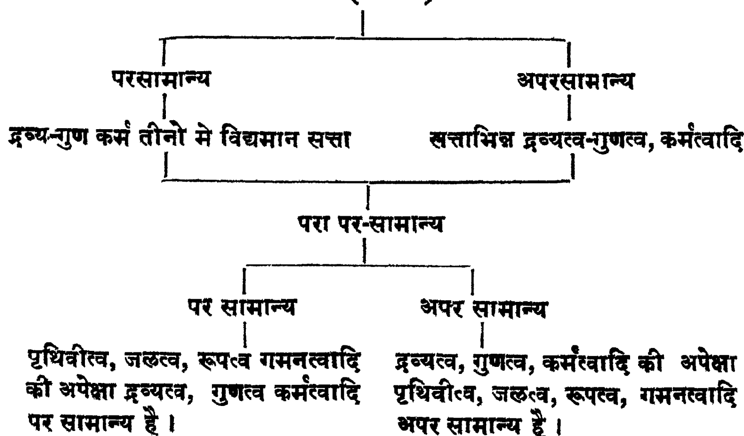
चित्र संख्या ६ गुण विभाग



चित्र संख्या ७ कर्म विभाग



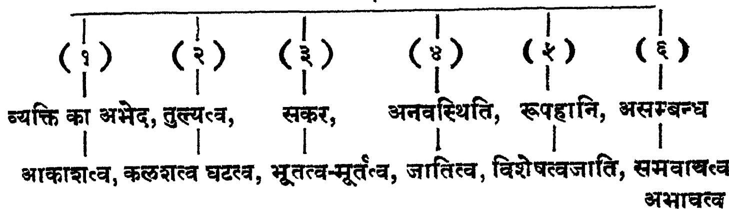
चित्र संख्या ८ सामान्य (जाति) विभाग



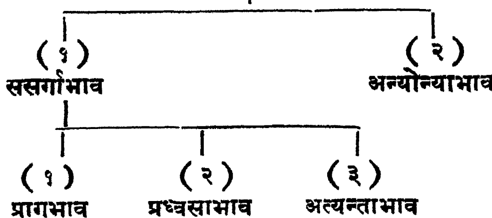
घटत्व पटत्व, रसत्व, शुक्लत्व, भ्रमणत्वादि की अपेक्षा पृथिवीत्व, जलत्व रूपत्व, गमनत्वादि, परसामान्य है।

पृथिवीत्व, जलत्व, रूपत्व, गमनत्वादि की अपेक्षा घटत्व पटत्व रसत्व शुक्लत्व भ्रमणत्वादि अपर सामान्य है।

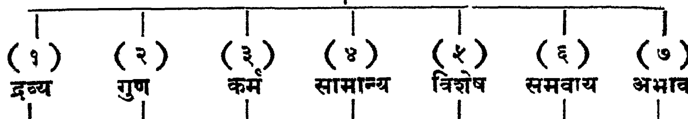
चित्र सख्या ९



चित्र सख्या १०

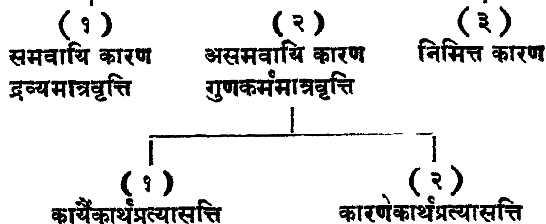


चित्रसख्या ११



ज्ञेयत्व अभिधेयत्व तथा प्रमेयत्व यह सातो पदार्थों का साधर्म्य है। परिमाण्डल्य (परमाणु द्व्यणुक एव मन के परिमाण को) छोडकर कारणत्व यह सातो का साधर्म्य है। भावत्व अनेकत्व तथा समवायित्व यह पाचोका साधर्म्य है। गुण रहिततत्व क्रिया शून्यत्व (निष्क्रियत्व) गुण से लेकर अभाव तक का साधर्म्य है। तीनो का सत्तावत्व रूप साधर्म्य है। सामान्य का अनधिकरणत्व चारो का साधर्म्य है।

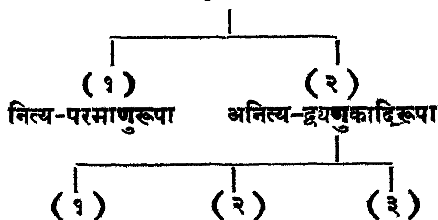
चित्र संख्या १२ कारण विभाग



चित्र संख्या १३ अन्यथा सिद्धि

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
जिसके साथ पूर्वभाव हो।	कारण को लेकर ही जिसका पूर्व भाव हो।	किसी अन्य के प्रति पूर्वभाव ज्ञात होनेपर ही कार्यके प्रति जिसके पूर्वभाव का निश्चय हो।	जनक के प्रति पूर्वभाव ज्ञात हुए विना कार्य के प्रति जिसके पूर्व भावका ज्ञान न हो।	नियत आवश्यक पूर्व भावी पदार्थों से जो भी अतिरिक्त हो।
घट कार्य के प्रति दण्डत्व।	घट कार्य के प्रति दण्डरूपादि।	घट के प्रति आकाश।	घट के प्रति कुलाल पिता	घट के प्रति रासभ (गर्दभादि)

चित्र संख्या १४ पृथिवी



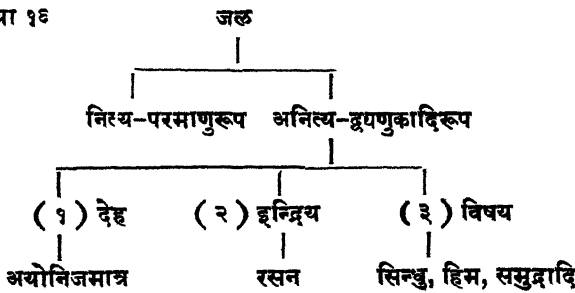
- देह
  - (१) योनिज
    - (१) जरायुज — मनुष्यादि देह
    - (२) अण्डज — सर्पादि दह
  - (२) अयोनिज
    - (१) स्वेदज — कृमि, दशादि देह
    - (२) उद्भिज — वृक्षादि देह
- इन्द्रिय — घ्राणेन्द्रिय,
- विषय — द्व्यणुकादि से ब्रह्माण्डपर्यन्त

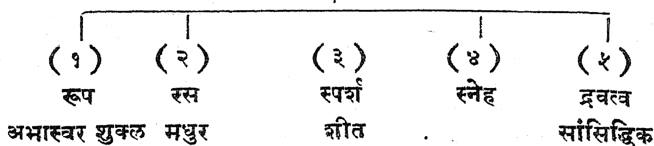
चित्र संख्या १५

पार्थिव गुण

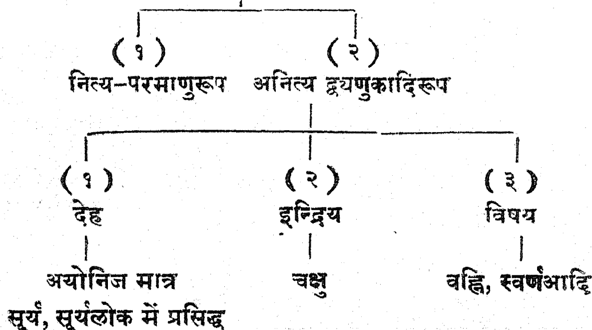
- १ रूप
  - (१) शुक्ल (२) नील (३) पीत (४) रक्त (५) हरित (६) कपिश (७) चित्र
- २ रस
  - (१) मधुर (२) अम्ल (३) लवण (४) कटु (५) कषाय (६) तिक्त
- ३ गन्ध
  - (१) सुगन्ध (२) दुर्गन्ध
- ४ स्पर्श — अनुष्णाशीत पाकज

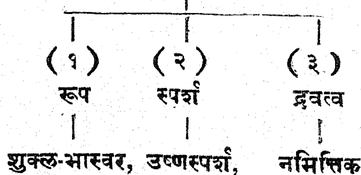
चित्र संख्या १६



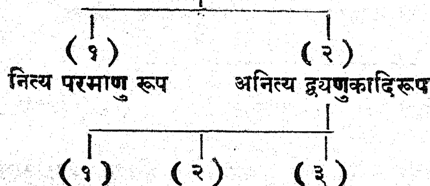


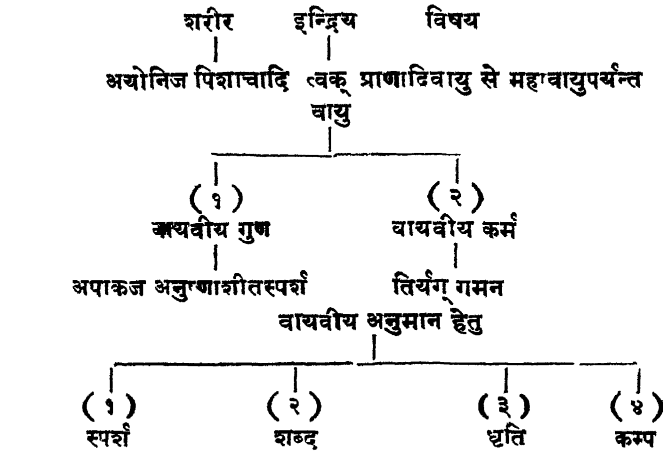
चित्र संख्या १७



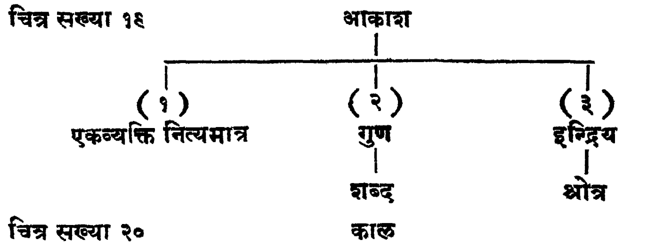


चित्र संख्या १८



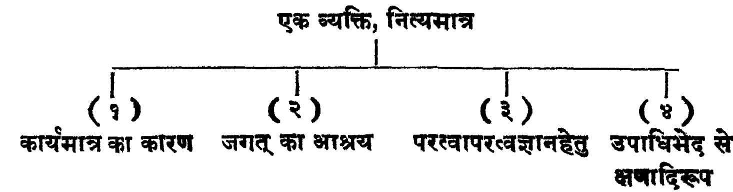


चित्र सख्या १९



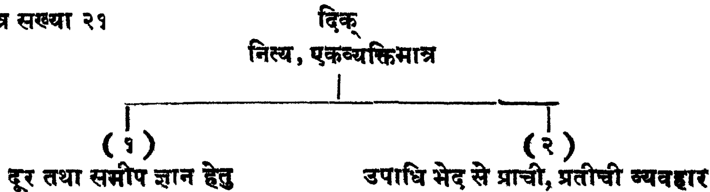
चित्र सख्या २०

काल

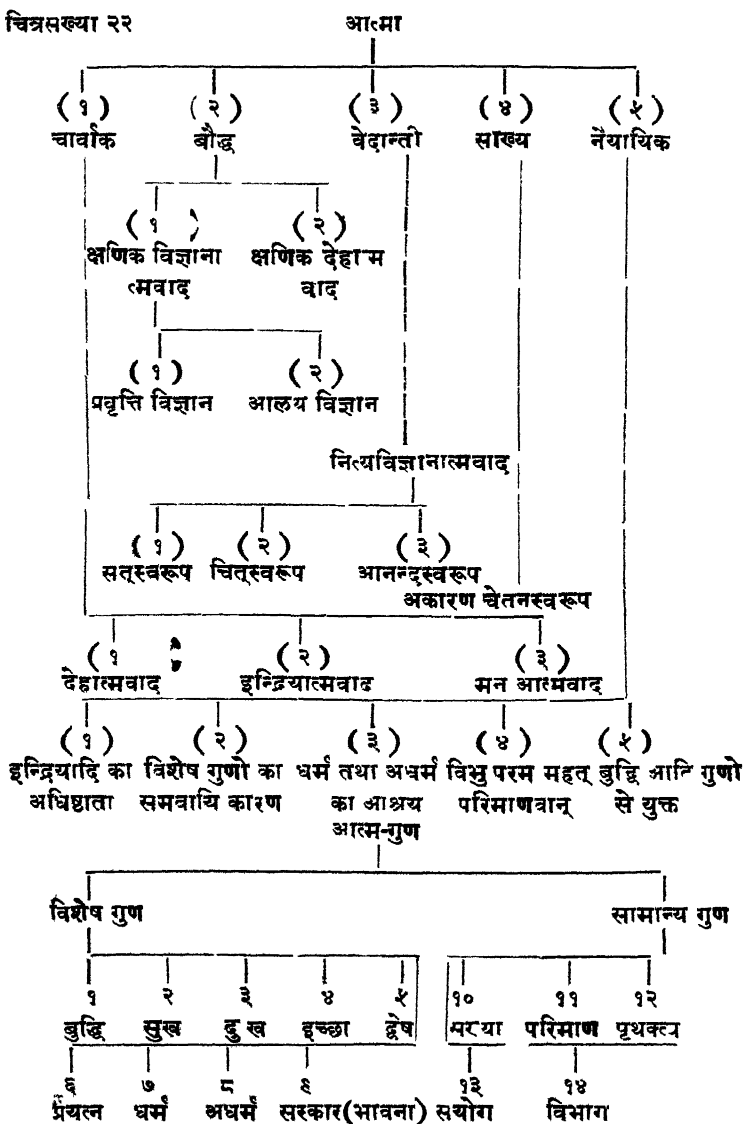


चित्र सख्या २१

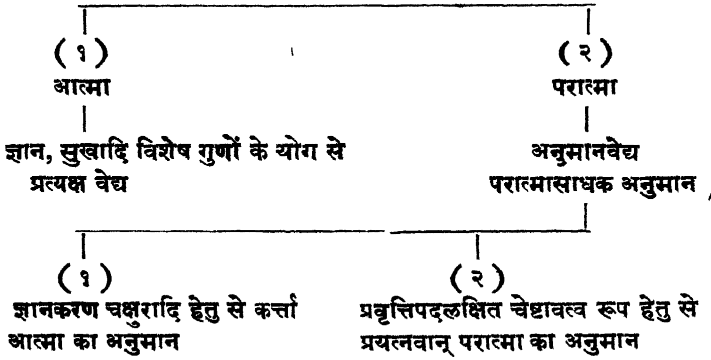
दिक्



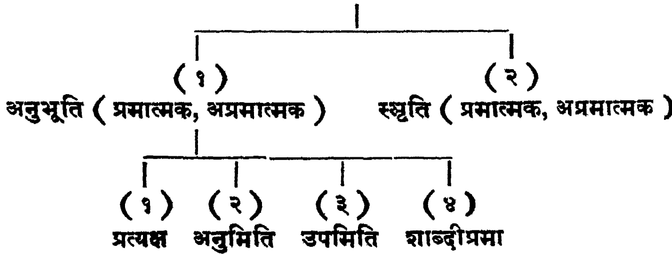
चित्रसंख्या २२


आत्मा
(१) चार्वाक
(२) बौद्ध
(३) वेदान्ती
(४) सांख्य
(५) नैयायिक
(१) क्षणिक विज्ञानात्मवाद
(२) क्षणिक देहात्मवाद
(१) प्रवृत्ति विज्ञान
(२) आलय विज्ञान
नित्यविज्ञानात्मवाद
(१) सत्स्वरूप
(२) चित्स्वरूप
(३) आनन्दस्वरूप
अकारण चेतनस्वरूप
(१) देहात्मवाद
(२) इन्द्रियात्मवाद
(३) मन आत्मवाद
(१) इन्द्रियादि का अधिष्ठाता
(२) विशेष गुणों का समवायि कारण
(३) धर्म तथा अधर्म का आश्रय
(४) विभु परम महत् परिमाणवान्
(५) बुद्धि आदि गुणों से युक्त
आत्म-गुण
विशेष गुण
सामान्य गुण
१ बुद्धि
२ सुख
३ दुःख
४ इच्छा
५ द्वेष
६ प्रयत्न
७ धर्म
८ अधर्म
९ संस्कार(भावना)
१० संख्या
११ परिमाण
१२ पृथक्त्व
१३ संयोग
१४ विभाग

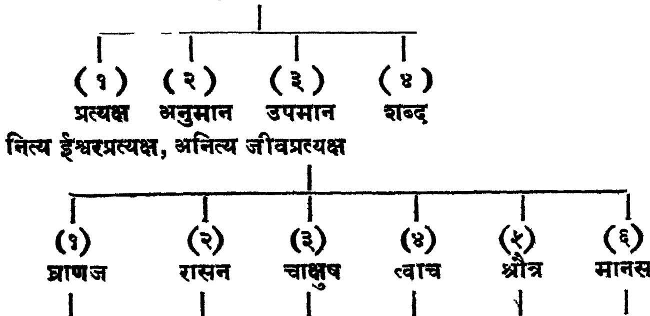
चित्र संख्या २३ न्यायाभिमत आत्म ज्ञानोपाय



चित्र संख्या २४ बुद्धिभेद



चित्र संख्या २५ अनुभूति प्रमाण



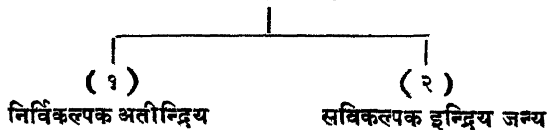
विषय विषय विषय विषय विषय विष

१ ऊद्भूतगन्ध गन्धत्व
२ उ० दुर्गन्ध दुर्गन्धत्व
उ० रस रसत्व
उ० रूप रूपत्व
उ० स्पर्शवान् द्रव्य तथा स्पर्श एव स्पर्शत्व
उ० शब्द शब्दत्व

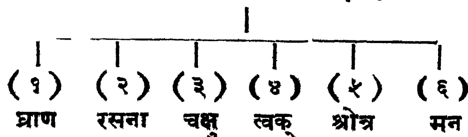
(१) उ० रूपवान् द्रव्य
(२) पृथक्त्व
(३) संख्या
(४) संयोग
(५) विभाग
(६) परत्व
(७) अपरत्व
(८) स्नेह
(९) द्रवत्व
(१०) परिमाण

(१) सुख — सुखत्व
(२) दुःख — दुःखत्व
(३) इच्छा — इच्छात्व
(४) द्वेष — द्वेषत्व
(५) ज्ञान — ज्ञानत्व
(६) प्रयत्न — प्रयत्नत्व
(७) आत्मा — आत्मत्व

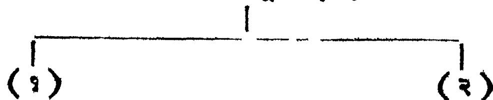
चित्र संख्या २६ प्रत्यक्षज्ञान भेद

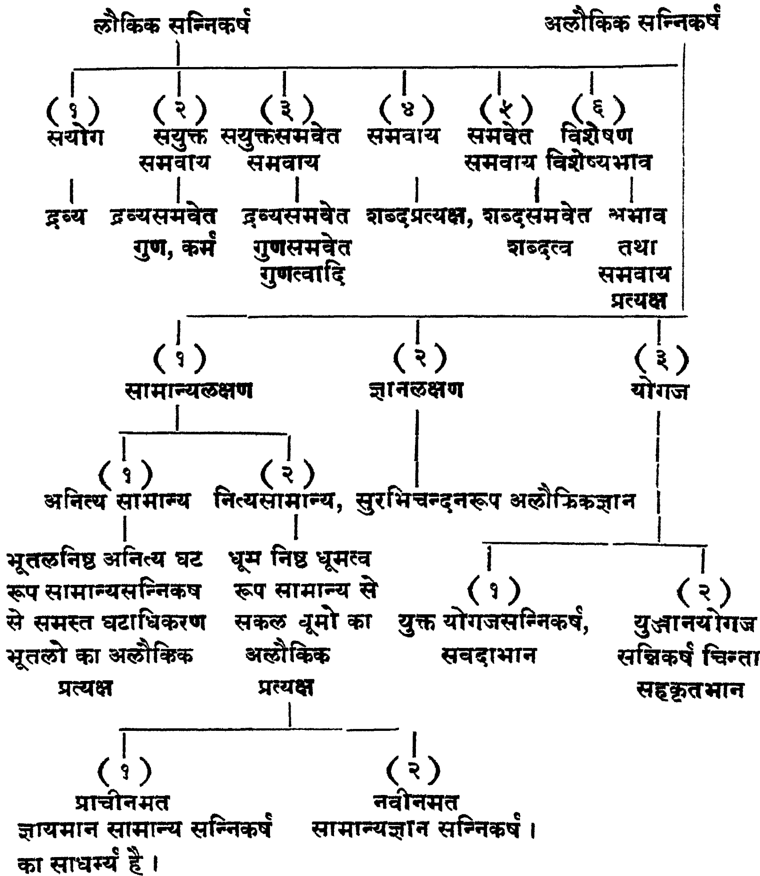


चित्र संख्या २७ सविकल्पकप्रत्यक्षज्ञानकरण इन्द्रियाँ



चित्र संख्या २८ सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान मूलक इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष





का साधर्म्य है।

॥ समाप्त ॥

चित्र सख्या ११ (पृष्ठ ४१६, अन्तिम ४ पक्तियो) का स्पष्टीकरण—

भावत्व, अनेकत्व तथा समवायित्व यह द्रव्य से लेकर विशेष तक इन पॉचो का साधर्म्य है। गुण रहितत्व क्रिया शून्यत्व (निष्क्रियत्व) यह गुण से लेकर अभाव तक इन ७ का साधर्म्य है। गुण, धर्म, कर्म इन तीनो का सत्तावत्व रूप साधर्म्य है। सामान्य का अनधिकरणत्व सामान्य से लेकर अभाव तक इन चारो

शुद्धिपत्रम्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०	२४	नवोन्मेषशलिनी	नवोन्मेष शालिनी
१६	१२	कारणात	कारणता
२८	२०	आसाधारणधर्म	असाधारण धर्म
		समावेशदुभिय	समावेशादुभय
४१	३०	मविरुद्धम्	मविरुद्धम्
४७	५	दोर्गों	दोनों
६४	२२	प्रक्षत्वापत्ते	प्रत्यक्षत्वापत्ते
७८	१५	के	में
७९	१	२	×
८०	३१	पारिमाण्डय	पारिमाण्डल्य
८२	३०	नत्यद्रव्याणि	नित्यद्रव्याणि
८३	१४	को	की
८५	१६	(गवा)	(गधे)
९२	१३	द्वितीय	तृतीय
९४	११	घटकादिक	घटादिक
९८	१३	होना	होने
१०३	शीर्षक	नित्यद्रव्यभिन्नता	नित्यद्रव्यभिन्नाना
१०५	२५	परापरत्व	परापरत्व
१०७	१५	निष्क्रियञ्च	निष्क्रियञ्च
१०९	१२	बाह्येन्दियों	बाह्येन्द्रियों
१११	२३	द्रव्म	द्रव्य
११२	११	विशेषगुणवत्त्व	विशेषगुणवत्त्व
११३	६	द्रुव्य	द्रव्य
११३	२७	विशेषगुणववत्त्व	विशेषगुणवत्त्व
११४	२	अव्याप्यन् वृत्ति	अव्याप्यवृत्ति
११७	७	नहीं पायेगी	नही हो पाएगी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२०	१६	विषवृत्ति	विषयवृत्ति
१२१	४	एन	इन
१२१	१७	(आदि का ग्नि)	(आदि की अग्नि)
१२३	२५	समानाधिकण	समानाधिकरण
१२५	२३	विशष	विशेष
१२५	२७	तत्त	तत्तु
१२८	२३	प्रथमप्रकरणलक्षणा	प्रथमप्रकरणलक्षणा द्वि० मुक्ता।
१३२	शीर्षक	पाणाणे	पाषाणे
१३२	२३	कारणता हीने	कारणता होने
१३८	१६	इनका	इनका कहना
,,	,,	कहना	×
१३६	२८	आम्रकल	आम्रफल
१४७	२३	आयोग्य	अयोग्य
१४७	२५	आयोग्य	अयोग्य
१४७	२६	आयोग्य	अयोग्य
१४६	२४	चक्षुरिंद्रिय	चक्षुरिन्द्रिय
१५१	२२	महत्त्व	महत्त्व
१६७	२६	अवयव्यजक	अवयव्यजनक
१६६	२४	चाष्टावाले	चेष्टावाले
१७४	२३	दृष्टान्त के भी	दृष्टान्त को भी
१८३	१५	तादृशजातिमत्त्व	तादृशजातिमत्त्व
१८७	२४	जला	जल
१८६	२३	वह	वह
१६५	८	हिम कारकादि	हिम-करकादि
१६६	६	चाक्षषत्व	चाक्षुषत्व
२०३	२७	पद न देने	पद देने
२०५	२०	चन्द्र्मा	चन्द्रमा
२०६	२८	अकारजम्	आकरजम्
२१०	२	द्रतत्वात्	द्रुतत्वात्
२१३	५	जेल	जल
२१३	१४	तज्ञनकता	तज्जनकता

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२१८	६	गही	नही
२२५	२६	द्वीन्दियग्रहणाऽ	द्वीन्द्रियग्रहणाऽ
२२६	६	किक्काल	दिक्काल
२२८	५	आकाशवत्सवगतश्च	आकाशवत्सर्वगतश्च
२२९	२१-२२	श्वग	श्वग
२३३	२६	श्वदगादिवाद्यो	श्वदङ्गादिवाद्यो
२३६	३०	जपापुष्पादि दृव्य	जपापुष्पादि द्रव्य
२४०	३०	दृव्य	द्रव्य
२४५	१९	परत्थाऽपरत्व	परत्वाऽपरत्व
२४७	५	उपाधिमेदादेकाऽपि	उपाधिभेदादेकाऽपि
२४७	१०	मित्यत आह	मित्यत आह उपाधिभेदादिति।
२४८	२४	शब्द्	शब्द्
२५१	१०	प्रणाण	प्रमाण
२५१	१९	फलोपघायकता	फलोपधायकता
२५७	शीर्षक	शरीरात्मवादखण्डनन्	शरीरात्मवादखण्डनम्
२५७	२७	आवि	आदि
२६४	२१	आपान	अपान
२६५	२५	ही	हो
२६८	२१	बैराग्य	वैराग्य
२९०	१०	व्रह्म	ब्रह्म
२९२	२१	वहीं	वही
२९८	१७	व्रह्म	ब्रह्म
३०१	२४	व्यासज्यवत्ति	व्यासज्यवृत्ति
३१६	शीर्षक	दृक्प्रमणनरूपणम्	दिक्प्रमाणनिरूपणम्
३२१	१०	हैं	है
३३७	शीर्षक	प्रत्यक्षप्रमालक्षणम्	प्रत्यक्षप्रमाणलक्षणम्
३३७	६	इन्दियस्य	इन्द्रियस्य
३३७	३०	दोनों	दोनों
३४५	३	शका	शंका
३४५	४	समवे त्यक्ष	समवेत प्रत्यक्ष
३४५	५	न्यूनता ह गयी	न्यूनता रह गयी।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३५०	१४	सख्या	सख्या
३५६	६	ह	है
३६३	४	असारण कारण	असाधारण कारण
३६५	११	य	यह
२६५	२०	घटको	घट को
३६६	७	नैयाथिक	नैयायिक
३६६	१५	(मप्रत्पारिमाण)	महत्परिमाण
३७०	३०	इन्द्रिय क	इन्द्रिय का
३७४	२	तयाहि	तथाहि
३७५	३	चक्षुरवयय	चक्षुरवयव
३७५	१७	को	की
३८०	७	त्वव् सयुक्तपमवाय	त्वक्सयुक्तसमवाय
३८३	१६	एवमिति	एवमिति
३८३	२६	महत्त्वावच्छिन्त	महत्त्वावच्छिन्न
३८५	शीर्षक	विशषणतासन्निकर्षनिरूपणम्	विशेषणतासन्निकर्षनिरूपणम् ।
३८५	११	द्रव्थ	द्रव्य
३९७	२६	योग्थतापदाथ	योग्यतापदार्थ

